जाते हैं क्योंकि वे तत्वत: वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निसंदिग्ध रूप से प्राचीन हैं। द्वितीय श्रेणी में कठोपनिषद तथा श्वेताश्वत्तर और कौषितकी, तथा मैत्राय-णीय उपनिषद तृतीय श्रेणी में रखे जाते हैं।

ईश उपनिषद कर्मसन्न्यास का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि यावज्जीवन निष्काम क्रिया का संपादन करने का प्रतिपादन करता है। इसी का अनुवर्तन श्रीमद्भगवद्गीता अनेक युक्तियों के उपन्यास के साथ कराती है। अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन एवम् ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, तथा विद्या-अविद्या, संभूति असंभूति का भी विवेचन इसमें किया गया है। कठोपनिषद में 'नेह नानास्ति किंचन' का गंभीर उद्घोष है। यमराज के द्वारा अद्वैत तत्त्व नाचिकेता को समझाया गया है। नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन रहने वाला यह ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा का निवासी है। इसका दर्शन करना ही शान्ति का एकमात्र साधन माना गया है। मुंज से जैसे इषीका[1] बनती है वैसे ही इसी शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि करनी चाहिये। यही इसका व्यावहारिक उपदेश माना जा सकता है।

मुंडकोपनिषद में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह मन्त्र प्रधान है। वेदान्त में यह शब्द सर्व प्रथम यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इसे हम द्वैतवाद का प्रधान स्तंभ मान सकते हैं। ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में अस्त होने से की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद—यह सामवेदीय उपनिषद प्राचीनता, गंभीरता तथा ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितान्त प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय बहुल है। इसके तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। गायत्री का वर्णन, घोर-आंगिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्मशिक्षा मिलना (३–१७), तथा अंत में अंड से सूर्य जन्म का विवेचन (३–१९) इन सारी बातों का सुन्दर प्रतिपादन है। इस अध्याय का (३–१४–१) 'सर्वम् खलु इदम्-ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है इस अद्वैत सिद्धान्तों के मुख्य सूत्र का विजय घोष करता है। बृहदारण्यक में तो अध्यात्मिक शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया है तथा औपनिषदिक युग का सर्वमान्य तत्त्वज्ञान माना जाता रहा है। याज्ञवल्क्य ने इसे प्रसारित किया है।[2]

'आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिधासितव्यो मैत्रेयि।[3]

१. इषीका=सींक।

२. वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, पृ० २५९–६०।

३. बृहदारण्यक उपनिषद ४–५–६।

ब्रह्म को आत्मा के परे देखा, सुना और ध्यान में रखा जाता है. अतः उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ऐसा कहा गया है। यह दार्शनिकता अपूर्व है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में गुरुभक्ति-देवभक्ति का रूप है—'यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरो।'[1] भक्ति तत्त्व का प्रथम प्रतिपादन उपनिषद की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब सांख्य का वेदान्त से पृथक्करण नहीं हुआ था तथा वेदान्त में माया का सिद्धान्त प्रस्थापित नहीं हो पाया था। त्रिगुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का निस्सन्देह विवेचन है। 'अजा मेंका लोहित-कृष्ण शुक्लाम्।[2] 'परन्तु इसे हम पूर्ण रूप से सांख्य तत्त्व नहीं कह सकते। गीता ने क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वों का समावेश यही से किया है। शिव परमात्म तत्त्व के रूप में अनेकशः वर्णित है। वेदान्त तथा सांख्य के उदयकालीन सिद्धान्तों के लिये यह महत्वपूर्ण उपनिषद है।[3] 'अमृताक्षरं हरः।'

यहाँ पर हमने केवल उन्हीं उपनिपदों का संक्षिप्त विवेचन किया है जिन्होंने वैष्णवदर्शन को विशेष रूप से प्रभावित किया है।[4]

वैदिक साहित्य कर्मकाण्ड से ओतप्रोत था। उपनिपदों में ज्ञान तत्त्व विशेष रूप में परिलक्षित हुआ जो पौराणिक युग में भाव या उपासना तत्त्व बनकर सामने आया। औपनिपदिक ज्ञान दो अंशों में विशेप द्रष्टव्य है। (१) जगत के विराट का ज्ञान देने वाला जो आगे चलकर 'सांख्य' बनकर सामने आया (२) आत्मज्ञान पर आधारित योग (Self Realization) बनकर सामने आया जो आत्मा का ज्ञान देने वाला है। ब्रह्म के विविध स्वरूपों का विस्तारपूर्वक वर्णन यहाँ पर मिलता है।

ब्रह्म साक्षात्कार के विभिन्न मार्ग भी इसी युग में फैले। ज्ञान प्रधान काल होने से भक्ति भी ज्ञानाश्रित हो गयी। यहाँ पर दो स्वतंत्र धाराएँ हमें स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाती हैं। प्रथम योग, तथा दूसरी भक्ति कहलाई। एक में हृदयपक्ष-समन्वित-ज्ञान था, तथा दूसरे में बुद्धि या केवल विशुद्ध ज्ञान था। उपास्य के सगुण सविशेष तथा निर्गुण निर्विशेष दोनों रूप उपासकों के सामने आये। 'त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णु त्वं रुद्र त्वं प्रजापति।'[5] इस तरह सगुण विष्णु स्वरूप की प्रतिष्ठा

१. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–२३।
२. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–४–५।
३. श्वेताश्वतर उपनिषद १–१०।
४. वैदिक साहित्य–बलदेव उपाध्याय, २५९–६०।
५. मत्रायण्युपनिषद ४–१२–१३।

वृद्धिंगत होती गयी और उनको जगत्पालक एवम् अन्न का रक्षक समझा जाने लगा । कठोपनिषद में आत्मा की ऊर्ध्वगामी गति को विष्णु के परमधाम की ओर जाने वाला पथिक बतलाया गया है ।[1] पुरुषनारायण ने विष्णु की नराकार भावना से और उपास्य के सान्निध्य की उत्कंठा से पांचरात्र यज्ञ की विधि बनाई ।[2] यहीं से अहिंसा तत्त्व का समावेश वैष्णव धर्म के अन्तर्गत हो गया । इस प्रकार सात्त्विकता प्रधान होने से वैष्णव धर्म सात्वत धर्म कहलाया । इसी का दूसरा नाम भागवत धर्म है । गीता इस धर्म का सारभूत धर्म ग्रन्थ है । 'नूनम् एकान्त-धर्मः अयं श्रेष्ठो नारायण प्रियः ।[3] भागवतों की दृष्टि से एकान्तिक धर्म सर्व श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि यह स्वयं नारायण या भगवान को प्रिय है । इस धर्म के अनुसार प्रत्येक कार्य करते समय कार्य करने वाले को अपनी यह धारणा बना लेनी चाहिये कि इस कार्य में वह भगवान की इच्छा पूर्ति में एक साधन मात्र है ।[4] निरंतर इस प्रकार की मनोवृत्ति रखकर कार्य करने से मानसिक विकारों से छुटकारा मिल जाता है । सर्वव्यापक ईश्वर में दृढ़आस्था तथा सभी वस्तुओं को समभाव से देखने का अभ्यास बढ़ जाता है । इस लोक में तथा सर्वत्र सभी चीजें प्रकृति के सत्व, रज, तथा तम इन तीन गुणों से युक्त हैं । इनसे कोई भी मुक्त नहीं है । देह धारण करने वाले देही के शरीर में आसक्ति डालने का कार्य ये तीन गुण ही करते रहे हैं । इसलिए सभी प्राणियों के हृदयों में रहकर उन्हें अपनी माया से किसी यन्त्र पर चढ़ाये गये वस्तु की तरह घुमाने वाले भगवान में विश्वास कर उसकी शरण में 'सर्व भाव' से जाना चाहिये । तब उसी के अनुग्रह से परमशान्ति एवम् नित्य स्थान पाने का वह अधिकारी बन जाता है । अर्जुन को बार-बार श्रीकृष्ण समझाते हैं कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है अतः उसी की एकनिष्ठ उपासना करनी चाहिये । वे कहते हैं—[5]

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

मुझ में अपना मन लीन करते हुए अपनी बुद्धि मुझ में ही स्थिर कर ।

१. कठोपनिषद ३—९ ।
२. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—
कृष्णदत्त भारद्वाज—कल्याण, वर्ष १६ अङ्क ४ ।
३. महाभारत १२—३४८—४ ।
४. श्रीमद्भगवद्गीता १८—४०, १४—५, ३—२७, १८—६१, १८—६२ ।
५. श्रीमद्भगवद्गीता १२—८ ।

इसका फल यह होगा कि निस्सन्देह तू मुझ में ही निवास करेगा। आत्म समर्पण तथा एकान्त निष्ठा इस धर्म की सर्व प्रमुख बातें हैं।

नारायणीय धर्म वा नारायणीय सम्प्रदाय—

इस धर्म का प्रतिपादन महाभारत के शान्ति-पर्व में किया गया है। इस दार्शनिक सिद्धान्त को मेरु पर्वत पर सप्तऋषियों को और स्वायंभुव मनु को सुनाया गया था। इसी परम्परा से यह चलता रहा ऐसा भगवान् का कहना है। बृहस्पति तक परम्परा से प्राप्त यह धर्म वसु-उपरिचरतक संप्राप्त होता गया। इस मत में दीक्षित हो जाने पर उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ किया था जिसमें पशुबली नहीं दी गई, तथा यज्ञ का संपूर्ण विधान आरण्यक के अनुसार हुआ। यज्ञकर्ता वसु को विष्णु ने दर्शन देकर यज्ञ भाग ग्रहण किया था। अन्य पुरोहितों अथवा ऋषियों को दर्शन नहीं हुआ। बृहस्पति इसलिए क्रोधायमान हुए। तब अपने अनुभवों के आधार पर एकता, द्विता और त्रिता ऋषियों ने उन्हें समझाया कि हरि के दर्शन प्रत्येक को नहीं होते। उसकी कृपा जिन पर होती है वे ही उनके दर्शनों के अधिकारी हैं। वसु जैसे एकान्तिक उपासक से ही वे प्रसन्न होते हैं। बलि-पशु-युक्त यज्ञ-यागादि करने वाले बृहस्पति जैसे लोगों से वे अप्रसन्न रहते हैं। नारायण से नारद ने इस धर्म को ग्रहण किया और उनका दर्शन करने वे श्वेत दीप में गए, तथा वहाँ जाकर परब्रह्म भगवान् की पवित्रता, ऐश्वर्य, वैभव आदि का वर्णन करते हुए प्रार्थना की। तब भगवान् ने उनको दर्शन दिये और कहा कि जो केवल मेरा ही भजन करते है उन एकान्त साधकों पर प्रसन्न होकर मैं उन्हें दर्शन देता हूँ। अब मैं तुम्हें अपना वासुदेव धर्म सुनाता हूँ।

वासुदेव ही परब्रह्म है। वे आत्माओं के भी आत्मा हैं। वे सृष्टि कर्ता हैं। संकर्षण वासुदेव के ही रूप हैं तथा जीवमात्र के प्रतीक हैं। मनस्तत्व के प्रतीक प्रद्युम्न, संकर्षण से, तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध, प्रद्युम्न से ही निकले है। इस तरह संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध मेरी ही मूर्तियां है। देवता, मनुष्य तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति मुझसे होती है और वे मुझमें लीन हो जाते है। वराह, नृसिंह, परशुराम, रामचन्द्र आदि मेरे ही अवतार हो चुके हैं तथा कंस आदि असुरों को मारने के लिए मैं फिर अवतार लूंगा। उस समय अपने उपर्युक्त चार रूपों से सब कार्य सुसपन्न कर के और सात्वत द्वारा द्वारिका नगरी का नाश करके, ब्रह्म लोक चला जाऊँगा। नारद ने यह सुना और वे बद्रिकाश्रम में स्थित नर-नारायण के स्थान पर लौट आये। इसी पर्व के अन्य अध्यायों में वे अपनी तीनों मूर्तियों या मूल तत्वों की सहायता से निष्पाप साधक की मुक्ति का वर्णन करते हैं। ऐसा

साधक मृत्यु के पश्चात् सर्व प्रथम सूर्य लोक में जाता है, जहाँ उसके सब लौकिक
गुण जल जाते हैं तथा वह सूक्ष्म रूप धारण करता है तब वह अनिरुद्ध में प्रवेश
करता है; वहाँ वह मन बनकर प्रद्युम्न में प्रविष्ट हो जाता है। फिर इस रूप को
भी छोड़कर संकर्षण अर्थात् जीव में प्रवेश करता है। फिर त्रिगुणों से छुटकारा
पाकर घट-घटवासी परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है। वसु उपरिचर के
आख्यान से भगवान् वेदव्यास ने अहिंसायुक्त यज्ञों की महत्ता को स्थापित किया।
इस धर्म में वैदिक, शास्त्रीय यज्ञ कर्मानुष्ठानों को उपनिषद-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग
को तथा हृदय प्रधान-भक्ति को समान स्थान प्राप्त है।[1] नारायणीय संप्रदाय में
व्यूहों की पूजा का विधान है।

श्रीमद्भागवत में सात्वतों को महान् भागवत तथा वासुदेव परायण ब्राह्मण
बतलाया है। जिनकी अपनी विशिष्ट पूजा पद्धति है। इसमें सात्वत, अन्धक तथा
वृष्णियों को यादव वंशीय बताया गया है और वासुदेव को सात्वतधर्म कहा है।[2]
इस पूजा-विधान को अपनाने वाले सात्वत कहलाते थे। इनके उपास्य देवता
परमात्मा के ही अवतार नर रूपी वासुदेव हैं। वासुदेव की पूजा उनके अंशावतार
व्यूहों के साथ होती है तथा अपने विशिष्ट अलौकिक गुणों के कारण वे समस्त वंश
के पूजनीय हैं। वृष्णि, अन्धक आदि समस्त शाखाएँ यादव कुल की हैं। सात्वतों
ने विदर्भ, मैसोर तथा सुदूर द्रविड़ देश में अपने उपनिवेश बसाए थे। द्रविड़ देश में
पांचरात्र सम्प्रदाय के प्रचार का कारण सात्वतों का आगमन ही था। द्रविड़ देश के
अनेक नरेश अपना सम्बन्ध सात्वतवंशीय कृष्ण से जोड़ते हैं। पूर्वोत्तर 'महीसूर'
पर राज्य करने वाले 'इहन गोवेंड' नामक तामिल सरदार ने अपने को द्वारिका के
कृष्ण की ४६ वीं पीढ़ी में बतलाया है। इन प्रमाणों के बल पर आयंगार का
मत है कि सात्वत वंशीय क्षत्रियों का द्रविड़ देश में वैष्णव धर्म का प्राबल्य बहुत
रहा।[3] द्रविड़ों के सम्बन्ध का ऐतरेय ब्राह्मण का यह उल्लेख दृष्टव्य है—[4]

एतस्यां दक्षिणस्योदिशि ये केच सात्वतां राजानो भोज्यायेव ते।
अभिषिच्यन्ते। भोजेति एनाम् अभिषिक्तानाचक्ष ते॥

पंचरात्र मत की उत्पत्ति तो उत्तर भारत में हुई—विशेषतः उसका प्रादुर्भाव

१. देखिये—महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १३–१५।
२. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर भांडारकर, वाल्यूम ४।
३. एस्. के. अयंगार—परम संहिता इन्ट्रोडक्शन पृ० १५–१७ जी. ओ. एस्. नं० ८ ई० १६४०।
४. ऐतरेय ब्राह्मण ८–३–१४।

ब्रज-मण्डल में हुआ था। यह सिद्धांत उन पश्चिमी विद्वानों को स्वयं ही एक मुँह तोड़ उत्तर है जो भक्ति को दक्षिण भारत में ही ईसाई भक्तों के सम्पर्क से तथा दशमशती के आस-पास उत्पन्न हुआ मानते हैं। अर्थात् भक्ति स्पष्ट रूप से भारतीय वातावरण में उत्पन्न अपनी ही निजी सम्पत्ति है।[1]

पांचरात्र मत—

यह मत ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में प्रचलित था। गीता के सात्वत, भागवत या एकान्तिक धर्म का विकसित रूप पांचरात्र मत है। पांचरात्रों का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह सिद्धान्त[2] है। पांचरात्रों के सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से संकर्पण अर्थात् जीव, संकर्पण से प्रद्युम्न अर्थात् मन और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार की उत्पत्ति होती है। इनकी संहिताओं के प्रतिपादन के चार मुख्य विषय हैं—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव, तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनभूत योग-प्रक्रियाओं का वर्णन (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यन्त्रों की पूजा-पद्धति, विशेष पर्वो के उत्सव आदि।[3]

पांचरात्रों ने नारायण के छः दिव्य गुणों की भी चर्चा की है। ये भी यज्ञ-याग की हिंसा के विरुद्ध थे। यह आस्तिक वैदिक मत था, अतः क्रान्तिकारी सुधारकों बौद्धों, जैनियों के आगे वह उतना ऐतिहासिक महत्व नहीं पा सका। फिर भी उसने काफी कार्य इसके प्रचार का किया है। आगे चलकर इसी मत ने रामानुज के समय पुनः अपना उत्कर्ष दिखाया और अपना प्रभाव युग पर भी छोड़ा। पांचरात्र सिद्धांत को वैष्णव आगम या वैष्णव तन्त्र भी कहा जाता है। इसमें व्यूह के बाद भगवान् का रूप 'विभव' है। विभव का रूप अवतार है और ये ३९ हैं। ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि विभव हैं। अन्तर्यामिन् भगवान् ब्रह्म का सर्वव्यापक रूप है। वाराह, वामन, भार्गवराम, दाशरथी-राम और कृष्ण ये अवतार हैं। आगे हंस, कूर्म, मत्स्य एवम् कल्कि इन नामों को मिलाकर यह संख्या दस कर दी गई है। पांचरात्रों ने सांख्यों और वेदान्तियों के तत्त्वों को ले लिया है। वे माया को स्वीकार करते हैं और साथ ही गुणों से सृष्टि बतलाई है। पांचरात्रों के अनुसार प्रकृति पुरुष के आश्रित होकर कार्य करती है।

---

१. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृ० १०४।
२. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३०–३१।
३. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६० तथा इन्ट्रोडक्शन टू पंचरात्र ऍंड अहिर्बुधन्य संहिता—पृ०, २२–२६–श्रेडर।

ब्रह्म अनादि अनन्त तथा सर्वव्यापी है। ज्ञान, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस् इन छः गुणों के कारण वे प्रधानता से भगवान् तथा व्यापक होने से वासुदेव हैं। कहा भी है—'वासनात् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयः।' ज्ञान ब्रह्म का गुण भी है और शक्ति भी। शक्ति से आशय यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अनायास जगत् की रचना के कारण ही 'बल' नामक गुण बतलाया गया है। जगत् रचना की शक्ति ऐश्वर्य है। अधिकारी होने से भगवान् वीर्यवान हैं।

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है। दोनों का सम्बन्ध द्वैतपरक है। प्रलयकाल में भी ये भिन्न रहते हैं। नितान्त भिन्न भी नहीं रहते। सूर्य तथा आतप की तरह द्वैता-द्वैत भाव ही रहता है। लक्ष्मी के सृष्टि काल में दो रूप होते हैं। (१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। इनके अभाव में भगवान् निर्विकार होता है। तरङ्ग की तरह भगवान् से पृथक होकर लक्ष्मी सृष्टि रचती है। इसे ही शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

भगवान् के चार रूपों में व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामिन अवतार होते हैं। छः गुणों में से दो-दो गुण मिलकर व्यूह बनाते हैं। संकर्पण में ज्ञान + बल रहता है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य + वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति + तेज रहता है। संकर्पण का कार्य सृष्टि है। प्रद्युम्न क्रिया की शिक्षा देते हैं। अनिरुद्ध मोक्ष का तत्व है। शंकराचार्य ने इस व्यूह मत का खंडन किया है। उनके मतानुसार वासुदेव से संकर्पण (जीव) की उत्पत्ति होती है। संकर्पण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उनसे अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध सृष्टि में—प्रद्युम्न 7 कूटस्थ पुरुप 7 मायाशक्ति 7 नियति 7 काल-सत्व, रज, तम, बुद्धि अहंकार वैकारिक, तेजस् और भूतादि हैं। भूतादि, तामस से उत्पन्न, पंचतन् मात्रा तथा उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

पांचरात्र मतानुसार १. पुरुप १. प्रकृति १. महतत्व या बुद्धि १. अहङ्कार १. अहङ्कार के तीन प्रकार—१. सात्विक, २. राजस ३. तामस। सात्विक से एक मन और दस इन्द्रियाँ तथा तामस से पांच तन्मात्राएँ को मिलाकर सृष्टि-प्रक्रिया होती है।

जीव—यह वासुदेव का क्रीड़ा विलास है। भगवान् की इच्छा शक्ति ही सुदर्शन है। यह उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, विग्रह तथा अनुग्रह इन पांचशक्तियों की समष्टि मात्र है। सृष्टिकाल में जीव से भगवान् की तिरोधान शक्ति, जीव का विभुत्व, सर्वशक्तिमत्ता, तथा ज्ञान को छीन लेती है। अतः जीव अज्ञ होकर योनियों में भटकता रहता है। जीव के दुखों को देखकर भगवान् को दया आती

है। जीव को ज्ञान देकर वे कर्मों का नाश कर देते हैं। इसके फलस्वरूप उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् की अनुग्रह शक्ति को उसके मन्दिर बनाना, मूर्ति पूजा करना, योग का साधन करना तथा प्रमुख रूप से भक्ति करना आदि से प्राप्त किया जाता है। सब से श्रेष्ठ उपाय शरणागति है। यह छः प्रकार की होती है। (१) भगवान् की अनुकूलता के प्रति कृतसङ्कल्प होना, (२) भगवान् के विरुद्ध न होना (३) भगवान् के द्वारा रक्षा होगी ऐसा दृढ़ विश्वास रखना। (४) भगवान् रक्षक हैं यह भावना रखना। (५) आत्मसमर्पण और (६) दीनता। भक्त को पंचकाललक्षी भी कहते हैं। उसमें ये पाँच बातें रहती हैं। (क) जप, ध्यान, पूजा द्वारा भगवान् से उन्मुख होना (ख) उपादान, पुष्प कलादि का पूजा के लिए संग्रह (ग) यज्ञादि। (घ) अध्याय, अध्ययन, मनन, उपदेश। (ङ) योग-यौगिक क्रियाएँ करना आदि। ब्रह्म के साथ एकाकार होना ही मोक्ष है। सरिता समुद्र की एकता के समान दोनों एक हो जाते हैं। शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में जीव-भगवान् के साथ विहार करते हैं। वहीं अन्य नित्य जीव गरुड़ आदि भी मिलते हैं। जीव अणुरूप है। उसका ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। पांचरात्र मत परिणामवाद को मानता है। वल्लभ और चैतन्य मत में जाकर यही वैकुण्ठ की कल्पना गोलोक में बदल गई है। वैष्णव-पूजा पद्धति में तथा क्रियाकाण्ड के लिए पांचरात्र ने बड़ी सहायता की है। रामानुज के बाद व्यूहवाद नहीं मिलता। पांचरात्र वेद का ही एक अंश है। गीता के बाद पांचरात्र-मत भक्ति के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण सोपान है।

पांचरात्र का अर्थ—

'पांचरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समन्वय से इस मत को पांचरात्र यह संज्ञा दी गई। ईश्वर संहिता[1] के कथनानुसार शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पांच रात्रियों में जो उपदेश दिया था उसे पांचरात्र कहते हैं; तो पद्मसंहिता के अनुसार इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गए थे। अतः इस मत को पांचरात्र कहा जाता है। नारद[2]-पांचरात्र, के अनुसार इसके विवेच्य विषयों की संख्या ही इसके नामकरण का कारण मानी जाती है।[3] रात्र का अर्थ है ज्ञान। जैसे—

१. ईश्वर संहिता, अध्याय २१।
२. नारद पांचरात्र, १–४५–५३।
३. ,, ,, १–४४।

'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम् ।'

परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पाँच विषयों का निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पांचरात्र' पड़ा। 'अहिर्बुधन्य संहिता'[1] भी इसी मत को स्वीकार करती है।

वैखानस आगम—

वैष्णव आगमों में वैखानस गृह्यसूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। पांचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी यह विशेष प्रसिद्ध नहीं है। कभी इसका व्यापक प्रचार था पर किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता कम हो गई। वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतंत्र शाखा थी। कृष्णयजुर्वेद की चार प्रधान शाखाओं में से–आपस्तम्व, वौधायन, सत्याषाढ़, हिरण्यकेशी तथा औखेय शाखाओं में से औखेय शाखा से वैखानसों का संवन्ध था।[2]

येन वेदार्थ विज्ञेयो लोकोनुग्रह काम्यया।
प्रणीत सूत्र मौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

—वैखानस सूत्र।

वैसे गौतमधर्मसूत्र (३–२), वौधायन धर्म सूत्र (२–६–१७) वशिष्ठ धर्म सूत्र (९–१०) में वानप्रस्थों को वैखानसशास्त्र का अनुयायी वतलाया गया है, यथा 'वैखानसमते स्थितः।' मनु (६–४) 'वैखानस धर्मप्रश्न' में वानप्रस्थों के आचार विधान का सांगोपांग वर्णन मिलता है। इनका पालन वानप्रस्था श्रमियों के लिए अनिवार्य था। वैखानसों के चार ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं जो इस प्रकार हैं। १. वैखानसीया मंत्र संहिता, २. गृह्यसूत्र, सात प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त है। ३. धर्मसूत्र या धर्म प्रश्न, तीन प्रश्नों में विभक्त है। और ४. श्रौत सूत्र। इन सव में वैखानस गृह्यसूत्र सव से अधिक प्रसिद्ध है। ये लोग दार्शनिक कम थे पर आचारवादी अधिक[3] मंत्र पाठों के आठ अध्यायों में से अन्तिम चार अध्यायों में विशिष्ट विष्णु पूजा का विधान है जो अर्चनाकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम्, एकादश तथा द्वादश खंड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा एवम् अर्चना का विशेष रूप से वर्णन है।[4-5] नित्य प्रातःकाल तथा

---

१. अहिर्बुधन्य संहिता, ११–६४।
२. वैखानस श्रौत सूत्र—वेंकटेश भाष्यकार के कथनानुसार।
३. वैखानस धर्म प्रश्न, १–६–७।
४. भारतीय दर्शन–वलदेव उपाध्याय, पृ० ५३९–३९। तथा
५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १३३।

सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अंगुलों से परिमाण में कम न होती थी। विशेष विधि से उनकी प्रतिष्ठा कर विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मंत्रों का विधान था। इस प्रकार का विश्वास 'नारायणो देव सर्वार्थसिद्धिः।'[१] प्रचलित था। इस वैखानस धर्म प्रश्न के अनुसार सब देवताओं में नारायण की प्रधानता और प्रमुखता मानी जाती थी। अनन्तशयनं ग्रन्थावली नं० १३१ से प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम'[२] के अनुसार यह पता चलता है कि इस आगम का मुख्य विषय क्रिया, तथा चर्या है। मन्दिर की विविध मूर्तियों की रचना, विभिन्न अङ्गों का निर्माण, राम कृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा, अर्चना, वलि आदि का सांगोपांग विवेचन इतने विस्तृत रूप में मिलना कठिन है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—१. विष्णु २. महाविष्णु तथा ३. सदाविष्णु ४. सर्वव्यापी। इन्हीं चार मूर्तियों के अंश से चार अन्य मूर्तियों की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मिक 'सत्य', 'सदाविष्णु' के अंश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपती) तथा सर्वव्यापी के अंश से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है, जिसमें वैराग्य या संहार की प्रधानता रहती है। इन चारों मूर्तियों से युक्त होकर नारायण पंचमूर्ति रूप माने जाते हैं। जप, हुत, ध्यान व अर्चना से भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। मुक्तियां चार प्रकार की वतलाई गई हैं सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य तथा सायुज्य। इन सव में सर्वश्रेष्ठ मुक्ति सायुज्य मुक्ति है जो वैकुण्ठ में ले जाती है। इन्हीं से आगे चलकर सलौकता, समीपता, सरूपता व सायुज्वता ये नाम हो गये हैं।

वैष्णव मत में गोपाल कृष्ण—

यहाँ गोपालकृष्ण की चर्चा कर लेना आवश्यक है। कृष्ण के द्वारा कंस-वध का उल्लेख महाभारत में मिलता है। ब्राह्मण काल में नारायण परम आराध्य थे। सात्वतों में वासुदेव परम देवता थे। तभी वासुदेव-नारायण एकीकरण हुआ। आगे चलकर वासुदेव कृष्ण और विष्णु-नारायण एक हो गए। पर इसमें कहीं भी गोपालकृष्ण देवता का उल्लेख नहीं है। नारायणीय में वासुदेव अवतार का उल्लेख तथा कंस-वध की चर्चा आती है पर गोपालकृष्ण का उल्लेख कहीं भी नहीं हैं। गोपालकृष्ण संवंधी उल्लेखनीय कथा पुस्तकें ये हैं—१. हरिवंश,

४. वैखानस धर्म प्रश्न, ३—९—१।
५. वैखानस आगम—अनन्त शयनम् ग्रंथावली नं० १३१।

२. भागवत पुराण ३. नारद पांचरात्र ४. वैवर्त पुराण। इसके सिवा यह भी एक मत प्रचलित है कि क्राइस्ट के नाम-साम्य तथा ईसा की जन्म कथा और बालकृष्ण की अनेक लीलाओं का साम्य देखकर कुछ युरोपीय विद्वानों के मतानुसार ये कथाएँ गढ़ ली गयी हैं। मतलब यह कि गोपालकृष्ण पर क्राईस्ट का प्रभाव है।

हम इस मत का समर्थन कदापि नहीं कर सकते। डा० भांडारकरजी का मत है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक गोपालकृष्ण की चर्चा नहीं उपलब्ध होती। इसके बाद ही कृष्ण की प्रेमलीला संबन्धी बहुतसा लोक साहित्य, गाथाओं तथा संस्कृत ग्रन्थों में बिखरा हुआ मिलता है। अतः उनका अनुमान है कि ईसापूर्व एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन और गोपालकृष्ण सम्बन्धी बहुतसा प्राप्त साहित्य इनके बीच कोई ऐसी घटना अवश्य घटित हुई होगी जिससे गीताकार कृष्ण का सम्बन्ध गोपालकृष्ण से जुड़ गया हो। डा० भांडारकर के मतानुसार यह घटना किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशों से घूमते-घामते आकर भारत में मथुरा प्रदेश से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ के प्रान्तों के क्षेत्र तक फैलकर बस जाना ही है। इस जाति का परम उपास्य एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण में सम्मिलित कर लिया गया। इस जाति का मुख्य व्यवसाय गायें चराना और पालना था।[१] इस मत को मान्य करने में यह आपत्ति आती है कि तमिल प्रदेशों में आभीरों को 'ऐयर' कहते हैं, जिनके नाम का अकार गाय का आकार सूचित करने वाली 'आ' से बना सिद्ध होता है। इनकी प्राचीन जातीय परम्पराओं से भी यह सूचित होता है कि वे पाण्डवों के साथ ईसा के कई शताब्दी पूर्व यहाँ आये थे।[२]

ऐसा लगता है कि श्वेत दीप वाले प्रसंग को लेकर योरोपीय विद्वान अपनी बुद्धि से प्रयासपूर्वक यह प्रतिपादन करने लगे कि हो न हो किसी न किसी अंश में महाभारत में वर्णित श्वेतदीप का सम्बन्ध युरोप से ही रहा होगा। इसका अनुमान वे इस प्रकार की दलील देकर करते हैं कि युरोपीय पंडित सफेद याने गौर वर्ण के होते हैं। अतः श्वेतदीप निश्चय ही युरोप होगा। पर ये सारे अनुमान व्यर्थ के और गलत सिद्ध हो चुके हैं।

गोपालकृष्ण की कथाओं के वर्णन हरिवंश तथा वायु पुराण में उपलब्ध होते हैं। भागवत पुराण में कंसवध, पूतना वध और अन्य राक्षसों के वधों का

१. भांडारकर–वैष्णवीझम, शैविज्म, पृ० ४६–५२।
२. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

वर्णन है। इनमें कंसारि-कृष्ण और बालकृष्ण को अभिन्न बतलाया गया है। इन ग्रन्थों की अवतारणा होने के पूर्व ही जनता में यह विश्वास दृढ़ और पक्का हो गया होगा। महाभारत के सभा पर्व में शिशुपाल द्वारा गोकुलवासी कृष्ण के जीवन से संदर्भ रखने वाली कुछ बातें कथन की गई हैं। ये बातें इस मत की पुष्टि करने वाली हैं। भांडारकरजी के मत से ये बातें प्रक्षिप्त हैं। गीता में 'गोविन्द' शब्द आया है। कुछ विद्वान इसे 'गोपेन्द्र' शब्द का प्राकृत रूप बतलाते हैं। वैदिक साहित्य में गोपा, दामोदर तथा गोविन्द ये शब्द बराबर मिलते हैं जैसे—'विष्णुर्गोपा अदाभ्यः'[1] एक अन्य स्थल पर विष्णु के परम पद में उत्तम सींगोवाली गायों का रहना भी बतलाया गया है। इसी वेद में विष्णु का बाल्यावस्था पारकर युवावस्था को प्राप्त करना दिखलाया गया है तथा उसके द्वारा शंबर और उसके नागरिकों को नष्ट किये जाने के लिये प्रार्थना की गई है।[2] इस तरह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि ईसामसीह की कथाओं के आधार पर गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का गढ़ा जाना किसी तरह तर्क और युक्ति सगत नहीं जान पड़ता। गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का आधार वैदिक और सर्वथा भारतीय ही है।

विशेष रूप से आभीरों के बालदेवता 'गोपालक' और प्रचलित जनपरंपराओं को लेकर इसे गीता के कृष्ण के साथ मिलाया गया होगा यही उचित निष्कर्ष जान पड़ता है।

केनेडी के मतानुसार जाट और गूजर उस घुमक्कड़ जाति की संतान है जिसके बाल देवता श्रीकृष्ण थे।[3] काठियावाड़ में पाई गयी एक लिपि से ज्ञात होता है कि शक १०२ में आभीर राज्य करने लगे थे। एक और लेख से पता चलता है कि आभीर उच्च पदाधिकारी और शासक ईसवी सन २ री शताब्दी से ही होते थे। अत्यन्त पुराने 'वायुपुराण' में आभीर राजाओं की वंशावली का उल्लेख है। हरिवंश में आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कथा का सब से पुराना उल्लेख है। यह ग्रन्थ भांडारकरजी के मतानुसार ईसवी सन की तृतीय शताब्दी के बाद के समय में निर्मित हुआ। इसमें एक शब्द आया है। दीनार (Latin-Denarius) कहा जा[4] सकता है कि यह शब्द ईसवी सन के पूर्व

---

१. ऋग्वेद, १–२२–१८।

२. इन्द्राविष्णुद्दहितः शम्बरस्य नवपुरो नवतिंच श्नतिष्ठम्। शतम् वर्चिनः सहस्रं च साकं हथौ अप्रत्य सुरस्य वीरान्। ऋग्वेद ७–६–५५।

३. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १६०७।

४. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०७।

ही इस देश में आ चुका था, यह आधुनिक शोधों से सिद्ध है।[1] अतः हरिवंश का काल और भी पुराना होगा यह मान लेने में 'दीनार' शब्द भी बाधक सिद्ध नहीं होगा। अतः यह निष्कर्ष निश्चय पूर्वक निकाला जा सकता है कि आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थों में प्रवेश यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसवी सन से पुराना है।

वेबर, ग्रियर्सन, केनेडी और भांडारकर, बालकृष्ण की कथा को ईसा की कथा का भारतीय रूपान्तर मानते हैं। पर यह किसी भी तरह समीचीन नहीं है। अपने पुष्ट्यर्थ भांडारकरजी के शब्दों में 'आभीर ही सम्भवतः बालदेवता की जन्म-कथा और पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय में यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधों के वध की कथा अपने साथ लेते आए। 'अन्तिम दो का सम्बन्ध इन कथाओं से है। प्रथम नंद का यह न जानना कि वे कृष्ण के पिता हैं, और दूसरे कंस द्वारा निरपराध बालकों का वध। कृष्ण की बाललीला में जैसे गधे का रूप धारण करने वाले धेनुक असुर का वध यह कथा आभीर अपने साथ लाए थे। यह भी संभव है कि वे अपने साथ क्राइष्ट नाम भी लाये हों। गोआनीज और बङ्गाली प्रायः कृष्ण शब्द का उच्चारण 'किष्ट', 'कुष्ट' या 'किष्टो' के रूप में करते हैं। अतः यह भी असंभव नहीं कि यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता (गोपाल कृष्ण) के एकीकरण में सहायक हुआ हो। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस अनुमान की निस्सारता और असङ्गति सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुतः एक 'आभीर' शब्द ही इन सब अनुमानों का आधार है जिसे किसी विद्वान ने द्रविड़ परिवार का बतलाया है। आभीर नाम की कोई द्राविड़ जाति पहले से ही इस देश में रहती आयी होगी जिनका धर्म भक्तिप्रधान और जिसके प्रमुख देवता बालकृष्ण रहे हों। बाद में बाहर से आई हुई सीथियन जातियों ने इनका धर्म ग्रहण कर अपने आपको आभीर कहने लगी हों। 'आभीर, शब्द का द्राविड़ भाषा का होना तथा देवता का कृष्ण (काला) होना इस अनुमान का आधार है। श्रीकुमार स्वामी का कहना है कि 'आभीर' शब्द द्राविड़ भाषा का है जिसका अर्थ होता है 'गोपाल'। यह भी कहा जाता है कि आभीरों, अहीरों, जाट और गूजरों की मुखाकृति, शरीरगठन आदि द्रविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। न तो यह कहा जा सकता है कि कृष्ण क्राईस्ट के रूपान्तर हैं और न यह भी कहा जा सकता है कि क्राईस्ट कृष्ण के रूपान्तर हैं।

हमारा तो यह विनम्र निवेदन है कि यह विवाद व्यर्थ का है। महाभारत के

---

१. वैष्णविज्म और शैविज्म, पृ० ३७।

कृष्ण और वालकृष्ण दो अलग-अलग व्यक्तित्व नहीं वरन् वालकृष्ण, गोपाल-कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक ही हैं।

भारतवर्ष की साधना रवीन्द्र के प्रिय शब्द 'महामानवेर समुद्र' की तरह है। इस महती साधना की गहराई में आर्य, आर्येतर तथा अन्य जानी बेजानी जातियों की वातों, रस्मों, दैनंदिन आचारों तथा देवी देवताओं का और धर्मों का समन्वय हुआ होगा। इनमें से कौन शुद्ध रूप में किस-किस का है इसकी नुक्ताचीनी करना संभव नहीं है। सर्व सामान्यतः जन साधारण के अटूट आस्था और अडिग विश्वास के वल पर यह निश्चित समझ लेना औचित्य पूर्ण होगा कि 'श्रीकृष्ण' भारत के सबसे बड़े योगीश्वर और महापुरुष माने जाते हैं। वे महाभारत के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ, गीता के प्रणेता, गोपीजनवल्लभ, गोपालक, तथा राधा के कन्हैया और पूर्णावतार हैं। भारत भर में रामपूजा से कृष्ण-पूजा का अधिक प्रचार है। साहित्य भी कृष्ण-भक्ति का सब से अधिक है। श्रीमद्भगवदगीता ने शंकराचार्य से ज्ञानेश्वर, लोकमान्य से गांधीजी, राधाकृष्णन, विनोबाजी तथा महान योगी अरविंद तक को प्रभावित किया है। यह लोकनायक भगवान् श्रीकृष्ण प्रणीत जगन्मान्य और वरेण्य ग्रन्थ है। अतः यह सर्व सम्मत है कि श्रीकृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य और अनार्य साधनाओं की धाराओं के संगम से बना है।

केनेडी के मतानुसार (१) द्वारकाधीश कृष्ण अपने धूर्त और चतुर राजनीति-पूर्ण कृत्यों के लिये प्रसिद्ध हैं जो महाभारत में विख्यात हैं।[1] (२) वे कृष्ण जो निचली सिंधु उपत्यका के अनार्य वीर है, जो आधे देवता हैं, तथा जिन्होंने राक्षस, पैशाच आदि निंद्य विवाह भी किए हैं, और (३) मथुरा के वालकृष्ण भी एक कृष्ण हैं जिनकी लीलाएँ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार तीनों मिलाकर हमारे श्रीकृष्णचंद्रजी हैं। जेकोवी बताते हैं कि पाणिनि पूर्व-काल में वासुदेव देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे।[2] छान्दोग्य उपनिषद में घोर-आँगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा है। ये ऋषि कृष्ण और देवता वासुदेव के योग से एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युग के अंत में प्रतिष्ठित हो चुके थे। आगे चलकर इन्हीं में एक और कृष्ण आ मिले। ये मथुरा के वाल-गोपाल-कृष्ण और वृष्णि संघ के संघनायक राजपूत कृष्ण थे। इस तरह कृष्ण का विकास हुआ। वैदिक देवता नारायण और विष्णु भी इसी कृष्ण में आकर मिल गए हैं। अविकल रूप से कृष्ण की वाललीला का उल्लेख

---

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन १९०७।

२. एनसायक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन अ‍ॅण्ड एथिक्स।

तथा श्रीकृष्ण का परमदेवता नारायण के रूप में चित्रण भास के नाटकों में मिलता है। ये ही लीलायें भागवत पुराण में वर्णित मिलती हैं। कविभास पाणिनिपूर्व कालीन कण्व वंशीय राजनारायण के सभा कवि थे जो ५३–७१ ईसवी पूर्व हुए थे।

सचमुच देखा जाय तो वालकृष्ण की कथाएँ ईसापूर्वकाल से ही जनता में प्रचलित हो गई थीं। यही नहीं प्रत्युत गोपियों की लीला तथा राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इसी युग में प्रचलित हो गया होगा। ऐसा अनुमान करना सर्वथा अनुपयुक्त नहीं होगा।

राधा और कृष्ण—

राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धों के वारे में विद्वानों में मतभेद हैं और इस सम्बन्ध के मुक्तक साहित्यिक परम्परावद्ध प्रमाण भी नहीं मिलते। हरिवंश में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ केलि-क्रीड़ा वर्णन मिलता है; पर उसमें कहीं भी राधा नहीं है। गाथासप्तशती में 'राधा' शब्द पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् आरम्भ करने वाले विक्रमादित्य के युग में हुई थी। यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता पर सन्देह करने वाले दो शब्द 'राधिका' और 'मंगलवार' कुछ विद्वानों के मतानुसार हैं। वारगणना का प्रचलन वस्तुत: ग्रीस में ईसा पूर्व हो चुका था। ईसा से पूर्व भारतवर्ष में वारों का प्रचार असम्भव नहीं है। पर गाथा सप्तशती में 'राधा' का नाम आना सिद्ध करता है कि वालकृष्ण की कथा ईसा से पूर्व फैल चुकी होगी। पंचतंत्र में 'राधा' का नाम आता है तथा विद्वानों ने इसका समय पांचवी शताब्दी माना है। गोपियों की कृष्ण के साथ केलि-कथा चौथी शताब्दी में पर्याप्त रूप में प्रचलित हो गई थी।[1] भांडारकर के मत से आभीर जाति में कोई घुमक्कड़ जाति रही होगी जिसमें कोई सदाचार नहीं रहा होगा।[2] ये आभीर स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती थीं, अत: विलासी आर्यों के साथ उनका स्वतन्त्र सम्वन्ध स्थापित हुआ होगा। इसीलिए श्रीकृष्ण को असदाचारी वनना पड़ा। इस अनुमान मात्र को कोई भी नहीं मान्य करेगा। हम भी इसे कतई नहीं मान सकते। राधा की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आता है। (१) राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होंगी जिसका सम्वन्ध वालकृष्ण से रहा होगा। पुराणों के अनुसार राधाकृष्ण से आयु में वड़ी थीं। (२) राधा इसी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य, पृ० १२–२६।
'राधाकृष्ण का विकास तथा स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप।'

२. वैष्णविज्म, शैविज्म, पृ० ४२ (सर आर. जी. भांडारकर)

देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होंगी। बाद में आर्यों में इनकी प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे बालकृष्ण के—कृष्ण-वासुदेव एकीकरण के पश्चात् उसका श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा। दसवीं शताब्दी से जयदेव के अर्थात् १२ वीं शताब्दी तक राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप में हो चुकी थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राधा बहुत पुराने काल में प्रतिष्ठित हुई होंगी।[१] चौदहवीं शताब्दी के अन्त में भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप में सामने आया एवम् विकसित हुआ। उस समय तक राधा और कृष्ण इतिहास के व्यक्ति नहीं थे वरन् वे सम्पूर्ण भावजगत की चीज हो गये थे। राधाकृष्ण से सम्बन्धित भक्ति-सम्प्रदायों पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। सोलहवीं शताब्दी तक आते आते विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों को उपासना-तत्वों के फलस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेम, वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म-श्रीकृष्ण बन गए। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के स्वरूप का पूर्ण विकास समझने के लिये हमें तंत्रवाद और सहजवाद को समझना आवश्यक होगा। इसका विवेचन हम अपने प्रबन्ध के अगले अध्यायों में यथास्थान करेंगे। ब्रजभाषा-काव्य के आरम्भकाल में राधा-कृष्ण, इतिहास या तत्ववाद की चीज नहीं रह गए थे। वे सम्पूर्ण भाव जगत् की चीज हो गए थे। भक्ति प्रेम और माधुर्य की नाना सम्प्रदायों से विचित्र यह युगलमूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उसमें वैदिक देवताओं का संभ्रम नहीं था। वह एकदम सीधा ठेठ-घरेलू सम्बन्ध था। तंत्रवाद के प्रभाव से ससीम रससे असीम की उपलब्धि के सिद्धांत ने तुरन्त ही तद्युगीन समाज को सखा, प्रिय, और स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति सचेष्ट अग्रसर कर दिया था। वे यथार्थ में ही हमारे सहज-स्वाभाविक भावों के आलम्बन बन गए थे।[२]

महाभारत[३] के सभा पर्व के ६८ वें अध्याय में द्रौपदी ने चीरहरण के प्रसंग में भगवान श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रियः।' नाम से पुकारा है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। पर इस प्रक्षिप्तता का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। हरिवंश जिसे २री या ३री शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, उसमें हालीसक-क्रीड़ा का उल्लेख है, वह भागवत की रासलीला का ही पूर्व रूप है। भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है।

१. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
२. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८।

भागवत की रास-पंचाध्यायी भागवत का प्रमुख अंश मानी गई है। गोपीजनों के साथ नित्य लीला-कृष्णलीला का प्रमुख सूत्र बन गई है।

पुराणों में राधाकृष्ण की लीला का वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन पुराणों के पहले आराध्य के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विष्णु पुराण में विरह की भावना अधिक मात्रा में वर्णित है, तो हरिवंश पुराण में प्रेम-व्यापार का अंश अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी है। यह सोलहवीं शती की रचना है। राधा का प्रभाव तंत्रवाद का प्रभाव है यह भी माना जाता है। भक्ति का सगुण रूप स्वयं राधिका भी मानी जाती हैं। बंगाल में पहाड़पुर में खुदाई होने पर जो एक पुरानी मूर्ति उपलब्ध हुई है, उसमें कृष्ण एक गोपी के साथ विद्यमान हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत में यह गोपी राधा है। ऐसा बतलाया जाता है कि नित्यानंद प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गई तो उन्हें यह मालूम हुआ कि कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं भी पूजा नहीं होती; तब अत्यन्त दुःखी होकर नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवाकर उन्हें वृन्दावन भिजवाया। तब से कृष्ण की अकेली मूर्ति बङ्गाल में कहीं भी नहीं पूजी जाती। जीव गोस्वामी की आज्ञा से राधा की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयीं और तब से राधाकृष्ण की पूजा सर्वत्र होने लगी। वैष्णवों ने राधा और कृष्ण के रूप में उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर ग्रहण कर लिया। राधा वैष्णव परकीया प्रेम का साधन बनकर आईं। राधा के बिना कृष्ण अधूरे माने गए। वे उनकी अन्तरंगील्हादिनी शक्ति भी हैं। वैष्णव सहज यानियों के प्रभाव से राधा का महत्व बढ़ा है इन सब बातों का वैष्णव मतों पर क्या प्रभाव पड़ा इसे अन्यत्र जब हम चर्चा करेंगे तब इसका अधिक विवेचन किया जायगा।

विष्णु की उपासना में रामचन्द्रजी का महत्व और रामोपासना का स्वरूप–

विष्णु के अनेक अवतारों में से त्रिविक्रम, वामन, परशुराम, नृसिंह, वाराह आदि प्रसिद्ध हैं। उन सब में श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ये दो अवतार विशेष महत्वपूर्ण हैं। कृष्ण के समान राम भी लोकप्रिय मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा लोक-पालक के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'राम' नाम से बहुधा बलराम, दाशरथी-राम और भार्गवराम का बोध लगभग एक ही प्रकार का हो जाया करता है। पाणिनि कृष्ण की तरह राम की उपासना का हवाला देते हैं जो ४०० सदी ईसवी पूर्व का है। ऋग्वेद में दशरथ, सीता, इक्ष्वाकु आदि शब्द मिलते हैं पर 'राम' शब्द कहीं भी नहीं मिलता। 'सीता' शब्द का भी यही हाल है। डा० जेकोबी के

मत से वैदिक देवता इन्द्र से ही बलराम और दशरथसुत राम का विकास हुआ है। क्योंकि दोनों इन्द्र के सदृश वीर तथा धीर हैं। रामकथा को जैनों तथा बौद्धों ने भी अपनाया है। लोकजीवन पर पड़े हुए राम के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव इससे ज्ञात होता है। दशावतारों में कृष्ण के पहले ही राम की गणना की गई है।[1]

फिर भी 'राम' नाम के अन्य राजाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में अवश्य मिलता है। किसी प्रतापी असुर राजा के नाम में 'राम' शब्द आया[2] है। यथा :—

प्रतदद्‌ुःशी मे पृथवाने वेने प्रराामे वोचमसुरे मधवत्सु।

ऐतरेय ब्राह्मण में भार्गव राम तथा जनमेजय के विषय में एक कथा[3] मिलती है; पर इससे रामायण के राम पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। शतपथ ब्राह्मण में एक राम औपतपस्विनि का उल्लेख है। अन्य आचार्यों के मतों सहित यज्ञ के तात्विक बातों पर इनके मत का अलग उल्लेख मिलता है। और एक जगह जैमिनीय-उपनिषद ब्राह्मण में दो स्थानों पर क्रातुजातेय-वैयाघ्र-पथ-राम का उल्लेख आता है। इससे कम से कम यह तो सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल से ही प्राचीन[4] राजाओं में तथा ब्राह्मणों में 'राम' नाम प्रचलित था।

शतपथ-ब्राह्मण में तथा छान्दोग्य उपनिषद में वैदेह जनक उल्लेख आता है। उसी में उल्लिखित अश्वपति कैकेय वैश्वानर तथा जनक समकालीन विद्वान राजा थे, यह जान पड़ता है। जनक इतने बड़े तत्वज्ञ हैं कि वे याज्ञवल्क्य को भी शिक्षा देते हैं और ब्राह्मण बन जाते हैं। रामायण के अन्य पात्रों की अपेक्षा वैदेह जनक का अनेक प्रसङ्गों में वैदिक साहित्य में उल्लेख आता है। पर कहीं भी सीता उनकी पुत्री है, तथा राम उनके जामात हैं ऐसे उल्लेख नहीं प्राप्त होते। जनक मिथिला के राजा थे। अन्य कई जनक नामी राजाओं के उल्लेख हैं। वैदिक साहित्य में सीता कृषि की एक अधिष्ठात्री देवता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सीता सावित्री, सूर्य की पुत्री हैं तथा एक सोमराजा का उपाख्यान भी[5] है।

महाभारत तथा रामायण में राम के लिये 'राम-दाशरथी' शब्द का प्रयोग

---

१. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ३।
२. ऋग्वेद पृ० १०–९३–१४।
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ७–२७–३४।
४. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण, ३७–३२–४–९–१–१।
५. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ४–५–१२।

मिला है। इसके बाद के साहित्य में रामभद्र और रामचन्द्र ये नाम प्रयुक्त हुए हैं। उत्तर रामचरित में 'रामचन्द्र' नाम का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। डाक्टर वेबर का अनुमान है कि 'राम-सीता-कथानक' वैदिक-साहित्य में वर्णित सीता, सावित्री और सोमराजा के उपाख्यान के आधार पर बना है। पर यह केवल कल्पना मात्र है। इसे सभी विद्वान ग्राह्य नहीं मानेंगे। सीता अवश्य कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। सीता को इन्द्रपत्नी भी कहा गया है तथा उसकी प्रार्थना के कई सूक्त भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त लांगल योजनम् तथा सीता यज्ञ के द्वारा कृषिकर्मो का उल्लेख मिलता है। अयोनिजा सीता के जन्म और तिरोधान के वृत्तान्त वैदिक सीता के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं ऐसा हम कह सकते हैं परन्तु रामकथा का वैदिक साहित्य में अभाव है यही माना जावेगा। रामायण के कतिपय पात्रों की ऐतिहासिकता के लिए आधार अवश्य वैदिक साहित्य में मिल जाते है। ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि वालिमकीकृत रामायण के पूर्व रामकथा संबंधी आख्यान अवश्य प्रचलित रहे होंगे।

महाभारत में दाशरथी राम का स्पष्ट उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है तथा 'वाल्मीकीय रामायण' में उनकी कथा पूरे विवरण के साथ दी गई है। महाभारत में वालिमकी ऋषि का कविवाल्मिकी का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है। रामायण का रचनाकाल श्री चिन्तामण विनायक वैद्य २ री शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। डा० याकोवी और एम्० विंटरनिटज्ज करीब-करीब २ री शती ईसापूर्व मानते हैं। इस रामायण के तीन पाठ मिलते[१] हैं—(१) दाक्षिणात्य पाठ-निर्णयसागर प्रेस बम्बई और दक्षिण के संस्करण। (२) गौडीय पाठ—गोरेसियो-पैरिस, तथा कलकत्ता संस्कृत सीरीज के संस्करण, तथा (३) पश्चिमोत्तरीय पाठ–दयानन्द महाविद्यालय सस्करण (लाहौर)। प्रचलित वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकि राम के समकालीन माने जाते हैं। महाभारत में रामकथा चार स्थलों पर वर्णित है। (१) आरण्य पर्व की रामकथा भीम-हनुमान के संवाद के रूप में पायी[२] जाती है। ३.१४७–२८–३९ पूना संस्करण। आरण्यपर्व में दो बार रामकथा का वर्णन है। रामोपाख्यान की रामकथा विस्तृत है जो विद्वानों के मतानुसार रामायण का आधार है तथा जो वाल्मीकी के रामायण का संक्षिप्त रूप कहा गया है। दूसरी रामकथा का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। (२) द्रोण पर्व की रामकथा तथा शान्तिपर्व की रामकथा[३] षोडश राजोपाख्यान के अन्तर्गत

१. रामकथा–बुल्के, पृ० ३० ।
२. रामकथा–बुल्के पृ० ४३ ।
३. महाभारत–७–५९–१–३१ ।

मिलती है। इन सोलह राजाओं की कथा व्यास ने अभिमन्यु वध के कारण शोक विव्हल युधिष्ठिर को धैर्य देने के लिए सुनायी है। इन सोलह राजाओं में से राम भी एक थे। (३) शांतिपर्व की रामकथा[1]–प्रसङ्ग द्रोणपर्व के ही समान है। किन्तु यहाँ पर कृष्ण-युधिष्ठिर को षोडश राजोपाख्यान सुनाते हैं। महाभारत में राम विष्णु के अवतार हैं इस बात को बतलाने वाले कई उल्लेख हैं। यथा—

(१) भीम हनुमान संवाद में हनुमान का कथन—

अथ[2] दाशरथी वीरो रामो महाबलः।
विष्णुर्मानुष्यरूपेण चचार वसुधा मिमाम् ॥

(२) रामोपाख्यान में ब्रह्मा देवताओं से कहते हैं कि 'विष्णु मेरे आदेश के अनुसार अवतार लेकर रावण की हत्या करेंगे।[3]

तदर्थभवतीर्णो सौ मन्नि योगाच्चतुर्भुजः।
विष्णु प्रहरता श्रेष्ठः सकर्मतत्करिष्यति ॥५॥

इसी पर्व के अन्तिम अध्याय में बतलाया गया है कि विष्णु ने दशरथ के गृह में रहकर रावण का वध किया है।

(३) **विष्णुना वसतांचापि गृहे दशरथस्य[4] वै।**
दशग्रीवो हतस्यान्तं संयुगे भीम कर्मणा ॥

(४) शान्तिपर्व में हरि अपने १० अवतारों का वर्णन करते हुए बतलाते है कि[5]—

संधौ तु स मनु प्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्थच।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः ॥१६॥

(५) सर्गारोहण पर्व में भी इसी प्रकार एक उल्लेख है।

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौचान्ते च मध्येच हरिः सर्वत्रगीयते ॥[6]

इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में पातालखण्ड में एक स्थान पर बतलाया गया है कि 'जिस समय वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी को आहत पाकर तीव्र शोक का अनुभव

---

१. महाभारत, १२–२२–५१–६२।
२. आरण्य पर्व, ३–१४७ पूना संस्करण।
३. „ ३–२६०। „
४. महाभारत-अरण्य पर्व, ३–२६६ पूना संस्करण।
५. „ शान्तिपर्व, १२–३४८ पूना संस्करण।
६. महाभारत-स्वर्गारोहण पर्व, १८–६, पूना संस्करण।

किया और निषाद को शाप दिया उस समय ब्रह्मा ने आकर उन्हें यह निवेदन किया कि निषाद वास्तव में स्वयं रामचन्द्रजी थे जो मृगयार्थ वहाँ पर आ गये थे। अतः आप उनके चरित का वर्णन कीजिए और संसार में सुयश प्राप्त कर यशस्वी बन जाइये। ब्रह्मा यह बतलाकर ब्रह्मलोक चले गए और वाल्मीकि मुनि ने इधर रामचरित का वर्णन 'ग्रन्थ कोटि भिः' में कर डाला, देखिए[1]—

शापोक्त्याहृदि संतप्तं प्राचेतसमकल्मषम्।
प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः॥
न निषादो स वैरामो मृगयां चर्तुमागतः।
तस्य संवर्णं नैव सुश्लोक्यसचं भविष्यसि॥
इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोके सनातनाः।
ततः संवर्णयामास राघवं ग्रंथ कोटिभिः॥

प्राचीन जेंद अवेस्ता में 'रामहुवास्त्र' यह शब्द आता है जिसका अर्थ (राम=विश्राम+हुवास्त्र=चरागाह) चरागाह में विश्राम यह बतलाया जाता है। यही शब्द आगे चलकर एक देवतावाचक शब्द बन गया। 'राम' शब्द से मिलते-जुलते प्रायः देवता या श्रेष्ठ व्यक्ति वाचक अनेक शब्द अनेक प्राचीन जातियों में प्रचलित थे। पर उन सबका रामायणीय राम से सीधा सम्बन्ध जोड़ना कठिन है।

रामकथा का साधारण स्वरूप अपने मूलरूप में उपलब्ध होना एक बड़ा दुःसाध्य और कठिन कार्य है। राम-रावण तथा हनुमान सम्बन्धी स्वतन्त्र आख्यान पहले प्रचलित थे जिन्हें जोड़कर एक पूरी रामकथा का रूप संवारा गया होगा जो आदि रामायण के नाम से प्रचलित रहा होगा। रामकथा को स्वयं भी एक रूपक माना जाता है जो आर्यों के दक्षिण विजय के सफल प्रयत्न को प्रतिध्वनित कर देता[2] है। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकता। वाल्मिकी मुनि ने अपने रामायण की रचना राम के समय में ही की थी। रामायण के दाक्षिणात्य पाठ वाले संस्करण में राम, सीता एवम् लक्ष्मण उनके आश्रम में पहुँचकर उनका अभिवादन करते तथा उनका आतिथ्य सत्कार पाते हुए दीख पड़ते हैं। अतःएव कुछ लोगों का यह अनुमान है कि वाल्मीकि और राम का समय बारहवीं शताब्दी ईसवी पूर्व अधिक से अधिक माना जा सकता है।

राम+अयन=रामायण- याने पूर्ण रामचरित का वाल्मीकिकृत लिखित

१. हिन्दुत्व—रामदास गौड, पृ० १२९–३०।

२. ए मेकडानल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, सन १९०७, पृ० ९१–१०३।

प्रमाणिक रूप नहीं मिलता। अतः कई शताब्दियों तक उसमें काव्यापजीवी कुशीलव अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखकर लोकप्रिय अंश बढ़ाते रहे। भगवद्गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शस्त्रधारण करने वालों में राम हूँ—'रामः शस्त्रभृतामहम्।' यहाँ पर राम एक आदर्श क्षत्रिय के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।[1] रामायण की लोकप्रियता बढ़ चली। सम्भवतः पहली शताब्दी ईसवी पूर्व से कृष्ण की तरह अवतार भावना से प्रोत्साहित होकर राम विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत हुए। रामभक्ति का आविर्भाव शताब्दियों बाद होने लगा। राम तथा उनके भाई लक्ष्मण दोनों विष्णु के अंशावतार माने जाने लगे।

रामायण काल में वैष्णव प्रधान भक्ति-सिद्धान्तों का यथेष्ट मात्रा में उत्कर्ष दिखाई देता है। बाल्मिकी के राम निर्गुण, सनातन आकाशस्वरूप तथा सम्पूर्ण लोकों के आश्रय हैं। वेद इन्हीं का निरन्तर प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने विष्णु का आश्रय लेकर, रावण आदि राक्षसों से त्रस्त जनता तथा ध्वस्त धर्म के रक्षणार्थ अयोध्यापति दशरथ की रानी कौसल्या के उदर से जन्म लिया है। जिस समय रामचन्द्रजी भाइयों सहित यमुना नदी से स्नान करके लीला का संवरण करने लगे उसी समय ब्रह्मा ने आकर कहा[2]—

वैष्णवीं ता महातेजे यद् वा काशं सनातनम्
त्वं हि लोके गतिर्देवो न त्वां के चित् प्रजानने।
त्वा म चिन्त्यं महद्भूमक्षयं चाजरं यथा ॥११०–८–१३॥

अर्थ—'हे विष्णुस्वरूप रघुनंदन। आइये, आपका प्रत्येक विधान मंगलमय है। हमारा बड़ा सौभाग्य है जो आप अपने परमधाम को पधार रहे हैं। देवतुल्य तेजस्वी भाइयों के साथ आप अपने जिस स्वरूप में प्रवेश करना चाहें करें। आपकी इच्छा हो तो चतुर्भुजधारी विष्णु रूप में ही स्थित हों, अथवा अपने सनातन आकाशमय अव्यक्त ब्रह्मरूप से विराजमान हों। भगवन् आप ही सम्पूर्ण लोकों के आश्रय हैं। आपको यथार्थ रूप से कोई नहीं जानते। आप अचित्य, अविनाशी, जरादि अवस्थाओं से रहित परब्रह्म हैं।'

रामायण-काल में अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी जान पड़ती है। सीता भी लक्ष्मी का अवतार है। निर्गुण सदृश राम ही दुष्टों के दलनार्थ सगुण-मनुष्यरूप धारण करके अवतार लेते हैं। माया से छुटकारा पाने के लिए भक्ति साधन है जो अन्तःकरणपूर्वक करने से मुक्ति मिल जाती है। रामनाम के स्मरण तथा कीर्तन का महत्व है। रामनाम समस्त पापों का नाश करता है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता।
२. कल्याण का संक्षिप्त वाल्मिकी रामायणांक।

रामायण की लोकप्रियता जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे राम का भी महत्व बढ़ने लगा। उनकी वीरता अलौकिक वीरता मानी जाने लगी। रावण दुष्टता तथा पाप का मूर्तिमंत प्रतीक माना जाने लगा। राम पुण्य, सदाचरण, शील, शक्ति, तथा सौन्दर्य के आदर्श समझे जाने लगे। रामायण के उत्तर काण्ड में रामावतार की सामग्री सबसे अधिक पाई जाती है। प्राचीनतम पुराणों में से वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य और हरिवंश में राम अवतार का उल्लेख पाया जाता है। धीरे-धीरे यह भावना सर्वमान्य होती गयी है। ऐसा माना जाता है कि रामचरित का महान् आख्यान इक्ष्वाकु वंश के राजाओं से संबन्ध रखता था जो किसी चली आती हुई मौखिक परम्परा से संप्राप्त था जैसे—

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञांवंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानम् रामायणमिति श्रुतम् ॥३॥

वाल्मीकि के द्वारा रामचन्द्र इक्ष्वाकु वंश के ही थे इसलिये 'रामायण' नाम का एक महान् आख्यान् रचा गया। वाल्मीकि पूर्व ही भार्गव महर्षि ने उसके समान पद्यों की रचना की होगी ऐसा अनुमान किया जाता है - पर वे इस कार्य में उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सके जितनी वाल्मीकि को प्राप्त हुई थी। बुद्ध-चरित में अश्वघोष कवि इसका उल्लेख करते हैं।[२]

वाल्मीकि नादश्व ससर्ज पद्यंजग्रन्य यन्नच्यवनोमहर्षिः ॥

अर्थात् वाल्मीकि ने केवल 'नाद' अर्थात् शोकोद्गार से वह पद्य बनाया जिसे महर्षि च्यवन कतई नहीं बना सके।

स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी का कहना है कि च्यवन वाल्मीकि का पिता, पितामह या पूर्वज था क्योंकि बुद्ध चरित के ही एक श्लोकानुसार वे अपना परिणाम निकालते हैं—

तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणां च हितानितानि, कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥[३]

'अर्थात् इसलिए न तो अवस्था प्रधान है, न काल, लोक में कोई भी कभी भी श्रेष्ठ हो जाता है। राजाओं तथा ऋषियों के कई हितकारक कार्य हैं जो पुरखाओं से न हो सके और उन्हें उनके पुत्रों ने कर दिखाया।'

इसको मान लेने पर भी यह नहीं सिद्ध होता हैं कि च्यवन ने गद्य या पद्य में

१. वाल्मीकीय रामायण, १५–३।
२. बुद्धचरित-श्लोक ४८, सर्ग १।
३. बुद्धचरित–श्लोक ५१, सर्ग १।

रामायण लिखी थी ।[1] हम यह कह सकते हैं कि महान आख्यान रामायण की प्राचीनता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता ।

प्रसिद्ध पुराणों में आये हुए रामकथा के प्रसंग तथा रामचन्द्रजी के अवतार के रूप में हमारे सामने आने के अतिरिक्त कुछ ऐसे रामायण ग्रन्थ भी उपलब्ध हो जाते हैं जिनकी शैली पुराणों जैसी है । ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत ही अध्यात्म रामायण के एक विशिष्ट रूप को हम देखते हैं । 'हिन्दुत्व'[2] में स्व० रामदास-गौड़ जी कुछ रामायणों का उल्लेख करते हैं जिनमें रामकथा को अलौकिक रूप प्रदान किया गया है । वे रामायण ये हैं–(१) महारामायण, (२) संस्कृत रामायण, (३) लोमस रामायण, (४) अगस्त्य रामायण (५) मंजुल रामायण (३) सुवर्च रामायण, (७) सौर्य रामायण, (८) चान्द्र रामायण, (९) सौहार्द रामायण, (१०) सौपद्य रामायण, (११) रामायण महामाला आदि और भी कई नाम हैं । इनके अतिरिक्त योगवासिष्ठ रामायण एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है । एम्० विंटरनित्स और एस्० एन्० दास गुप्ता योगवासिष्ठ को आठवीं शताब्दी ईसवी का मानते हैं । लेकिन डा० वी राघवन् के मतानुसार उसकी रचना ११०० ई० और १५२० ई० के बीच हुई थी । अन्य कुछ[3] भारतीय विद्वान इसे ईसवी पूर्व का ग्रन्थ मानते हैं । इस का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वशिष्ठ-रामचन्द्र-संवाद है, जिसमें वसिष्ठ राम को मोक्ष प्राप्ति के उपाय पर एक विस्तृत उपदेश देते हैं । वाल्मीकि ने अरिष्ठनेमि को यह संवाद सुनाया था तथा योगवासिष्ठ में अगस्त्य सुतीक्ष्ण की शिक्षा के लिए वाल्मीकि अरिष्ठनेमि संवाद को दुहराते हैं ।

भारतीय भक्ति मार्ग का आरम्भ तथा उसका विकास कैसे हुआ इसे वेदकाल से आरम्भ कर भागवत धर्म तथा वैष्णव धर्म और वासुदेव कृष्ण के एकान्तिक धर्म तक किस प्रकार प्रगट हुआ इस का विवेचन हम पहले ही कर आये हैं । हमें यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि उसी विष्णु-भक्ति की एक अन्य शाखा रामभक्ति में परिणत हो गई । कहा जा सकता है कि रामभक्ति और रामावतार भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है । सर रामगोपाल भांडारकरजी के मतानुसार रामावतार ईसवी सन् के आरम्भ में हुआ था; पर उनकी उपासना, पूजा एवम् विशेष प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुई है ।[4] डा० श्रेडर के मत से जिन

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २ (सं० १९७८), पृ० २३६ ।
२. हिन्दुत्व–काशी, पृ० १३८, ४३, रामदास गौड़ ।
३. कामिल बुल्के–रामकथा, पृ० १६३–१६४ ।
४. वैष्णविज्म और शैविज्म–सर रा. गो. भांडारकर, पृ० ४७ ।

वैष्णव संहिताओं में राम अथवा राधा की एकान्तिक पूजा का प्रतिपादन किया गया है वे अर्वाचीन हैं, तथा पांचरात्र के प्रामाणिक साहित्य के अनुसरण से उत्पन्न हुई हैं।[1]

कुछ शेखर अल्वार की रचना में संभवतः प्रौढ़ रामभक्ति का प्राचीनतम निरूपण सुरक्षित है। इनके अधिकांश पद कृष्ण भक्ति संबन्धी हैं पर उनकी रचना का पाँचवा अंश रामावतार से सम्बन्ध रखता है, जिसमें राम के प्रति अत्यन्त कोमल तथा हृदयस्पर्शी भक्ति अंकित की गई है। वैष्णव संहिताओं तथा उपनिषदों में रामभक्ति तथा रामपूजा का शास्त्रीय प्रतिपादन किया गया है। रामानुज ने अपने श्री भाष्य में विभवों या अवतारों का उल्लेख किया है, जिनमें कृष्ण और राम विशेष रूप से उल्लिखित हैं। उनके संप्रदाय में जिन वैष्णव संहिताओं में राम सम्बन्धी उल्लेख है वे संहितायें ये हैं—(१) आगस्त्य संहिता, (२) कालिराघव, (३) वृहद् राघव, तथा (४) राघवीय संहिता। इसके अतिरिक्त रामभक्ति सम्बन्धी तीन सांप्रदायिक उपनिषदें हैं। (१) रामपूर्वतापनीय, (२) रामोत्तर तापनीय, (३) रामरहस्योपनिषद। इन तीनों में रामोपासना के साथ राम यंत्र, राममंत्र, तथा सीता मंत्र आदि का उल्लेख है। इसके राम परमपुरुष तथा सीता मूल प्रकृति हैं। राम तापनीय के अनेक स्थलों पर अध्यात्म रामायण के रामहृदय तथा रामगीता से साम्य पाया जाता है।[2] डा० वेबर के मतानुसार रामतापनीय उपनिषद का प्राचीनतम काल ११ वीं शताब्दी है।[3] उस समय से राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य का निर्माण होने लगा। स्तोत्रों के अतिरिक्त रामोपासना के विषय में रची गयी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ हस्तलिखित रूप में सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ—रामार्चन सोपान (राजेन्द्रलाल मित्र, संस्कृत कॅटलाग भाग ६,पृ० २०२, सर्व सिद्धांत (राजेन्द्रलाल मित्र, संस्कृत कॅटलाग भाग ७, पृ० ६६) रामार्चन चन्द्रिका (हरप्रसाद शास्त्री, संस्कृत कॅटलाग भाग १, पृ० ३२३) तथा रामपूजा पद्धति (हरप्रसाद शास्त्री, संस्कृत कॅटलाग भाग १, पृ० ३२३)

ये सब रचनाएँ ऐसी हैं जिनकी छानबीन एवम् विश्लेषण अभी पूर्ण रूप से नहीं हुआ है। रामभक्ति के विकास में इतना ही कहा जा सकता है कि रामानन्द द्वारा राम भक्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला था। प्रायः लोग रामानुजाचार्य से रामानन्द का सम्बन्ध जोड़ते हैं तथा एकाध प्रचलित ग्रन्थ उनके नाम पर लिखा

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू दी पांचरात्र—डा० श्रेडर, पृ० ११।

२. बुल्के–रामकथा, पृ० १५०–१५१।

३. ए वेबर–मे, व्यय र्बलिन अकादमी १८६४, पृ० २८३।

हुआ माना जाता है जैसे—वैष्णव-मताब्ज-भास्कर, श्री रामार्चन-पद्धति। रामायत सम्प्रदाय के व्यापक प्रसार का महत्व तुलसीदास तक उत्तर में तथा एकनाथ रामदास तक दक्षिण में बहुत बढ़ गया है। इसका अधिक विवेचन हम आगे चल-कर करेंगे।

रामकथा में समूची और सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक रूप धारण कर व्यापक रूप से सामने आई है। लोकप्रियता की दृष्टि से लगातार अबाध गति से अक्षुण्ण रूप से भारत में ही नहीं, देश विदेशों में भी उसका प्रचार प्रसार का मुख्य आकर्षण और प्रमुख कारण यह है कि उस में हृदय को खींच लेने की अपूर्व और अद्‌भुत शक्ति है। भारत की समस्त आदर्श भावनाएँ, चिन्तन के सभी आदर्श पक्ष, उपासना और साधना के सभी उत्कर्ष, एवम् समस्त सांस्कृतिक आदर्शवाद की कल्पनाएँ रामकथा में, रामराज्य की आदर्श कल्पना में केन्द्रीभूत होकर अत्युत्तम आदर्शवाद की उज्ज्वलतम प्रतीक बन गई हैं।

इस कथा ने बौद्धों-जैनों की कथाओं, जातक कथाओं को एवम् उनके साहित्य को ही प्रभावित नहीं किया अपितु किसी न किसी रूप में इन्दोनेसिया, खोतान, चीन, तिब्बत, इन्दोचीन, सयाम तथा ब्रह्मदेश और भारत के पश्चिम में सुमेर के निवासी सुमेरियन लोगों में पाई जाने वाली रामकथाएँ हैं। इसके व्यापक स्वरूप की कहानी कहने का यह स्थल भी नहीं है। इसका व्यापक अध्ययन करना हो तो अलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित रेवरेंड फादर डा० कामिल बुल्के कृत रामकथा विशेष द्रष्टव्य है।[1] व [2] रामोपासना विषयक विवरण इसलिए यहीं पर समाप्त किया जाता है।

वैष्णव उपासना और विठ्ठल का स्वरूप—

अपने प्रबन्ध में अन्य वैष्णव संप्रदायों के विवेचन के साथ वारकरी संप्रदाय का विवेचन आगे किया जायगा। वैष्णवोपासना के इस आरम्भिक विवेचन में हमने देखा कि वेदकालीन परम आराध्य देवताओं में परम आराध्य विष्णु से वासुदेव, नारायण, कृष्ण, रामचन्द्र आदि उपास्यों का विभिन्न स्वरूप बनता गया है। विठ्ठलोपासना कृष्णोपासना का ही एक अलग रूप है। महाराष्ट्र में रामोपासना के साथ कृष्णोपासना के अंतर्गत कृष्ण के मूल प्रचलित रूप से सम्बद्ध विठ्ठलोपासना है। महाराष्ट्र में इसका अत्यन्त महत्व है। यहाँ पर पंढरपूर और विठ्ठल के बारे में विवेचन करना आवश्यक है तभी हम उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

---

१. रामकथा उत्पत्ति और विकास—डा० कामिल बुल्के।

२. मानस की रामकथा—परशुराम चतुर्वेदी।

पंढरपुर में विट्ठल मन्दिर में ईंट पर खड़े हुए विट्ठल की मूर्ति है तथा उनके बगल में रुक्मिणी की मूर्ति है जो यहाँ पर 'रखुमाई' के नाम से प्रसिद्ध है। आषाढ़ की शुक्ल एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ल एकादशी के दिन विट्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन कर अपना जीवन तथा जन्म सफल करते हैं। साल में कम से कम दो बार यहाँ यात्रा के लिए आना पुण्यलाभकारक समझा गया है।

ऐसा कहा जाता है कि विष्णु के इस स्वरूप की भक्ति दक्षिण में और कर्नाटक में प्रचलित थी। इसकी साक्ष्य धारापुरी, तिरुपति, अहोवलपुरम् इन स्थानों पर पायी गयी मूर्तियों से मिल सकती है। ये सभी मूर्तियाँ विट्ठल की हैं। पंढरपुर में होयसल वंश के वीर सोमेश्वर के द्वारा उत्कीर्ण एक लेख मिलता है जिसमें देवता की पूजा अर्चा के लिये आसंदिनाड के हिरियगंज ग्राम का दान किये जाने का उल्लेख है। अर्थात् इससे विट्ठल और होयसल वंश का निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इन होयसलों में विष्णुवर्धन वा विट्टिग देव एवम् बिट्टी देव बड़ा पराक्रमी माना गया है। इसका समय सन् १११७ से सन् ११३७ का है। रामानुज के उपदेश से जैन धर्म का परित्यागकर यह वैष्णव धर्म में दीक्षित हुआ। पुंडरीक मुनि या पुंडलीक भक्त के साथ इस राजा का सम्बन्ध आया और उसकी आज्ञानुसार विट्ठल का मन्दिर भीमा के तट पर उसने बनवाया। राजा के ही नाम पर यह विष्णु मन्दिर कहलाया। अनुमान के अतिरिक्त और कोई साक्ष्य यहाँ हम नहीं दे सकते।

पंढरपुर में आजकल जो मूर्ति विद्यमान है तथा मन्दिर का आज जो स्थान है वही पुराना स्थान था और मूर्ति भी वही है ऐसा निश्चित नहीं कह सकते। कई बार मुसलमानों के आक्रमणों ने अनेक देवताओं के मन्दिर तोड़े और प्रत्येक बार भयनिवारण हो जाने पर देवताओं को पुनः पुनः प्रस्थापित किया गया। कभी-कभी मूर्तियों को छिपाकर भी रखा जाता था। भारत के लिए यह अनुभव नित्य का ही है। उत्तर प्रदेश में ब्रज तथा मथुरा पर जब-जब आक्रमण हुए तब-तब वहाँ की मूर्तियों को हटाया गया है। मूर्ति-भंजन हो जाने पर नई मूर्तियों की भी प्राण-प्रतिष्ठा हुई हैं। अतः पंढरपुर में ऐसा न हुआ हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पंढरपुर में ऐसा ही हुआ है।

पंढरपुर की विट्ठल मूर्ति विजयनगर में क्यों ले जाई गई थी इसका कारण द्वैत मत के वैष्णव संत इस प्रकार देते हैं। सत्रहवीं शती में श्री विट्ठल नामक एक कन्नड़ भक्त कवि का यह पद्य इसे स्पष्ट करता है। यथा—

नीनिन्निगे वंद्या विठला[1] एनिदु कौतुकवु ।
मध्वदेषिगळु माडुव पद्धति यनु कंडु ॥
हृद्य वागदेकद्दु कळुहनं ते एद्दिल्लिगे वंद्या ।
मिथ्या वादिगळु निरन्तर मुत्ति मुत्ति कोंडु ॥
अत्तु करेदु कुमुत्तिरे कंडु ।
चे सत्तु वंद्या विठला ॥
श्रीद विट्ठल निन्न सदगूण वेदशास्त्र गळु ।
शोधि सिनो उलु भुदेवरि गोलिडु ॥
आदरि सलु वंद्या विट्ठला ॥

तात्पर्य, मध्यद्वेषी, मिथ्यावादी अर्थात् अद्वैतमार्गी भक्ति करने वाले वेदबाह्य आचरण तथा गड़बड़ देखकर मन उद्विग्न हो गया तथा वेदशास्त्रादि का उत्कर्ष देखकर उसके प्रति अपनी स्वीकृति बतलाने के लिए तथा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करने के लिए विट्ठल वहाँ पर गये ऐसी द्वैतवादी भक्तों की धारणा है ।

विजय नगर में विठ्ठल मूर्ति को इसीलिए ले गये होंगे । जिससे यावनी भय नष्ट होकर उसका महात्म्य कायम रह सके । प्रसिद्ध वैष्णव विठ्ठल भक्त पुरंदरदास ने अपने साथियों सहित अपने जीवन का उत्तरकाल विजयनगर में व्यतीत किया था । विट्ठल भक्ति परम्परा कर्नाटक में पहले से ही प्रचलित थी ऐसा दिखाई देता है ।

दक्षिण में जब आर्यो का प्रवेश हुआ तब यहाँ के मूल आदिवासियों के प्रमुख उपास्य का भी आर्यीकरण अवश्य हुआ होगा । इसी समन्वयीकरण के ही कार्य-स्वरूप पंढरपुर के विठोबा-विठ्ठल-विष्णु के बालरूप माने गये और अवतार भी समझे गये ।[2] ठीक इसी प्रकार बालाजी, व्यंकटेश तथा त्रावणकोर के पद्मनाभ का भी हुआ है । वारिदराज तीर्थ ने शक १४६३ में 'तीर्थ-प्रबन्ध' नामक काव्य में विट्ठल स्तुतिपरक कुछ श्लोक रचे हैं जिनमें से एक यह है[3]—

चौर्यान्मातृनिबद्ध चारु चरणः पापोद्य चौ यदि बुधै,
बुद्धस्त्वं पथि पुन्डरीक मुनिना जारेति सम्बोधिता ।
तुंगातीर गतोसि विट्ठल दिशन्तन्याकृति वंछितम् ।
वेत्तृणां यदि मे न दोस त्वं सं स्थितिः कथ्यते ॥

---

१. श्री विट्ठल आणि पंढरपूर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ६६–६७ ।

२. एनसायक्लोपिडिया ऑफ दि रिलिजन अँड एथिक्स वाल्यूम–६–७०२ ।

३. पूर्व प्रबन्ध-श्लोक १३–२, कर्नाटक कविचरित खंड ३–पृ० १५१ ।

इस श्लोक में विठोवा तुङ्गातीर पर स्थित विजयनगर में गया था यह उल्लेख है।

विठ्ठल मूर्ति और जैन मत —

कुछ लोग विठ्ठलमूर्ति को नेमिनाथ जैन तीर्थंकर की मूर्ति मानते हैं। इस प्रकार के तर्क का आधार एक जैन ग्रन्थ है जिसका उल्लेख गोडवोले कृत भारत-वर्षीय अर्वाचीन कोश में इस प्रकार है—

नेमिनायस्य या मूर्ति स्त्रिपु लोकेपु विश्रुता।
द्वौ हस्तौ कटिपर्य्यांये स्थापयित्वा महात्मनः ॥१॥
मूर्तिस्तिष्ठति सा सम्यक् जैनेन्द्रेणच पूजिता।
अहिंसा परमं धर्म स्थापयामास वे सच॥
युगेस्तु मनुजा क्षोणि विप्र भुसिश्च वासके।
मेलने धर्म राजस्य शंकस्य च गतावधिः॥
आपाढ़े शुक्ल पक्षे तु एकारश्यां महतियौ।
बुधे च स्थापया मास विरोधिकृत वासरे॥

इस जैन ग्रन्थ का पता नहीं लगता। कमर पर हाथ रखे हुए और आयुध धारण करने वाली तीर्थंकरों की मूर्तियां कहीं भी नहीं मिलती हैं। ऐसी परिस्थिति में केवल मूर्ति की नग्नता से ही विठोवा को नेमिनाथ की मूर्ति बना देना औचित्य को छोड़कर मत प्रकट करना है। इससे केवल इतना सिद्ध हो सकता है कि महाराष्ट्र में जब जैन मत का प्रभाव छाया होगा और प्रसार हुआ होगा तब अहिंसा-धर्म-स्थापना में इस मूर्ति का उपयोग कर लिया गया होगा। वस्तुतः यह मूर्ति जैनियों की नहीं है; क्योंकि अन्तर्गत प्रमाणों के आधार पर मूर्ति के आंगिक भावों पर से ही यह बात सिद्ध हो जाती है। यह श्रीकृष्ण का गोकुल का बाल रूप ही है। कमर पर हाथ धरे हुए विठ्ठल खड़े हैं। एक हस्त में कमल है तथा दूसरे में शंख। भाल प्रदेश पर और पीठ पर छीके की रस्सी है। तुकाराम इस मूर्ति का वर्णन यों करते हैं[1]—

पांडुरंग बालमूर्ति गाई गोपाळ संगाती।
येऊनिया प्रीति, उभे समचि राहिले॥

यह पांडुरङ्ग की बालमूर्ति है तथा साथ में गोपाल सखा और गायें हैं। अत्यन्त प्रीतीपूर्वक यहाँ आकर वे इस ध्यान में खड़े हैं।

१. श्री तुकाराम-३०३, सकल-संत गाथा।

विठ्ठल की अन्य मूर्तियाँ—(१) अहोवलम् की विठ्ठल-मूर्ति पुरानी मूर्ति है कमर पर हाथ धरे हुए है, अन्य हाथों में क्रमशः शंख और कमल है, तथा मस्तक पर टोपीनुमा मुकुट शोभायमान है। (२) जोगेश्वरी की गुफा से प्राप्त विठ्ठलमूर्त्ति एक भग्नमूर्ति है जो आठवीं शताब्दी में उपलब्ध हुई थी। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विठ्ठल मूर्ति ही है। (३) धारापुरी की गुफा में मिली हुई खंडित विठ्ठल मूर्ति ८ वीं शती की ही है, जो बंबई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम में लाकर रख दी गई है। कमर पर धरा हुआ हाथ ऊपर से खंडित है। कमर पर वस्त्र, मेखला तथा बाईं गोद पर टिका हुआ हाथ शंख लिए हुए है। (४) तिरुपति बालाजी की विठ्ठलमूर्ति सबसे सुन्दर मूर्ति है।

सामान्यतः मध्ययुग के पूर्व ही विठ्ठल भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है। शंकराचार्यजी के द्वारा रचित एक पांडुरंगाष्टक है जिसका आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया गया है।[1]

महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां वरं पुन्डरीकाय दातुं मुनीद्रैं।
समागत्य तिष्ठन्त आनंदकंदं परब्रह्मलिंगं भजे पान्डरंगम्॥

—पान्डुरंगाष्टक।

यों इस 'पांडुरंग-स्तोत्र' के शंकराचार्य कृत होने में आलोचकों को अभी सन्देह बना हुआ है। यदि सचमुच वह श्रीमदाचार्यकृत है तो विठ्ठल का अविर्भाव सातवीं शताब्दी से पूर्व मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

'मालूतारण' नामक एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का निर्माण मालू नाम के एक स्वर्णकार जाति के मनुष्य ने किया है। यदि यह विश्वसनीय है तो पान्डुरंग मूर्ति शालीवाहन शक ४-५ तक पुरानी मानी जा सकेगी। इस ग्रन्थ के बत्तीस अध्याय हैं, तथा उसमें विक्रम और शालीवाहन के संघर्ष की कहानी है। शालीवाहन तथा उसके अमात्य रामचन्द्रपंत सोनार विक्रम के आक्रमण से बड़े चिन्तित थे, पर अचानक चार कोली सरदारों ने मदद देकर शालीवाहन को विजय प्राप्त करा दी। इसी उपलक्ष में शालीवाहन ने अमात्य रामचन्द्र को जमीन दान देकर उसकी सनद बना दी। इस सनद में रामचन्द्र पंत को दींडीखन में उन्हीं के द्वारा बसाये गये पंढरपुर का स्वामित्व प्रदान किया। पांडुरंग की इन पर कृपा थी। चार कोली सरदारों को भी रामचन्द्र पंत ने पंढरपुर में बसाया और पुन्डलीक विठ्ठल, मल्लकार्जुन और काल भैरव आदि देवता स्थानों से प्राप्त होने वाला द्रव्य वंश परम्परागत रूप में उन्हें दान के रूप में लिख लिया। ये सनदें शालीवाहन के

१. **वारकरी संप्रदाय—प्रा. शं. वा. दांडेकर, पृ० १३–१४।**

हस्ताक्षर और अपने सिक्के सहित रविवार चैत्र शुद्ध सप्तमी शक ५ सुन्दरनाम के संवत्सर के दिन प्रदान की हैं।

पंढरपुर में चार शिलालेख उपलब्ध हो गये हैं जो पंढरपुर पर प्रकाश डालते हैं जिनका ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है[१]—(१) शक ११५९ का शिलालेख—यह शिलालेख सोलह स्तंभों के सामने वाले दक्षिणोत्तर स्तंभ पर खोदा गया है। इसकी भाषा कानडी और संस्कृत मिश्रित है। पंढरपुर को 'पंडरगे' और विठोबा को 'विठ्ठल' कहा गया है। विठ्ठल देवस्थान के विठ्ठल के अंगभोग और रङ्गभोग के लिए हिरियगंज ग्राम के दान कर दिये जाने का इसमें उल्लेख है।

(२) शक ११९२ का 'आप्तोर्यामइष्टि' का शिलालेख—इसमें किसी केशवपुत्र भानु नाम के व्यक्ति के द्वारा पांडुरंगपुर में किये गये आप्तोर्याम यज्ञ का उल्लेख है। पंढरपुर में एक पुलिस चौकी है जिस की इमारत बहुत पुरानी है। उसी स्थान पर यह शिलालेख उपलब्ध हो गया है। 'Archaeological Survey of India, W. C. Report 1897-98' के पृष्ठ ५ में बतलाया गया है कि पुराना विठ्ठल मंदिर अनुमानतः इसी स्थान पर था। पर श्री ग. ह. खरे इस मत से सहमत नहीं हैं।

(३) शक ११९५ से शक ११९९ का चौरासी का शिलालेख—अनेक भक्तों के द्वारा पुराने विठ्ठल मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए संपत्ति दान करने वाले दाताओं की नामावली इस पर खुदी हुई है। इतिहासकार राजावाडे इस को जीर्णोद्धार विषयक नहीं मानते। पर इतना तो निश्चित है कि यह लेख पुराने देवालय की वृद्धि प्रीत्यर्थ दान दिया गया था इस बात को सिद्ध करता है तथा देवतास्थान के अस्तित्व का सूचक हो जाता है।

एक और शिलालेख चौरासी-लेख से भी पुराना ८७ वर्ष पूर्व का अर्थात् शक ११११ का उपलब्ध हो गया है। पंढरपुर के इस शिलालेख को डा० शं० गो० तुळपुळे जी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पढ़ा है जिसके निष्कर्ष इस प्रकार के हैं—

(१) पंढरपुर में विठ्ठल भक्ति अनुमानतः ६ ठी शताब्दी से प्रचलित थी।

(२) १२ वीं शताब्दी में यह भक्ति विशेष रूप से प्रचार में थी।

(३) विठ्ठल भक्ति का प्रचार जिस देवता के कारण हुआ उसका मन्दिर शक ११११ में बना।

---

१. पंढरपूर विठ्ठल मंदिराच्या इतिहासांतील एक अज्ञात दुवा—प्रो. शं. गो. तुळपुळे मराठी साहित्य-पत्रिका एप्रिल, मई, जून १९५६ संख्या ३०, पृ० २६-२८।

(४) इसके बाद देवालय में वृद्धि होती गयी। शक ११५९ में होयसल वंशीय वीर सोमेश्वर ने कर्नाटक का एक ग्राम दान दिया। शक-११९२ में एक आप्तोर्याम यज्ञ किया गया था जो इसी देवालय के प्रांगण में किया गया। शक ११९५ में 'पांढरी फड मुख्य प्रौढ़ प्रताप चक्रवती श्रीरामदेव राव यादव और उसके 'करणाधिप' हेमाद्री पण्डित ने अपने नेतृत्व में इस देवालय का विस्तार किया।

(५) इसके बाद मुसलमानी आक्रमण के कारण पंढरपुर का विठ्ठल मंदिर नष्ट हो गया। फिर इसको बनाया गया। यही शिवाजी-कालीन मंदिर आज भी वर्तमान है।

बंगाल के प्रसिद्ध द्वैतवादी वैष्णव महासाधु गौरांग महाप्रभु चैतन्य ने दक्षिण यात्रा की थी। यह यात्रा सन १५१०–११ में की गयी थी। कृष्णदास कविराज नाम के उनके एक भक्त कवि ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' में इसका उल्लेख किया है, जिसमें बतलाया गया है कि चैतन्य कोल्हापुर से पंढरपुर गए थे। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

तथा होइते पान्डूपुर आइला गौरचंद्र। विठ्ठल देखि पाइल आनन्द।
प्रेमावेशे कैल प्रभुकीर्तन। प्रभु प्रेमे देखि सवार-चमत्कार मन॥

पढरपुर में विठ्ठल को देखकर चैतन्य महाप्रभु को आनन्द हुआ। उन्होंने प्रेमपूर्वक विठ्ठल के सामने कीर्तन तथा नर्तन किया। नरनारी इनके इस प्रकार के प्रेम को देखकर चकित और मुग्ध हो गये।[1] विठ्ठल मूर्ति के सम्बन्ध में एक और जानकारी विद्वद्रत्न डा० रामचन्द्र पारनेकरजी इस प्रकार देते हैं[2]—

विठ्ठल की आधिदैविक जानकारी—

लोगों का विश्वास है कि विठ्ठलमूर्ति कृष्ण मूर्ति ही है। दक्षिण में कर्नाटक और आन्ध्र प्रान्त में बालाजी के मन्दिर हैं। बालाजी विष्णु का ही स्वरूप है। महाराष्ट्र में यह विठ्ठल स्वरूप बनकर विठ्ठल मूर्ति के नाम से प्रस्थापित की गई। बालाजी को विष्णु का अवतार माना जाता है उसकी कथा इस प्रकार है। बालाजी के साथ लक्ष्मी नहीं है वह रूठकर अंबिहा रूप से करवीर (कोल्हापुर) में निवास कर रही है। विठोबा भी पंढरपुर में अकेले ही आये हैं।

---

१. 'चैतन्य चरितामृत'—कृष्णदास कविराज मध्यलीला, ९ वां परिच्छेद।
२. पंढरपुर के विठोबा की आधि दैविक जानकारी—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

रुक्मिणी–रखुमाई का मंदिर गाँव के बाहर है। यहाँ भी वही रूठने की कल्पना है। रुक्मिणी रूठी हुई हैं और विठ्ठल या विठोबा अकेले ही खड़े हैं। इसी विठ्ठल का दूसरा नाम पांडुरंग है। इस रूठने का कारण यह है कि विठ्ठल को पद्मिनी नाम की राजकन्या से विवाह करना था और दूसरा रंग अर्थात् संसार बसाना था। इसीलिए कहा जा सकता है पद्म रंग की कल्पना विठ्ठल के मनमें थी। परन्तु रुक्मिणी के रूठ जाने से वह बदरङ्ग हो गया। ऐसे समय में सहज ही विचार उत्पन्न हो गया कि प्रथम गृह-संसार समाप्त हो गया और दूसरा गृह-संसार करने की इच्छा है, पर अभी वह निर्माण न हो सका यह विठ्ठल की तटस्थता-वृत्ति है। कृष्ण की इसी ताटस्थ्यवृत्ति युक्त ध्यान की कल्पना भक्तों ने की जो पंढरपुर के विठ्ठल रूप में अवतीर्ण हो गयी। शिल्पकार ने इसी ताटस्थ्य भाव प्रकटीकरणार्थ कमर पर दोनों हाथ रखी हुई विठोबा की मूर्ति का निर्माण किया। जब हम चितामग्न या विचारमग्न रहते हैं तब इसी प्रकार कमर पर हाथ रखकर कहीं देखा करते हैं। इसी अनुभव को शिल्पकार ने प्रकट किया। पद्मरंग शब्द का पांडुरंग अपभ्रंश रूप है। दक्षिण की भाषाओं में उदासीनता निर्देशक कोई शब्द रहा होगा जिसका अपभ्रंश रूप विठ्ठल बना होगा। यों वारकरी संप्रदाय के विद्वान विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं— वि=नहीं या विगत+ठ=अज्ञात+ल=लक्षणा द्वारा अज्ञान नष्ट करने वाला और ज्ञान प्रस्थापित करने वाला अर्थात् विठ्ठल पर यह अर्थ किसी तरह खींचतान-कर किया गया जान पड़ता है। भागवत या वारकरी संप्रदाय के वह अनुरूप नहीं है अतः वैसा अर्थ करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सीधे रूप में भी प्रथम गृहस्थी न हो सकी अर्थात् बदरंग हो गयी और दूसरी गृहस्थी को बसाने या करने की इच्छा मात्र है इस बीच की तटस्थ भाववृत्ति का भक्ति के द्वारा किया गया सगुण ध्यान और सगुण मूर्ति ही पांडुरंग-विठ्ठल की है। 'पाँडुरंग' शब्द का अर्थ इस प्रकार होगा—जिसका संसार-रंग पांडुर याने फीका हो गया है ऐसा शब्द पांडुरंग है। पद्मरंग का पांडुरंग अपभ्रंश रूप है ऐसा मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

विद्वद्वर पारनेरकरजी का कहना है कि सगुणोपासना के तंत्र विधान की दृष्टि से विठ्ठल का यही ध्यान योग्य है। आध्यात्मिक अर्थ से निर्गुणोपासना का अर्थ लगाना अयोग्य है।[1]

---

१. डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ—

'पंढरपुर' और 'विठ्ठल' शब्द इस प्रकार बने हैं—

(१) पंढरपुर के[1] पुराने नाम पंढरि—पांडुरंगपुर, पंडरिपुर—फागनिपुर, पौंडरीक क्षेत्र, पांडरंगपल्ली इस प्रकार के मिलते हैं। पौंडरीक से संत पुंडलीक का संबंध निश्चित हो जाता है। 'पंडरगे' कन्नड नाम है। पंडरिपुर के संस्कृत रूप पंडरिका से पंडरिआ उससे पंडरी या पंढरी यह रूप बना है। भांडारकरजी के अनुसार पांडुरंगपुर का पंढरपुर बना है। इस नगर के आराध्य देवता को विठ्ठल, विठोबा, पंढरिनाथ, विठाई माऊली (माता के अर्थ में) आदि नामों से संबोधित किया जाता है। सबसे प्रमुख 'विठ्ठल' है।

(२) 'विठ्ठल तथा रखुमाई शब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार से बताई जाती है।

(अ) भांडारकर के मतानुसार 'विष्णु'का कन्नड रूप 'विट्टि' होता है विष्णुदेव-विट्टिदेव—विट्टिगदेव—विठ्ठल देव ऐसा अपभ्रंश रूप बना है।

(आ) राजवाडे के अनुसार 'विठ्ठल' शब्द 'विण्ठल' से बना है। विण्ठल=दूर जंगल का स्थल। जंगल में रहने वाला—दूर रहने वाला देवता याने विठ्ठल है। इतिहास, दंतकथाएँ तथा व्युत्पादन सुलभता की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति ग्राह्य है।

(इ) मॉंसियर जे. झिलस्की ने 'आर्किव्ह ओरिएन्तालिनी' के चौथे खंड के दूसरे अङ्क में एक लेख लिखकर उसमें 'विष्णु' शब्द का मूल द्राविण और आस्ट्रोएशियाटिक रूप सुझाया है। 'विष्णु' शब्द के पर्याय वेष्णु, वेठु, विठु तथा विठ है। इनमें से त – नु (Non Aryan) अनार्य प्रत्यय निकाल देने पर विठ्, विष्, वेठ्, वेष् ये धातु बच जाते हैं। आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओं में 'ष' और 'ठ' का विपर्यय होता है। इसी से उसका ठंत रूप बन जाता है।

(ई) 'विठ्ठल' विष्णु शब्द का अपभ्रंश रूप है। विष्णु=विठ=वेठ हो गया। बंगला में वैष्णव शब्द का उच्चारण 'बोईष्टोम' होता है।

(उ) रुक्मिणी तथा रखुमाबाई या रखुमाई ये भी एक ही शब्द हैं। श्री ग. ह. खरे सुझाते हैं कि मुसलमान पूर्वकालीन इतिहास में लक्ष्मा-देवी-लकमादेवी ये नाम रानियों के लिए आया करते थे। विष्णुवर्धन की रानी का नाम लक्ष्मादेवी या लुकमादेवी था। 'लक्ष्मा' या लकुमी से ही

१. श्रीविठ्ठल आणि पंढरपुर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ५० ।

रुमा वा रखुमा बना होगा। विष्णु-रुक्मिणी नाम की युगल जोड़ी प्रसिद्ध नहीं है पर विष्णु-लक्ष्मी यह युगल जोड़ी प्रसिद्ध है।

(ऊ) धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं— विदा ज्ञानेन ठान शून्यात् लाति गृणहाति इति विठ्ठला: अर्थात् ज्ञान शून्य भोले-भाले अज्ञ जनों को जो अपनाते हैं ऐसे विठ्ठल हैं।

(ए) 'तुकाराम' के एक अभङ्गानुसार विष्णु का गरुड़ वाहन होने के कारण विष्णु 'विठोबा' नाम से प्रसिद्ध हुए।[1] विष्णु का ही प्राकृत रूप 'विठु' हुआ जिसमें 'ल' प्रत्यय तथा आदर सूचक वा' प्रत्यय जोड़ने से क्रमश: विठ्ठल और विठोबा बने हैं।

इस तरह हमने अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखी और प्रमाण इकट्ठे किये जो विठ्ठल की महिमा अपने-अपने ढंग से बतलाते है। इन सब में विद्वद्रत्न डा० रा. प्र. पारनेरकर की विवेचना हमें अधिक तर्क संगत और समीचीन लगती है।

नामदेव और ज्ञानदेव पूर्व ३३६ वर्षो से विठ्ठल के उपासक करीब-करीब विठ्ठल भक्ति करते आये हैं ऐसा 'युगें अठ्ठावीस विटेवरी उभा' इस प्रसिद्ध नामदेवकृत विठोबा की आरती के प्रथम चरण से ज्ञात होता है। 'पुंडलीक वरदे हरी विठ्ठल' की मधुर सान्द्र ध्वनि से पुंढरपुर का गगन मंडल विठ्ठल भक्त निनादित कर देते हैं। हरिदासी–संप्रदाय के लोग विठ्ठल की ही उपासना करते हैं तथा तिरुपति के बालाजी-वेंकटेश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक हैं। इनके अनुसार पांडु याने पांडव और रंग याने श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण पांडवों के समर्थक थे। अत: इस भक्ति की व्यापकता का पता लग जाता है। स्मरण रहे कि यह उपासना अपने सम्पूर्ण रूप में भागवत-धर्मीय है। पुडलीक भक्त के हितार्थ श्रीकृष्ण ने भक्तों के कृपार्थ एवम् उनके निरीक्षण के लिए यह अवतार लिया ऐसी धारणा है। पुंडलीक के बारे में कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। पर इस संप्रदाय के भक्तों में यह धारणा प्रचलित है जो झूठी नहीं कहला सकती। काल के उदर में ऐतिहासिक साक्ष्य नष्ट हो जाने पर भी जन प्रचलित अटूट विश्वास ही ठोस आधार का कार्य करता रहता है। ज्ञानदेव कृत 'हे नव्हे आज कालीचे युगे अठ्ठाविसाचे', यह अभंग संत नामदेवकृत 'युगें अठ्ठावीस विटेवरी ऊभा' यह आरती, तथा 'युगें झालीं अठ्ठावीस अजुनी न म्हणशी वैस' यह तुकाराम कृत अभंग इस उपास्य की स्वयंभू और प्रकट होने की पुरानी अन्तर्साक्ष्य दे देते हैं। विठ्ठल के मस्तक पर शिवलिंग

१. वी चा केला ठोवा म्हणोनि नाव विठोबा—तुकाराम अभंग गाथा।

है ऐसी भी धारणा इस मत के लोगों की है। निवृत्ति नाथ का यह अभंग इस की पुष्टि करता है[1]—

(१) पुंडलिकाचे भाग्य वर्णावया अमरी नाही चराचरी ऐसा कोणी ॥
विष्णुसहित शिव आणिला पंढरी। भीमा तीरीं पेखणे जेणें ॥घृ॥[2]

इसी प्रकार से ज्ञानदेवजी भी अपने एक अभंग में कहते हैं[3]—

(२) रूप पाहाता तरी डोळसु। सुन्दर पाहाता गोपवेषु।
महिमा पाहाता महेषु। जेणे मस्तकी वंदिला ॥

वारकरी संप्रदाय के अतिरिक्त सन्त रामदास भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं[4]—

(३) विठो ने शिरी वाहिला देवराणा। तया अन्तरी ध्यास रे त्यासि नेणा।

इससे यह निश्चित हो जाता है कि शैव वैष्णवों के समन्वय की दृष्टि इस सम्प्रदाय के उपासकों में भी मूलतः विद्यमान थी। इसका कारण 'विठ्ठल भूषण' ग्रन्थ रचने वाले श्री गोपालाचार्य इस प्रकार बतलाते हैं[5]—'श्री पाण्डुरंग मस्तके शिवलिंगमस्ति इति शैवाः, तत्तुच्छं शिक्य मौलि इति तीर्थ हेमाद्रि धृत प्रागुक्त स्कांदन्ति निरोधात्। शिक्य मौलिः शिक्य ग्रन्थिः। गोपालाचार्य के मत से विठोबा के मस्तक पर शिवलिंग है ऐसा मानने वाला एक मत है किन्तु वे स्वयं वैष्णव होने के कारण इस मत के मानने वाले को शैव समझते हैं। जो भी हो उनका यह भी कथन है कि विठोबा की मूर्ति गोपवेषधारी श्रीकृष्ण की है। गोपालों के पीठ पर छींका रहता है यह माना जाय। कर्नाटकी वैष्णव सम्प्रदाय पर उस प्रान्त के प्रसिद्ध वीर शैव सम्प्रदाय का प्रभाव कम नहीं पड़ा है। यों प्रसिद्ध है कि भक्ति द्राविड़ देश में उत्पन्न होकर कर्नाटक से महाराष्ट्र में आई है। वारकरी-सम्प्रदाय के अध्वर्यू श्री ज्ञानेश्वर का सम्बन्ध नाथ पंथ से है जो शैवमत से निकला है। इन सब बातों को देखकर हरिहर का समन्वय यदि विठ्ठलोपासना में प्रचलित रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है बलिक यह एक सच्चा निष्कर्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। तुलसी के राम भी तो शंकर के उपासक तथा शंकर राम के भक्त

---

१. सकल संथ गाथा—पृ० १०४, अभंग सं० २२०१ निवृत्तिनाथ।
२. निवृत्तीनाथकृत अभंग नं० २२०१, पृ० १०४, सकल संथ गाथा।
३. ज्ञानेश्वर के अभंग—१०—२।
४. संत रामदास—अभंग।
५. विठ्ठलभूषण—श्रीगोपालाचार्य।

समझे गये हैं।[1] महाराष्ट्र में कर्नाटक से ही विठ्ठलोपासना आई है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है तो कुछ उसके ठीक विरुद्ध हैं। इसकी और चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक होगी। विठ्ठल का शंकर को अपने मस्तक पर धारण करना आत्मलिंग का प्रतीक माना जावेगा।

विठ्ठल मूर्ति और बौद्ध मत—

जिस प्रकार कुछ लोग विठ्ठल को जैन मूर्ति बतलाते हैं उसी प्रकार से कुछ लोग उसे बौद्धमूर्ति बतलाते हैं। नागपुर के श्री अनन्त हरि कुलकर्णी, सेक्रेटरी बुद्ध सोसायटी, का यह प्रयत्न रहा है और वे उसे सिद्ध करने का प्रमाण देते हैं कि विठ्ठल मूर्ति बौद्ध मूर्ति है। बुद्ध को विष्णु का अवतारत्व तो हिन्दुओं ने प्रदान कर ही दिया हैं। पंढरपुर के देवालय में बौद्धमूर्तियाँ हैं। अतः वह बुद्ध मंदिर रहा होगा और अशोक कालीन ८४००० मंदिरों में से यह भी एक होगा ऐसा विवेचन जॉन विल्सन का है। श्री कुलकर्णी इससे सहमत हैं। इस अनुमान को हम ग्राह्य नहीं मानते। पुराने दशावतार के पाये जाने वाले चित्रों में बौद्ध के स्थान पर विठ्ठल-रखुमाई के चित्र मिलते हैं। विठ्ठल को बौद्ध वारकरी संप्रदायी भी मानते हैं। पर उनका यह मानना उस अर्थ में नहीं है जैसा कि समझा जाता है।

इधर एक[2] लेख 'रोहिणी' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक श्री धोंगडे नाम के एक सज्जन हैं। उनका निवेदन है कि गरुड़ तथा कूर्म पुराण ४५०० वर्षों ईसा पूर्व लिखे गये जबकि कौरवों का नाश हुआ था। अर्थात् यह अनुमानतः ही कहा जाता है। कदाचित् वह राजा परीक्षिति के राज्यत्व का काल था। इन पुराणों में विष्णु का पुनः अवतार के रूप में पुनर्बुद्ध हो जाने का उल्लेख है। श्री धोंगडेजी के अनुसार यह बुद्धावतार ही विठ्ठल है।[3]

ज्ञानेश्वरी के प्रथम अध्याय में बौद्ध मत का निर्देश टूटे हुए दाँत की उपमा से किया गया है। प्रसंग गणेश वंदना का है देखिये[4]—

> एके हाथी दंतु जो स्वाभावता खंडितु।
> त बौद्धमत सकेतु वार्तिकांचा ॥१२॥

---

१. रामरक्षा स्तोत्र—बुधकौशिक।
२. 'रोहिणी' दीपावली विशेषांक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल' —ले. श्री धोंगडे, पृ० ४७–५३।
३. 'रोहिणी' दीपावली विशेषांक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल' —ले. श्री धोंगडे, पृ० ४७–५३।
४. ज्ञानेश्वरी-प्रथम अध्याय ओवी १२–१३, ज्ञानेश्वर अभङ्ग सकल संतगाथा–६७।

मग सहजे सत्कार वादु तो पद्मकरु वरदु ।
धर्म प्रतिष्ठा तो सिद्ध अभय हस्तु ॥१३॥

श्री गणेशजी का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर उनका ध्यान चित्रित करते हैं जिसमें वे कहते हैं कि बौद्धमत की विवेचना करने वाले बौद्ध वार्तिकों के द्वारा प्रस्थापित बौद्ध मत ही मानों स्वाभाविक रूप से खंडित हो गया है। न्याय सूत्र पर वृत्ति रचने वालों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया पर अपने आप टूटा हुआ खंडित दाँत है जो बौद्ध मत का संकेत करता है। इस दांत को पातंजलदर्शन रूपी एक हाथ में ले लिया है। फिर बौद्धों के शून्यवाद का खंडन हो जाने पर सहज ही आने वाला निरीश्वर सांख्यों का सत्कारवाद ही गणेशजी आपका कमल के समान वर देने वाला हाथ है, तथा धर्म-प्रतिष्ठा एवम् धर्म की सिद्धि देने वाला (याने जैमिनी कृत धर्म सूत्र) और अभय देने वाला हाथ है।

ज्ञानेश्वर और तुकाराम के ये अभंग भी इसी का निर्देश करते हैं कि विठ्ठल ही बुद्धावतार है। देखिये[1]—

ज्ञानेश्वर का अभङ्ग—

पांडुरंग कांति दिव्य तेज झळकती रत्नकीळ फांकती प्रभा।
आणि लावण्य तेजः पुंजाळले न वर्णवे तेचि शोभा ॥१॥
कानडा हो विठ्ठलू कर्नाटकु त्याने मज लाविला वेधु।
खोळ बुंथी घेऊनी खुणेचि पालवी आळविल्या नेदी साधु ॥
शब्दे वीण संवादु दुजेवीण अनुवादु हे तंव कैसे निगमे ॥२॥ध्रु०॥
परि हो परते बोलणे खुंटले वैखरि कैसे निसंगे ॥
क्षेम देऊ केले तंव मीची मी ऐकली आसावला जीव राही ॥
भेटी लागी जीव उंतावीळ माझा म्हणुनि स्फुरतसे बाहु ॥
पाया पडु गेले तंव पाऊल न दिसे उभाचि स्वयंभु असे ॥
समोर की पाठिमोरे न कळे टकचि ठेले कैसे ॥५॥
बाप रखुमा देविवरू हृदयिचा जाणुनी अनुभव सौर झुकेला ॥
दृष्टिचा डोळा पाहुँ गेले तंव भीतरी पालट्ट झाला ॥६॥[2]

तथा तुकाराम का अभङ्ग इस प्रकार है[3] —

बौद्धय अवतार माझिया अदृष्टा ॥
मौन्य मुखे निष्ठा धरिये ली ॥१॥

---

१. ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल संत गाथा—६७ ।
२. ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल सन्त गाथा—६७ ।
३. तुकाराम अभङ्ग, गाथा—४१६० ।

लोकांचिये साठी श्याम चतुर्भुज ॥
संतासवे गुज बोलतसे ॥२॥

इन दोनों अभंगों में क्रमशः संत ज्ञानेश्वर और तुकाराम ने वारकरी संप्रदाय के विश्वास को ही प्रकट किया है कि विठ्ठल बुद्धावतार हैं। महानुभाव पंथीय लोगों के मतानुसार एक ब्राह्मण बुढ़िया के डाकू लड़के विठ्ठल के मारे जाने पर एक भडखंवा उस स्थान पर स्थापित किया। यहीं पर आगे चलकर विठ्ठल की उपासना होने लगी। इस तरह महानुभाव पंथी लोगों की धारणा का भी पता चलता है।[1]

पंढरपुर में प्रचलित आषाढ़ी एकादशी की वारी या यात्रा बहुत दिनों से चली आ रही है। इसे सिद्ध करने वाला एक प्रमाण एक शिलालेख है। यह शिलालेख धारवाड के पास हेव्वळिळ ग्राम में जंबुकेश्वर के मन्दिर के सामने मिला है। इस लेख की भाषा और लिपि कन्नड है। देवगिरी के राजा यादव कन्नर या कृष्ण के तृतीय राज्याभिषेक वर्ष में याने पौष शुद्ध नवमी शक ११७० दिनांक २५ दिसम्बर सन १२४८ के दिन एक दान दिया गया। जिसमें ये शब्द हैं—

(१) श्री पंढरगे य श्री विठ्ठलेश्वर वारिय श्री हरिदि।
(२) नङ्गळ धर्म्मक्के कलुवर सिगगा कंडनु कोट्ट वृत्ति वोंदु।

इसका अभिप्राय इस प्रकार है—पंढरपुर के विठ्ठल की वारी के हरिदिन अर्थात् एकादशी को धर्मार्थ कलुवर सिगगावुंड ने एक दान दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक ११७० में पंढरपुर की वारी (यात्रा) प्रचलित थी। नामदेव के एक अभंग से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। 'पंढरिची वारी आषाढी कार्तिकी। विठ्ठल एकाकी सुखरूप[2] ॥४॥' म ॥

मुसलमानपूर्व काल से ही पंढरि की वारी प्रचलित थी यही बात इससे प्रकट हो जाती है।

इस तरह अलग-अलग प्रमाणों और मतों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विठ्ठलोपासना बहुत पुरानी थी। अतः विवादों में पड़ना अनुचित होगा। भक्ति के क्षेत्र में भारत जैसे देश में आदान-प्रदान, प्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष इतने बहुविध रूपों में हुआ है कि प्रामाणिक रूप में किसका कितना अंश है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रायः विद्वान लोग अपने अनुकूल और प्रतिकूल

१. महाराष्ट्राची चार दैवतें—ग. ह. खरे, पृ० १८७।
२. सकल सन्त गाथा, अभङ्ग—क्र. ८९५, नामदेव।

उक्तियाँ ढूढ निकालते है। दूसरी बात है उक्तियों का अर्थ लगाना और उसका प्रतिपादन करना। मेरी अल्प मति में यही आता है कि मध्ययुगीन वैष्णव साधना अत्यन्त सहिष्णुता-युक्त और सर्व-संग्राहक और समन्वयात्मक थी। विद्वद्रत्न डा० पारनेकरजी के मत से हम सहमत है और वही इस विषय का निष्कर्ष भी माना जा सकता है। महाराष्ट्र में विठ्ठलोपासना—विष्णु उपासना का ही एक एक रूप और प्रधान अंग रही है तथा बहुत लोकप्रिय होने से आज तक बहुजन समाज में उसके अनुयायी बड़ी संख्या में सभी वर्णो के सभी जातियों के पढ़े-लिखे विद्वानों से अपढ़ किसान मजदूरों तक सम्मिलित है। शैव-वैष्णव समन्वय, ज्ञान और भक्ति समन्वय, नाथ-योगपरक-निर्गुण, और उपासनापरक सगुण-भागवत-धर्म, समन्वयपूर्ण दृष्टि विठ्ठलोपासना का—वारकरी संप्रदाय का प्रमुख लक्ष्य जान पड़ता है। अतः उसका इतना सर्वंकश लोक कल्याणकारी रूप विठ्ठल भक्ति में हम को दिखाई पड़ता है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

वेद में पायी गयी विष्णु विषयक बातों की चर्चा करते हुए अनेक उल्लेखों से हमने अब तक देखा कि उपनिषदों, ब्राह्मणों, आगमों, तंत्रों और पुराणों आदि में व्यापक रूप से वैष्णव उपासना अनेक रूपों-साधनाओं और पद्धतियों में विकसित होती गई। विष्णु परम देवता बने उनका नारायण के साथ एकीकरण हुआ। नारायण से वासुदेव और फिर वासुदेव का नारायण और विष्णु के साथ एकीकरण कैसे हुआ यह भी हमने देखा। वासुदेव-कृष्ण, गीता के भाष्यकार और भागवत के कृष्ण, गोपालकृष्ण, राधाकृष्ण, प्रभु श्रीरामचन्द्र और विठ्ठल इनका विकास और स्वरूप का विवेचन कर हमने यह जाना कि रामचन्द्रोपासना तो सारे भारत में व्याप्त है। पर विशेषतः हिन्दी में गोपालकृष्ण और राधाकृष्ण की उपासना में बालकृष्ण और युवाकृष्ण का विशेष वर्णन आता है, तो मराठी में बालकृष्ण के साथ विठ्ठलोपासना दिखाई देती है। अवतार कल्पना का सूत्रपात भी किस प्रकार हुआ यह भी हमने देखा। बीजरूप से वैष्णव धर्म का वृक्ष कतिपय वैदिक भावनाओं को लेकर बोया गया था जो अनेक प्रकार की भक्ति साधनाओं की शाखाओं से हरा-भरा होकर पल्लवित पुष्पित हुआ। भक्ति के और उपास्य के विचार परिपक्व होते गये। उसी के अनुरूप दार्शनिक चिन्तन पक्ष भी सामने आने लगा।

आराध्य के स्वरूप के साथ भक्ति की विभिन्न पद्धतियों का भी विकास होता गया। हिन्दी और मराठी वैष्णव भक्ति को प्रभावित करने वाली जो विविध भक्ति पद्धतियाँ और सिद्धान्त विकसित हुए उनका परिचय करना अब हमारे लिए नितांत आवश्यक हो गया है। अपने आराध्य को परम पुरुष या परम उपास्य का रूप देने में इस साधना के किसी भी शाखा ने किसी भी युग में तथा किसी भी प्रकार से कोई कसर बाकी न रखी। इस तरह गीता का प्रसिद्ध एकान्तिक धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ वही सात्वत-भागवत-पांचरात्र-वैखानस आदि स्वरूपों में से ज्ञानमय, योगमय, भक्तिमय एवम् स्नेहमयी कोमल मनोवृत्तियों के निरूपणों के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति गीता और

महाभारत काल के बाद किस प्रकार बढ़ी उसकी संक्षिप्त जानकारी कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

वैष्णव मत के सर्वप्रथम दार्शनिक आचार्य–योगेश्वर श्रीकृष्ण

वैष्णव भक्ति के सब से प्रथम दार्शनिक आचार्य परम योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ही माने जाने चाहिए। गुप्त-साम्राज्य ही उत्तर भारत में वासुदेव धर्म याने एकान्तिक भागवत धर्म की उन्नति का काल था। इसके बाद हर्ष वर्धन जैसे सम्राटों के बाद वह धीरे-धीरे दबता गया। अतः दक्षिण में उसका महत्व विशेष रूप से बढ़ने लगा। गुप्त साम्राज्य के युग में भारतीय संस्कृति स्वर्णयुग में पहुँच चुकी थी। गुप्तकालीन सम्राटों ने अपने आपको परम भागवत कहलाया था। वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण परिस्थिति को जानकर तथा उसे राजकीय प्रोत्साहन देकर उसका प्रसार एवम् वृद्धि के प्रयत्न गुप्त सम्राटों ने किये। अपने ध्वजों पर विष्णु चक्र और गरुड़ तथा सिक्कों पर लक्ष्मी को स्थान दिया। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य, अपने आपको 'परम भागवत' कहलाता था। एक सिक्का चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का भरतपुर राज्य के बयाना-ढ़ेर में प्राप्त हुआ है, जो चक्र विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके ऊपरी भाग पर विष्णु भगवान् चन्द्रगुप्त को तीन प्रभामण्डल युक्त त्रैलोक्य भेट कर रहे हैं, ऐसा बताया गया है। अब तक के प्राप्त सभी सिक्कों में यह अद्वितीय है। इससे इस युग की तत्कालीन भावनाओं पर प्रकाश पड़ता है। मध्य प्रदेश और बंगाल के राज्य भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यहाँ तक कि प्रथम मुसलमान आक्रान्ता मुहम्मद-बिन-कासिम मुस्लिम धर्मावलंबी होने पर भी कन्नोज विजय के उपरान्त उसने पुराने गहड़वाल मुद्रा के अनुकरण में अपने सिक्कों पर भी लक्ष्मी की आकृति को स्थान दिया था। ईसा की चौथी शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक ८०० वर्षों के उपलब्ध सिक्के वैष्णव धर्म का प्रभाव अभिव्यक्त करते हैं। इससे जान पड़ता है कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी 'कांडात्-कांडात् प्ररोहन्ती' वाले नियमानुसार दूर्वादिल के तृण की तरह वैष्णव धर्म उत्तर भारत में किसी न किसी रूप में जीवित रहा और अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रभावी होकर पल्लवित हुआ। इस तरह वह अपने पनपने का कार्य करता ही रहा। उत्तर भारत में यदि उसे प्रचार का बल प्राप्त नहीं हुआ तो वह दक्षिण में अपने अनुकूल और योग्य वातावरण पाकर वहीं पर फूला और भला।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण हुई जिनसे वैष्णव साधना शिथिल-सी पड़ने लगी। महाराज हर्षवर्धन के समय में जो संस्कार वैष्णव साधना पर हुए उन्हें भी हम नहीं भूल सकेंगे। दक्षिण में वैष्णवों का

प्रभाव कुछ विशेष मात्रा में परिलक्षित होने लगा। शंकराचार्य के समय से ही दक्षिण में वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार के प्रयत्न दिखाई देने लगे। वहां की परिस्थितियाँ इसके अनुकूल भी बनीं। यहाँ पर एक बात संभ्रम में डाल देती है कि विष्णु आर्यो का उपास्य होने पर भी दक्षिण में विष्णु का प्रभाव इतना व्यापक कैसे हुआ? वहाँ तो महादेव शंकर की भक्ति दृढ़तम होनी चाहिए थी। वस्तुतः दोनों भक्तियाँ समान रूप से प्रचारित हुईं। समन्वय की भावना वैष्णवी भक्ति में प्रबल होने से आर्यों और द्रविणों का भी समन्वय हुआ जिसने दक्षिण वैष्णव भक्ति से उत्कर्ष के लिए स्थिति और वातावरण उचित रूपेण निर्माण होता गया। दक्षिण के आचार्यो का इस विषय में किया गया कार्य अत्यन्त सराहनीय और स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य माना जावेगा। वैष्णवाचार्यो ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और भागवत पर आधारित रखे। अपने भक्ति पक्ष के लिये नारद-भक्ति-सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र का आश्रय लेकर गीता के विचारों से उसे पुष्ट किया।

दक्षिण का वैष्णव आन्दोलन समूची वैष्णव साधना का द्वितीय उत्थान कहा जा सकता है। दक्षिण के वैष्णव आन्दोलन का इतिहास तामिल आड़वार संतों से माना जाता है। ये वैष्णव सन्त समाज के सभी स्तरों से उत्पन्न हुए थे। इसीलिए इस भक्ति-आन्दोलन को जन आन्दोलन भी कहा जाता है। इन सन्तों का काल खंड दूसरी से दसवीं विक्रमी शताब्दी माना जाता है। ये परस्पर ऊँच नीच का कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। तामिल में 'अलवार' का अर्थ होता है भगवद्-भक्ति में डूबा हुआ व्यक्ति। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वैष्णव साधना ही एक प्रकार से द्रविड़ में बाढ़वत् फैल रही थी। सर रामकृष्ण भांडारकर अपने 'वैष्णव धर्म, शैवधर्म और अन्य सम्प्रदाय', इस पुस्तक में बतलाते हैं कि अलवार तथा अन्य वैष्णव आचार्य रामानुज के पूर्वकाल में हो चुके हैं।[१]

अळवार वैष्णव भक्त—

भागवत के ११ वें स्कंध के चतुर्थ अध्याय में विष्णु विभिन्न प्रकार के अवतार धारण करते हैं ऐसा उल्लेख है। कलियुग के लिये कहा गया है कि परमात्मा प्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति ही है। इस भूमि के लोगों का उद्धार करने के हेतु पुराणों में बताये गये वचनों के अनुसार पुनः दस अवतार धारण किये जायेंगे। अर्थात् अन्य कल्पों में लिये गये अवतारों से ये भिन्न होंगे। भगवान् के परम एकान्तिक, निष्ठावान, भक्त भारतवर्ष में इधर-उधर बिखरे हुए मिलेंगे।

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत—सर आर. जी. भांडारकर।

परन्तु अधिकतर संख्या में वे द्रविड़ देश में ही पाये जायेंगे। विशेषत: ताम्रपर्णी नदी के तट पर पयगायी-कृतमाला के तटवर्ती प्रदेशोंमें तथा पालार पयस्विनी और कावेरी-महानदी के तटवर्ती प्रदेशों में पाये जायेंगे। विष्णु भगवान् अपना उद्धार विषयक कार्य यहीं से आरम्भ करेंगे। देखिये—

खलु-खलु भविष्यन्ति नारायण परायपः।
क्वचित-क्वचित् महाराजा द्रविडेषुच भूरिसः॥
ताम्रपर्णी नदी यात्रा कृतमाला तपस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीचुच महानदी॥
ये पिवन्ति जलम् तास्याम् मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायोभक्तः भगवति वासुदेवे अमलास्यह॥

कहना न होगा कि अलवार संत इसी भूमि में हुए।[1] यही वह साधना भूमि थी। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र सर्वत्र भगवद् भक्ति में सरावोर होकर जो वानियाँ इन भक्तों के मुख से निकली हैं, स्पष्ट है कि उनमें भगवान् की दिव्य लीलायें ही मुखरित हुई हैं। इन आळवारों में केवल वारह आळवार विशेष गौरव तथा प्रतिष्ठा के पात्र माने जाते हैं। द्रविड़ भापा में इनकी पदावली तमिल-वेद कहलाती है, और वेदों की ही तरह पवित्र और सरस समभी जाती है। ये भक्त वड़े मस्त जीव थे, तथा इनका हृदयपक्ष वड़ा उदार और प्रवल था, इसलिए अपनी भक्ति का कोई शास्त्रीय विवेचन इनके द्वारा नहीं हुआ। भगवान नारायण के एकमात्र उपासक थे अत: विष्णु के विशुद्ध रूप में लीन हो जाना ही इनका एकमात्र व्रत था। अपने इस आनन्द को सवको जी खोलकर वाँटने में इन लोगों को मजा आता था। तमिल में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर सरस भक्ति रस की पयस्विनी का स्रोत वहाया जिसमें उस युग की जनता ने आप्लावित होकर डुवकियाँ लगाई। आनन्द की यह एक वहुत वड़ी उपलब्धि थी।

आळवारों के काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कृष्णा जिले के चायना शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म का प्रचार दूसरी शताव्दी से ही दक्षिण में हो रहा था तथा दूसरी से चौथी शताव्दी के लगभग आळवार सन्त हुए थे ऐसा माना जाता है।[2] कुछ विद्वान इनको तीसरी शताव्दी का मानते हैं। एक अनुमान यह भी है कि तीसरी से नवीं शताव्दी तक अलवारों का युग था। क्योंकि प्रमाण में इसी प्रदेश के उसी समय के आड़ियार शैव सन्तों का हवाला

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया
—एस्० के० अयंगार, पृष्ठ ८।
२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म—राय चौधुरी, पृ० १८।

दिया जाता[1] है। यों हम पूर्व ही कह आये हैं कि विक्रम की चौथी से दसवी शताब्दी तक का समय आळवारों ने आत्मसात कर लिया था। निष्कर्ष यही है कि अधिक से अधिक आठ नौ सौ वर्ष या कम से कम छः सात सौ वर्षों का समय अपनी भक्ति के प्रचार में इन लोगों ने व्यतीत किया। ये कुल बारह प्रसिद्ध संत इसी युग में पैदा हुए थे। इनमें से दो एक को छोड़कर प्रायः सभी साधारण स्तर की जाति में पैदा हुए थे।

अपने उपास्य के प्रति एक सी लगन इनमें थी। चौदह सहस्र पद्यात्मक गीतों का संग्रह 'नालायिरप्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्म ज्ञान का एक अमूल्य ख़जाना है। इनके दो प्रकार के नाम मिलते हैं। एक तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। दक्षिण भारत में इन भक्तों को इतना आदर और इतनी प्रतिष्ठा मिली है कि विष्णु मन्दिरों में विष्णु के साथ इनकी भी मूर्तियाँ प्रस्थापित की गई हैं। इनके मधुर पद्य आज भी लोगों के द्वारा गाये जाते हैं। इनकी प्रभावशालिनी जीवन घटनाएँ नाटक के रूप में उपदेश देने के लिए आज भी बतायी जाती हैं। वेद मंत्रों की तरह पवित्र और अध्यात्मिक विचार इनमें होने से इस संग्रह को 'तमिल वेद' यह संज्ञा मिल चुकी है। पाराशर भट्ट ने इन सब के नाम एक श्लोक में बतलाये हैं—

> भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ–
> श्रीभक्तिसार–कुलशेखर–योगिवाहाम्।
> भक्तांध्रिरेणु–परकाल यतीन्द्र मिश्रान्–
> श्रीमत् परांकुश मुनि प्रणतोस्मि नित्यम्॥

इनमें से प्रथम तीन योगी कहलाते हैं जो क्रमशः इस प्रकार से हैं—(१) पोयगैआळवार-सरोयोगी, (२) भूत्तातळवार–भूतयोगी, (३) पेयाळवार–महत्योगी। ये तीनों समकालीन माने जाते हैं। इनके तीन सौ भजनों का संग्रह ऋग्वेद का सार माना जाता है। पोयगै आळवार कांची नगरी में, भूत्तातळवार महाबलीपुरम् में तथा पेयाळवार मदरास के निकट मैलापुर में पैदा हुए थे। एक बार ये तीनों तिरुवकोईल्मुर नामक स्थान पर यात्रा के लिए गये, जहाँ आपस में इनका कोई परिचय नहीं था। सरोयोगी भगवान् की पूजा कर कुटिया में गये और लेटे। एक ही व्यक्ति के योग्य उसमें सोने को स्थान था। भूत योगी के आने पर दोनों बैठ गये। महतयोगी के आने पर तीनों खड़े हो गये और भगवद्भजन में मग्न हो गये। भगवान की दिव्य माधुरी और प्रभा से कुटिया प्रकाशित हो उठी।

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया–एस्० के० अयंगार, पृ० ८९।

ईश्वर से उन्होंने भक्ति का वरदान माँगा। इनके पद्यों का संग्रह 'ज्ञान प्रदीप' नाम से प्रसिद्ध है।

(४) चौथे तिरुमडिसै आळवार—भक्तिसार के नाम से भी पहचाने जाते हैं। तिरुमडिसे गांव में ही ये पैदा हुए थे। पैदा होते ही इनके माता-पिता ने इनको सरकंडो के जंगल में छोड़ दिया था। इनका पालन-पोषण तिरुवाडन् नाम के एक व्याघ्र ने और उसकी पत्नी पकजवल्ली ने किया। कई पद इनके बनाये हुए हैं। कहा जाता है कि अपने ग्रन्थों को इन्होंने कावेरी नदी में बहा दिया था क्योंकि लोग इनके पदों के कारण इनको प्रसिद्धी देने लग गये थे। ये अपने को प्रसिद्धि पराङ्मुख रखना चाहते थे। इनकी सब पुस्तकों में से केवल दो बच गईं। इनके भक्ति पंथ के अनुसार भक्ति भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है। भगवान् की ओर से दी हुई यह सब से बड़ी संपत्ति है। नारायण ही ज्ञाता, ज्ञेय, तथा ज्ञान और सब कुछ हैं।

(५) नम्माळवार—शठकोपाचार्य के नाम से सब आळवारों में विशेष प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इनके बारे में सब से अधिक चर्चा की है। वैसे ये सब से श्रेष्ठ भी हैं। डा० अयंगार के मत से इनका समय छठी ईसवी शताब्दी के मध्य रखना ठीक होगा। तिन्नवेली के ताम्रपर्णी नदी के तीर पर के तिरुक्कुरुकूर ग्राम में ये पैदा हुए। कुछ लोगों का मत है कि ये शूद्र कुल में पैदा हुए, तथा कुछ इनको ब्राह्मण कुल का मानते हैं। इनके पिता कारिमारन् अपने गाँव के मुखिया थे। गुरु परंपरा के अनुसार कारियर जाति का नाम वेल्लाल है। जन्म लेने पर शठकोप की आँखें बन्द थीं तथा दस दिनों तक बिना खाये पिये ही रहे। तब चिन्ताग्रस्त होकर लोग इन्हें एक निकटस्थ विष्णु मन्दिर में ले गए और इनका नाम 'मरण' या 'माडन' रखकर मन्दिर के पास के एक इमली के पेड़ के खोंड़र में रख आये। सोलह वर्ष तक वहीं रहकर तपस्या-पूर्ण जीवन व्यतीत कर ये भगवान् की उपासना करते रहे। अंत में भगवान् ने प्रसन्न होकर इनको अपूर्व शक्ति प्रदान की। इनके रचे चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (१) तिरुविरुत्तम् (२) तिरुवाशिरियम् (३) पेरियतिरूवत्तान्ति (४) तिरुवाय मोळि। चौथे ग्रन्थ में हजार से भी अधिक पद हैं। चार वेदों की तरह इनको तामिल देश में मान्यता प्राप्त है। 'तिरुवाय मोळि' 'द्रविडोपनिषद' भी कहलाता है। शठकोप गोपी-भाव से उपासना करते थे। भगवान् को नायक तथा अपने आपको नायिका मानते थे। तमिल कविता में इनके पद मधुरिमा के आदर्श माने जाते हैं। कंबन जैसे तामिल भाषा के सर्व श्रेष्ठ कवि को भी अपने रामायण के आरम्भ में शठकोप की स्तुति करनी पड़ी, तभी भगवान् ने उसे स्वीकार किया था। शठकोपने अपने पदों को रंगनाथ को सुनाया तभी मूर्ति

में से आवाज आई कि ये हमारे आळवार हैं। 'नम्म आळवार' तभी से विख्यात हुए और नम्माळवार कहलाये।

(६) मधुरकवि आळवार—ये गरुड़ के अवतार माने गये हैं। तिरुक्कोलूर ग्राम में किसी सामवेदी ब्राह्मण के यहाँ ये पैदा हुए। वेद के ज्ञाता होने पर भी उन्होंने भगवान् के प्रेम को ही अपने जीवन का सर्वस्व माना था। उत्तर भारत में यात्रार्थ भ्रमण करते हुए जब गंगा तट पर आये तो अपनी मातृभूमि की ओर याने दक्षिण दिशा में एक ज्योति स्तंभ दिखाई दिया। इसे दैवी आदेश मानकर उस ज्योति का अनुसरण करते हुए ताम्रपर्णी के कारूकूर गांव में पहुँचे। ज्योति के मूल का पता एक इमली के पेड़ के खोंदर में मिला। देखा तो नम्माळवार के शरीर से वह ज्योति निकल रही थी। उनको ध्यानस्थ देखकर उन्हें ही अपना गुरु बनाया। उनकी कृपा से मधुर कवि भक्त बन गये। अपने गुरुदेव के पदों का प्रचार गागाकर इन्होंने घर-घर में किया। माधुर्य के कारण इनका नाम मधुर कवि पड़ा। इनके बनाये केवल दस ही पद उपलब्ध हैं।

(७) कुलशेखर आळवार—आळवारों की मध्यवर्ती श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। वहाँ इनका नाम तीसरा आता है। ये छठी शताब्दी में पैदा हुए थे। इनको विष्णु के वक्षस्थल पर लगे हुए कौस्तुभ मणि का अवतार माना जाता है। कुल शेखर त्रावणकोर राज्य के अन्तर्गत कोल्ली अथवा तिवलन नगर में उत्पन्न हुए थे। ये वहीं के राजा दृढव्रत के पुत्र थे। बड़े होने पर राज्याधिकार प्राप्त किया और प्रजानुरंजन में बड़ा अनुराग दिखाया। किन्तु अतुल सम्पत्ति के होने पर भी बचपन से ही इनका झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था, और इन्हें रामायण विशेष प्रिय था। एक बार रामायण सुन रहे थे जिसमें इस प्रकार का प्रसंग था कि भगवान् श्रीराम सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण के ऊपर छोड़कर स्वयं अकेले खर-दूषण की विपुल सेना से युद्ध करने जा रहे थे। तन्मयता के कारण व्यास के मुख से यह श्लोक निकलते ही अपने सेनानायक को आज्ञा देकर भगवान् राम की सहायतार्थ सेना लेकर चल पड़े। श्लोक इस प्रकार है—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षतां भीम कर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं करिष्यसि॥

इस तरह इनको कई बार रोका गया। अन्त में अपनी सम्पत्ति तथा वैभव को छोड़कर ये भगवान् रंगनाथ के शरण में गए। गीत प्रबंध में इनके १०३ पद संग्रहीत हैं। 'मुकुन्दमाला' नाम का स्तोत्र इनका ही बनाया हुआ बतलाया जाता है। भाषा की कोमलता और मधुर भावों के लिये ये अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

(८) विष्णुचित्त—परिआळवार का मद्रास प्रान्त के तिन्नेवेली जिले के 'विल्लीपुत्तूर' नामक पवित्र स्थान में जन्म हुआ। इनके माता-पिता का नाम पद्मा और मुकुंदाचार्य था। पद्मशायी भगवान् विष्णु की कृपा से यह पुत्र पैदा हुआ था। कुलशेखर के निकट सातवीं शताब्दी तक इनका समय है, ऐसा अयंगार मानते हैं। बचपन से ही विशुद्ध भक्ति तथा ज्ञान का उदय इनके हृदय में उत्पन्न हो गया था। पढ़े लिखे न होने से ये अपनी छोटी सी फुलवारी के फूलों को चुनकर उनकी माला गूंथकर वटपत्रशयी बालमुकुन्द पर चढ़ा देने का कार्य ही हमेशा करते रहते थे। स्वप्न में भगवान् का आदेश मिलने पर ये पांड्य देशके अध्यात्म-विद्या-प्रेमी तथा रसिक राजा बलदेव के दरबार में चले गए। वहाँ के दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ में हराकर भट्टनायक की उपाधि प्राप्त की। श्रीकृष्ण लीला के पद इन्होंने लिखे हैं जो 'तिरुमोळी' नामक पदावली में संग्रहीत हैं। कुल पचास कविताएँ इनकी मिलती हैं—जिनमें वैष्णव धर्म के गंभीर विषयों के सिवाय छंद प्रयोग संबंधी विचित्रताओं के उदाहरण भी हैं। राजा को भक्ति रहस्य की शिक्षा इन्होंने प्रदान की थी। राजा ने इनका बड़ा सत्कार किया पर मिली हुई सब संपत्ति भगवान् को अर्पण करने में ही इन्होंने अपना हित माना। इनको 'विष्णुचित्त' भी कहते थे।

(९) गोदा को अन्दाल या रंगनायकी के नाम से जानते हैं। विष्णुचित्त की ही ये एक पोष्य पुत्री थीं, तथा रंगनाथ की सेविका भी। कहा जाता है कि अपनी फुलवारी की भूमि गोड़ते समय विष्णुचित्त को यह किसी तुलसी वृक्ष के निकट जनमी हुई मिली। यह बालिका उनके यहाँ ही पाली पोसी गई। गोपी प्रेम की झलक इसमें पूर्ण रूप से मिलती है। भावावेश में ये भगवान् के लिये बनाई गई मालाएँ स्वयं अपने गले में धारण कर लेती थीं जो भगवान् को विशेष प्रिय होती थी। कृष्ण के प्रति बचपन से ही इनकी आसक्ति बढ़ने लगी। श्रीकृष्ण को ही इन्होंने अपना पति मान लिया था। इसलिये विवाह योग्य हो जाने पर जब उससे पूछा गया तो उसने कह दिया कि श्रीरंगम् के भगवान को छोड़कर मैं दूसरे किसी को नहीं वर सकती। अन्दाल की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान् रंगनाथ से मिलने के लिए बड़ी व्याकुल रहती थी। अन्त में भगवान् श्रीरंगम् के मन्दिर में उसे पहुँचाया गया तथा विवाह की विधियों सहित उन्हें अर्पण किया गया। मन्दिर में जाते ही भगवान् की शेष शय्या पर वह चढ़ गयी। तब एक दिव्य प्रभा फूट निकली और अन्दाल मूर्ति में समा गयी। 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार-तिरोमळी' ये काव्यग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रेम—भाव से

सरस हृदयोद्गार इनकी कविता में मिलते हैं। मेड़तणी मीरांबाई में तथा इनमें बहुत साम्य है।

(१०) भक्त पदरेणु-विप्रनारायण आळवार का एक और नाम 'तोण्डर-डिप्योलि' भी है। अनुमानतः लगभग अन्तिम श्रेणी के आळवारों का समय एक सौ वर्ष पीछे आरम्भ होता है इनका जन्म विप्रनारायण माडागुंडी नाम के ग्राम में हुआ। भगवान् के निमित्त फूल चुनकर उनसे माला आदि तैयार करना इनका कार्य था। श्रीरंग के मन्दिर की एक रूपवती देवदेवी नाम की देवदासी थी। उसकी रूपज्वाला के ये शिकार हो गये। किंतु भगवान् रंगनाथ की कृपा से इनका उद्धार हो गया। बाद में सुधरने पर अपना नाम परिवर्तितकर 'तोडर डिप्पोडी' अर्थात् 'भक्तांध्रिपद-रेणु' कर दिया। प्रबंधम् में केवल दो ही पद इनके मिलते हैं। मन्दिर में आने वाली समस्त भक्त-मंडली की चरणधूली का सेवन कर भजनानंद में लीन होकर अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

(११) मुनिवाहन—योगवाह को तिरुप्पन आळवार भी कहा जाता है। इनकी जाति अंत्यज की थी। बचपन से ही वीणा पर भगवान् के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं गाते थे। त्रिचिनापल्ली जिले के उरैपुर या वोरीउर नाम के ग्राम के किसी धान के खेत में एक पंचम जाति के संतानहीन व्यक्ति के द्वारा पाये गये। निम्नतर श्रेणी के होने पर भी इनके हृदय में भक्तिभाव आरम्भ से ही जागृत था पर अछूत होने से मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते थे। अतः कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खड़े होकर वहीं से वे भगवान् की स्तुति कर लेते थे और सन्तोष पा जाते थे। श्रीरंग की सवारी को दूर से ही देखकर ये सन्तोष कर लेते थे। एक बार भगवान् की आज्ञा से सारंगमा या सांज्ञा महामुनि ने भगवान् के आदेश से इनको अपने कंधे पर बैठाया था, और भगवान के दर्शन कराये। इस तरह मन्दिर में इनका प्रवेश हुआ। मुनि इनके वाहन बने अतः इनका नाम 'मुनिवाहन' पड़ा। इनके बनाये कुछ पद मिलते हैं।

(१२) तिरुमंगैपाळवार—नीलन या परकाल—आळवारों में अन्तिम ये ही माने जाते हैं। नवमीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में इनको रखा जा सकता है। चोल देश के किसी शैव घराने में ये पैदा हुए थे। इनके पिता चोलवंशी राजा के सेनापति थे। अतः ये भी सेनापति बनाये गये। राजा से खटपट हो जाने पर लुटेरों के सरदार बन गये। ये बड़े भयानक डाकू थे और लूट में मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इनके बनाये छः पद्य ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदांग माने जाते हैं। शठकोपाचार्य के बाद इनके ग्रन्थों का स्थान है। तिरुवल्ली में

कुमुदवल्ली नाम की एक रूपवती कन्या थी जिसकी दो शर्तें थीं। प्रथम यह कि उसका पति विष्णु भक्त हो और दूसरी यह कि वह रोज एक हजार आठ वैष्णवों को भोजन करा सके। तभी वह प्रसाद ग्रहण करेगी। नीलन ने इसे स्वीकार कर कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। इस कार्य के लिये वे लूट करने लगे। किसी ऐसे ही समय में भगवान् विष्णु ने धनी व्यक्ति के रूप में इनको नारायण मंत्रोपदेश दिया। इसी के प्रभाव से इनका जीवन सुधर गया।[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ये आळवार उच्चकोटि के भगवद्भक्त तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। तिरुमङ्गलई को छोड़कर सभी में मानवता का उच्च स्तर विद्यमान है। सभी जाति और श्रेणी के इन संतों ने विष्णु भक्ति का द्वार अबाध गति से निर्मुक्त होकर सबके लिए खोल दिया। दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य है। विष्णु की उपासना और साधना इनकी एकान्तिक भाव से थी। ये विष्णु को वासुदेव-नारायण आदि नामों से जानते थे। इनके मतानुसार भगवान् विष्णु नित्य; अनन्त और अखण्ड हैं। अवतार लेने पर भी भगवान् की अनन्त सत्ता बनी रहती है। राम और कृष्ण की भक्ति आळवारों ने वात्सल्य, दास्य और कान्ता भाव से की है। भक्ति के अंतर्गत प्रपत्ति को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान ये लोग देते हैं। बिना आत्मसमर्पण के विष्णु की कृपा या प्रेम नहीं मिल सकता ऐसा इनका विश्वास है। इनकी पूर्वोक्त तीन श्रेणियों में से प्राचीन एवम् मध्यवर्ती के बीच तीन सौ से भी अधिक अन्तर पड़ जाता है। तिरुमङ्गलई के बाद आळवारों का युग समाप्त हो जाता है। इसके बाद दसवीं शताब्दी से आचार्यों का युग आरम्भ हो जाता है।

आचार्यों का भक्ति युग—

ये वैष्णव आचार्य तमिल प्रान्त के संस्कृत के गाढ़े विद्वान थे। आलवारों की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय इन लोगों ने किया। हम कह सकते हैं कि इस तरह से वैष्णव साधना को एक नया मोड़ मिला। संस्कृत वेद और तमिल वेद में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया। वैष्णव भक्ति के प्रति इन्होंने लोगों के हृदयों में आस्था जगाई।

---

१. श्री एस्. कृष्णस्वामी अयंगार कृत दक्षिण के वैष्णव संप्रदायों का इतिहास; मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी; मध्यकालीन प्रेम-साधना—पं० परशुराम चतुर्वेदी; भागवत धर्म तथा भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय और वैष्णव तथा शैव और अन्य संप्रदाय-भांडारकर कृत इन पुस्तकों का अध्ययन विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।

आळवारों के सिद्धान्तों में तथा वेदों के तात्विक वातों में सामंजस्य प्रदर्शित किया। आलवारों की रचनाओं का संग्रह कर उसका संपादन रघुनाथाचार्य या नाथमुनि ने किया। आचार्य परम्परा के भक्तों में ये सर्व प्रथम आचार्य हैं। इनका महत्व दो प्रकार का है। (१) प्रथम कार्य यह कि लुप्तप्राय: या उपेक्षित भक्ति से आप्लावित तामिल काव्यों का पुनरुद्धार कर श्रीरंगम् के रंगनाथ के मन्दिर में उनके गाने की व्यवस्था की और वैदिक ग्रन्थों के समान इन ग्रन्थों के अध्यापन की व्यवस्था का वैष्णव मंडली में प्रचार करने का सूत्रपात किया। (२) दूसरा कार्य यह कि नवीन संस्कृत ग्रन्थों की रचना करके दार्शनिक दृष्टि से सूत्रवद्ध विवेचन किया। इस कार्य के लिए व्रह्मसूत्रों के कथनों का समन्वय करने का प्रयत्न तथा मायावाद का खंडन करते हुए भक्तिवाद की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्तों का निर्माण भी किया।

सन् ८२४ से ९२४ तक नाथमुनि विद्यमान थे। इनके पूर्वज उत्तर भारत से आये हुए एक भागवत धर्मावलंवी वैष्णव थे। वेदांत-देशिक ने नाथमुनि रचित 'योगरहस्य' नामक ग्रन्थ का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है। विशिष्टा-द्वैत का यह प्रथम मान्य ग्रन्थ है। वेद, उपनिषद और व्रह्मसूत्र ही इनके दार्शनिक समन्वय के आधार थे। आलवार भक्तों का महत्व केवल उनके प्रतिपादित ग्रन्थों के संग्रह-संपादन में नहीं था, वरन् किसी भी वर्ण के वैष्णव के लिए इसका पाठ करने में रोक-टोक नहीं है, इस मत के आचार्यों द्वारा किये गये समर्थन में था। यह वहुत वड़ी वात थी। वड़े-वड़े आचार्यों के भाष्यों के साथ इन्हें पढ़ा जाना कितने गौरव का कार्य था यह अच्छी तरह से सिद्ध हो जाता है। इसी से तो आळवार संतों की मूर्तियाँ उसी तरह पूजी गयीं जैसे कि उनकी उक्तियाँ। वैष्णव हृदय किस प्रकार का होता है, इसका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि आचार्यों ने उच्च वर्णीय अभिमान छोड़कर दक्षिण के जनवादी-आन्दोलन को इतना गौरव पूर्ण स्थान देकर उसकी प्रतिष्ठा कायम की और इस तरह वैष्णव भक्ति के प्रसार की भूमि तैयार की। सव से वड़ा आश्चर्य तो इस वात का है कि यह उस युग का कार्य है जव कि आजकल की परिपक्व वुद्धिवादी वैज्ञानिक दृष्टि का साक्षात्कार और सभी प्रकार की विषमताओं को दूर करने की कटिवद्ध तत्परता का ज्ञान भी असंभव था। हाँ यह सत्य है कि इससे आध्यात्मिक क्षेत्र की विषमता ही नष्ट हो सकी फिर भी यह कम महत्वपूर्ण वात नहीं है।

नाथमुनि के वाद उनके पौत्र उन्हीं के समान अध्यात्म निष्णात विद्वान थे, जिनका नाम यामुनाचार्य था। इनका तामिल नाम 'आलवंदार' था। नाथमुनि के

वाद उनकी आचार्य गद्दी पर श्री पुंडरीकाक्ष तथा राममिश्र वैठे। यामुन को राजसी वैभव में ही दिन व्यतीत करते हुए देखकर राममिश्र को वड़ा दुख हुआ। उन्होंने यामुन को समझा बुझाकर अध्यात्मतत्व की शिक्षा-दीक्षा दी। भक्ति शास्त्र का उपदेश देकर राममिश्र ने यामुन को अपना शिष्य भी बना लिया।[1] एक पद्य इस घटना को वतलाने वाला मिलता है, जो इस प्रकार है—

अयलवो यामुन आत्मदास अलर्क पत्रार्पणनिष्क्रयेण।
य: क्रीतवान् अस्थित यौवराज्यं नमामि तं रामयमेय तत्वम् ॥

इस तरह क्रमश: द्वितीय और तृतीय आचार्य के वाद चौथे आचार्य यमुनाचार्य हुए। इन आचार्यों के सम्प्रदाय को श्री संप्रदाय कहा जाता है। यामुनाचार्य ने इस सम्प्रदाय की नींव डालकर उनके सिद्धांतों को सवसे पहले स्पष्ट रूप से समझाने एवम् प्रस्थापित करने का कार्य किया।[2] ये लगभग ९१६ ई० में नारायणपुर में पैदा हुए तथा मृत्यु सन १०४० में हुई। इनका दार्शनिक संवन्ध सीधा विशिष्टाद्वैत मत से है। इन्होंने चौलवंशी दरवारी कवि को अपनी विद्वत्ता तथा शास्त्रार्थ से पराजित किया तथा प्राचीन आलवारों के काव्यों का प्रचार, प्रसार तथा अध्यापन के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने ये मुख्य ग्रन्थ लिखे हैं—(१) गीतार्थसंग्रह–विशिष्टा-द्वैतमतानुसार गीता के गूढ़ सिद्धान्तों का संकलन (२) श्री चतु:श्लोकी-भगवती लक्ष्मी की स्तुति इसमें की गई है। (३) सिद्धित्रय-इसमें स्वामी शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया गया है तथा आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि और संवित् सिद्धि इन तीनों सिद्धियों का समुच्चय और आत्मा के स्वरूप का निर्देश है। (४) आगम-प्रामाण्य में भागवत धर्म का प्रतिपादन है। (५) महापुरुष निर्णय में विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। (६) सव से लोकप्रिय ग्रन्थ–'स्तोत्ररत्न' नाम का है। इसमें ७० पद्य हैं, इसमें आत्मसमर्पण का सिद्धान्त तथा प्रपत्ति का प्रतिपादन किया गया है। यामुनाचार्य की वड़ी हार्दिक इच्छा थी कि ब्रह्मसूत्र पर कोई भाष्य लिखा जाय। उनके द्वारा यह कार्य न हो सका पर उसे उनके उत्तराधिकारी रामानुजाचार्य ने पूरा किया। रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' प्रसिद्ध है। आचार्यों के वारे में पद्मपुराण का यह श्लोक दृष्टव्य है:—[3]

---

१. राय चौधुरी कृत अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णवीज़्म, पृ० ११२–११३।
२. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय, पृ० २००–२०३।
३. पद्मपुराण।

सम्प्रदाय विहीनाये मंत्रास्ते विफलामताः ।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सांप्रदायिनः ॥
श्री ब्रह्मरुद्र सन का वैष्णवाः क्षिति पापनाः ।
चत्वार स्ते कलौ भाव्या ह्युत्फले पुरुषोत्तमः ॥

प्रमेयरत्नावली में एक श्लोक इसी विषय पर यों मिलता है ।[1]

रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतर्मुखः ।
श्रीविष्णु स्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः ॥

प्रसिद्ध गुजराती पुस्तक 'वैष्णवधर्म नो इतिहास' में इन संप्रदायों पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है ।[2]

आसन् सिद्धांत कर्तारश्चत्वारो वैष्णवाद्विजाः ।
येरयं पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढीकृतः ॥
विष्णु स्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीतियकः ।
मध्वाचार्य स्तृतीयास्तु, तुर्यो रामानुजः स्मृतः ॥

इस तरह ये चार प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य हैं जिनके बारे में अब हम जानने की चेष्टा करेंगे ।

रामानुजाचार्य—ये सन् १०१६ या १०१७ में उत्पन्न हुए । बाल्यकाल प्रसिद्ध नगरी कांजीवरम् में बीता । अपनी पूर्व शिक्षा यादव प्रकाश नाम के किसी अद्वैती विद्वान से ग्रहण की । इन आचार्य के विचारों से मतभेद होने के कारण उनको छोड़कर ये अलग हो गये । वे आलवारों के 'गीतप्रबन्धम्' का गहरा अध्ययन कर यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने, और श्रीरंगम् में रहने लगे । नाथ मुनि की तरह भारत-भ्रमण कर उत्तर भारत के तीर्थ स्थानों की यात्राएँ की । आचार्य श्री की इच्छानुरूप 'दिव्य प्रबंधम्' की टीका, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य और विष्णु-सहस्रनाम पर भाष्य लिखे । इससे वैष्णव समाज की साधना पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा । 'गीता भाष्य' भी लिखा । अन्य ग्रन्थों में वेदांतसार, वेदार्थ संग्रह, वेदांत प्रदीप, ये विशेष प्रसिद्ध हैं । अपने पट्टशिष्य कुरेश (कुस्तालवार के ज्येष्ठ पुत्र पराशर) के द्वारा 'भगवद्गुणदर्पण'—विष्णु-सहस्रनाम की टीका लिखवाई तथा मातुल पुत्र कुरुकेश के द्वारा 'तिरुवायमोलि' नम्माळवार कृत पर तमिल भाष्य लिखवाया ।

---

१. प्रमेयरत्नावली, पृ० ८ ।

२. वैष्णव धर्म नो इतिहास—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, बम्बई, पृ० ३३५ (१९३९)

रामानुजाचार्य के जीवन की महत्वपूर्ण तीन घटनाएँ ।[1]

(१) महात्मा नाम्बिसे 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र का उपदेश लिया । गुरु ने इस मंत्र की जगदुद्धारक शक्ति के कारण अत्यन्त गुप्त रखने का आग्रह किया था, पर संसार के जीवों को विषम दुःखों से मुक्ति दिलाने की इच्छा से श्रीरामानुज ने छतों पर से और पेड़ोंके शिखरों पर से इसका जोरदार प्रचार किया । इस मन्त्र से उन्होंने सबको दीक्षित किया । इस कार्य से उनको अपने काल का उद्धारक नेता माना जाता है ।

(२) दूसरी घटना सन १०९६ के करीब-करीब श्रीरंगम् के अधिकारी राजा चोलनरेश कट्टर शैव कुलोत्तुंग के भय से श्रीरंगम् का परित्याग करना है । रामानुज को अस्सी वर्ष की अवस्था में भी जब राजा ने अपने दरबार में बुलाया तब उनके पट्ट शिष्य कुरेश ने उनको जाने नहीं दिया । वे खुद वहाँ गए और राजा को वैष्णव धर्म का उपदेश दिया । तब क्रोधित होकर राजा ने इनकी आखें निकाल लीं ।

(३) तीसरी घटना सन १०९८ में घटी । मैसोर के शासक विट्टी-देव को वैष्णव धर्म में दीक्षितकर उसका नाम विष्णुवर्धन रखा । इसके बाद सन ११०० के आसपास रामानुज ने मेलकोट में भगवान् श्री नारायण के मन्दिर की स्थापना की और सोलह वर्षो तक वहाँ रहकर राजा कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद सन १११८ में वे श्रीरंगम् लौट आये तथा ११३७ तक आचार्य पीठ पर विद्यमान रहे । अनेक मन्दिरों का निर्माण करके दक्षिण के विष्णु मन्दिरों में वैखानस आगम के द्वारा होने वाली उपासना को हटाकर उसके स्थान पर पांचरात्र-आगम की स्थापना की ।[2]

रामानुज ने अपने मत को प्राचीनतम और श्रुत्यनुकूल सिद्ध करने का अथक परिश्रम किया है । उनके कथनानुसार विशिष्टाद्वैत मत बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दि और भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यो के द्वारा व्याख्यात उपनिषदों के सिद्धांतों पर आधारित है । रामानुज के प्रयत्नों से दक्षिण में वैष्णव मत की काफी वृद्धि तथा प्रचार एवम् प्रसार हुआ । रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्थापित श्री सम्प्रदाय की आठ गद्दियाँ हैं । इनमें छः सन्यासियों की और अन्तिम दो गृहस्थियों की हैं । (१) तोताद्रि-तिन्नेवली स्टेशन से १८ मील दूरी पर नागनेरी नामक स्थान पर के आचार्य श्री रामानुजाचार्य कहलाते हैं । यह सर्वप्रथम गद्दी है तथा

---

१. दि लाईफ ऑफ रामानुज १९०६—श्री ग्रेट आचार्याज नटे सन मद्रास ।

२. भागवत् संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृ० २०४-२०५ ।

यहाँ पर विष्णु भगवान् का एक मन्दिर भी है। (२) व्यंकटाद्रि—स्टेशन तिरुपति ईस्ट। यहाँ के आचार्य व्यंकटाचार्य कहलाते हैं तथा यहाँ पर बालाजी का एक मन्दिर है। (३) अहोबिल—स्टेशन कडप्पा, श्रृङ्गवेल कुण्ड के पास हैं। यहाँ के आचार्य शठकोपाचार्य कहलाते हैं तथा नृसिंह देवता का मन्दिर है। (४) ब्रह्मतंत्र परकाल—मैसोर में है और आचार्य को ब्रह्मतंत्र रामानुजाचार्य कहते हैं। (५) मुनित्रय—बंगलोर के पास है। यहाँ के आचार्य को मुनित्रयाचार्य कहते है। श्रीरंगम्, स्टेशन, त्रिचनापल्ली या श्रीरंगम् है। यहाँ के आचार्य रंगनाथाचार्य कहलाते हैं। मन्दिर श्री रंगनाथ स्वामी का है। ६ ठी और ७ वीं गद्दी गृहस्थियों की हैं जो श्रीरंगम् में ही स्थित हैं। इनके आचार्य क्रमशः आचार्य अन्नत स्वामी और वरदाचार्य कहलाते हैं। गृहस्थी आचार्य ही वरदाचार्य होते हैं। (८) विष्णु-कांची—कांजीवरम् स्टेशन है। यहाँ पर वरदराज विष्णु का मन्दिर है और आचार्य भयंकर स्वामी कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अन्य मठ हैं।

रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति की लहर में सारा विराट उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत आप्लावित हुआ जिसमें जन-समाज के सभी स्तरीय लोग आए थे। प्रगति के तत्व इसमें निश्चित रूप से जान पड़ते हैं। रामानुज के आदि गुरु एक शूद्र संत थे। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। तब सारी चीज समझ में आ जाती है कि रामानुज शास्त्र का आधार लेकर भक्ति के व्यापक जन-आन्दोलन को रुढ़िवादियों की ओर से मान्यता दिला सके हैं, और परिणामतः इनके अनुयायियों में ब्राह्मण, शूद्र, शास्त्रीय, अशास्त्रीय, सभी अपने आपको भूलकर एक ही स्तर पर आकर भक्ति-भावना में लीन हो गए। नम्मालवार के ऋण को उन्होंने पूरी तरह चुकाया। रामानुज सम्प्रदाय में लक्ष्मीनारायण तथा विष्णु के अवतारों की उपासना की जाती है। फिर भी विशेषतः रामोपासना को इसमें अधिक महत्व मिला है। शिव के प्रति द्वेष भी इस संप्रदाय में दिखाई देता है। चोल राजाओं के द्वेष के कारण यह भावना शायद आगई है।[1] मैक्समूलर के कथनानुसार रामानुज ने हिन्दुओं की आत्माएँ उनको वापस कर दी है। शूद्रों को केवल वेद पठन का वे अधिकार नहीं देते। भक्तिमार्ग का प्रतिपादन उन्होंने मानव का मानव से व्याव-हारिक मूल्य स्वीकार करते हुए मानव के हृदय का मानव के हृदय से संबन्ध जोड़ कर किया है। इसे हम अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कहेंगे। रामानुज का धर्म मानवतावादी धर्म था तभी भक्ति के क्षेत्र में भेद-भाव नहीं मानते। मीरां, रैदास, कबीर तथा रामानंद जैसे भक्त इसी भक्ति परम्परा की देन है। यह ऐतिहासिक

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १४२–४३।

श्रेय उनका ही है।[1] रामानुज का वैकुण्ठवास सन ११३७ में हुआ। इनकी मृत्यु के बाद ही इनके मत के दो स्वतंत्र मत बन गये। यह कार्य केवल डेढ़ सौ वर्षों में उनकी मृत्यु के बाद हो गया। इसका प्रधान कारण तमिल और संस्कृत का संघर्ष है। एक मत तमिल वेद की अक्षुण्णता को मानकर सब प्रकार से उसी में श्रद्धा रखता था और संस्कृत को महत्व नहीं देता था। इस मत को टेंकलई या टेनकड़ाई मत कहते है। दूसरा मत संस्कृत तथा तमिल को मानकर दोनों में निबद्ध ग्रन्थों को प्रमाण मानता था पर संस्कृत को विशेष प्राधान्य देता था। इसको वडकलै या वडकलाई मत कहते हैं। इन मतभेदों के अतिरिक्त सब से महत्वपूर्ण पार्थक्य प्रपत्ति वाले सिद्धांत को लेकर है। टेंकलै मत के वैष्णव एकमात्र शरणागति को ही मोक्ष का उपाय समझते हैं। इसमें वे कर्म के अनुष्ठान को वांछनीय बिलकुल नहीं समझते। वडकलै मत के वैष्णव प्रपत्ति के निमित्त कर्म के अनुष्ठान को मानते हैं। मार्जार-किशोर क्रियाहीन होता है। बिल्ली के बच्चे की रक्षा बिल्ली स्वयं करती है उसी प्रकार भक्त की रक्षा भगवान् स्वयम् करते हैं; कर्म की आवश्यकता नहीं है। कपि-किशोर अपनी रक्षा के लिए माता को पकड़े रहता है तभी उसकी रक्षा होती। भक्त भी भगवान को पकड़े रहता है, यह कर्म उसे करना पड़ता है तभी उसकी रक्षा होती है। प्रथम टेंकलै मत को और द्वितीय वड़कलै मत को सिद्ध करता है। टेंकलै मत के प्रतिपादक आचार्य श्री लोकाचार्य थे जो तेरहवीं शती में हुए थे, वडकलै मत के प्रतिपादक वेदांताचार्य वेंकट नाथ वेदांत-देशिक थे और श्री लोकाचार्य के प्रतिपक्षी और समकालीन भी। ये सन १२६६ से १३६६ के बीच हुए थे ऐसा माना जाता है। प्रथम मतवाले वैष्णवों को शूद्रादि के साथ केवल बातचीत में समान भाव रखना चाहिए और द्वितीय मतवाले उनके साथ सभी प्रकार से समान भाव रखना चाहिए ऐसा मानते हैं।

रामानुज के सिद्धान्त—

रामानुज के तात्विक सिद्धांत गीता, उपनिषद, न्यायशास्त्र, एवम् ब्रह्मसूत्र पर आधारित हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति सांख्य तत्वानुसार मानते हैं। 'पांचरात्र संहिता' की विधि का अनुसरण अधिकतर विष्णु पूजा में किया जाता है। भक्ति पक्ष अधिकतर गीता, पातंजल-योग, तथा आलवारों की परंपरा में आता है। स्नेह उपासना का मूल भाव है। ब्राह्मणों की संख्या इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में अधिक है। अत्यंज भी इसके सिद्धान्तानुसार एक समान होकर भी खान-पान तथा

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि —विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १५६—५७।

स्पर्शास्पर्श का विचार करते हैं। मूर्तिदर्शन और मन्दिर-प्रवेश के लिए दिन विशेष निर्धारित हैं। श्री वैष्णव-सम्प्रदाय और श्री सम्प्रदाय के नामों से भक्तों की दो श्रेणियाँ हैं। उत्तर-भारत में श्री वैष्णव का प्रचार अधिक है। रामानुज मतानुसार पदार्थ तीन हैं—(१) चित (२) अचित् (३) ईश्वर। जीव चित् पदार्थ है। जड़ जगत् अचित है, तथा अन्तर्यामी शक्ति के रूप में ईश्वर है। शंकराचार्य की तरह रामानुज को माया अमान्य है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है—

एतद् ज्ञेयं नित्यमेवात्म संस्थं।
नातः परं वेदितव्यंहि किंचित्॥
भोक्ता, भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

—श्वेताश्वतर उपनिषद।

रामानुज के तीन पदार्थ ये ही हैं। ब्रह्म ही ज्ञातव्य है। जीव भोक्ता है, और जगत् भोग्य है। प्रेरक ईश्वर है। ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष नहीं है, तो वह प्राकृत गुण रहित, कल्याण गुण गुणाकर. अनन्त-ज्ञानानंद-रूप, तथा सकल जगत् का सृष्टा, पालक और संहारकर्ता है। इसे 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से भी जानते हैं क्योंकि ब्रह्म 'विशिष्ट योः अद्वैतम्' अर्थात् विशिष्ट कारण और विशिष्ट कार्य की एकता बतलाने वाला है। ब्रह्म कारणावस्था और कार्यवस्था दोनों होने से अद्वैत है। सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चिद-चिद्-विशिष्ट ब्रह्म, कार्य है। ब्रह्म, जीव, और जड़ अपने से स्वरूपतः पृथक् हैं किन्तु जड़चेतनात्मक वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह ब्रह्मायत्त है। वह ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं, अपितु सर्वदा उससे अपृथक् सिद्ध है। वह ब्रह्म के द्वारा नियम्य है, कार्य है तथा ब्रह्म का शेष होने से उसका शरीर है। ब्रह्म उसका नियंता, धारयिता और शेषी होने से उसकी आत्मा है। ईश्वर, जीव तथा जगत् में विशेष्य-विशेषण या अङ्ग-अङ्गी संबंध है। ईश्वर विशेष तथा जगत् और जीव विशेषण हैं। दोनों में एकत्व है। अतः वे अलग नहीं किए जा सकते। संयुक्त विशिष्ट ईश्वर की एकता प्रामाणिक है अतः ब्रह्म उसके अंग चित् और अचित् अंगी से पृथक नहीं है। जीव-जगत्-ईश्वर का सम्बन्ध समवाय रूप से वाह्य है तथा अपृथक सिद्धी रूप से आन्तर सम्बन्ध है। ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त कारण होकर भी उपादान कारण है। जगत् की सृष्टि भगवान् की लीला से उत्पन्न होती है उसका संहार भी एक लीला ही है। इस विशिष्ट लीला में ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है। जगत् की नित्यसिद्धसत्ता है। सृष्टि-काल में स्थूल रूप से जगत् की प्रतीति तथा प्रलय

काल में वही जगत सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है। प्रलय काल में जीव, जगत्, सूक्ष्म रूपापन्न होने के कारण तत्संबद्ध ईश्वर सूक्ष्म चिद-चिद्-विशिष्ट ईश्वर कहलाता है। यही कारण-ब्रह्म है। सृष्टि काल में स्थूल रूपापन्न होने पर वही चिद्-चिद्-विशिष्ट कार्य ब्रह्म है। ज्ञान शून्य विकारास्पद वस्तु अचित् कहलाती है। इसके तीन भेद हैं—(१) शुद्ध सत्व, (२) मिश्र सत्व और (३) सत्व शून्य। जीव अणु है, अल्पज्ञ है, तथा क्षुद्र है, तो ब्रह्म सर्वज्ञ और अति महान् है। संसारी दशा में जीव ब्रह्म से पृथक है, मुक्त दशा में वह वैसा ही बना रहेगा। मुक्ति दशा में वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करेगा। रामानुज भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन मानते हैं। भक्ति-सेवित भगवत्प्रसाद ही जीव को मुक्ति लाभ देता है। 'तत्वमसि' का तात्पर्य तस्यत्वम् असि अर्थात् भक्त ईश्वर का ही सेवक है, यही है। अनन्य भाव से भगवान् का तथा उनके प्रिय पात्र भगवद्-भक्तों का कैंकर्य करना चाहिये यही परमधर्म है। कर्म तथा कर्म फल की अनित्यता को जानने वाला ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी है। संकर्षण-रूप-जीव की उत्पत्ति भगवान से होती है। विवर्त के स्थान पर रामानुज ब्रह्म परिणामवाद को मानते हैं। नारायण नाम की सार्थकता इस प्रकार है—

नराज्जातानि तत्वानि नारायणीति विदुर्बुधा।
तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः॥

अर्थात् पंचभूत, पंचतन्मात्रा, दश इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति तथा जीव अर्थात् पच्चीसों तत्व नर से उत्पन्न होने के हेतु नार कहलाते हैं। इन सभी तत्वों में व्यापक रूप से निवास करने के कारण भगवान् ही नारायण नाम से प्रख्यात हैं। जीव को चाहिए कि वह इसी स्वामी नारायण के चरणारविंद में आत्मसमर्पण करे। इसमें दास्य-भाव की भक्ति ग्रहित है, तथा भक्ति का सार प्रपत्ति मानी गयी है। बिना आत्मनिवेदन के भक्ति की अन्य साधना केवल बहिरंग मात्र है। कर्मकाण्ड अनिवार्य है। ईश्वर में मिलकर एक हो जाना मुक्ति नहीं है वरन् ईश्वर का सामीप्य पाना मुक्ति है। ईश्वर के समान हो जाना मुक्ति है। ब्रह्म न निर्गुण है और न निर्विशेष, वह सगुण सविशेष तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर और जीवात्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। ईश्वर अनन्त और जीव सान्त है। रामानुज भ्रम-ज्ञान को 'सत्ख्याति' मानते हैं। भ्रमज्ञान का विषय सत् होता है। शुक्ति में जो रजत दिखाई देती है, उसकी वास्तविकता होती है, जगत् का कोई ज्ञान अयथार्थ नहीं है। मोक्ष के साधनों की रामानुजीय कल्पना मनोवैज्ञानिक, मनोरम तथा स्वाभाविक है।

रामानुज का महत्व—

वैष्णव आचार्यों के प्रादुर्भाव के समय बौद्ध, जैन आदि धर्मों का प्रचार बढ़ा हुआ था। अतः वैदिक धर्म के अनुयायी नई शैली में उसके सिद्धान्तों की आलोचना करने लग गये थे। न्याय और मीमांसा के आचार्यों ने इस क्षेत्र में आकर प्रथम आलोचना की। किन्तु इसके साथ-साथ अपने निराकरण में इन लोगों ने वेदांत पर भी अनेक प्रहार अपने आक्षेपों से किए। अतः उपनिषदोंके आधार लेकर वेदान्तियों में से गौडपादाचार्य तथा श्री शंकराचार्य ने यह प्रतिपादित किया कि एक मात्र परब्रह्म ही सत्य है, तथा जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। जो विभिन्नता दिखाई देती है वह मिथ्या है। इसका कारण अविद्या या माया है। प्रत्यक्ष भक्ति या प्रेम को इन्होंने स्थान नहीं दिया था। यह उपेक्षा रामानुज जैसे आचार्यों ने तथा उनके पूर्ववर्ती आळवारों ने पूर्ण की है। इनमें हृदय पक्ष का प्राबल्य विशेष रूप से है। इनके बाद के आचार्यों ने मस्तिष्क पक्ष को भी पूर्ण करके कोरे कर्मकाण्ड का खंडन किया तथा भक्तिपक्ष का प्रबल समर्थन किया। शंकराचार्यानुमोदित स्मार्त-धर्म द्वारा प्रतिपादित बहुदेवताप्रणाली के स्थान पर एक विष्णु की आराधना प्रस्थापित की तथा उपासना के क्षेत्र में सबको साम्य तथा समता प्रदान की। एक तरह से श्री संप्रदाय या विशिष्टाद्वैत संप्रदाय पुराने भागवत धर्म, पांचरात्र धर्म का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। अद्वैतवासियों से लोहा लेने का कार्य इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है जो महत्वपूर्ण है।

द्वैताद्वैतवाद तथा श्री निम्बार्काचार्य—

श्री सम्प्रदाय पांचरात्र धर्म एवं भागवतधर्म का ही एक विकसित रूप था यह हम ऊपर कह आये हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय को 'सनक सम्प्रदाय' कहते हैं। समस्त वैष्णव संप्रदायों के आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं और उनका ही उपदेश चार शिष्यों के द्वारा प्रसारित हुआ। ये चार शिष्य श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनक हैं। इनमें से श्री सम्प्रदाय का हम विवेचन कर आये हैं। वैसे इन सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने परस्पर आदान-प्रदान किया है। उनमें सिद्धान्तः भेद हो सकते हैं, फिर भी वैष्णव विषयक न्यूनाधिक एकता से ये परस्पर अवश्य प्रभावित हुए हैं। निम्बार्काचार्य का मत 'स्वाभाविक भेदाभेद' माना जाता है। इनके बारे में कोई सुसूत्र जानकारी नही मिलती। विद्वानों में इनके निश्चित काल के बारे में मतभेद है। अनुमानतः श्री रामानुजाचार्य के बाद और मध्वाचार्य के समकालीन अर्थात् सन् १०३७ से ११३७ तक इनका अस्तित्व मान सकते हैं। यों डा० भांडारकर

उनका समय सन ११६२ के लगभग वतलाते हैं।[1] डा० दासगुप्ता अनुमानतः चतुर्दश शताव्दी मानते हैं।[2] निम्वार्क सम्प्रदाय वाले पाँचवीं शताव्दी में थे वे ऐसा वताते हैं। आधुनिक विद्वानों के मतों का सार यही है कि निम्वार्क ग्यारहवीं शती में हुए थे। इनके कई नाम है जैसे 'भास्कराचार्य', 'निम्वादित्य', 'निम्ब-भास्कर', 'नियमानंदाचार्य'। आचार्य वलदेव उपाध्याय इनके मत के वारे में कहते हैं—'इस मत का इतिहास अभी भी गंभीर अध्ययन का विषय है। समुचित सामग्री के अभाव में अभीतक मौलिक प्रश्नों का भी समाधान नहीं होने पाया है। यह मत कव उत्पन्न हुआ? कहाँ उत्पन्न हुआ? किस प्रकार वर्तमान दशा तक विकसित होकर पहुँचा? हिन्दी साहित्य के विकास में इस सम्प्रदाय के कवियों ने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया? ये सभी प्रश्न अभी भी अपनी मीमांसा के निमित्त अवसर खोज रहे हैं।[3]

'हरि गुरु स्तव माला' की जानकारी के अनुसार इस मत के आचार्य हंस-स्वरूप भगवान् नारायण है, जो राधाकृष्ण की युग मूर्ति के प्रतीक हैं। उनसे इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को मिली, जिसे सनन्दन-नारद परम्परा से निम्वार्क ने प्राप्त किया। संभवतः वेलारी जिले के निम्वापुर नामक नगर में सन १११४ के करीव ये पैदा हुए थे। पर इनको वृन्दावन अधिक भाता था अतः वहीं रहकर उन्होंने 'वेदांत पारिजात सौरभ' दशश्लोकी और सिद्धान्तरत्न आदि ग्रन्थों की रचना की। इनका असली नाम 'नियमानन्द' था। एक जैन साधु को रात्रि में भोजन करने के लिए कहा पर वह प्रस्तुत न हुआ। तव नियमानन्दाचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र का आवाहन किया, जिसकी ज्योति सूर्यवत् चमकती थी। नीम के वृक्ष पर से आने वाला सूर्य प्रकाश देखकर उस साधु ने विधिवत् भोजन किया। तव से इनका नाम निम्वार्क या निम्वादित्य पड़ा।

इनके मत का निरूपण संक्षेप में इस प्रकार है—

दशश्लोकी में पदार्थ पंचविध वताये हैं। ये पाँच पदार्थ ज्ञेय हैं। (१) उपास्य का स्वरूप (२) उपासक का स्वरूप (३) कृपाफल (४) भक्तिरस (५) फलप्राप्ति में विरोध। इन पाँच विषयों के अंतर्गत निम्वार्काचार्य के ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष, मोक्ष-साधन आदि सम्बन्धी सिद्धांत वतलाए जाते हैं। इसे सनक सम्प्रदाय भी कहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से निम्वार्क द्वैताद्वैत या भेदाभेद का

१. वैष्णविज्म, शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८८
२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी— डा० दासगुप्ता, पृ० ३६६–४०४
३. भागवत धर्म—वलदेव उपाध्याय, पृ० ३१२–१३

समर्थन करने वाले थे। ऐसा माना जाता है कि बादरायण के पूर्वज औडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। रामानुज के गुरु यादव-प्रकाश भी इसी मत के प्रतिपादक थे। निम्बार्काचार्य के सनक संप्रदाय का प्रचार जितना उत्तर भारत में हुआ उतना दक्षिण में नहीं। इनके दो प्रसिद्ध शिष्य हुए थे—केशव भट्ट तथा हरिव्यास। पहले विरक्त थे, तो दूसरे गृहस्थ। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ भागवत है तथा हरिवंश को भी मान्यता प्राप्त है। वैसे महाभारत और विष्णु-पुराण का भी पर्याप्त रूप में प्रभाव स्वीकार किया जाता है। इस सम्प्रदाय की भक्ति प्रेमलक्षणा-प्रधान-भक्ति थी। बंगाल और मथुरा पर इसका प्रभाव अधिक पाया जाता है।

निम्बार्क मत की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

जीव बिना इन्द्रियों की सहायता के ज्ञान प्राप्त करता है अतः उसे प्रज्ञान घन कहा गया है। यद्यपि जीव, जगत् तथा ईश्वर तीनों भिन्न हैं, पर जीव तथा जगत् का व्यापार और अस्तित्व ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। अपने से इनको स्वातंत्र्य नहीं है। परमेश्वर में ये दोनों तत्व सूक्ष्म रूप से रहते हैं। मुक्त दशा में भी जीव का कर्तृत्व माना गया है। जीव ईश्वर का अंश है अर्थात् टुकड़ा नहीं है। इसलिए जीव भिन्न और अभिन्न दोनों है। अचित् तत्व तीन प्रकार के होते हैं (१) प्राकृत (२) अप्राकृत (३) काल। बुद्धि से लेकर स्थूल महाभूतों तक सारे पदार्थ हैं तथा ये सब ईश्वराधीन हैं। अप्राकृत पदार्थों में भगवान् के लोक आदि आते हैं जो प्रकृति द्वारा निर्मित नहीं हैं। काल संसार का नियामक अवश्य है, पर स्वयं भगवान् के आधीन है।

साधना पद्धति—

भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ है तथा जीव को प्रपत्ति से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अनुग्रह से भगवान के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तों के लिए भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र की चरण सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता इनकी वंदना किया करते हैं। जैसे दशश्लोकी के इस श्लोक से स्पष्ट है—

नान्यागति : कृष्ण पदारविंदात्
संदृश्यते ब्रह्म शिवादि वंदितान्।
भक्तेच्छयो पात्त सुचिन्त्य-विग्रहा
दचिन्त्य शक्ते रविचिन्त्य साशयात् ॥८॥[1]

—दशश्लोकी।

---

१. दशश्लोकी—श्लोक, ८।

राधाकृष्ण की युगल उपासना के साथ माधुर्य तथा प्रेम शक्ति रूपा राधा की उपासना पर निम्बार्क अधिक जोर देते है। इसका कारण यह है कि राधा भक्तों की सकल कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति मानी गयी है। निम्बार्क राधा को 'अनुरूप सौभगा' कहते है अर्थात् वे कृष्ण के सर्वथा अनुरूप स्वरूप वाली हैं। राधा अर्थात् आत्मा और कृष्ण अर्थात् परमात्मा है। कृष्ण तथा श्री के अविभाज्य सम्बन्ध को भागवत मे सूचित किया गया है। श्री के दो रूप वेदों में बतलाये गये है—श्री तथा लक्ष्मी। इन में श्री का आविर्भाव वृषभानुतनया–राधा के रूप में हुआ था और लक्ष्मी का रुक्मिणी के रूप मे। वैष्णव शास्त्र के विश्वासानुसार भगवान् के साथ श्री भी नाना रूप ग्रहण करती है। देवलोक में देवी बनकर तथा मनुष्य लोक में मानुषी बनकर कृष्ण रूप के आविर्भाव के साथ श्री के भी इस मनुष्य लोक में दो रूप हुए। इनमें राधा ही सर्व श्रेष्ठ है। 'त्राटक परिशिष्ट' राधा और कृष्ण के अभेद का प्रतिपादन करता है तथा भेद देखने वाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है—

राधया सहितो देवा माधवेन च राधिका।
यो नयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति ॥

निम्बार्क मत मे राधा स्वकीया पटरानी ही है। यह बात 'ब्रह्मवैवर्त' तथा गर्ग-सहिता के प्रमाणो से सिद्ध है। नित्य लीला में यह प्रश्न ही नही उठता पर अवतार लीला मे राधिका का श्रीकृष्ण से विवाह शास्त्र-सिद्ध है।[1]

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदां विराज माना मनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितं सदा स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामयाम् ॥

परकीयाभास केवल लौकिक दृष्टि से ही उत्पन्न हो जाता है। साधक की अभिरुचि के अनुसार साधक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य या उज्ज्वल को अपनाकर अपनी साधना मे अग्रसर हो सकता हे। वस्तुतः यह सम्प्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति को ही साधन मार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है। भक्ति के बारे मे निम्बार्क का विचार है कि 'मधुविद्या', 'शाडिल्य विद्या' जैसी वैदिक अनुष्ठानों की भक्ति वैदिक कही जाती है तथा उस पर त्रैवर्णिकों का अधिकार रहता है। पर पौराणिक भक्ति केवल भगवदाराधना से संबंध रखती है तथा शूद्रों को भी उसे करने का अधिकार है।

निम्बार्क के शिष्यों मे से श्री भट्ट ने सर्व प्रथम ब्रज भाषा में कविता की है। इनका 'जुगल शतक' 'आदि-बानी' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शिष्य आचार्य हरिव्यास जी ने निम्बादित्य की आज्ञा से 'जुगल शतक' पर भाष्य लिखा। यह

१. निम्बादित्य दशश्लोकी–हरिव्यास देव, श्लोक—५।

'महावानी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सर्वप्रथम उत्तर भारतीय संप्रदायाचार्य माने जाते हैं। इनका संप्रदाय रसिक संप्रदाय कहलाता है। इनके बारह शिष्य थे। श्री महावाणी में सेवा, उत्सव, सुरत, सहज तथा सिद्धांत सुखों का वर्णन है जिसमें राधाकृष्ण की नित्य लीला की मार्मिक अभिव्यंजना है। वल्लभ मतानुयायियों में जो स्थान सूर का है वही निम्बार्क मतानुयायियों में श्री हरिव्यासजी का है। हम अपने प्रवन्ध में इन पर अधिक प्रकाश नहीं डालेंगे, इतना निश्चित है कि निम्बार्क संप्रदाय ने हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा हित किया है। हिन्दी में इस मत के मानने वालों ने पर्याप्त रचनाएँ की हैं। वृजकाव्य वैष्णव काव्य ही है। अष्टछाप की प्रधानता में निम्वार्क मत को मानने वाले कवियों के काव्य की जैसे चाहिए वैसी परख अब तक नहीं पाई है। अष्टछाप से टक्कर ले सकने वाले कवि इसमें विद्यमान हैं। वल्लभ संप्रदाय का कवि जब बालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है तब निम्बार्क सम्प्रदाय का कवि राधाकृष्ण की श्रृङ्गार लीला पर रीझता है। हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि विहारी, घनानन्द, रसखान तथा रसिक गोविंद आदि निम्बार्क मतानुयायी हैं। वृन्दावन का सखी संप्रदाय इसी की एक शाखा है।

माध्व या द्वैतवादी सम्प्रदाय—

अद्वैतमत के विरुद्ध द्वैतमत का जोरदार प्रचार करना यही कार्य माध्व मत का है। किसी भी साधक को साधारण अनुभव में जगत्, जीव और ईश्वर का अलग-अलग ही अनुभव होता है। वैसे द्वैतवाद स्वभावतः यहीं सिद्ध हो जाता है। रामानुज में द्वैतभाव दिखाई देता है। भेद तो सिद्ध हो गया था पर अभेद सिद्ध करने के लिए 'अपृथक स्थिति' की कल्पना करनी पड़ी। माध्वमत को ही 'ब्रह्म संप्रदाय' भी कहते हैं। मध्वाचार्य का कथन है कि 'ब्रह्मसूत्र', श्रीमद् भगवद्गीता तथा उपनिषदों में द्वैत मत का ही प्रतिपादन किया गया है। उनके मत से प्रस्थान-त्रयी का यही सिद्धान्त है। हरि या भगवान्-प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव से साध्य हैं। साधन रूप में वे शम, दम, शरणागति, वैराग्य आदि अष्टादश साधनाएँ मानते हैं। माध्वमत के संस्थापक मध्वाचार्य थे। इनका दूसरा नाम आनन्द-तीर्थ था। दक्षिण भारत के उडिपी नाम के नगर के पास सन ११९७ में इनका जन्म हुआ। कुछ लोग इनका जन्म ११९९ भी मानते हैं। बचपन में इनका नाम वासुदेव था। अद्वैतवादी आचार्य अच्युतप्रेक्ष से उन्होंने सन्यास ग्रहण किया। तब इनका नाम 'पूर्ण यज्ञ' रखा गया। वेदान्त में पारंगत हो जाने पर ये 'आनन्द-तीर्थ' कहलाने लगे। उन्होंने अपने गुरु के साथ दक्षिण-दिग्विजय के लिए यात्रा की तथा कई अद्वैती आचार्यों से शास्त्रार्थ किया और उडुपी गये। यहाँ पर वेदव्यास को उन्होंने

अपना भाष्य दिखाया तथा उनसे कृपा प्राप्त की और वेदव्यास से शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ प्राप्त की, जिनको उदीपी, सुब्रह्मण्यम तथा मध्यतल में स्थापित किया। वे दिग्विजयी राम की भी मूर्ति बदरिकाश्रम से अपने साथ लेते आये। उन्होंने सीताराम, द्विभुज तथा चतुर्भुज कालीयदमन् विठ्ठल, लक्ष्मण-सीता आदि आठ मूर्तियों की स्थापना की, जहाँ पर इनके आठ शिष्य भी रखे गये। इन्होंने बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थ रचना की। कुल सैंतीस ग्रन्थ इनके लिखे हुए मिलते हैं। इनकी मृत्यु सन १३०३ में हुई ऐसा माना जाता है। अद्वैत मत की समीक्षा करके उन्होंने जनता की मांग का ही अपनी सरल भक्ति मार्गीय साधना से समर्थन किया। यह इस वैष्णव सम्प्रदाय की एक बहुत बड़ी विशेषता है। पशु-हिंसा की इस सम्प्रदाय द्वारा पूर्ण मनाई की गई है। मध्वाचार्य के मत को संक्षिप्त रूप में एक पद्य में इस प्रकार दिया गया है।[1]

> श्री मन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत् तत्वतो।
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्च भावंगतः॥
> मुक्ति नैज सुखानुभूति रमला भक्तिश्चतत्साधनम्।
> अक्षादित्रितयं प्रमाण मखिलान्मायैक वैद्योहरिः॥

द्वैती मध्वाचार्य का मत और दार्शनिक सिद्धान्त—

इस मत को ब्रह्मा ने आचार्य रूप में प्रस्थापित किया था। ये व्यूह के सिद्धान्तों को नहीं मानते परन्तु रामकृष्णादि अवतारों को मानते हैं। इनके मत के नौ सिद्धांत प्रमुख हैं। (१) हरिः परतरः श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। भगवान अनन्त गुणों से परिपूर्ण है और जड़ प्रकृति से सर्वथा विलक्षण हैं। चेतन दो प्रकार का होता है—जीव और ईश्वर। विष्णु ही परमतत्व हैं। (२) जगत् सत्य है। भगवान् की कोई भी कल्पना, इच्छा मिथ्या नहीं होती। ऐसी दशा में सत्य संकल्प के द्वारा निर्मित जगत् असत्य नहीं हो सकता। (३) भेद पंचधा होते हैं, तथा स्वाभाविक और नित्य हैं। ये पंचधा भेद इस प्रकार के हैं—(क) एक जीव का दूसरे जीव से भेद। (ख) ईश्वर का जीव से भेद। (ग) ईश्वर का जड़ से भेद। (घ) जीव का जड़ से भेद। (ङ) एक जड़ का दूसरे जड़ से भेद। (४) जीव-गण हरि के अनुचर हैं। इसलिए समस्त जीवों का सामर्थ्य भगवताधीन है। जीव अपने से अल्पज्ञ है, अतः वह सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही अपना कार्य किया करता है। (५) नीचोच्च भाव जीव में केवल कार्य भिन्नता के कारण नहीं होता तो मोक्ष दशा में भी वह तरतम भाव से युक्त रहता है। इस दृष्टि से ये तीन प्रकार के हैं (क) मुक्तियोग्य (ख) नित्य संसारी (ग) तमोयोग्य।

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।

इन तीनों में अन्तिम दो की कभी मुक्ति नहीं होती। गुणों की भिन्नता के अनुसार मुक्ति जीव भी परस्पर भिन्न होते हैं। (६) 'मुक्ति नैज सुखानुभूतिः' वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति में ही इस वैष्णव मत में आनन्द की उपलब्धि है। यह आनन्द परमानन्द स्वरूप है। मोक्ष चार प्रकार के हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।—'सायुज्यं नाम भगवन्त प्रविश्यतच्छरीरेण भोगः।' (७) मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय अमला भक्ति—मलरहित निर्दोष भक्ति—है। भक्ति में अहेतुकता तथा अनन्यता चाहिए। स्वार्थवश की गई भक्ति या हेतुवश की गई भक्ति दोषपूर्ण मानी जाती है। (८) माध्वमत के अनुसार प्रमाण ये हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और शब्द। इन्हीं के आधार पर सारे प्रमेयों की सिद्धि प्राप्त होती है। (९) वेद का समस्त तात्पर्य ही विष्णु है। वेदों का प्रधान कार्य भगवत्तत्व का प्रतिपादन है। यह प्रतिपाद्य विष्णुतत्व ही है। विष्णु ही कार्यवश विभिन्न रूप लेते हैं जैसे इन्द्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा। अन्त में ये सब उसी एक परब्रह्म का ही स्वरूप हैं। विष्णु को मध्वाचार्य महाभाग्यशाली देवता मानते हैं जैसे प्रसिद्ध है—[1]

'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एक स्यात्मनो न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥'

मध्वाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं ब्रह्मसूत्र-भाष्य अनुव्याख्यान, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, गीताभाष्य, भागवत-तात्पर्य निर्णय, महाभारत-तात्पर्य निर्णय, विष्णुतत्व-निर्णय, गीता-तात्पर्य निर्णय, प्रपंच-मिथ्यात्व निर्णय, तंत्रसार संग्रह आदि। 'जयतीर्थ' के समान प्रगाढ़ पण्डित माध्वमत में और दूसरा कोई नहीं हुआ। इस मत की बहुत सी ग्रन्थ संपत्ति अप्रकाशित ही पड़ी हुई है। यह उल्लेखनीय है कि कर्नाटक में इस मत का प्रचार प्रसार अधिक रहा। वैष्णव धर्म का भक्ति आन्दोलन महाराष्ट्र में कर्नाटक से होकर ही आया है। पद्मनाभ-तीर्थ, नरहरि-तीर्थ, माधव-तीर्थ और अक्षोभ्य-तीर्थ ये चार शिष्य मध्वाचार्य के द्वारा मठाधिपति बनाये गये थे। इन्होंने द्वैती वैष्णव धर्म का प्रचार किया। जयतीर्थ अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे; जिन्होंने मध्वाचार्य के ग्रन्थों का गंभीर अध्ययनकर विद्वत्तापूर्ण टीकायें भी लिखी हैं। इनकी शिष्य-परंपरा के कुछ मराठी शिष्यों ने इन टीकाओं के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कुछ पोथियां बंगलौर के मठ में 'सुरक्षित' हैं।

१. निरुक्त ७–४, ८–९—यास्क।

'महाभारत तात्पर्य निर्णय' और भागवत का अनुवाद ऐसी ही दो मराठी पोथियाँ हैं। प्राध्यापक श्री ना. बनहट्टीजी के मत से मराठी वैष्णव काव्य पर माध्वमत के द्वैत का भी प्रभाव पड़ा है। पर उनके इस मत को हम इतना ही महत्व दे सकते हैं कि मराठी वैष्णवों का बहिरंग अद्वैताश्रयी और अंतरंग द्वैताश्रयी है। भक्ति मार्ग के प्रतिपादन में सगुण भक्ति का महत्व अङ्कित करते समय वे द्वैती हैं ऐसा भास होने लगता है। पर ज्ञानाश्रित अध्यात्मपक्ष उन्हें सर्वदा ग्राह्य है और इस दृष्टि से वारकरी संप्रदाय वाले अपने को अद्वैती बतलाते हैं। माध्वमत की प्रतिष्ठा कितनी महत्वपूर्ण है इसका इस बात से पता चल जाता है कि माध्वमत ने भक्तिवाद का तर्कपूर्ण और सुसंगत विवेचन किया है। शैव मतानुयायियों से भी माध्वीय मत वाले समान भाव रखते हैं। उत्तर प्रदेश में वृन्दावन जैसे क्षेत्र में भी इनके अनुयायी मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के दीक्षागुरु केवल ब्राह्मण या सन्यासी हो सकते हैं। माध्वीद्वैत मत का भारतीय धर्म-साधना में महत्व इस बात का है कि इसने भक्तिमार्ग को निष्कंटक कर दिया तथा भक्तिमार्ग को प्रशस्त कर दिया। शंकर के अद्वैत की पराकाष्ठा प्रतिक्रिया के रूप में माध्वमत में पहुँचा दी गई है। इस चरम सीमा पर पहुँचने के बाद पुनः उसकी प्रतिष्ठा न हो सकी।[1] भारतीय दार्शनिक भेद को स्वीकार कर सकता है पर तात्विक रूप में अभेद को स्वीकार कर सकना ही उसकी स्वाभाविक प्रकृति है। अतः वल्लभाचार्य, कबीर तथा सूफियों पर अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा है जिसे हम यथा स्थान देखेंगे। इसलिए द्वैत भाव को छोड़कर वल्लभाचार्य ने इस मत के भक्ति विषयक, आत्मसमर्पण, भजन, जप, ध्यान आदि को तो स्वीकार किया और इनको ज्ञान से भी विशेष महत्व प्रदान किया। भांडारकरजी के मत से गोपालकृष्ण की उपासना का माध्वमत में विशेष महत्व नहीं है।[2]

आचार्य वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैती वैष्णव संप्रदाय—

शुद्धाद्वैत की उपासना ने विशेषतः राजस्थान, गुजरात और ब्रज आदि प्रान्तों को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्लावित किया। इस सम्प्रदाय को 'रुद्र संप्रदाय' और 'विष्णु-स्वामी-संप्रदाय' भी कहा जाता है। वल्लभ संप्रदाय के 'संप्रदाय प्रदीप' नाम के एक ग्रन्थानुसार यह जानकारी उपलब्ध होती है।[3]

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १७३।

२. वैष्णविज्म शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८७।

३. संप्रदाय प्रदीप, पृ० १४–३०।

'युधिष्ठिर राज्यकाल के पश्चात् एक क्षत्रिय राजा द्राविड़ देश में राज्य करता था। उसका एक ब्राह्मण मंत्री था। इसी ब्राह्मण मंत्री का एक बुद्धिमान, तेजस्वी तथा भगवद्भक्ति परायण पुत्र विष्णु स्वामी था जिसने वेद, उपनिषद, स्मृति, वेदान्त, योग आदि समस्त ज्ञान साहित्य का अध्ययन करने के बाद आचार्य की पदवी पाई। भगवान के साक्षात्कार से उसे ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्ति मार्ग की अनुभूति हुई, इसी संप्रदाय प्रदीप में लिखा है कि विष्णु स्वामी ने बहुत समय तक भक्ति मार्ग का प्रचार किया और भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता प्रदान की। इन्होंने वेद, तंत्रोक्त-विधान, वेदांत, सांख्य योग, वर्णाश्रमधर्मादि सम्पूर्ण कर्तव्य भक्ति के ही साधन बताये हैं।[1]

'भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स' के एक लेख में विवेचित रायबहादुर श्री अमरनाथ राय के अनुसार मध्वाचार्य तथा सायणाचार्य के गुरु विद्या शङ्कर को ही विष्णु स्वामी बतलाया गया है। यह इनका दूसरा नाम था।[2]

पद्म पुराण के अनुसार रुद्र संप्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे।[3]

रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यः चतुर्मुखः।
श्री विष्णु स्वामिनं रुद्र निम्बादित्यं चतुःसनः॥

गौडीय दशमखंड में एक लेख है जिसमें श्री भक्ति सिद्धांत सरस्वती महाराज कहते हैं[4]—'एक देव तनु विष्णु स्वामी सन ३०० पूर्व हुए जो मथुरा में रहते थे। इनके पिता का नाम देवेश्वर भट्ट था। इन्ही विष्णु स्वामी के सात सौ त्रिदंडी सन्यासी इनके मत का प्रचार करते थे। इस मत के अन्तिम सन्यासी श्री ब्यानेश्वर थे। दूसरे एक और विष्णु-स्वामी थे जिनको 'राजगोपाल-विष्णुस्वामी' कहते थे। इनका जन्म सन् ८३० में हुआ। ये कांची में रहते थे और उन्होंने वहाँ पर श्री राजगोपाल देव अथवा श्री वरदराज की मूर्ति स्थापित की। ऐसा प्रसिद्ध है कि द्वारिका में रणछोड़जी तथा सप्त नगरियों में से अन्य छः नगरियों में भी इन्होंने विष्णु मूर्तियों की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त एक और तीसरे विष्णु स्वामी हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य के पूर्व पुरुष उन्हीं तीसरे विष्णु स्वामी के शिष्य थे।[5]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४१।
२. भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स—एप्रिल–१८१३ से जुलाई १८१३,
—वाल्यूम १४ पार्ट ३–४ पृ० १६१–१९८।
३. पद्म पुराण।
४. गौडीय दशमखण्ड—पृ० ६२४–६२६।
५. गौडीय दशमखंड—पृ० ६२४–६२६।

नाभादासजी अपने भक्तमाल में वतलाते हैं[१]—

नामत्रिलोचन शिष्य, सूर ससि सदृश उजागर।
गिरा गंग-उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर॥
[illegible] आचरज हरिदास अतुलवल आनन्द दाइन।
[illegible] मारग वल्लभ विदित पृथुपाधित पराइन॥
नवधा प्रधान [illegible] सुहृद मन वचक्रम हरिचरण रति।
विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ ज्ञानदेव गंभीर मति॥

उनके मतानुसार विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में ज्ञानेश्वर, नामदेव, त्रिलोचन आदि दीक्षित थे। नाभादास का कथन ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ता। मराठी साहित्य के मर्मज्ञ यह जानते हैं और प्रसिद्ध भी है कि ज्ञानेश्वर अपना सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से जोड़ते हैं। नाथ संप्रदाय योग परक और ज्ञान मार्ग का प्रतिपादक है। 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के विद्वान लेखक डा० दीनदयालु गुप्त जन श्रुति के आधार पर वतलाते हैं कि वारकरी संप्रदाय जिसमें ज्ञानेश्वर, नामदेव इत्यादि भक्त हुए हैं वे, तथा महाराष्ट्र में जिसे भागवत धर्म कहा जाता है वह विष्णु स्वामी मत का ही रूपान्तर है।[२]

'वारकरी संप्रदाय' के लेखक तथा ज्ञानेश्वरी के उद्‌भट विद्वान प्राचार्य शं० रा० दांडेकर इस मत को कहीं भी विवेचित करते हुए नहीं दिखाई देते तथा 'महाराष्ट्रांतील पाँच संप्रदाय' के लेखक श्री पं० रा० मोकाशी भी अपने 'वारकरी सम्प्रदाय' के विवेचन में इस मत को मानते हुए नहीं दिखाई देते। कहीं भी उन्होंने इस जनश्रुति की पुष्टि नहीं की। तात्पर्य यह है कि नाभादास का छप्पय केवल जनश्रुति के श्रद्धावल पर आधारित है सत्य पर नहीं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ज्ञानेश्वर ने जो भक्ति का प्रतिपादन किया वह, वैष्णवाचार्यों के मतों का संस्कार ही है।

डा० भांडारकर अपने 'वैष्णव शैव और अन्य सम्प्रदाय' में ऐसा प्रतिपादन करते है कि विष्णु स्वामी के ही वेदांत मत का अनुसरण वल्लभाचार्य ने किया। अपने इस मत के पुष्ट्यर्थ वे श्री निवासाचार्य के द्वारा रचयित 'सकलाचार्य मत संग्रह' का आधार देते हैं। इस ग्रन्थ को किस प्रकार प्रामाणिक माना जाय इस विषय पर वे मौन है। अपने प्रतिपादन में डा० भांडारकर महोदय विष्णु स्वामी के

---

१. नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ४८।
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ४२।

'वृहदारण्यक उपनिषद' (१–४–३), तथा 'मुण्डकोपनिषद' (२–१) के अतिरिक्त [illegible] किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं करते ।[1]

इस मत के प्रवर्तक यद्यपि श्री वल्लभाचार्य समझे जाते हैं और उन्होंने अपने ग्रन्थों में बड़ी विनम्रतापूर्वक यह निर्देश किया है कि उनका यह दार्शनिक मत आमूलाग्र नूतन मत होते हुए विष्णु स्वामी और अन्य आचार्यों से संचालित है जो कि आठवीं शताब्दी में हो गये हैं ।[2]

विष्णु स्वामी को वल्लभाचार्य के ही मत का पूर्ववर्ती आचार्य मानने के संबंध में स्वयं सम्प्रदायियों में भी मतभेद जान पड़ता है। 'संप्रदाय प्रदीप' के रचयिता गदाधर जैसे पुष्टि मार्ग के अनुयायी उक्त दोनों आचार्यों के संबन्ध को स्वीकार करते हैं, तो गोपालदास जैसे वल्लभाचार्य के चरित्र लेखक इस बात की कोई चर्चा तक नहीं करते हैं ।[3] पता चलता है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट संभवतः विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण पुत्र का अपने पिता के मत का अपनी पूर्वावस्था में अनुवर्ती हो जाना और पीछे निजी मत निश्चित कर लेना असंभव तथा आश्चर्य जनक नहीं हो सकता ।[4]

वास्तव में विष्णु स्वामी रामानुजाचार्य, निम्बार्क एवम् मध्वाचार्य इन तीनों से पहले ईसा की १० वीं शताब्दी में हुए थे ।[5] विद्वानों में उनके सम्बन्ध में मतभेद विद्यमान है और इस पर अभी अंतिम निर्णय नहीं हो पाया है, और अब तक की इस विषय की धारणायें जो भी बन गयी है वे अधिकांश रूप में सत्य से अभी दूर हैं ।[6]

डा० फर्कुहर विष्णु स्वामी के सम्प्रदायानुवर्ती मठों का उल्लेख दो स्थानों पर है ऐसा करते हैं। एक मठ कांकरोली में है तथा दूसरा कामवन में है। इनका भी पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है ।[7]

---

१. वै. शै., पृ० १०९–१०—डा० भांडारकर।
२. संप्रदायप्रदीप—पृ० १४–३० ।
३. विष्णुस्वामी संप्रदाय और वल्लभाचार्य—जगदीश गुप्त, हिन्दी अनुशीलन, ३–४ प्रयाग—पृ० २३ ।
४. वैष्णव धर्मनो इतिहास—शास्त्री, पृ० २४२ ।
५. बड़ौदा ओरिएन्टल कान्फरेन्स की रिपोर्ट, पृ० ४५१–४५२ ।
६. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९० ।
७. एन आऊट लाइन आफ दि रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ० ४०
—डा० फर्कुहर ।

निष्कर्ष—

सचमुच विष्णु स्वामी कब हुए तथा अनेक विष्णु स्वामियों में से वल्लभ सम्प्रदाय जिस विष्णु-स्वामी के मत का अनुसरण करता है वे कौन से हैं यह कहना बड़ा कठिन है। फिर भी विष्णु स्वामी संप्रदाय कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस संप्रदाय ने न्यूनाधिक रूप में उनके पीछे आने वाले कई व्यक्तियों और सम्प्रदायों को प्रभावित किया है, इतना निश्चित माना जा सकता है। विष्णु-स्वामी के द्वारा लिखित कई ग्रन्थों के नाम गिनाये जाते हैं। कहते है फर्कुहर को ऐसी कई रचनाओं के नाम प्राप्त हुए थे। इन सब में केवल एक 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक रचना प्रमाण-स्वरूप मानी गई है। श्रीधर ने अपनी टीकाओं में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है; इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह उन्हीं की रचना होगी। विष्णु-स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और वे अपनी ल्हादिनी, संवित् के द्वारा आश्लिष्ट हैं, और माया ईश्वराधीन है। यही ईश्वर सत्-चित-नित्य, निजाचित्य और पूर्णानन्द-मय विग्रहधारी नृसिह भी हैं। नृसिहावतार भगवान् विष्णु स्वामी के इष्टदेव जान पड़ते हैं। उनकी गोपालोपासना संभवतः बाद में आरंभ हुई थी। 'नृसिह पूर्णतापनी' उपनिषद का टीकाकार और प्रपंचसार का रचयिता भी इनको माना जाता है। नृसिह भगवान् की उपासना गोपालोपासना के साथ-साथ शाङ्कर मत के कई पीठों में दिखाई देती है। अतएव कहा जाता है कि विष्णु स्वामी भी पहले शायद शङ्कराद्वैती रहे हों। जीव को विष्णु स्वामी 'स्वाविद्या संवृत' अर्थात् क्लेशों का घर मानतें हैं। वह स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है तथा आप ही दुःख भी भोगा करता है, इसलिए ईश्वर एवं जीव में परस्पर भेद है। इस प्रकार से विष्णु स्वामी द्वैती भी सिद्ध होते हैं। अपने सिद्धान्तों से इन्होंने अनेकों को प्रभावित किया। संतों के जीवन विषयक प्रश्न आधार न मिलने के कारण जब अधूरे एवम् समस्यापूर्ण बन जाते हैं; तब उनके दार्शनिक आचार्यो में से कुछ आचार्यों के बारे में भी इस प्रकार समस्या निर्माण हो जाय तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

श्री वल्लभाचार्यजी का पुष्टि मार्ग—

विक्रम की १६ वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर श्री वल्लभाचार्य बैठे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए इन्होंने विष्णु स्वामी से प्रेरणा ग्रहण की तथा भगवद् अनुग्रह द्वारा—पुष्टि द्वारा प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की। हिन्दी व्रजभाषा के अष्टछाप कवि इसी सम्प्रदाय के भक्त थे। इनके उपास्य गोपी-वल्लभ तथा राधावल्लभ कृष्ण हैं। प्रमुख सांप्रदायिक ग्रन्थ श्रीमद्

भागवत् है। पहले ही निर्देश आ चुका है कि वल्लभाचार्यजी के पिता का ना। लक्ष्मण भट्ट था। ये दक्षिण के तेलंगी ब्राह्मण थे और कृष्ण के परमभक्त। तीर्थ यात्रा के निमित्त काशी में आकर ठहरे ही हुए थे कि इतने में सुना कि ... पर मुसलमानों का आक्रमण होने वाला है। इस कारण उन्हें भाग क... चंपारण्य जाना पड़ा। रास्ते में ही वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३' ... सन् १४७६) विक्रमी के वैसाख मास में हुआ। उपद्रव के समाप्त हो जाने ... लक्ष्मण भट्ट अपने नवजात शिशु के साथ हनुमानघाट पर आकर रहने लगे। बचपन से ही कुशाग्र और प्रखर प्रतिभावान होने से १३ वर्ष की उम्र में ही वेद, वेदांग, पुराण आदि ग्रन्थ इन्होंने पढ़ लिये। अपने पिता के गोलोकवासी हो जाने पर वे दक्षिण भारत में विजयनगर में अपने मामा के यहाँ गए और लौटते समय उनके शिष्य बन गए। 'कृष्णदास मेघन' नामक क्षत्रिय इनका सेवक बन गया। विजयानगराधीश के दरबार में द्वैत मत के आचार्य व्यास तीर्थ की अध्यक्षता में अद्वैतवादियों को परास्त किया तब इनका कनकाभिषेक हुआ था। इनके रचे ग्रन्थ ये हैं—अणुभाष्य, तत्वदीप निबंध, श्रीमद्भागवत सुबोधिनी, भागवत सूक्ष्म टीका, पूर्व मीमांसा भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्त मुक्तावली आदि।

वल्लभाचार्य ने भारत वर्ष की कई यात्रायें की। उज्जैन, वृन्दावन, काशी तथा अड़ैल (प्रयाग) आदि स्थानों में इनका संचार रहता था। इनके द्वारा गोवर्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथजी के रूप में गोपालकृष्ण का प्राकट्य हुआ। जिस स्थान का भगवान् ने उनको संकेत स्वप्न में दिया था, उसी स्थान पर श्रीनाथजी की स्थापना की गई, और पूजन विधियों की व्यवस्था प्रचार आदि की स्थापना की। कुंभनदास को यहीं पर अपना शिष्य बना लिया। एक बार दक्षिण यात्रा में पंढरपुर भी गए और विठ्ठल को देखकर प्रभावित भी हुए। वहीं पर प्रेरणा मिलने पर काशी में आकर अपना विवाह किया। बीच में अनेक शिष्यों को प्रबोधन देकर अनेक मन्दिरों में उनको सेवा में लगाया। पुनः विवाह के बाद यात्रा के लिए चल पड़े। इस समय अलर्क-पूर (अड़ैल) को अपना निवास स्थान ही बना लिया। एक बार अड़ैल से ब्रज को गए। आगरे से मथुरा जाने वाली सड़क पर गऊ घाट स्थान पर रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण सूरदास को अपने संप्रदाय की दीक्षा दी। वहाँ से गोकुल होते हुए गोवर्धन पहुँचे। यहाँ पर कृष्णदास को अपनी शरण में ले लिया। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्यजी की घनिष्ट मित्रता थी। इनके पिता ने १०० सोमयज्ञ पूर्ण कर लिए थे। जिस कुल में ये यज्ञ पूर्ण हो जाते हैं, उसमें भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं ऐसा प्रचलित विश्वास है। इस हिसाब से वल्लभाचार्य को स्वयम् भगवान् का अवतार

भी माना जाता है। राजनैतिक पुरुषों पर भी इनका बहुत प्रभाव बताया जाता है। वल्लभाचार्य की मन्त्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्लीपति बादशाह सिकंदरलोदी ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने वैष्णव संप्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुल्म न करने की मुनादी करवा दी थी।

इनके दो पुत्र हुए एक श्री गोपीनाथ आचार्य और दूसरे श्री विठ्ठलनाथ-आचार्य। श्री गोपीनाथ आचार्य ने गुजरात में वल्लभ (पुष्टि) संप्रदाय का विशेष प्रचार किया। इनके एक पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी उनके ही जीवन काल में गोलोकवासी हुए। सं० १५९५ में श्री गोपीनाथ का भी देहान्त हो गया। बाद में आचार्य पद पर श्री विठ्ठलनाथ आचार्य हुए। वल्लभ संप्रदाय के वैभव को इन्होंने बहुत बढ़ाया। इनका भी बाल जीवन काशी, चुनार तथा अड़ैल में बीता, तथा शिक्षा-दीक्षा भी यहीं पर हुई। अकबर से इनकी गाढ़ी मित्रता थी। राजा बीरबल तथा टोडरमल भी इनके मित्र थे। इनके प्रभाव के वशीभूत होकर गोकुल की भूमि तथा गोवर्धन की भूमि बादशाह अकबर ने इन्हें भेंट की। ब्रज मंडल में गाय चराने के करों से माफी दी थी। इस विषय में दो शाही फरमान आज भी मिलते हैं। पुष्टि संप्रदाय की दृष्टि, विस्तार तथा व्यवस्था का श्रेय उनको ही दिया जाता है। वल्लभाचार्य के ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को इन्होंने समझाया तथा नये ग्रन्थों का निर्माण भी किया। अणुभाष्य के अन्तिम डेढ़ अध्यायों की पूर्ति भी इन्होंने की है। विद्वन्मण्डन, भक्तिहंस, भक्ति निर्णय, निबंध-प्रकाश-टीका, सुबोधिनी, टिप्पणी, और शृङ्गार-रस-मंडन, आदि इनके ग्रन्थ हैं। इन्होंने गुजरात की यात्रा तथा भ्रमण कर वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा पद्धति का व्यवस्थित रूप स्थापित किया। इनके सात पुत्र थे जिनकी सात गद्दियाँ क्रमशः कोटा, नाथद्वारा, कांकरोली, गोकुल, कामवन तथा सूरत में है। भगवान् के सात स्वरूपों के मुख्य आचार्य ये सात पुत्र ही थे क्रमशः वे स्वरूप इस प्रकार है—

क्रम	पुत्र	स्वरूप	गद्दी का स्थान
१	गिरधरजी	श्री मथुरेशजी	कोटा
२	गोविंदरायजी	श्री विठ्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३	बालकृष्णजी	श्री द्वारिकाधीशजी	कांकरोली
४	श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलनाथजी	गोकुल
५	श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचंद्रमाजी	कामवन
६	यदुनाथजी	श्री बालकृष्णजी	सूरत
७	घनश्यामजी	श्री मदनमोहनजी	कामवन

गुजरात में वैष्णव धर्म का वैभवपूर्ण विस्तार करने का श्रेय गुसांई विठ्ठलनाथजी को ही है। वल्लभाचार्य के इस शुद्धाद्वैत तथा पुष्टि मार्ग का प्रचार व्रजमण्डल, राजपूताना तथा गुजरात में सब से अधिक हुआ। वल्लभाचार्यजी ... गोलोकवास संवत १५८७ में हुआ। इनके बारे में विशेष विवरण देना ...नुपयुक्त होगा। गोसांई विठ्ठलनाथ के भी अनेक भक्त हुए। इस स... ...की 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ताएँ' प्रसिद्ध हैं। अष्टछाप की ...ठ्ठलनाथजी ने अपने चार सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि और अपने पिता के चार सर्वश्रेष्ठ भक्त कवियों को मिलाकर की। ये अष्टसखा थे तथा इनकी 'अष्टसखानकी वार्ता' प्रसिद्ध है। हिन्दी का उज्ज्वल साहित्य इन्हीं अष्टछापी कवियों और भक्तों के द्वारा निर्मित हुआ। ये उच्च कोटि के कवि तथा संगीतज्ञ थे।[1] इस विषय में डा० दीनदयालु गुप्त, डा० धीरेन्द्र-वर्मा, श्री प्रभुदयालजी मीतल और डा० भगवानदास तिवारी की पुस्तकें द्रष्टव्य हैं।[2]

सूरदास का विवेचन करते समय अन्य अष्टछापी कवियों का भी विचार करेंगे। यहाँ पर केवल अष्टछापी भक्त कवियों के नाम दिये जाते हैं—(१) सूरदास, (२) परमानन्ददास, (३) कुंभनदास, (४) कृष्णदास, (५) नन्ददास, (६) चतुर्भुजदास, (७) गोविंदस्वामी, (८) छीत स्वामी या छीतदास।

वल्लभ संप्रदाय के शुद्धाद्वैत एवम् पुष्टि मार्ग का दार्शनिक स्वरूप—

स्नेह, आसक्ति और प्रीति के बल भगवान को दुलराने तथा अपनाने का कार्य वल्लभ-संप्रदाय ने किया। रामानुज से वैष्णवी साधना को सरल बनाने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी उसे वल्लभाचार्य की साधना में आकर अपनी चरम पूर्णता प्राप्त हो गई। वल्लभाचार्य ने भक्त के लिए केवल आत्मसमर्पण ही मुख्य शर्त रखी जो भगवान् को अपना सकती है। दूसरी विशेषता यह है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में मनुष्य के हृदय की रागात्मिका प्रवृत्तियों को भगवान की प्राप्ति में माध्यम बना लेना। इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन में दो भावनाएँ प्रमुख होती हैं।

(१) प्रेम और (२) वात्सल्य। वल्लभाचार्य ने भगवान् के इन दोनों रूपों अर्थात् 'स्वामी' और 'शिशु' को ही आराध्य बताया। भगवान् की मधुर लीलाएँ गाना ही इस सम्प्रदाय का ध्येय बनकर जनता में इसका सर्वत्र प्रचार बढ़ा। तात्विक दृष्टि से इस मार्ग को शुद्धाद्वैत सिद्धांत-वादी मार्ग कहते हैं—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त।

२. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा, तथा अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, महाकवि नंददास प्रणीत भँवरगीत—डा० भगवानदास तिवारी।

माया सम्वन्धराहित्यं शुद्ध इत्युचते बुधैः ।
कार्य कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥[1]

यहाँ 'शुद्ध' का अर्थ है—माया के सम्वन्ध से रहित । माया के सम्वन्ध से रहित [illegible] ही जगत् का कारण और कार्य है । माया-शवलित् ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है । [illegible] ब्रह्मवादी इसलिये कहा जाता है कि सव कुछ ब्रह्म ही है । यह संसार ब्रह्मरूप तथा जीव [illegible] ब्रह्म रूप-अर्थात् दोनों सत्य हैं । जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है । दूध का दही यह सविकारी परिणाम है । इसलिए जीवों के लिए पुष्टिमार्ग उचित है । 'पोषणं तदनुग्रहः' का अर्थ है, पात्रता और अधिकार से ईश्वर का अनुग्रह, कृपा, या पुष्टि प्राप्त करना । श्री वल्लभाचार्य अपने पुष्टि मर्यादा भेद में तीन मार्गों का समर्थन करने हैं—(१) मर्यादा-मार्ग, (२) प्रवाह-मार्ग तथा (३) पुष्टिमार्ग ।

(१) **मर्यादा मार्ग**—इसमें वेद शास्त्रों के अनुसार एवम् प्रदर्शित मार्ग पर चलना । इसमें लोकसंग्रह और लोकरक्षा के भाव लगे रहते हैं ।

(२) **प्रवाह मार्ग**—इनमें संसार के साथ चलकर प्रवृत्ति परक साधनों के सम्पादन का कार्य करना पड़ता है । इस मार्ग से जाने वालों को संसार यातना से छुटकारा नहीं है । लौकिक काम्य कर्मों का अन्त नहीं है । प्रवाह मार्गीय संसार-चक्र के साथ भ्रमण करते रहते हैं ।

(३) **पुष्टिमार्ग**—यह मार्ग भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है । इसमें मुख्य साध्य भक्तों का भगवान् की कृपा द्वारा भगवद् प्रेम प्राप्त करना है । यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । पुष्टि मार्गीय जीव दो प्रकार के होते हैं । शुद्ध और मिश्र । पुष्टिमार्गीय जीवों के भी तीन प्रकार हैं—(१) प्रवाही-पुष्ट-भक्त, (२) मर्यादा-पुष्ट-भक्त, (३) पुष्टि-पुष्ट-भक्त ।

भगवान् के अनुग्रह का जरा सा आधार और आश्रय लेकर जो साधक प्रवाह मार्ग पर चलते हैं; तथा कर्म में प्रीति रखते हैं, वे प्रवाही-पुष्ट-भक्त हैं । भगवत अनुग्रह के आसरे से अपनी मर्यादा के अनुसार भगवान् के गुणों को समझते हुए कर्म करते हैं वे मर्यादा-पुष्ट-भक्त हैं । जो केवल भगवान् के अनुग्रह का ही अवलंब लेते हैं वे पुष्टि-पुष्ट-भक्त हैं । जो भक्त भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त प्रेम से

---

१. **शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—श्री गिरधरजी ।**
विशेष द्रष्टव्य—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड और उसकी आलोक रश्मि—डा० भगवानदास-तिवारी का लेख-राष्ट्रवाणी, पूना, वर्ष २०, अङ्क ३, सितम्बर १९६६, पृ० ८५ से ८८ तक ।

शुद्ध हो गये हैं वे शुद्ध-पुष्ट-भक्त है। भगवान् के अनुग्रह प्राप्त एवम् सम्पन्न किये विना पुष्टि मार्ग साध्य नहीं है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। स्नेहपूर्वक भगवान् की सेवा तथा प्रभु कृपा अथवा पुष्टिजन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय में ... वस्तु मानी गयीं है। मोक्ष-सुख की अवस्था भी भगवान् की कृपा से ... मिलती है। जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम, ...जा, तनुजा, भयभावों, और साधन मूलक सम्पत्ति आदि का ... श्रीकृष्ण स्वरुप की प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है उसे 'पुष्टि मार्ग' कहते है। जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् की अनुग्रह प्राप्ति हो, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रुप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल-रूप-सम्बन्ध बनते है, जहाँ भगवान् की विरह अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था, के सुख का अनुभव होता है, तथा जिस मार्ग में सर्व भावों में लौकिक विपय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है अथवा होता है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

इस मत में ब्रह्म माया से अलिप्त, माया सम्बन्ध से विरहित माना गया है इसलिये नितांत शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण है यह हम पूर्व में ही कह आये है। वल्लभाचार्य की दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण तथा सगुण एक ही समय में रहता है। वह 'अणोरणीयान महतोमहीयान' भी है। वह कर्तुम् अकर्तुम् तथा अन्य कथाकर्तुम् और सर्व भाव धारण में समर्थ है। अविकृत होने पर भी भक्तों पर कृपा के द्वारा परिणामशील होता है। इस ब्रह्म का स्वरुप इस प्रकार है[1]—

निर्दोष-पूर्णगुण विगृह आत्मतंत्रो
निश्चेत तात्मक शरीर गुणैंचहीना।
आनन्द मात्र कर पाद मुखोदरादिः
सर्वत्रं च विविध भेद-विवर्जितात्मा॥

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। जब वह अनंत शक्तियों से अपनी आत्मा में रमण किया करता है, तब आत्माराम कहलाता है। वाह्यरमण की इच्छा से अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करने पर वह पुरुषोत्तम कहलाता है। वह आनन्दमय, अगणितानन्द तथा परमानन्द स्वरूप है। गीता में बताये गये पुरुषोत्तम का रूप इस प्रकार है[2]—

'यस्मात् क्षरमतीतो हम क्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदेच प्रथित पुरुषोत्तमः॥

१. तत्वदीपनिवंध।
२. गीता, १५-१८।

वल्लभाचार्य गीता के द्वारा वर्णित परात्पर पुरुष को 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। कृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ 'व्यापी वैकुण्ठ' में नित्[illegible] लीला किया करते हैं। गोलोक इसी वैकुण्ठ का एक अङ्ग मात्र है। भगवान् की [illegible]याँ इसके अधीन रहती हैं। इनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ता आदि बारह प्रमुख हैं। [illegible] के बहाने अपनी समस्त शक्तियों और परिवार सहित लीला-परिकर का वैकुण्ठ, गोकु[illegible] रूप में भूतल में अवतीर्ण होता है। चन्द्रावली-राधा, यमुना आदि के रूप में ये शक्तियाँ तथा श्रुतियाँ भी गोपियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं। सूर ने भगवान् के —'निसदिन विहार' करने की बात इसीलिये लिखी है[1]—

> **जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुंज लता विस्तार।**
> **तहां बिहरत प्रिय-प्रियतम दोऊ निगम भृङ्ग गुंजार॥**
> **रतन जडित कालिन्दी के तट अति पुनीत जहँ नीर।**
> **सूरस हँस – चकोर – मोर खग कूजत कोकिल तीर॥**
> **जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमय संघन कन्दरा सार।**
> **गोपिन मंडन मध्य विराजत निस दिन करत विहार॥**

ब्रह्म के इस तरह तीन प्रकार हैं। (१) आधि-भौतिक=जगत्-ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक=अक्षर-ब्रह्म, (३) आधि दैविक=परब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम। अक्षर-ब्रह्म में आनन्द अंश किंचित् मात्रा में तिरोहित रहता है। परब्रह्म में वह सर्वथा परिपूर्ण रहता है।

जीव भगवान् की इच्छा से प्रकट होता है। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्रीके तिरोधान से आपत्ति का पात्र तथा ज्ञान के तिरोधान से जीव देहात्म बुद्धि का पात्र बन जाता है। जीव शुद्ध मुक्त तथा संसारी होता है। निर्गमन के समय आनन्द अंश के तिरोधान से अविद्या से सम्बन्धित होकर संसारी जीव बन जाता है। उसके पूर्व वह शुद्ध जीव रहता है। आविर्भाव और तिरोभाव सिद्धांत जगत् की उत्पत्ति, तथा विनाश के स्थान पर वल्लभाचार्य मानते हैं। जीव व ईश्वर की ही तरह जगत् भी नित्य है। भगवान् की रागानुगा भक्ति का आविर्भाव भगवान् के अनुग्रह के बिना असंभव है। यह अनुग्रह पुष्टिमार्ग से प्राप्त है। भगवान् सेवा एकान्त निष्ठा तथा शुद्ध अनुराग से की जाय। यह सेवा तनुजा, वित्तजा, तथा मानसी हुआ करती है। स्नेह, आसक्ति, तथा व्यसन केवल भगवान् के प्रति ही हों। भगवान् में भक्त का स्नेह होने पर विषयों की विरक्ति हो

---

१. सूरसागर—ना. प्र. सभा संस्करण।

जाती है। भगवान् के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। लौकिक सम्बन्ध बा… सिद्ध होते हैं। भगवान् से आसक्ति ही व्यसन बन जाता है और जीव की कृतकार्… सम्पन्न हो जाती है। अन्य वैष्णव मतों की तरह प्रपत्ति या शर… …र्ग भी पुष्टि मार्ग में उपादेय तत्त्व है। भक्ति में साधनों की अपेक्षा रहती … परन्तु प्रपत्ति में साधनों की कोई गुंजाइश ही नहीं है। केवल भगवान … इसमें स्वीकार है। उसका एकमात्र आश्रय ही प्रमुख है। पु… …भागवत के आधार पर सारे दार्शनिक सिद्धांत हैं। इस संप्रदाय में गृहस्थाश्रमी भी सांप्रदायिक नियमों का पालन करते हैं। प्रधान मंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' और 'श्रीकृष्ण शरणं मम' हैं। इन मन्त्रों का उपदेश गुरु से ग्रहण किया जाता है। गुरु-सेवा ही मोक्ष साधन है। आत्म निवेदन और शरणागति भगवान् की प्राप्ति में सहायक हैं। सायुज्य मुक्ति को इस सम्प्रदाय के लोग मानते हैं। ज्ञानियों के लिए तो यह विशेष आवश्यक है। पर भक्त के लिये स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि गोलोक में पुरुषोत्तम की लीला में प्रवेशकर सानन्द लाभ करना। इसी को सायुज्य मुक्ति कहते हैं। कलियुग में ज्ञान तथा योग कष्ट साध्य हैं और पुष्टि मार्ग सहज साध्य है।

अचिन्त्य भेदाभेद तथा महाप्रभु का गौडीय सम्प्रदाय—

चैतन्य महाप्रभु के नाम से इनकी प्रसिद्धि है, और ये वल्लभाचार्य के समकालीन थे। अपने रसमय कीर्तनों से सारे बंगाल को भक्ति से सरोबार करने वाले ये ही थे। इन्होंने नवद्वीप में जन्म ग्रहण कर वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए बहुत परिश्रम एवम् सराहनीय कार्य किया है। इनका समय सन १४८५–१५३३ ईसवी तक का माना जाता है। प्रथम नाम 'विश्वंभर' था। आगे वे 'श्रीकृष्ण चैतन्य' कहलाए, तथा गोरे होने के कारण 'गौराङ्ग महाप्रभु' कहलाए। ये आगे चलकर श्रीकृष्ण के स्वरूप या अवतार माने गए हैं। प्रथम पत्नी लक्ष्मीदेवी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते समय इनका मुख्य कार्य गंभीर अध्ययन और अध्यापन ही था। पर लक्ष्मीदेवी के देहान्त हो जाने पर अपना दूसरा विवाह करने के बाद गया में अपने पितरों की श्राद्धक्रिया करने गए तो वहीं से इनमें भी परिवर्तन हो गया। विचार परिवर्तन के बाद कर्म-काण्ड की आलोचना की। मोक्ष के लिए केवल हरिनामस्मरण: और कीर्तन को ही एकमात्र साधन बतलाकर वर्णव्यवस्था को भी तुच्छ समझने लगे। अपने सहयोगी नित्यानन्द, अद्वैताचार्य आदि के साथ घर में ही भजन कीर्तन में रत रहने लगे। किसी 'केशव भारती' नाम के सन्यासी से सन १५१० में इन्होंने ने सन्यास ले लिया। बङ्गाल की वैष्णव भक्ति स्वभावतः

ान्य के नाम से और उनकी उपासना पद्धति से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। यह ारण रहे कि इसके पूर्व ही जयदेव की काव्य सरस्वती ने भक्ति की माधुर्ययुक्त-ुर-कोमल-कान्त-गीति पदावली से बङ्गाल में माधुर्य भावना को विशेष प्रश्रय दे दिया था। चंडीदास के गीत भी राधाकृष्ण की भक्ति को लेकर वैष्णव अनुरक्ति की भावना जन में भर रहे थे। चैतन्य के द्वारा इस भक्ति को एक विशिष्ट स्वरूप अवश्य प्रदान किया गया। इनकी इस भक्ति पद्धति में कृष्ण भक्ति का सीधा तथा विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। उत्तर भारत में माध्व, वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय वालों ने श्रीकृष्ण भक्ति को विशेष महत्व दिया और वैष्णवोपासना का यही मुख्य स्वरूप बन गया। इन तीनों के श्रीकृष्ण, भगवदगीता के श्रीकृष्ण से अलग थे। मुख्यतः श्रीमद्भागवत में वर्णित वृन्दावनवासी गोलोक के गोपालकृष्ण, गोपियों के प्रेमी वृन्दावन-विहारी मुरलीवादन करने वाले एवम् भक्ति के रहस्यात्मक स्वरूप के तथा नाना प्रकार की मनोभावनाओं और मनोदशाओं के एकमात्र आधार थे। परब्रह्म के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध अवश्य था। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना और कृष्ण लीला की गरिमा प्रस्थापित करना ही प्रमुख ध्येय था। इसमें गोपियों का प्रेम, उनकी विरह दशाएँ, अपना सर्वस्व न्यौछावर करके आत्म समर्पण करने की भावना, गोपियों की अधीश्वरी का अपने प्रेमी कृष्ण से स्वच्छन्द रूप का प्रेम जीवात्मा का परमात्मा के मिलन की छटपटाहट का प्रतीक बनकर सामने रखा गया है। इन भक्तों ने उस नित्य लीला के लिए एक नित्य वृन्दावन की कल्पना कर ली है।

इस लीला में नित्य रूप से कृष्ण के साथ राधा की कल्पना वैष्णव उपासना में इनके समय में आकर मिल गई। भागवत में राधा का नाम नहीं मिलता। केवल किसी प्रिय गोपी का ही उल्लेख मिलता है; जिसके साथ कृष्ण सदा यत्रतत्र घूमते और खेलते रहे। वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य सम्प्रदाय के लोग राधा को कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति मानते हैं। यह नित्य कृष्ण की अलौकिक लीलाओं में साथ देती है, तथा वे इस शक्ति का अवतार भी मान ली गयी हैं। पहाड़पुर में मिली राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को देखकर यह अनुमान किया जाता है, कि बंगाल के लोग कृष्ण के इस रूप को जानते थे। भोजवर्मा द्वारा खोदे गये लेख में कृष्ण को महाभारत का सूत्रधार तथा श्रीमद्भागवत का गोपी-सत-केलिकार कहा गया है। पाल राजा धर्मानुयायी होने पर भी विष्णु-उपासना के विरोधी नहीं थे। यह बात उस समय के विष्णु मन्दिरों से सिद्ध हो जाती है। गीत गोविन्दकार जयदेव सेनराजाओं के युग में उत्पन्न हुए थे। सेन राजा

अपने को 'कर्णाट क्षत्रिय' कहते हैं। १४ वीं शती में चंडीदास को श्रीकृष्ण की में प्रेरणा जयदेव की कविता से ही मिली थी। चैतन्य वैष्णव गीत-गोविन्द एक सौन्दर्य परिपूर्ण महाकाव्य ही नहीं मानते वरन् भक्ति-रस-शास्त्र का एक ग्रन्थ भी मानते हैं। चैतन्य के तीन सौ वर्षों पूर्व जयदेव की कविता का सृजन हुआ था। चैतन्य का भक्तिरसशास्त्र भी इस समय तक निर्माण हुआ था।[1]

जयदेव की कोमल प्रवृत्ति ने शृङ्गार का आधार राधा-कृष्ण की चिरंतन प्रेम-कथा को चुन लिया था और अपनी उज्ज्वल और असाधारण काव्य प्रतिभा से एक सुन्दर गीति-काव्य कोमलकान्त पदावली से लययुक्त भाषा में लिखा। इन्होंने अलौकिक कृष्ण तथा अलौकिक राधा को मानवी स्तर पर लाकर रख दिये हैं। चैतन्य ने भक्ति और शृंगार दोनों को मिलाकर एक अद्भुत भक्तिशास्त्र ढूंढ़ निकाला। अर्थात् इसका श्रेय सनातन तथा रूप गोस्वामी को ही दिया जायगा क्योंकि उन्होंने अपने संप्रदाय को एक शास्त्रीय तथा दार्शनिक एवम् सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत कर दिया। चैतन्य पर जयदेव की तरह विद्यापति के पदों का भी प्रभाव पड़ा था।

इस मत का सार अंश बतलाने वाला यह पद्य बहुत प्रसिद्ध है—

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचि दुपासना वजवधू गर्वेण या कल्पिता॥
शास्त्रं भागवतं प्रयाण ममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरोनः परः॥

वृज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना साधकों के लिए प्रामाणिक उपासंना है। श्रीमद्भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है तथा प्रेम ही महान पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रसिद्ध पुरुषार्थों की तरह प्रेम को पंचम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण किया गया है जो भागवतानुसार ही है।[2] श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्तिमान भगवान् परमतत्व है। वे अपने तीन विशिष्ट रूपों से विभिन्न लोकों में प्रकाशित होते हैं। इन रूपों के नाम यों हैं—(१) स्वयं रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का स्वयं रूप वह है जो स्वयं आविर्भूत होता है तथा जो दूसरे पर आश्रित नहीं होता। तदेकात्म रूप वह है जिसमें भगवान् का रूप जो स्वरूप से तो अभिन्न रहता है परन्तु अंग सन्निवेश तथा चरित से उससे भिन्न रहता है। आवेश रूप इन दो भेदों से सर्वथा भिन्न होता है।

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ ॲंड मुव्हमेन्ट इन बंगाल—सुशीलकुमार डे, पृ० १–२०।

२. लघुभागवतामृत, १–११।

महत्तम जीव आवेश कहे जाते हैं जिनमें ज्ञानशक्ति आदि की स्थिति से भगवान् [illegible]विष्ट होते हैं। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं पर प्रमुख शक्तियाँ ये हैं—(१) संधिनी-भगवान् की स्वयं सत्ताधारण की स्थिति रहती है। (२) संवित-भगवान् [illegible] स्वयं चिदात्मा है अतः चेतनावान होना इसी शक्ति से होता है। (३) ल्हादिनी-इस शक्ति से भगवान् स्वयं आनन्दित रहकर दूसरों को भी आनन्दित कर देते हैं। यह वैदूर्य मणि के समान है जो नाना रंग प्रदर्शित करने पर भी एक ही बनी रहती है। (४) तटस्थ शक्ति वह है जो कि परिछिन्न भाव, अणुत्व विशिष्ट जीवों के आविर्भाव से बनती है।

प्रथम तीनों शक्तियों का समुच्चय पराशक्ति भी कहलाता है। चैतन्य मत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं, और उपादान कारण भी। जगत् ब्रह्म की वाह्य शक्ति का विकास है। प्रलयकाल में वन में छिपे हुए पक्षी की भाँति जगत् सूक्ष्म रूप से भगवान् में छिपा रहता है। अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् के साथ प्रपंच न तो भिन्न प्रतीत होता है न अभिन्न।

साधन मार्ग—भगवान् को अपने वश करनेका मुख्य साधन भक्ति है। हरिनाम स्मरण और कीर्तन से भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति के दो प्रकार हैं—वैधी भक्ति तथा रुचि भक्ति या रागात्मिका भक्ति। वैधी भक्ति में शास्त्र निर्दिष्ट उपायों का आलम्बन होता है। रागात्मिका भक्ति में भक्त भगवान् को अपना पति मानता है। गोपियों का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली रागात्मिका भक्ति भी पंचधा है। (१) शान्तरसमयी भक्ति—योगी तथा सनकादिक ऋषियों में मिलती है। (२) दास्य भक्ति—हनुमान जैसे भक्तों में पाई जाती है। (३) सख्य भक्ति—अर्जुन, श्रीदामा जैसों की है। (४) वात्सल्य भक्ति—नन्द व यशोदा के रूप में मिलती है। (५) माधुर्य रसवाली भक्ति—दाम्पत्य भाव लिये हुए प्रीति में हार्दिक ऊष्मा लिये हुए रहती है। इसमें परकीया भाव भी आता है। राधाभाव या महाभाव से भक्ति की इस उत्कर्षावस्था में पहुँचा जा सकता है। इनके दार्शनिक विवेचन का मुख्य ग्रन्थ 'गोविन्द भाष्य' है। यह महाभावास्था प्रेम ही भक्ति की उच्चतम अवस्था है। इनमें कृष्ण और राधा के अभेद भाव का निर्माण हो जाता है। माधुर्य भाव भी तीन प्रकार का है-(क) साधारणी-रति, (ख) समंजसा-रति, (ग) समर्था-रति।

(क) साधारणी रति—उपासक या भक्त अपने आनंद के लिये भगवान् की सेवा या प्रीति से प्राप्त करता है जैसे कुब्जा।

(ख) समंजसा रति में कर्तव्य बुद्धि से ही प्रेम का विधान होता है जैसे—रुक्मिणी, जांववंती आदि पटरानियाँ।

(ग) समर्थारति में स्वार्थ की तनिक भी गंध नहीं रहती। शास्त्र ५ उल्लंघन करने में संकोच नही होता इसमें उपासक या भक्त का लक्ष्य है भगवान् ५ आनन्द, दृष्टांत—गोपिकाएँ। रस साधना की प्रेम लक्षणा भक्ति ही चैतन्य को विशेषता है। माधुर्य भाव की परम उपासिका मीरां पर इस सम्प्रदाय विशेष प्रभाव पड़ा है। तथा सूर पर भी इसकी छाप पड़ी हुई है। भाव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर राधा भाव या महाभाव बन है। चैतन्य संप्रदाय के सन्तों ने ब्रजमण्डल का उद्धार किया।

हिन्दी क्षेत्र के कुछ अन्य वैष्णव सम्प्रदाय :

राम भक्ति में रसिक साधना का सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त अग्रदासजी हैं। इनके रसिक शिष्य नाभादासजी थे। इस सम्प्रदाय के कई नाम हैं, यथा—रसिक सम्प्रदाय, जानकी-वल्लभ सम्प्रदाय, सिया-संप्रदाय और जानकी-सम्प्रदाय। इसके साधक रसमयी लीलाओं का अध्ययन करते हैं और अंतरंग सेवा पर आश्रित हैं। 'रसिक भक्तमाल' नामक ग्रन्थ महात्मा जीवाराम ने लिखा है। ये 'युगल प्रिया' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकेशिष्य जानकी रसिक शरण ने इस पुस्तक पर रसिक प्रबोधिनी टीका लिखी है। रसिक सम्प्रदाय की प्रधान प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए इसमें उपादेय सामग्री मिलती है। इस विषय का अधिकांश साहित्य हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित है। इस सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० भगवतीसिंह का 'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय' तथा डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' ये दो ग्रन्थ दृष्टव्य हैं।

साम्प्रदायिक रूप में रामभक्ति की इस रसिक शाखा के आचार्य अग्रदासजी माने जाते हैं। इनका नाम 'अग्रअली' भी प्रसिद्ध है। शठकोप में रामोपासना के इस रूप का आभास मिलता है। रामायत सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति का उत्कर्ष तुलसीदासजी समकालीन रामकाव्य-धारा में प्रारम्भ हो गया था। 'युगल सरकार' अर्थात् सीता राम की मधुर लीलाओं के ध्याता और गायक, रसिक तथा भावुक नाम से रसिकों को पहिचाना जाता है। समूचे रामसाहित्य में से परिणाम की दृष्टि से $\frac{3}{4}$ अंश इस प्रकार के साहित्य का है।

रामोपासना की रसिक भावना से की जाने वाली साधना का स्वरूप संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

सीताजी राम की रसरूपा शक्ति हैं या भगवान् राम की अपृथक सिद्धाशक्ति हैं। सीता की सखियाँ उनकी अंगजा अथवा अंशोद्भवा मानी जाती हैं। ब्रह्म का

स्वरूप 'रसोवैसः' जैसा है। रामचन्द्रजी ही परब्रह्म हैं। पंच भावों से अर्थात् शान्त, सख्य, वात्सल्य, दास्य और माधुर्य भाव से भगवान् के सगुण रूप के प्रेमी मात्र रसिक भक्त हैं।

आचार्य अग्रदास अपनी 'ध्यान मंजरी' में यह बतलाते हैं—

किं... अमृत रसधार रसिक जन यहि रस पागे।
तेहिं ... नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे॥
यह दंपति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहि आवैं॥

—ध्यान मंजरी—अग्रदास।

रसिक रसके एकनिष्ठ भोक्ता है। ये रसिक रामभक्त पंचभावोपासक साधना मानकर अष्टयाम भावना में भक्ति के पाचों रसों के अनुकूल सेवाओं का रूप अपनाते है। अपनी अन्तर्गत रुचि के अनुकूल पंच भक्ति रसों में से साधना चुनकर उसका आश्रय लेते हैं। माधुर्य रति ऐश्वर्य और श्रृङ्गार के माध्यम से ही हो सकती है। इसमें व्यक्तिगत भाव-साधना के साथ लोकधर्म को भी स्थान है। वैधी और प्रेमा भक्ति को ऐश्वर्याशय तथा माधुर्याशय की सज्ञा दी गयी है। उपास्य से पारिवारिक सम्वन्ध प्रस्थापित कर वैसा स्वरूप-साक्षात्कार किया जाता है। 'युगल-सरकार' के उपासक सखी भाव से अपने को निमि वंशीय कुमारियों से अभिन्न मानते हैं। स्वामी से सम्वन्ध सीता के माध्यम से होता है। अतः सीता से पृथक इनका कोई अस्तित्व नहीं है। लौकिक बुद्धिवालों के लिए माधुर्य भाव की रामभक्ति एवम् रसमयी उपासना दुष्प्राप्य है। इसीलिए रसिक-साधना का साहित्य सजातीय अनुयायियों में ही प्रचारित है। इस दिव्य साधना का दिव्य शरीर से सखा-सखी रूप में प्रभु की सेवा में समर्पण होता है। जीव मात्र भगवान् का भोग्य है। लीला रस की भावना केवल सखी भाव और स्त्री भाव से ही संभव है। १५ वीं शती तक राम मर्यादा पुरुषोत्तम, दुष्ट दमनकारी तथा सन्त हितकारी रूप में चित्रित हुए। इसके वाद की शतियों में लीला विहारी और माधुर्य पुरुषोत्तम के रूप में रामोपासना चली। कृष्ण की माधुरी भक्ति का इसे प्रभाव माना जावेगा।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से भक्ति भगवद् विषयक रति है, उसकी भावमात्र स्थिति रसदशा तक पहुँच नहीं सकती। पर रसिक राम भक्त के अनुसार समाज विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय और प्राणिमात्र की भावना का केन्द्र हृदय का आधेय है। अतः उसके नाम, रूप, लीला, धाम के ध्यान में, गायन में सभी कभी न कभी आत्म विभोर हो सकते है। तन्मयता के रसोद्रेक की यही चरम स्थिति है। सखी, सखा, स्नेही, दास्य तथा प्रजा वनकर 'युगल-सरकार' की

रसोपासना पंचभावों से की जाती है। अतः रस निष्पत्ति में अनभिज्ञ होना रसिक, पासना में अमान्य है। रसिक भक्तों को पूर्ण रूप से रसज्ञ होना ही चाहिए 'सीताराम' रस के विषय हैं। बाल, पौगंड और कैशोर लीला में रस की अभिव्यक्ति होती है। सीता के अतिरिक्त अष्ट पटरानियाँ असंख्य देव, मुनि, गंधर्व और राजकन्याएँ रामचन्द्रजी की स्वकीया विवाहिता पत्नियाँ हैं। ... सामान्य विहार लीला का अधिकार है। नित्य रास लीला में सीता और उनकी अंगोद्भवता अंगजा १८१०८ सखियाँ हैं ये सभी स्वकीया हैं। नायिका भेद के अनुसार परकीया और सामान्या नायिकाएँ रसिक राम भक्ति साहित्य में वर्णित नहीं हैं। इस रासलीला में उपास्य के आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। प्रभु की शृङ्गार-चेष्टाओं का चिन्तन कर, उस आनन्द का आस्वादन करना जीव का परम पुरुषार्थ है। परम विरक्त होकर ही रसिक भगवद् कृपा से इस साधना में आ सकता है। रसिक भक्तों के दिव्य नाम सखी, आली, प्रिया, मंजरी आदि होते हैं। अयोध्या, चित्रकूट काशी और मिथिला में इस संप्रदाय के भक्तों की संख्या अधिक है। युगल सरकार की यह रसमयी माधुरी-भक्ति द्वैत परक है। इसका साहित्य संस्कृत, बृज और रेख्ता हिन्दी में है। इसके प्रमुख भक्त कवि अग्रदास, बाल अली, रामसखे, रामचरणदास, बनादास, नाभादास आदि हैं। इससे अधिक विवेचन न कर, हम रसिक-राम-भक्ति सम्प्रदाय का अपना विवरण यहीं समाप्त करते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय—

इसे सखी-सम्प्रदाय भी कहते हैं प्रायः निम्बार्क की शाखा के रूप में इसे मानते हैं पर वास्तव में साधन पद्धति में भेद होने के कारण इसे हम स्वतन्त्र सम्प्रदाय मान सकते हैं। रस-मार्गीय उपासना होने से रस को ही सब कुछ मानते हैं।[1] नित्य विहारी युगल मूर्ति का ध्यान रसिक बनकर राधा की उपासना सखी बनकर करने का विधान है।

रसिक की परिभाषा—

श्री भगवत रसिक ने रसिक की परिभाषा इस प्रकार दी है[2]—

जीव ईस मिलि दोय, नाम रूप गुन परिहरैं।
रसिक कहावै सोय, ज्यों जल छोडे सर्करा॥
दिया कहै सब कोय, तेल तूल पावक मिलै।
तमहि नसावे सोय, वस्तु मिले भगवत् रसिक॥

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धांत और साहित्य, पृ० ३०—डा० विजयेन्द्र स्नातक।
२. भगवत रसिक।

सिद्धान्ततः सखी भाव से की जाने वाली उपासना में दार्शनिक विवेचन का अभाव सा ही है।

हरिदास की भावना और साधना पद्धति—

नाभा जी अपने भक्तमाल में हरिदास के बारे में बतलाते हैं[1]—

जुगल नाम सौं नेम जगत्, नित कुंजविहारी।
अवलोकत रहे केलि सखी-सुख को अधिकारी॥

उज्ज्वल-रस-पूर्ण-प्रेमा-भक्ति को अपनाने वाले व्रज मंडलीय संप्रदायों में प्रत्यक्ष या साक्षात् सम्बन्ध न हो पर परोक्ष सम्बन्ध सूत्रता है, जो राधा-कृष्ण को लेकर चली है।

वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, हरिदास और हित हरिवंश ने भक्ति तरु को राधा-कृष्णीय-भक्ति रस से सींचा है। वल्लभाचार्य, हित हरिवंश और हरिदास प्रायः सम-सामयिक हैं और भक्ति के रूप मे इनमें समानता है। माधुर्य पूर्ण राधाकृष्ण की रस परक भक्ति का वर्णन ये करते हैं। भागवत पुराण और भक्ति सूत्रों में प्रेम लक्षणा भक्ति का रूप ही इस युग की भक्ति का आधार बना। तात्विक ऐक्य पर इन भक्तों की दृष्टि केन्द्रित थी। वेदान्त के दार्शनिक जटिलता पूर्ण विवेचन को इन्होंने छोड़ दिया था। प्रमुख रूप से प्रेम और प्रपत्ति को महत्व दे देते थे। भागवत धर्म का विभूतिवाद प्रवृत्ति और प्रेम लक्षणा भक्ति में परिणत हुआ।

हितहरिवंश ने प्रेम को सर्वश्रेष्ठ माना और तत्सुखित्व की भावना से राधार्पण या राधानिष्ठ होकर करने का विधान प्रस्तुत किया। प्रेम लक्षणा भक्ति को व्यापक और व्यवहार्य बनाने का श्रेय हित हरिवंश को दिया जाना चाहिए। लौकिक काम प्रसंगों को मिथ्या और राधाकृष्ण की दिव्य लीलाओं-काम क्रीड़ाओं को ही यथार्थ मानकर सहचरिरूप जीव को उस मार्ग में प्रवृत्त कर उनके दर्शन की कामना करे।

राधाकृष्ण की दाम्पत्य उपासना का काव्यपरक और मोहक रूप बृजभाषा काव्य में व्यापकतापूर्ण अभिव्यजित हुआ है। (विशेष अध्ययन के लिए देखिए—राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और अध्ययन—डा० विजयेन्द्र स्नातक)

राधावल्लभ सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य 'हित हरिवंश' है। इनका जन्म मथुरा के निकटवर्ती 'वाद' ग्राम में वैसाख शुक्ला एकादशी सोमवार के दिन विक्रम

१. नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ६१, १२३, पृ० ६०१।

संवत् १५५६ में प्रातःकाल-सूर्योदय में हुआ। वियोगी हरि का यह मत भी है।[1] इनके पिता का नाम केशव मिश्र और माता का नाम तारामती ... श्री राधा ने स्वप्न में इनको दीक्षा दी। गोस्वामी हित हरिवंश की ... की प्रेम लक्षणा भक्ति ने राधा को परकीया भाव से दूर रखा। ... के मत में राधा स्वतंत्र अधिष्ठात्री देवी है। राधा ही उपास्य हैं। ... अनुषांगिक रूप में राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ ... है। भक्त की भावना में राधा ही पूज्य हैं। वही कृष्ण का अपने द्वारा पूजन करवाने में समर्थ है। राधा विषयक यह देन अपनी देन है जो परवर्ती भक्तों द्वारा समाहत हुई। राधा के इस स्वरूप की उपासना को रसोपासना इस शब्द से पहिचानते हैं। गोस्वामी हित हरिवंश विवाहित थे। श्री राधा इनकी गुरु और उपास्य दोनों हैं।

प्रेम पंथ का त्याग न करना पड़े, इसलिए शुष्क और तार्किक दार्शनिक मतवाद को अपने संप्रदाय में स्थान नहीं दिया। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति ही सरस अभिव्यक्ति के साथ राधा-वल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है। भक्ति सिद्धांत का मूल आधार है। हिततत्व एवम् प्रेम-तत्व इसे पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेना अनिवार्य है जिसके विना राधा-वल्लभीय भावना का बोध असंभव है। 'नित्य विहार' रस दर्शन या 'वृन्दावन रस' ही इसका नाम है। माधुर्य भक्ति की परिणति इसी रस में होती है। प्रेमतत्व की मीमांसा प्रस्तुत करके तत्संबंधी भावों और विपयों का उल्लेख किया है। रसदर्शन में विहार के संपादक राधा, कृष्ण सहचरी और वृन्दावन के स्वरूप का विस्तार है। 'रसोवैसः' से रसरूप भगवान् और परात्पर प्रेमतत्व सहज और नित्य है। राधा और कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है यही रस है।

प्रेमा-भक्ति को शाण्डिल्य सूत्र में दुर्गम वताया गया है। राधावल्लभ-संप्रदाय में गोपी प्रेम भी शुद्ध प्रेम तक नहीं पहुंचता क्योंकि उसमें आत्म-सुख की भावना आ जाती है। अतः शुद्ध प्रेम व्रज देवियों के पवित्र प्रेम से भी ऊपर दिखाया गया है। राधावल्लभ संप्रदाय में प्रेम की परिभाषा—प्रेमी और प्रेमपात्र श्री राधा और माधव अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्मसमर्पण करते हैं। राधा माधव के लिए और माधव राधा की परितुष्टि के लिए आत्म विसर्जन कर देते हैं। राधाकृष्ण एक ही प्रेम तत्व के दो विग्रह हैं। हित हरिवंश राधाकृष्ण को वृन्दावन प्रेम-पयोनिधि रूपी मानसरोवर के

---

१. व्रज माधुरी सार—वियोगी हरि, पृ० ६४।

-हंसिनी मानते हैं। तथा इन दोनों का सम्वन्ध जल-तरंगवत् अभिन्न है। इनको
त पृथक् कर सकता है।

> जोई जोई प्यारी करै सोइ मोहि भावै,
> भावै मोहि जोई-सोइ, सोई-सोई करै प्यारे।
> मो [illegible] भाँवती ठौर प्यारे के नैननि में,
> [illegible] भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।
> मेरे तन मन प्रान हू ते प्रीतम प्रिय,
> अपने कौटिक प्रान प्रीतम यों सो हारे।
> (जैश्री) हित-हरिवंश हंस-हंसिनी सांवल गौर,
> कहौ कौन करै जल तरंगिनी न्यारै।

—हित चौरासी पद सं० १।

अपने प्रेमास्पद के सुख में आसक्त होना ही प्रेम कहलाता है, वही प्रेमी है। इसे 'तत्सुख सुखित्व' कहते हैं। इसमें स्वसुख का विसर्जन होता है। प्रेम में अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है। इस संप्रदाय के भक्त को अपने इष्टदेव में अनन्य निष्ठा बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए। रसोपासना में केवल माधुर्य पक्ष की ही स्वीकृति है। राधा ही अनन्य इष्टदेवी हैं।

प्रेम और नेम—

नेम—अर्थात् रससृष्टि में सहायक होकर प्रेम के साथ नित्य भाव में वर्तमान—नित्य एक रस रहने वाले प्रेम के साथ अविर्भाव और तिरोभाव होने वाली क्रिया-चेष्टाएँ विविध रूप और परिणाम से उसी में व्याप्त रहती हैं। विहार परक प्रेम और नेम प्रिया-प्रियतम की विविध केलि-क्रीड़ाएँ मान विरह आदि अवस्थाओं का स्वरूप है। साधारण प्रेम नेम रस की वह विवश दशा है जिसमें मन निमज्जित हो जाय, और किसी प्रकार की सुध न रहे यही प्रेम दशा है। इससे भिन्न सावधानता रहती है। तब नेम-काम कहा जाता है। सच्चे प्रेम-पयोनिधि में नेम काम की भावना नहीं शेष रहती।

प्रेम और काम—

'काम रूप बिन प्रेम न हो ही। काम रूप जहाँ प्रेम न सोई।'

—श्री वल्लभ रसिक।

काम और प्रेम का साहचर्य सोने-सुहागे की तरह है। आग में तपाने पर सुहागा नष्ट होकर स्वर्ण मात्र बच जाता है। प्रेमास्पद से आशा इच्छा के बने

रहने तक काम-वासना का स्वरूप रहता है। बाद में मन रसमय बन जाता है अ प्रेममय हो जाता है।

रसोपासना में विधि-निषेध मर्यादा—

हित हरि वंश प्रतिपादित भक्ति रस-भक्ति है, शास्त्र भक्ति न[illegible] [illegible]स्त्र भक्ति में मर्यादा मार्ग के साधन का पालन होता है पर इससे स्नेह [illegible] न होती है। रस भक्ति में भाव, मान, प्रणय, स्नेह, राग और [illegible] ये छः भेद हैं। साधनों की आवश्यकता नहीं है। हित हरिवंश ने बाह्योपचारों का निषेध इसलिए किया कि कहीं प्रेम बाह्योपचार में फँसकर क्षति न प्राप्त कर ले। राधाकृष्ण के नित्य-विहार की स्थिति का आनन्द लाभ करने के लिए क्षमता, शुद्ध प्रेम से एवम् रस से ही उत्पन्न होती है। शुद्ध प्रेम मार्गी को जप, तप, यज्ञ, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता क्यों रहेगी? 'विधि निषेध नहिं दास। अनन्य उत्कट व्रतधारी,' 'भक्तमाल' की नाभादासोक्ति इन दो विशेषताओं को हित हरिवंशजी में बतलाती है—(१) अनन्य व्रतधारी अर्थात अपनी राधा-भक्ति एवम् रस भक्ति में अनन्य रहना और (२) विधिनिषेध का दास न होना।

राधा की प्रेम निकुंज-विहार-स्थिति का दर्शन सहचरी (महली) रूप से जीवात्मा देख सके यही साधक के जीवन का फल है। हित-सम्प्रदाय में राधा-प्रेम ही आराध्य है।

विधि निषेध के ऊपर उठा हुआ हित हरिवंश कृत उपासना मार्ग यह बतलाता है कि—

श्याम-श्यामा की उपासना एक साथ की जाती है। श्याम आराधक और श्यामा आराध्य हैं। दोनों निकुंज में नित्य विहार करते हैं। परस्पर प्रीति का गान और आत्म-विसर्जन करते हैं। सहचरी रूप जीवात्मा इनके सुख-भोग को देखकर आत्म सुख लाभ करता है, तथा इसे साध्य या इष्ट समझता है।

इस संप्रदाय में हित हरवंशजी के अतिरिक्त श्री नेही नागरीदास, चाचा वृन्दावनदास, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास आदि प्रसिद्ध भक्त हो गये हैं। इस वैष्णव-संप्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० विजयेन्द्रस्नातक की 'राधावल्लभ-संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' पुस्तक द्रष्टव्य है।

नोट :—यहाँ पर समूचे वैष्णव संप्रदायों का विवेचन हमारा विषय नहीं है। अपने प्रबन्ध की सीमान्तर्गत मराठी और हिन्दी के प्रतिनिधि वैष्णव संत-कवि ही हमने लिये हैं।

रामानंद संप्रदाय—

उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति को विशेष प्रकार से प्रश्रय देकर उसका प्र[illegible] और प्रसार करने वाले महापुरुष और आचार्य रामानन्दजी को ही माना जाता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार इसका श्रेय रामानंद के गुरु राघवानन्द [illegible]या जाना चाहिए। दक्षिण और उत्तर भारत के वैष्णव आन्दोलनों के सं[illegible]ी माने जाते हैं।[1] इनको रामानुज मत का माना जाता है और उन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामानन्द को मृत्युयोग से योग विद्या के बल पर बचाया था। इनकी जीवनी अंधकारमय ही है। कोई सूत्र विश्वसनीय हमें नहीं प्राप्त होता। काशी के पंचगंगा पर ये निवास करते थे। यहीं पर इन्होंने रामानंद को अपना शिष्य बनाकर मंत्रोपदेश दिया। राघवानंद की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है। रामार्चन-पद्धति में रामानंदजी की अपनी गुरु परम्परा दी गयी है जिसकी परंपरा के अनुसार रामानुज की चोदहवीं पीढ़ी में रामानंद का आविर्भाव हुआ। अनुमानतः कहा जा सकता है कि इनका समय १५ वीं सदी का अन्तिम भाग होगा। ऐसा प्रसिद्ध है कि सिकन्दर लोदी के समय ये विद्यमान थे। सिकंदर लोदी ने सन १४८९ से सन १५१७ तक राज्य किया। कबीर रामानंद के शिष्य थे। कबीर तथा लोदी समकालीन थे। अतः रामानंद का उस काल में होना माना जा सकता है। फर्कुहर रामानंद को दक्षिण से आया हुआ मानते हैं, पर ग्रियरसन को यह मत ग्राह्य नहीं है। उनके मतानुसार वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग में उत्पन्न हुए थे। अपने समर्थन में वे 'भक्तमाल' का प्रमाण देते हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' में अपने गुरु अग्रदास की प्रार्थना पर लिखा है। ये अपने गुरु रामानंद से तीसरी पीढ़ी में आते हैं।[2]

स्वामी रामानन्द ने विष्णु के रूप को लेकर लोक के लिए कल्याणकारी सिद्ध किया और उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण-भक्ति का अधिकारी माना। रामभक्ति का द्वार उन्होंने सब जातियों के लिए मुक्त कर दिया। भागवतों के इस समुदाय को 'विरागी' या वैरागी संप्रदाय कहा जाता है। इनके सिद्धान्तों का महनीय ग्रन्थ है 'वैष्णव मताब्ज भास्कर'। इसके सिद्धान्त विशिष्टा-द्वैत-मत सम्मत हैं। इस मत में भगवान् रामचन्द्र को परमपुरुष मानकर उनकी उपासना का प्रचार बड़े आग्रह और निष्ठा के साथ किया गया है।

---

१. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय।

२. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी—१९२०।
'दि होम ऑफ रामानंद', पृ० ५९०।

राम, सीता तथा लक्ष्मण से युक्त ध्यान का आदेश उन्होंने अपने अनुयायियों को दिया है। तत्व-त्रय-ईश्वर, चित् और अचित् उन्हें मान्य है। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र की मर्यादा उन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका ... अधिकार स्वीकार किया। श्रीरामचन्द्र ही परमेश्वर और भगवान हैं ... उन्हीं के षड़ाक्षर मंत्र की दीक्षा तथा जप का विधान अपने संप्रदाय में ... प्रचलित किया। उत्तारी भारत में 'रामायत संप्रदाय' के आद्य प्रवर्तक ... रामानंद स्वामी ही हैं। हनुमान की एक प्रशस्ति तथा 'रामरक्षा' नामक दो कृतियाँ हिन्दी में मिलती हैं।

रामानंद के प्रमुख शिष्य कबीर, पीपा, सेना नाई, धन्ना भगत, पद्मावती आदि हैं। इनके अतिरिक्त अनंतानद, सुरमुरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द और गालवानन्द भी इनके शिष्य थे। इस विषय में भी काफी मतभेद है। आरम्भ के पाँच शिष्यों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमें से किसी ने भी स्पष्ट शब्दों में रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है।[1]

'रहस्यत्रयी' के टीकाकार के अनुसार 'सार्ध द्वादश शिष्य:' रामानन्द के बारह शिष्य थे जो वास्तव में तेरह जान पड़ते हैं।[2]

राघवानन्द एतस्य रामानंदस्तो भवत्। सार्द्ध द्वादश शिष्यासुः रामानन्दस्य सद्गुरोः। द्वादशादित्य संकाशाः संसार तिमिरापहाः। श्रीमद्अनंतानंदस्तु सुरमुरानंद स्तथा ॥१६॥ ,नरहरियानंदस्तु यो गानंदस्तथैव च। सुखा भावा गालवंच सप्तै तै नामनंदनाः ॥१७॥ कवीरश्च रामदासः सेना पीपा धनास्तथा। पद्मावती तदर्द्धश्च पडे तेच जितेन्द्रियाः ॥१८॥

जो कुछ भी हो रामानंद आचार्य के रूप में बहुत महान् थे इसमें कोई शक नहीं है। रामानंद के भाष्यों में से 'आनंद भाष्य' अन्यतम है। उसमें उन्होंने ब्रह्म को ब्रह्मशब्दवाच्य-श्रीराम ठहराया है और वह सगुण तथा निर्गुण है ऐसा माना है। उनके अनुसार 'निकृष्ट प्राकृत गुणों से रहित' को निर्गुण कहते हैं और दिव्य गुणों के कारण भगवान् का सगुणत्व सिद्ध होता है। उनके अनुसार अनन्य भक्ति ही मोक्ष का अव्यवहितोपाय है तथा प्रपत्ति को भी वे मानते हैं। इस संप्रदाय का गुरुमंत्र रामनाम हैं, तथा परस्पराभिवादन भी 'जय श्रीराम', 'सीताराम', 'जयराम', आदि द्वारा होता है। रामानन्द ने श्री संप्रदाय के

१. उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ० २२३-२२७—श्री परशुराम चतुर्वेदी।
२. भक्ति सुधा बिन्दुस्वाद—रूपकलाजी, पृ० २९४।

कठोर नियमों को यथासाध्य सुगम एवम् सरल कर दिया है और वे भजन भाव की ओर ही सबका ध्यान दिलाते रहे।

स्वामी रामानन्द ने जनता की रुचि तथा देशकाल की परिस्थिति को देखकर सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार की शिक्षाएँ देने का समीचीन तथा प्रशंसनीय कार्य किया। वस्तुतः रामानन्द को सगुण-भक्ति-धारा और निर्गुण भक्ति-धारा का केन्द्र बिन्दु मानना चाहिए ऐसा आचार्य बलदेव उपाध्यायजी का मत है।[1] इनके कारण एक ओर तुलसीदास जैसे राम भक्तों के द्वारा सगुण भक्ति का प्रचार हुआ तथा कबीर आदि संतों के द्वारा निर्गुण भक्ति का प्रचार हुआ। हिन्दी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाकर रामानन्द ने जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी सहृदयता के कारण 'रामायत-संप्रदाय' का उत्तर भारत के कोने-कोने में प्रचार हुआ। इससे एक लाभ यह हुआ कि रामानन्दी वैष्णवों ने अपने उपदेशों के माध्यम से हिन्दी को भारत की सार्वभौम और सार्वजनीन भाषा बनाया। यह कार्य वे तीर्थ यात्रा के प्रसंगों में भारतवर्ष में घूम-घूम कर करते रहे। स्वामी रामानन्दजी निश्चय ही एक महान् युग-प्रवर्तक पुरुष थे, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। रामानंदजी के अलौकिक व्यक्तित्व ने ही उदार वैष्णव धर्म को और उदार और व्यापक बनाकर प्रस्तुत किया। इनके शिष्यों में ब्राह्मण, नाई, चमार, अधम, अंत्यज तथा कबीर जैसे अक्खड़ मुसलमान धर्म के जुलाहे के यहाँ पाले गए हुए व्यक्ति भी थे। समाज के चरण-स्थानीय, अंत्यजों के उद्धार की ओर इनकी विशेष दृष्टि थी। इसीलिये इन्हें राममंत्र देने में रामानंदजी को कोई झिझक न हुई। हिन्दू समाज की एकता स्थापित करने में तथा धार्मिक संगठन करने में, और अपनी संस्कृति बचा रखने में, रामानन्दजी का कार्य अतीव महान् है। नाभादासजी उनकी तुलना राम के अवतार से करते हैं—'श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु-जग-तरन कियो।'[2]

मध्य देश में रामानन्दजी ने पाखंड के दरवाजे खोल डाले। फलतः रामानन्द-संप्रदाय की इस देन को अत्यन्त सराहनीय और महत्वपूर्ण माना जावेगा।

वारकरी सम्प्रदाय—

अब हम महाराष्ट्र के दो वैष्णव सम्प्रदायों का वर्णन करेंगे, जिनका हमारे अध्ययन में आने वाले मराठी वैष्णव संतों से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

---

१. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय।

२. नाभादास—भक्तमाल, पृ० ७३, छ० ३६।

वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र का एक महत्वपूर्ण भक्ति सम्प्रदाय है। आबाल-[illegible] वृद्ध नरनारी तथा ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक, सुशिक्षितों से लेकर अशिक्षितों तक में तथा शहरों से लेकर ग्रामों और देहातों में रहने वाले जन साधारण के बीच सम्प्र[illegible] संप्रदाय के प्रति आस्था है। यह धर्म या पंथ वैदिक परम्परा में [illegible] अ[illegible]ता है। 'वारकरी' शब्द का अर्थ नियमित रूप से 'वारी' करने वाले [illegible] पंढरपूर जाकर आषाढी शुद्ध एकादशी और कार्तिकी शुद्ध एकादशी के [illegible] प्रति वर्ष नियमित रूप से विठ्ठल-दर्शन करने वाले यात्री 'वारकरी' कहलाते हैं। हिन्दी के 'वार' शब्द से इसका नैकट्य है। (जो प्रति वर्ष हरबार यात्रा के लिए जाकर आषाढी और कार्तिकी एकादशी तिथियों के अवसर पर पंढरपूर में पांडुरंग का दर्शन करता है वही वारकरी है।)

ज्ञानेश्वरी में 'वारी' शब्द आवागमन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

ऐसे वैराग्य हेकरी। तरी संकल्पाची सरे वारी
सुखे धृतीचा धवळारी। बुद्धि नदि ॥[1]

ज्ञानेश्वर के एक अभङ्ग में भी एक उल्लेख इस प्रकार आया है—

काया वाचा मने सर्वस्वी उदारु। बाप रखुमादेवीवरु।
विठ्ठलाचा वारिकरु।[2]

इसी सम्प्रदाय को नाथ भागवत में भागवत धर्म भी बतलाया गया है—

दारा सुतगृहप्राण। करावे भगवंतासी अर्पण।
हे भागवत धर्म पूर्ण। मुख्यत्वें भजन या नांव ॥[3]

अपनी स्त्री, पुत्र, गृह आदि सब कुछ भगवान् को समर्पित कर मुख्यतः भजन करना ही भागवत धर्म है। गले में तुलसीमाला पहनकर यह वारी की जाती है। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम 'माळकरी पंथ' अथवा 'भागवत पंथ' भी है। भागवत धर्म का पुराना संकेत वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहों की कल्पना रखने वाला, तथा जीव और ईश का द्वैत बतलाने वाला है। वारकरी पंथ भक्ति प्रधान होने पर भी ज्ञानमय अद्वैत मत का भी समर्थन करता है। जो भगवान् को सब कुछ समर्पित कर दे वही भागवत है द्वारकाधीश कृष्ण का बालरूप उपास्य देवता होने से इसे वैष्णव सम्प्रदायों में गिना जाता है। श्रीमद् व्यासकृत भागवत और भगवद्गीता वारकरियों के पूजनीय ग्रन्थ हैं। तुकाराम कहते हैं—

१. ज्ञानेश्वरी—ज्ञानेश्वर, ६–३७७।
२. ज्ञानेश्वर अभंग–सकल संत गाथा।
३. नाथ भागवत—एकनाथ, २–२९१।

गीता भागवत करिती श्रवण।
अखंड कीर्तन विठो वाचे॥[1]

[illegible] भागवत के द्वादश स्कंधों में से एकादश स्कंध सम्पूर्ण और द्वितीय स्कंध अध्याय [illegible] श्री एकनाथ महाराज ने टीका लिखी है जो क्रमशः 'एकनाथी भागवत', और 'चतुःश्लोकी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वारकरी इन दोनों को प्रमाण ग्रन्थ मानते हैं। वारकरी सम्प्रदाय अपने उत्पादकों के नाम से नहीं चला है। वैदिक धर्म के विरुद्ध आवाज इस सम्प्रदाय ने नहीं उठाई वरन् उसके तत्वों से ही मानवी समता भूमि पर समन्वय करते हुए इस सम्प्रदाय ने अपना विकास किया है। वारकरी सम्प्रदाय का आरम्भ कब हुआ इस पर कोई तथ्य या प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। स्थूल रूप से वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से पाँच कालखण्ड किये गए हैं जो इस प्रकार हैं—(१) पुंडलीक से ज्ञानेश्वर का कालखण्ड। इसे हम वारकरी संप्रदाय का उत्पत्ति काल भी कह सकते हैं। (२) ज्ञानेश्वर तथा नामदेव का कालखण्ड। (३) भानुदास से एकनाथ का कालखंड। (४) सन्त तुकाराम से निळोवा तक का कालखंड, तथा (५) इसके बाद से आज तक का अर्थात् २२५ वर्षों का कालखण्ड।

इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति विठ्ठल मूर्ति तथा पुंडलिक के काल निर्णय पर निर्भर है। वैसे वारकरी सम्प्रदाय का प्रारम्भ इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भगवद् भक्त पुंडलीक से माना जाता है। तुकाराम का कथन है—'भक्तामाजी अग्रगणी। पुंडलीक महामुनी। त्याच्या प्रसादे तरले। जड़जीव उधरले। तोचि प्रसाद आम्हासीं। विटेवरी हृषीकेषीं॥[2] पुंडलीक भक्तों में अग्रगण्य थे। उनपर अनुग्रह करने के लिए उनकी आज्ञा से पांडुरंग ईंट पर खड़े हैं। उनकी कृपा से जड़-जीवों का उद्धार हो गया। तुकाराम के लिए वही प्रसाद उपलब्ध हो गया है।

पांडुरंग मूर्ति के बारे में हम प्रथम अध्याय में ही विवेचन कर आये हैं। अतः यहाँ पर इतना ही मान लेते हैं कि पंढरीनाथ भक्तानुग्रह का कार्य भक्ताज्ञा से अनेक शतकों पूर्व (ज्ञानदेव-नामदेव कालपूर्व) कर रहे थे और वारकरी सम्प्रदाय की वारी चला करती थी। इससे पता चलता है कि व्यापकता और कार्यक्षमता इन दोनों दृष्टियों से भी वारकरी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन तथा लोकप्रिय था। ज्ञान और भक्ति का सङ्गम जिसे माना जा सकता है ऐसे ज्ञानेश्वर और नामदेव वारकर

---

१. तुकाराम-अभंग।
२. तुकाराम-अभङ्ग।

सम्प्रदाय में विशेष प्रसिद्ध हैं। सन्त वहिणावाई इन वारकरी सन्तों के बारे में इ प्रकार कहती है[1]—

> सन्त कृपा झाली। इमारत फळा आली।
> ज्ञानदेवे रचिला पाया उभारिले देवालया॥
> नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार
> जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत॥
> भजन करा सावकाश। तुका झाला से कळस॥

भागवत धर्म का यह मन्दिर इन सन्तों की कृपा से बनकर तैयार हुआ। इसकी नींव ज्ञानेश्वर ने रची और नामदेव ने भव्य प्रसाद खड़ा कर दिया। स्वामी जनार्दन के शिष्य एकनाथ ने भक्ति और मानव प्रेम की एकता के रङ्ग से इसकी ध्वजा फहराई। तुकाराम ने अपनी साधना से उस पर कलश चढ़ाया। इस वारकरी सम्प्रदाय के लिए तात्विक और सैद्धान्तिक एवम् दार्शनिक ठोस आधार-शिला ज्ञानेश्वर का कार्य है। पंढरी से पंजाब तक भागवत धर्म का प्रचार और प्रसार नामदेव का महान कार्य है। ज्ञानदेव के गुरु उनके बड़े भाई निवृत्ति नाथ ने छोटे भाई सोपान और बहन मुक्तावाई ने अपने ही समाज के द्वारा किये गये अत्याचारों को सहकर सहिष्णुता के साथ जीवन व्यतीत किया। ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी,' (भावार्थ दीपिका) 'अमृतानुभव' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का सृजन किया। जिस तरह उत्तर में 'रामचरित मानस' का घर-घर प्रचार है उसी तरह वारकरी पंथ में समूचे महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी का प्रचार है। इस ग्रन्थ में ज्ञान और भक्ति का दिव्य समन्वय है। ज्ञानेश्वर को इसीलिये 'ज्ञानराज माउली' कहा जाता है। उनके समय में स्वराज्य था पर वैदिक धर्म उखड़ रहा था। समाज की नींव ढह रही थी। ऐसे समय ज्ञानेश्वर ने संस्कृत की ज्ञान-संपदा को जनभाषा मराठी में संजोया और उस ब्रह्मविद्या को सार्वजनीन बनाकर सुलभ कर दिया। इस दार्शनिकता का सूत्र पकड़कर नामदेव ने पंजाब के धोमान गाँव तक इसका प्रचार किया; यह एक अतीव महत्वपूर्ण कार्य था। ज्ञानदेव की 'ओवी' और नामदेव के 'अभङ्ग' प्रसिद्ध हैं। 'सततम् कीर्तयन्तोमाम्' इस गीतोक्ति के अनुसार कीर्तनरंग में ज्ञानदेव कितने रंगे हुए थे इसे नामदेव की कीर्तन-तल्लीनता से समझा जा सकता है। महाराष्ट्रीय कीर्तन परम्परा के 'नारद', नामदेव को ही माना जा सकता है। अपने नाम के अनुसार ज्ञान और भक्ति का समन्वय पंढरपूर में इन दोनों के द्वारा हुआ। नामदेव के साथ उनका पूरा परिवार, दासी जनावाई, सांवता माली, रोहीदास चर्मकार,

---

१. वहिणावाई कृत अभङ्ग।

चोखा-मेला महार, नरहरि सोनार, जैसे समाज के निम्नतम स्तर के संत इस वारकरी वैष्णव सम्प्रदाय में बड़ी तन्मयता और लगन से अपनी कविताओं, अभंगों के द्वारा कीर्तनों से सारे महाराष्ट्र में वैकुण्ठ का सुख प्रस्तुत कर रहे थे।[1] ११९३ शक से १२[illegible] शक तक यह समय माना जावेगा।

भानुदास—एकनाथ[illegible] कालखण्ड :

ज्ञानेश्वर नामदेव काल से सौ सवासौ वर्षों तक; अर्थात् करीव करीव सन् १४५० से सन् १४७५ तक पंढरी की वारी, कीर्तन भजन आदि की परम्परा जारी रही। इस सम्प्रदाय में भानुदास तक कोई महत्वपूर्ण संत पैदा नहीं हुआ। ये एकनाथ के प्रपितामह थे। विजयानगर से रामराजा के द्वारा अनागोंदी नामक स्थान पर पंढरपूर की विठ्ठलमूर्ति लाकर रखी गई। यही पांडुरङ्ग मूर्ति अपनी भक्ति से संत भानुदास पुनः पंढरपूर लाने में सफल हो गए। वारकरी सम्प्रदाय का पुनर्निर्माण और सङ्गटन करने का श्रेय संत भानुदास को दिया जाता है। इनके पोते एकनाथ महाराज ने, वही कार्य किया जैसा ज्ञानेश्वर-नामदेव ने किया था। ज्ञानेश्वरी का अनुशीलन कर उसमें घुसे हुए अपपाठों को दूर करने का महान् कार्य संत एकनाथ ने किया। वारकरी सम्प्रदाय को सुदृढ़ स्वरूप देने का श्रेय भी एकनाथ को ही दिया जा सकता है। एकनाथ ने अपने ग्रन्थ "एकनाथी भागवत" का वाराणसी में निर्माण किया जो वारकरी सम्प्रदाय का आधारस्तम्भ माना जाता है। तुलसी की तरह सभी शैलियों में एकनाथ ने रचनाएँ की हैं। 'आळंदी', और 'ज्ञानेश्वर' की महिमा एकनाथ के कारण वढ़ी। कीर्तन-भक्ति की महिमा एकनाथ ने विशेष रूप से बढ़ाई। उनकी ही वनाई परिपाटी से वारकरी सम्प्रदाय के लोग कीर्तन करते हैं। उनका कहना है—

> सगुण चरित्रें परम पवित्र सादरवर्णावीं ॥ १ ॥
> सज्जन वृन्दे मनोभावें आधी वंदावी ॥ २ ॥
> संत संगे अनतरंगे नाम वोलावे प्रभूचे नाम वोलावे ॥
> कीर्तनरंगी देवा सन्निध सुखेचि डोलावे ॥
> भक्ति ज्ञाना विरहित गोष्टी इतरा न कराव्या ॥
> प्रेम भरे वैराग्याच्या युक्तीं विवराव्या ॥ ३ ॥
> जेणे करुनि मूर्ति ठसावे अंतरि श्री हरिची ।
> ऐशी कीर्तन मर्यादा आहे संताच्या घरिची ॥ ४ ॥

१. सकल संत गाथा—एकनाथ अभंग, ५६१

श्रवण कीर्तने अद्वय भजने वाजवी कराळी ।।
एका जनार्दनी भक्ति मुक्ति तात्काळी ।। ५ ।।[१]

आदर सहित सगुण चरित्रों का परम् पावित्र्यता से वर्णन करना चाहिये। सज्जन वृन्दों के द्वारा प्रथम मनोभावों से उनका वंदन करना चाहिये तथा संतों के साथ अंतःकरण पूर्वक प्रेम रङ्ग में भगवान् का नाम बोलना चाहिये, और कीर्तन रङ्ग में आकर भगवान् के सान्निध्य में सुख में निमग्न हो जाना चाहिये। भक्ति ज्ञान के अतिरिक्त कोई बात भी नहीं करनी चाहिये। अन्य फालतू बातों का निराकरण वैराग्य की युक्तियों से करते हुए अनासक्ति को अपना कर, अन्तःकरण में श्रीहरि की मूर्ति दृढ़ हो जाय ऐसी कृति होनी चाहिये। संतों के घर की यही रीति है। कीर्तन भजन करने से तत्काल मुक्ति मिल जाती है, ऐसा एकनाथ का निवेदन है।

तुकाराम–निळोबा का कालखण्ड :

भागवत संप्रदाय के मन्दिर का "कलश" तुकाराम को माना जाता है। एकनाथ के निर्माण के नौ वर्षों बाद तुकाराम का जन्म देहू में हुआ। पारतंत्र्य सब दुखों का मूल माना जाता है। शास्त्र-धर्म रक्षण करने वाले आचार्य, ब्राह्मण यवनों के दास बनकर अपनी आजीविका चलाते रहते थे। धर्म रक्षण करने वाली यदि राज-सत्ता विद्यमान न हो तो सारा समाज विपन्नावस्था को पहुँच जाता है। ऐसी विपन्नावस्था उस समय हो गई थी। तुकाराम को इसी की बड़ी चिन्ता थी। इसीलिए पाखंड खंडन करते हुए; धर्म को जीवित रखने का कार्य अपने पूरे जीवन भर वे करते रहे। अकाल आदि की और अनेक विपत्तियों के द्वारा प्रताड़ित तथा शूद्र वंशोत्पन्न होने के कारण समाज के अत्याचारों द्वारा पीड़ित तुकाराम पूर्ण विरक्त संत बन गए। इनके द्वारा वारकरी सम्प्रदाय की प्रगति पर्याप्त रूप में हुई। अपनी परमार्थ साधना के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया कि भगवद् भजन की सार्थकता उसके समर्थ साधन में है। और पंढरपूर के विठोबा ही चैतन्य की जड़ है। अपनी तपःसिद्धी से अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के माध्यम से सगुण को प्रतिष्ठा दी और उसकी महत्ता लोगों को बतला दी। वारकरी संप्रदाय में ज्ञानेश्वर की ही योग्यता में तुकाराम आते हैं। अपनी अभंग वाणी से भगवद् सुख का आस्वाद जन साधारण तक को उन्होंने चखाया। इससे भजन कीर्तन को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तुकाराम के अभंग बड़े सरस और माधुर्य एवम् मार्मिकता से भरे हुए हैं। वारकरी सम्प्रदाय में तुकाराम के बाद निळोबा का नाम महत्वपूर्ण है। इन्होंने भी इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार किया तथा उत्कृष्ट अभंग रचे।

---

१. एकनाथ अभंग—सकल संत गाथा, ५६१

...ठोवा के बाद का सवा दो सौ वर्षों का कालखण्ड—

इस काल में कई भजनी मंडलियाँ और समुदाय स्थापित हुए। इनमें देहुकर तथा पंढरपूर के वासकर के फड़ (भजन मंडल) प्रसिद्ध हैं। ये अलग अलग मंडलियाँ अपने अपने गुट में पंढरपूर की वारी करती हैं और आषाढ़ी तथा कार्तिकी शुद्ध एकादशी को पंढरपूर की पैदल यात्रा करती हैं और भगवद् भजन प्रवचन आदि करती हैं। अनेक पालकियाँ आळंदी से ज्ञानेश्वर की पादुकाएँ लेकर चलती हैं। अन्य स्थानों से भी पालकियाँ चलती हैं और सम्मिलित रूप से सब पंढरपूर पहुँचती हैं। समूचे महाराष्ट्र में इस पंथ का प्रचार है। इसके चार अन्य उप सम्प्रदाय भी बतलाए जाते है जो इस प्रकार हैं—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनंद, (४) प्रकाश।

इनको 'वारकरी-चतुष्टय' कहा जाता है। बंगाल के चैतन्य सम्प्रदाय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तुकाराम के गुरु बाबाजी चैतन्य थे। वारकरी सम्प्रदाय के अधिकांश लोग चैतन्य सम्प्रदाय के ही हैं। 'रामकृष्ण हरी" और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' ये दो मंत्र इस सम्प्रदाय के माने जाते हैं। 'स्वरूप-सम्प्रदाय' की उपासना का मंत्र "श्रीराम जयराम जय जय राम" है। आनंद सम्प्रदाय वाले "श्रीराम" या "राम" मत्र का जप करते हैं। प्रकाश सम्प्रदाय "नमो नारायण" से अपनी साधना करते है।

वारकरी सम्प्रदाय की दार्शनिकता :

पूरा वारकरी सम्प्रदाय कृष्णोपासक है। श्रीकृष्ण का बालरूप ही पंढरीनाथ विठोबा या विठ्ठल हैं। उपास्य देवता पांडुरङ्ग विठोबा है। कृष्ण की तरह रामोपासना को भी ये मानते हैं। वारकरी रामनवमी और गोकुल अष्टमी दोनों उत्सव मनाते हैं। इस सम्प्रदाय की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें हर और हरि के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। पांडुरंग ने अपने मस्तक पर शिव को धारण किया है। इस संदर्भ में 'ज्ञानेश्वर' और 'तुकाराम' के इन उद्गारों को देखिए:—

रूप पाहाता डोळसू। सुंदर गोप वेषु
महिमा वर्णिता महेशू। जेणे मस्तकी वंदिला ॥[1]

× × ×

तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर।
हरिहरा भेदोनाहीं नका करूवाद ॥[2]

---

१. श्री ज्ञानेश्वर अभंग—सकल संत गाथा—८६

२. तुकाराम— ,, —२६४

भगवान् के कार्यों में ही संजोया हुआ है। अतः जब वे कार्य प्रभु प्रेरित ही हैं तब प्रेमपूर्वक उनको करने से प्रभु का सहज भजन हो जाता है। वारकरी सम्प्रदाय कर्म की यही दीक्षा देता है।

वारकरी सम्प्रदाय का आन्दोलन ज्ञानदेव से तुकाराम तक और उनसे आज-तक यह बराबर चल रहा है। इस सम्प्रदाय के सन्तों ने आध्यात्म-विद्या सबको मुक्त-हस्त होकर समान रूप से बाँटी। समाज के निम्न से भी निम्नतम लोगों के लिए इस विद्या की प्राप्ति का मार्ग खुल गया तथा बंधु भाव बढ़ा। परमेश्वर की भक्ति और विश्वास दोनों का समन्वय होने से शिवाजी महाराज के स्वातंत्र्यान्दोलन में इन्हीं लोगों की सहायता उपलब्ध हो गयी। स्वराज्य की स्थापना होने से वैचारिक पृष्ठभूमि भी तैयार होती गई। विनम्रता से सब प्राणियों में भगवान् को देखना वारकरी सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है। तुकारामोक्ति से इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

नम्र झाला भूता तेणे कोंडिले अनंता।[1]

अनन्त शक्ति मान सर्वव्यापी को विनम्रता से सर्वत्र देखा जा सकता है। आर्त गुहार और पुकार के साथ परमेश्वर को दीनता से जन भाषा मराठी में निवेदन किया है तथा परचक्र और परधर्म के विरुद्ध तथा ढकोसलेबाजी और पाखंड के विरुद्ध कसकर आवाज लगाते हुए पर्दाफाश किया गया है। इस विद्रोही स्वर ने समाज में आचरण-पक्ष को शुद्धता प्रदान करने में सहायता दी है। वारकरी सम्प्रदाय के द्वारा अभिव्यंजित भक्तिरस चिरंतन स्वरूप का होने से किसी भी युग के किसी भी जाति के किसी भी स्तर का जीवन समृद्ध और उन्नत एवम् उदात्त कर सकने की क्षमता रखता है। इसका सबूत वारकरी सन्तों का भक्ति रस मिश्रित वाङ्मय है। पारमार्थिक क्षेत्र की भ्रामक कल्पनाओं का खंडन कर उसके स्थान पर नैष्ठिक और शुद्ध परमार्थ तत्वों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थापना अपने वाङ्मय और आचरण से इन लोगों ने सिद्ध की है। सबसे बड़ी देन इस सम्प्रदाय की यह है कि इसने समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक पक्ष को लेकर दोनों प्रकार से जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना की। शुद्ध आचरण, निर्मल अन्तःकरण और निष्ठायुक्त भक्ति ये तीन नैतिक मूल्य हैं जिन पर वारकरी सम्प्रदाय का सारा ढाँचा खड़ा है। 'अवघाचि संसार सुखाचा करीन। आनन्दे भरीन तिहीं लोक॥'[2]

'सारा संसार व्यक्तिगत आचरण से सुख पूर्ण बनाकर अध्यात्मिक आनन्द से

१. तुकाराम—अभंग गाथा—अभंग १४८०।

२. तुकाराम—अभंग।

और भक्तिमार्ग का आपस में कोई संघर्ष नहीं है। भक्ति मोक्ष का साधन है, और-ने का कारण भी। कोरा ब्रह्मज्ञानी न तो खुद अपना उद्धार कर सकता है और न दीनों का उद्धार करने की इच्छा रखता है। इसीलिए सन्त एकनाथ का यह निवेदन समीचीन ही है—

पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वये तरला आपण।
नकरीच दीनोद्धारण। ते थंडपण ज्ञात्याचे॥[1]

कालानुसार सर्व संग्राहकत्व और सहिष्णुता के साथ परमेश्वर प्राप्ति का सरल और सुलभ उपाय बतलाने वाला यह संप्रदाय है। दिनोंदिन इस संप्रदाय की उन्नति ही हो रही है।

समर्थ संप्रदाय :

इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी समर्थ रामदास हैं। देवगिरी के पतन के बाद बड़ी विपदा का कालखंड पराधीनता के साथ महाराष्ट्र में प्रारम्भ हो गया था। अनेक प्रकार के अत्याचारों का सामना लोगों को करना पड़ा था। मुगल बादशाह तथा विजापूर के आदिलशाह महाराष्ट्र को कोंचते जा रहे थे। इसी असहनीय दुर्दशा से ऊपर उठाने वाली परिस्थिति का निर्माण करने वाली 'रामोपासना' समर्थ रामदास ने अपने 'समर्थ-सम्प्रदाय' के द्वारा प्रस्थापित की। 'समर्थ-सम्प्रदाय' को महाराष्ट्र में भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक विशेष लाभ प्राप्त हो गया है। श्री रामचन्द्रजी को रामदास 'समर्थ' कहा करते थे। इसी नाम का विशेषण स्वामी रामदास को भी आगे चलकर प्राप्त हो गया और उनका सम्प्रदाय भी समर्थ-सम्प्रदाय कहलाने लगा। भागवत धर्म के अर्थात् वैष्णव धर्म के समर्थक ही समर्थ रामदास थे। रामदास के नाम से इस धर्म के अनुयायियों को समर्थ सम्प्रदायी कहा जाने लगा। वारकरी सम्प्रदाय ज्ञानेश्वरादि सन्तों के अनुयायियों को कहा जाता था। वास्तव में भागवत धर्म ही दोनों का मूल स्रोत है। विवेक और नीति को वारकरी सम्प्रदाय की तरह समर्थ सम्प्रदाय में भी स्थान और महत्व है। वारकरी सम्प्रदाय ने आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति का ध्येय सामने रखकर जन साधारण अपने सांसारिक दुःखों को आसानी से भूल जायें ये सिखाया तो समर्थ सम्प्रदाय ने इस निस्सार जीवन में आस्था और आशा का संबल उत्पन्न किया। इनका प्रमुख कारण समर्थ रामदास की रामोपासना है। उपासना रामदास को विशेष अभिप्रेत थी। उपासना का आधार बहुत बड़ा होता है; यह इस सम्प्रदाय का मुख्य सूत्र है। 'उपासने चा मोठा आश्रयो।' और रामदास का यह कथन—

---

१. एकनाथी भागवत—एकनाथ।

'उपासनेला दृढ़ चालवावें। भूदेव संतासि सदा लवावे।
सत्कर्म योगें वय घालवावें। सर्वांमुखीं मंगल बोलवावे॥'[१]

उपासना को दृढ़ता के साथ चालू रखना चाहिए, ब्राह्मण और सन्तों का हमेशा आदर करना चाहिए, सत्कर्म करके आयु वितानी चाहिए, और सब लोगों के मुख से मंगलदायक धन्यवाद प्राप्त करना चाहिए।

समर्थ रामदास की गुरु परम्परा भी समझ लेना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

आदि नारायणं विष्णुं ब्रह्माणं च वशिष्ठकं।
श्रीरामं मारुति वंदे रामदासं जगत् गुरुं।

अर्थात् इस संप्रदाय या उपासना का रहस्य आदि नारायण ने महाविष्णु को दिया। महाविष्णु से हंस को, हंस से ब्रह्माजी को, और उनसे वशिष्ठ को, इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। सद्गुरु वशिष्ठ ने राम को और प्रभु रामचन्द्र ने स्वयम् रामदास को यह रहस्य बताया। रामदासजी की सहायता हनुमानजी भी करते थे ऐसा वे स्वयम् बतलाते हैं—

साह्य आम्हासी हनुमंत। दैवत श्री रघुनाथ।
आराध्य गुरु श्रीराम समर्थ। उणे काय आम्हांसी॥[२]

हमारी उपासना के उपास्य प्रभु श्री रामचन्द्रजी हैं और इसमें हमारे सहायक श्री हनुमान हैं, अतः इस दास को किस चीज की कमी या अभाव हो सकता है? इसी राम की उपासना कर रामदास समर्थ बने। स्वयं अनुभूति और प्रचीति लेकर प्रथम रामोपासना से राम का साक्षात्कार लेकर फिर लोगों के सामने अपनी बातें उन्होंने रखी। उनके बोल स्वानुभव के और सत्य-प्रतीति के थे। यों उनके समय में ब्राह्मण और क्षत्रियों की कार्य प्रवणता और कर्मयोगिता उस युग के अनेक संतों के उपदेश वचनों के सुनने पर भी तिरोहित हो रही थी। इसे पुनः जागृत कर उसका प्रादुर्भाव करने का उपाय अर्थात् व्यवहार-धर्म की स्थापना कर लोगों को सजा करने के लिए रामदास स्वामीजी ने उपासना को भी व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इसके लिए लोगों के सामने प्रभु रामचन्द्रजी का आदर्श चरित्र रखा, जो अनेक उज्ज्वल आदर्श गुणों का समुच्चय स्वरूप ही था। इसी का परिपाक यह हुआ कि लोग प्रतिकार क्षम बन गए। इसके दो रूप थे। प्रथम स्वसंरक्षण और दूसरा मोक्ष प्राप्ति का आत्म विश्वास अर्थात् प्रपंच और परमार्थ दोनों का सदुपदेश स्वामीजी ने दिया। 'मनीं धरावे तेतें होते। विघ्न अवघेपि नासोनी जाते। कृपा

१. श्लोक—समर्थ रामदास कृत।
२. श्री देव—समर्थ रामदास, भाग १।

...लिया रघुनाथे। प्रचीत येते।' 'अर्थात् रामोपासना करने से सब कार्य सफल हो ...ते हैं।[1]' सगुण और निर्गुण दोनों का समन्वय इस संप्रदाय में विवेचित है। ...से केवल कार्य नहीं हो सकता अतः भाव और भक्ति दोनों सहित होकर ज्ञान प्राप्त करना अच्छा माना गया है। विशेपतः होनहार और तत्पर ब्राह्मण युवकों पर इनकी दृष्टि रहती थी। उन्हें अपना योग्य शिष्य बनाकर उनको धर्म प्रवण और कार्य प्रवण बनाया। समाज के नैराश्य और आलस्य को भगाने के लिए प्रथम उनके भीतर का आलस्य और नैराश्य भगाया। कर्तव्य और प्रयत्न तथा भगवान् का अधिष्ठान इन तीनों पर रामदास स्वामी हमेशा बल देते हैं।

कौटिल्य का सूत्र है :[2]

'धर्मस्य मूलं अर्थम् अर्थस्य मूलं राज्यं।'

राष्ट्र का अभ्युदय अर्थ और राज्य इन दोनों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। धर्म के लिए राज्य साधन है, अर्थ भी राज्य में धर्म का आधार लेकर ही राज्य की उन्नति में सहायक होता है। रामचन्द्र के भक्त को इस पृथ्वी पर कोई भी वक्र दृष्टि से नहीं देख सकते। जिनके पास रामदास्य है उनके राम ही रक्षक हैं। यह निश्चित है। 'समर्थ सम्प्रदाय' के मुख्य अङ्ग दो है। (१) धर्म कारण और (२) राजकारण। सर्वत्र अपने काव्य में, और अपनी रचनाओं में स्वामीजी ने धर्म कारण को ही महत्त्व प्रदान किया है। राजकारण देश, काल और उस समय की परिस्थिति-सापेक्ष, होने के नाते स्वतः आ गया है। अतः समर्थ संप्रदाय के शाश्वत तत्वों की हम उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते। उनके शब्दों में जो चतु:सूत्री अपने संप्रदाय की है उसे प्रथम समझने, का हम प्रयत्न करेंगे—

'मुख्य ते हरिकथा निरूपण। दुसरे ते राज कारण।
तिसरे ते सावधपण सर्व विषयीं। चवथा अत्यंत साक्षेप॥'[3]

इसका अभिप्राय है कि संसार से ऊपर उठने के लिए मुख्य हरि-कथा-निरूपण ही एकमात्र साधन है। इससे भगवद् भक्ति और भगवद् प्राप्ति दोनों कार्य हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना प्रपंच युक्ति और बुद्धि के साथ सुव्यवस्थित रूप में करे। यह सतर्कतापूर्ण व्यावहारिक जीवन ही राजकारण के अंतर्गत आता है। अन्यथा उसका जन्म सार्थक नहीं होगा। व्यक्तिस्वातंत्र्य, कर्म-स्वातंत्र्य, समाधान और जन्म का साफल्य इसी से उपलब्ध हो जाते हैं। इसीलिए काम

---

१. समर्थ रामदास—दिवाकर—जोगलेकर।
२. कौटिल्य धर्म सूत्र।
३. समर्थ रामदास कृत—दासबोध।

क्रोधादि षड्-रिपुओं से बचने की विशेष रूप से सावधानी बरतने की आवश्यकता का प्रतिपादन वे करते हैं। यह सावधानी इन्द्रियज-विषयों के लिये भी आवश्यक इस सिद्धी के लिए प्रयत्न और ईश्वरनिष्ठा आवश्यक है। आलस्य को छोड़ प्रयत्न में रत रहने से साफल्य अवश्य मिलता है। इस चतुःसूत्री में लोकसंग्रह, लोक जागृति, लोककल्याण और आत्मकल्याण आ जाता है।[1]

सम्प्रदाय का दार्शनिक रूप—

यों तो इस सम्प्रदाय की चतुःसूत्री अभी वर्णन की गई है। दासबोध में और अन्यत्र समर्थ रामदास स्वामीजी ने कहीं पर बीस और कहीं पर चालीस लक्षण बतलाए हैं। शाश्वत रूपों से मूलभूत तत्व पाँच है जो इस प्रकार बतलाए जा सकते हैं—(१) शुद्ध उपासना, (२) विमल ज्ञान, (३) वीतराग (वैराग्य) (४) ब्राह्मण्य-रक्षण और (५) शुद्ध मार्ग-शुद्धाचरण। समर्थ इन लक्षणों का समावेश रामोपासकों के लिए लिखे गये अपने सुप्रसिद्ध पत्र में इस प्रकार देते हैं :[2]

> शुद्ध उपासना विमल ज्ञान। वीतराग आणि ब्राह्मण्य रक्षण।
> गुरु परंपरचे लक्षण। शुद्धमार्ग॥
> ऐसे पंचधा बोलिलें। इतकुं पाहिजे येत्ने केले।
> म्हणजे सकल ही पावले। म्हणे दासानुदास॥[3]

शुद्ध उपासना से रामदास का अभिप्राय वैदिक मार्गानुसारी वर्णाश्रम धर्म युक्त उपासना से है। शुद्ध उपासना में ब्राह्मणों के द्वारा विमल हस्त से पूजा होने में सबका कल्याण है यह उनका कहना है। इसमें प्रतिमा, अवतार, अंतरात्मा और निर्मलात्मा की पूजा, कर्म, भक्तिप्रेम, ज्ञान और विज्ञान युक्त होगी। इस उपासना में कई सोपान हैं और वें एक से एक बढ़कर हैं। 'नारायण असे विश्वीं। त्याची पूजा करीत जावी। या कारणे तोषवावी। कोणी तरी काया॥'

सारे विश्व में नारायण भरा हुआ है उसी की पूजा करनी चाहिए। अतः अपनी कृति से, आचरण से मनुष्य मात्र को और अन्य किसी भी जीवधारी को यदि संतोष मिला, तो वह परमेश्वर की पूजा ही मानी जायगी। यहीं पर उनकी

१. श्री समर्थ रामदास—श्री दिवाकर जोगळेकर, पृ० ७६।
२. समर्थ रामदास के एक ओवीबद्ध पत्र से।
३. रामदास स्वामी के एक ओवीबद्ध पत्र के अंतिम अंश से ओवी, क्रमांक ११। समर्थ चरित्र भाग ३, पृ० १००।

शुद्ध उपासना में भगवंत का अधिष्ठान भी सम्मिलित हो जाता है। यही रामोपासना है जो शुद्ध है। कोरी जनसेवा समर्थ रामदास को अभिप्रेत नहीं है।

विमलज्ञान—इसका तात्पर्य है कि उन्हें शुद्ध अद्वैत ही मान्य था। अतः जिससे सच्चे भगवान् की पहिचान हो सकती है वही ज्ञान उन्हें अभिप्रेत है। ज्ञान के द्वारा आत्मा को परमात्मा की पहचान होकर वह आत्माराम बन जाय और उस आत्माराम से चिन्हारी हो जाना ही विमल ज्ञान है।

विवेक वैराग्य—ही रामदास स्वामी के मत में सर्वश्रेष्ठ वीतराग है। विवेकहीन वैराग्य निष्क्रीयता का द्योतक हो जाता है। विचारपूर्वक किये गये ज्ञानाधिष्ठित वैराग से ही उनका संकेत प्रतीत हो जाता है। विषयों के प्रति विवेक-युक्त वैराग्य यदि न हो, तो शुद्ध ज्ञान प्राप्ति होना असम्भव है। यह संसार स्वभाव से ही सड़ा-गला है। इसलिए इसे विवेकपूर्ण करने से यह अच्छा हो जाता है और धीरे-धीरे उसकी क्षणभंगुरता और नश्वरता भी समझ में आने लगती है। इसको विना समझे परमार्थ करने से वड़ी फजीहत होती है। वैराग्य से त्यागयुक्त प्रवृत्ति रखकर, विषयों से अपने आपको खींच लेना चाहिए तभी पारमार्थिक पात्रता आ सकती है।

ब्राह्मण रक्षण—जो ब्रह्म का निरूपण कर सकता है तथा संपूर्णतया ब्रह्म का जो जानकार है ऐसे ब्रह्मविद को ब्राह्मण कहना चाहिए। सात्विक प्रवृत्ति वाला, ब्रह्मज्ञान का जिसके पास अधिष्ठान है ऐसा ब्रह्म का अधिष्ठाता शमदमादि षड्गुणों का जिसमें सम्पूर्णतया दर्शन होते हैं वहीं पर ब्राह्मण्य है। भगवद्गीता भी तो यही कहती है—

> **शमोदयस्तपः शौचं क्षान्ति रार्जव मेवच।**
> **ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥**[१]

नाममात्र के ब्राह्मणों से रामदास का कोई नाता नहीं हैं। वे तो शुद्धा-चरणी ब्रह्मविदों और ब्रह्मवेत्ताओं के लक्षणों से युक्त ब्राह्मण्य रक्षण को महत्व प्रदान करते हैं।

शुद्ध मार्ग अर्थात् शुद्ध कर्माचरण से उनका अभिप्राय व्यक्त होता है। ईश्वरार्पण बुद्धि से शास्त्रविहित और स्ववर्णोचित कर्म ही स्वधर्म है। आलस्य का घोर विरोध वे करते हैं। वे स्वयम् कर्मयोगी थे। ज्ञानोत्तर भी कर्मयोग नहीं छोड़ना चाहिए ऐसा उनका आग्रह था।

> **आधी ते करावे कर्म। कर्म मार्गे उपासना।**
> **उपासका सापडे ज्ञान। ज्ञाने मोक्षचि पावशे ॥**

---

१. भगवद्गीता—१८४२।

प्रथम कर्म करना चाहिए। कर्म करते-करते उपासना होती है। उपासना से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान से उपासकों को मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। उनका कर्मठ मार्ग ही बतलाता है कि ब्रह्मज्ञान से सारासार विचारकर धर्म की स्थापना के लिए कर्मकाण्ड और उपासना की अतीव आवश्यकता है। शरीर-धारियों को सदा कर्म-तत्परता-युक्त रहना चाहिये यही उनका शुद्ध-कर्माचरण है। समर्थ सम्प्रदाय में आत्मप्रतीति एवम् आत्मसाक्षात्कार का महत्व सबसे अधिक है। व्यक्ति की उन्नति पर जोर है। आत्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नवाद का आश्रय और आलस्य का त्याग आवश्यक है। लोकसंग्रह करने वाले में स्वयम् भगवद्-कृपा से सामर्थ्यशाली बनकर ऐसे ही भगवद् कृपा सम्पन्न लोगों का संगठन लोक-कल्याण और लोकजागृति के लिए करना चाहिये। अनवरत प्रयत्न कर अनन्य भक्ति से रामोपासना करते हुए हर दिन कुछ न कुछ लिखना चाहिए ऐसी समर्थ की अपने संप्रदाय वालों को आज्ञा थी। अनुशासन-हीनता का समर्थ संप्रदाय में तीव्र निषेध है। क्योंकि अनुशासन युक्त होकर अखन्ड श्रवण मनन, चिंतन कर, भक्ति मार्ग को अपनाने से आत्म-कल्याण, देश-कल्याण और लोक-कल्याण प्रयत्नपूर्वक करने पर सिद्ध होता है। निश्चय का महामेरु बनकर प्रयत्न को भगवान् मानकर समर्थ ने जिस व्यक्ति में जो गुण देखा उसको लेकर उसे स्वधर्म-निष्ठ बनाकर सङ्गठित किया।

आचरण पक्ष में ऐहिक और पारमार्थिक क्षेत्रों में 'समर्थ सम्प्रदाय' त्याग और विवेक युक्त वैराग्य को प्रधान प्रश्रय देता है। सांसारिक कार्यों में और आध्यात्मिक कार्यों में युक्ति और चातुर्य का महत्व है। सर्वोपरिगुणों का ग्रहण और सर्वश्रेष्ठ उत्कटतापूर्ण भावों का अनुभव, किसी को भी उत्तम सामर्थ्य प्रदान करते हैं। सरसता के साथ उत्कट, भव्य और विशाल एवम् उदात्ततत्वों, बातों, और सिद्धान्तों को आत्मसात करना चाहिए। नीरस और छूँछा सदा त्यागना चाहिए। निस्पृहता से विश्व में प्रसिद्ध होकर उत्तम गुणों का चयन और आचरण में उनका ग्रहण कर भगवद्भजन में लीन रहकर जन्म की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिये। समर्थ सम्प्रदाय में 'समर्थ' बनने का यही तरीका है। प्रचंड अध्यवसाय, अतीव भगवद्आस्था, अनवरत प्रयत्न, अबाधकर्मण्यता से युक्त यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र के लिये आत्मोद्धार में उपकारक सिद्ध हुआ। कहा जा सकता है कि इन तत्वों से राष्ट्रोन्नति और जगदोद्धार कदापि असंभव नहीं होगा। इस संप्रदाय ने व्यक्ति को आत्मनिर्भर, स्वधर्मनिरत, भगवद्कृपा सम्पन्न बनाकर, समाज को स्वधर्मनिष्ठ बनाया और सुसंगठित किया।

वे कहते हैं—

'भिक्षामिसें लहान थोरे। परीक्षन सोडावी'[१] इस रामदासोक्ति में समर्थ सम्प्रदाय के कार्य का रूप सामने आ जाता है। 'समर्थ' छोटे बड़े सभी व्यक्तियों का परीक्षण कर इस परीक्षण में सफल होने वाले चुनिंदा तेजस्वी युवक 'समर्थ-संप्रदाय' में रामदास के शिष्य बने। धनुर्धारी राम और हनुमान की उपासना से इस संप्रदाय के द्वारा श्रद्धा, आशा, और विश्वास को बढ़ाया गया, जिससे सारा महाराष्ट्र स्फुरण पाकर तेजस्वी बन गया। 'समर्थ-संप्रदाय' की यह विशेषता है, कि उसने व्यष्टि और समष्टि-जीवन में आत्मविश्वास, सच्चरित्रता, भक्ति और सङ्गठन की आवश्यकता सिद्ध की जिसने राष्ट्रीय-स्वातंत्रता संघर्ष के आदर्श छत्रपति शिवाजी जैसा प्रातःस्मरणीय नेता निर्माण किया तथा समाज में आत्मबल, ज्ञान और उपासना का महत्व प्रतिष्ठित किया। लोकमंगल, लोक-संग्रह, आत्म-कल्याण और मनोबल की कर्मठ प्रेरणा इस संप्रदाय की चिरंतन प्रेरक शक्तियाँ हैं। इसीलिए 'समर्थ संप्रदाय' में बलोपासना पर जोर दिया गया है।

---

१. दासबोध—रामदास।

तृतीय–अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

तृतीय अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

हमारे अध्ययन में आने वाले मराठी और हिन्दी के नो वैष्णव सन्तों के साहित्य पर और उनकी साधना पर जिनका प्रभाव पड़ा है उनके स्रोत कौन से थे, और उनके दार्शनिक आधार क्या थे, इसे समझने के लिए यहाँ पर प्रयत्न किया जावेगा। इन मराठी और हिन्दी वैष्णवों की भक्ति-साधना पर दार्शनिकता की दृष्टि से और धार्मिकता की दृष्टि से भारतीय प्रभाव और अभारतीय प्रभाव सांस्कृतिक रूप में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किस प्रकार पड़ा है, इसे देख लेना समीचीन होगा।

बौद्ध महायान और भक्तिमार्ग—

भक्ति दर्शन पर महायान की पूरी छाप है तथा उस पर नारद-भक्ति-सूत्र, शान्डिल्य और पांचरात्र एवम् भागवत पुराणादि की भक्ति परम्परा भी सन्निहित है। भारत में वैष्णव-साधना तेरहवीं से सत्रहवीं शती तक जब विकसित हो रही थी तब बौद्ध धर्म नामशेष हो गया था। नेपाल, हिन्देशिया, हिन्दीचीन और सयाम में महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव भक्ति दर्शन का समन्वय साधन हो रहा था। बौद्ध महायान में बुद्ध-भक्ति एक प्रमुख विशेषता है। महायान ने भगवान् बुद्ध को एक उपास्य रूप में मान लिया। भक्ति और मुक्ति का आश्वासन महायान की विशेषता है। बुद्ध के मन में प्रथम निर्वाण सुख अनुभव करने की इच्छा जगी और बाद में उन्होंने 'उदासीनता को जीतकर प्राणियों के दुःख का उपशमन' करने का संकल्प किया। यह संकल्प ही एक आश्वासन के रूप में बुद्ध भक्ति का मुख्य आलंबन था। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की भावना भले ही रही हो यह विशेषता उसमें किसी प्रकार न थी।

ऋग्वेद में ऋषियों ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे जो देवता भक्ति ही कही जा सकती है। देवताओं का आकर्षण कम हो जाने पर भक्ति निष्प्रभ हो गई। उपनिषदों में बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नहीं है जिसके

प्रति सच्ची भक्ति का स्वाभाविक विकास होता । निर्गुण निराकार की भक्ति नहीं होती । पाली साहित्य में विष्णु-वेण्हु और शिव-ईसाण गौण देवताओं के रूप में वर्णित है । उनका स्थान इन्द्र और ब्रह्मा से निम्नतर है । बुद्धकाल में इनकी उपासना पद्धतियाँ अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकती थी । कृष्ण भक्ति का प्रचार बुद्ध युग के वाद वासुदेव कृष्ण को भागवत संप्रदाय के भगवान् के साथ एकीकरण किये जाने के परिणामस्वरूप हुआ । 'वेसनगर' के शिलालेख में 'हेलियोडोरस' अपने को 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित करता है । 'छान्दोग्य' में कृष्णाय-देवकी पुत्राय' और कौषीतकी ब्राह्मण में कृष्ण आंगिरस का वर्णन है । ईशोपनिषद में ईश्वर की उपास्य के रूप में विवेचना है । 'श्वेताश्वतर' में भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचलन है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भक्ति धारा का विकास होते-होते कृष्ण भक्ति में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा । क्योंकि इस विश्वास के प्रचलन के आधार इन्हीं उल्लेखों में ही विद्यमान हैं । घुसुन्डी के शिलालेख में वासुदेव का 'जना भगवद्भ्यांसंकर्षण-वासुदेवाभ्याम्' के रूप में उल्लेख मिलता है । इस वासुदेव-पूजा का केन्द्र मथुरा था । कृष्ण भक्ति में कृष्ण-पूजा का महत्व कृष्ण के महान बनने के वाद से ही सिद्ध हो जाता है । पाणिनि भी 'वासुदेवार्जुनभ्याम्' वासुदेव का देवता रूप में उल्लेख करते है । 'पालिनिद्देस' में वासुदेव-सम्प्रदाय' का उल्लेख इस प्रकार आता है—'वासुदेव कृतिकावाहोन्ति ।' यह उल्लेख वासुदेव पूजा के प्रचलन का ही समर्थन करता है । इन सब बातों से कह सकते हैं कि वासुदेव पूजा द्वितीय शताब्दी पूर्व ही भारत में प्रचलित रही होगी । महायान में जब बुद्ध भक्ति का उदय हुआ होगा तो उसने इस वासुदेव-संप्रदाय से ज्ञात और अज्ञात रूप से अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी ।

रिचार्ड गार्बे गीता का मौलिक प्रणयन ३००–२५० ईसवी पूर्व मानते है । डा० हरदयाल अत्यंत संतुलित विवेचन के वाद २५० ई० पू० से लेकर २०० ईसवी पूर्व तक गीता का प्रणयन काल मानते हैं । वैसे विटर निट्स, के०जे० सांडर्स आदि गीता से महायान ने बहुत कुछ लिया हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं । श्रीभरतसिंह उपाध्याय के मतानुसार गीता के कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप में चित्रित हैं वह बुद्ध का अनुकरण ही है । महायान बौद्ध धर्म में एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् मुक्ति का आश्वासन तथागत की बोधिप्राप्ति और उनके प्राणियों की विमुक्ति के लिए दिए गए उपदेश के निर्णय पर आधारित है ।[1] धार्मिक इतिहास में यह

---

१. बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५६० ।

एक महान बात है जो श्रौत परंपरा में नहीं मिलता। इसी से प्रेरणा लेकर श्रौत-परपरा ने उसे अपनाया था। जिसमें से मूलतः भक्ति के विचार को महायान ने लिया था। श्रौत परंपरा में भक्ति देवताओं पर निर्भर रहती है जिनमें लेशमात्र ऐतिहासिक मानवत्व नहीं था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति को महापुरुष के रूप में भक्ति का आलंबन बनाकर महायान ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। भागवतकार तो कृष्ण को साक्षात भगवान् तक मानते हैं। राम और विष्णु, तथा कृष्ण और विष्णु को ऐतिहासिक महापुरुषों के रूप में मानकर उनको एकाकार करने का प्रयत्न किया गया और राम और कृष्ण भगवान् बनकर सामने आये। भरतसिंह उपाध्याय का कहना है कि ये बाद में बुद्ध के अनुकरण पर देवता बने। गीता में प्राणियों को मुक्त करने का संकल्प है, पर स्वयम् उनके जीवन का वह आधार कहाँ है जो बुद्ध के जीवन से मिलता रहा है। सच्ची भक्ति में मुक्ति का आश्वासन ऐतिहासिकता पर आधारित होना चाहिए। मुक्तिदाता भी ऐतिहासिक हो। महायान ने यही साधना भारतीय साधना को दी। राम भक्ति में यह बात नहीं मिलती। कृष्ण और राम इन दोनों महापुरुषों का दैवीकरण किया ही इसलिए गया था; कि बुद्ध के अनुरूप भक्ति का आलंबन श्रौतपरंपरा के साधकों को मिले। परन्तु उसमें उन्हें पूरी सफलता नही मिली।

राम अपने बाणों से सुबाहु, ताड़का और मारीच तथा रावण के मुक्तिदाता बने। वैसे रामनाम जपने से भवसागर सूख जाता है। ठीक है, पर स्वयं राम के जीवन में भवसागर को सुखाने का क्या आधार है? राम और कृष्ण के जीवन में अपने ही जीवन से मुक्ति का आश्वासन दिया जाय ऐसा ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। महायान के उपास्य देव के अनुकरण पर ही बाद में यत्र तत्र प्रयास किया गया है ऐसा श्री भरतसिंह उपाध्यायजी का विवेचन है। इसके कारण इस प्रयास में बल नहीं बल्कि असंगति है।

छठी शताब्दी ईसवी में राम का एक रूप गढ़ डाला गया जो वाल्मीकि रामायण के राम से बिलकुल भिन्न था। परन्तु जिसमें राम के मुक्ति दाता राम के रूप के साथ सङ्गति थी। अध्यात्म साधकों को भी आकर्षित करने की वह क्षमता रखता था। राम का यह रूप योगवासिष्ठ के राम का रूप है जहाँ राम किशोरा-वस्था से ही विरागी सिद्धार्थ का सा रूप धारण कर लेते हैं और संसार की समस्याओं पर विचार करते हुए पीछे पड़ जाते हैं।[1]

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५९१।

आलोचना—

भरतसिंह उपाध्यायजी ने यह सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया है कि बुद्ध के व्यक्तित्व ने ही कृष्ण और राम जैसे नामों के दैवीकरण करके बौद्ध महायान से भक्ति का सूत्र लेकर उसका अनुकरण किया। किन्तु इतिहास इससे विरुद्ध है। जिस बुद्ध के व्यक्तित्व की महत्ता उपाध्यायजी के अनुसार इतनी महान थी तथा जिसके चरित्र में इतनी महान क्षमता थी कि उसके ही अपने काल में उसकी पूजा या मूर्ति पूजा न होकर राम और कृष्ण की मूर्तियाँ पूजी गयीं। राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से परे बुद्ध को उपाध्यायजी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं यह बात इतिहास की दृष्टि से अनोखी जान पड़ती है। जिन कारणों से बुद्ध धर्म का उच्चाटन भारत से हुआ वे उतने ही प्रभावी होना जरूरी है। इसी बात की असमर्थता सामने वाले सामर्थ्यवान् को पराजित करने के सक्षम नहीं होती। अतः उपाध्यायजी का यह मत दुराग्रह जैसा लगता है।

काफी हद तक महायान भक्तिवाद भक्ति सम्बन्धी उन प्रवृत्तियों का विकास है जो हमें बुद्ध के मूल उपदेशों या स्थविरवाद से बौद्ध धर्म में आ गया है। मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित होने से उसने महायान को प्रेरणा दी होगी यही कहना पड़ता है। यों भक्ति का विचार बौद्धों के पहले ही भारत में जगा था; और हिन्दुओं में वह सर्वप्रथम जागा था; बाद में बौद्धों में। राम और कृष्ण की उपास्य रूप में भक्ति की परंपरा ने ही महायान को प्रेरणा दी होगी, यही कहना पड़ता है। मध्ययुगीन वैष्णव साधना को अवश्य किसी न किसी रूप में महायान ने प्रभावित किया होगा।

महायान का शरणागति का महत्व गीता के भक्तिवाद का ही स्वरूप है। 'सद्धर्म-पुंडरीक' और 'गीता' में अनेक समानताएँ है। बुद्ध के लिए प्रायः उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कृष्ण के लिए गीता में। 'सद्धर्म पुंडरीक' उनके लिए गीता का ऋणी है। हम डा० हरदयाल तथा उपाध्यायजी के मत से सहमत नहीं हो सकते कि उनका आविष्कार पहले बौद्धों ने किया और बाद में वैष्णव नेताओं ने उसका उपयोग किया।

गीता और बौद्ध दर्शन—

गीता एक समग्र दर्शन है। इसमें सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। अनेक तात्त्विक चिन्ताओं का इसमें समाधान मिलता है। गीता एक कामधेनु है। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गीता-माता, ज्ञानी और अज्ञानी संतान में कोई भेद नहीं करती। भगवान् कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति भी उसे कहा जा

सकता है। बौद्धों की परिभाषा में गीता भगवान् कृष्ण का 'धर्मकार्य' है। मोक्ष रूपी प्रसाद गीता सबको बाँटने के लिए तैयार है। इससे कम तो वह किसी को देती ही नहीं और वह किसी को भी ना नहीं कहती। तथागत के प्रवेदित धर्म के समान गीता का आकलन भी अतर्क विचार है।[1] गीता तत्व अज्ञेय और अपरिमेय और इसी शरीर में स्वसंवेद्य है। स्वयम् गीताकार कृष्ण कहते हैं कि 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य अभ्यास करने में सुगम और अविनाशी है। समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य योग्य काल आने पर स्वयम् अपने अन्दर इस ज्ञान के दर्शन करता है। विवस्वान मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा मे प्राप्त यह ज्ञान नित्य नवीन है। इसका प्रभाव अतीन्द्रिय है और वह शब्दों की पकड़ में नहीं आता। वस्तुतः गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है। उपनिषदों के ज्ञान का ही उसमें गायन हुआ है। इसका अन्तिम प्रयोजन 'परम-निःश्रेयस' की प्राप्ति है और 'परम-निःश्रेयस' का लक्षण यह है कि वह सहेतुक संसार की आत्यंतिक उपशान्ति ही है। यह प्राप्ति सर्वकर्म सन्यासपूर्वक आत्मनिष्ठा के धर्म से ही संभव है। महात्माजी गीता को श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया बोध है ऐसा मानते हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति में गीता कोई भेद नहीं करती। गीता के ज्ञान में कर्म के साथ भक्ति का समन्वय है। कर्म पर उसका आग्रह इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावाद न हो जाय। गीता और बौद्ध साधना, भोगवाद और आत्मपीड़ा की अतियाँ स्वीकार नहीं करती। भगवान् कृष्ण श्रेय मार्ग का प्रतिपादन गीता में इस प्रकार करते हैं[2]—

युक्तहार विहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःसहा॥

जो मनुष्य आहार विहार में दूसरे कार्यो में सोने-जागने में समानता रखता है, उसका योग दुःखनाशक सिद्ध होता है।

गीता का भक्ति योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन है। भगवान् की अनन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा भक्त के योग क्षेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा गीता के दो बहुत बड़े आश्वासन है। अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट करती है। भगवद् भक्त का कभी विनाश नहीं होता। भगवान् बुद्ध के 'आत्मदीप' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश ही गीता दूसरे ढङ्ग से देती है। गीता के अनुसार मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न होने दे। आत्मा ही

१. बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ७८८।
२. श्रीमद् भगवद्गीता—६–१७।

आत्मा का शत्रु और वंधु है। जो अपने वल से मन को जीत लेता है उसी का वंधु आत्मा है। जिसने अपने आत्मबल से आत्मा को नहीं जीता वह अपने प्रति ही शत्रु का व्यवहार करता है। बुद्ध भी कहते हैं 'कर्म प्रति शरण वनो।' 'कर्म ही तुम्हारा अपना है।' इसमें भी गीता की ही ध्वनि निर्देशित हो जाती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति।' अध्यात्मिक जीवन का इतना बड़ा आश्वासन अन्यत्र दुर्लभ है। एकान्तिक भक्ति का एकमात्र दर्शन गीता दर्शन है। भगवान् बुद्ध के विशुद्ध ज्ञान मार्ग में भगवत कृपा जैसी कोई वस्तु सहायता के लिए नहीं आती। साधारण वौद्धानुयायी 'बुद्धं सरणं गच्छामि' कहते हैं अतः कह सकते हैं कि महायान के भक्ति, धर्म, और गीता के भक्ति तत्व में पारस्परिक आदानप्रदान पर्याप्त मात्रा में हुआ और दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध भी है।

आलोचना—इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग गीता को बायवल से अनुप्राणित या बौद्ध धर्म प्रेरित मानते हैं, वे यह भूलते हैं कि गीता दर्शन की परंपरा गीता में ही दी गयी है। अतः यह वाद में नहीं जोड़ी गई। यह उसकी पुरातनता को सिद्ध करती है। जो लोग यह कहते है कि यह परंपरा वाद की जोड़ी हुई है वे यह भूलते हैं कि इतिहास इसे गलत सिद्ध करता है। अतः उनका यह आक्षेप एकदम गलत और दुराग्रहपूर्ण जान पड़ता है। गीताकार का 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' यह कथन बुद्धानुयायियों पर इतना प्रभाव छोड़ा गया कि 'बुद्धं सरणं गच्छामि' इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेने के लिए उन्हें विवश हो जाना पड़ा।

सत्य और असत्य, चित् और अचित् से भरे हुए विवेकपूर्ण जीवन में साक्षात्कार करना कितना कठिन है इसे वैष्णव संत भक्त तुलसीदासजी व्यक्त करते हैं[1]—

'जड़ चेतन हि ग्रांथी पड़ी गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

श्रेय को ग्रहण करने वाला सदा शुभ वातों को प्राप्त करता है, तथा प्रेय को ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ से भी वंचित हो जाना पड़ता है। श्रेय की खोज अध्यात्म-विद्या में प्रमुख रही है। गवेषणा हृदय और मस्तिष्क दोनों से की जाती है। गवेषणातत्व ही सत्य है। महाभारत के अनुसार 'सत्यानास्ति परोधर्मः' कहा गया है, तो तुकारामोक्ति है—'सत्या परता नाही धर्म। सत्य तेचि परब्रह्म। सत्यापाशी पुरुषोत्तम। सर्वकाळ तिष्ठत॥' इसका अभिप्राय है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और सत्य ही परब्रह्म है, तथा जहाँ सत्य की स्थिति है

---

१. श्रीरामचरितमानस–तुलसीदास।

वहाँ पर पुरुषोत्तम सर्वदा विद्यमान रहते हैं। तुलसीदासजी भी ऐसा ही कहते हैं—'धरम न दुसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान वखाना।' भारत की अध्यात्म साधना में तपस्या को महत्व प्रदान किया जाता है। भारतीय जनजीवन में जब-जब विपत्तियाँ आई हैं तव-तव तपस्या के वल पर ही आत्मविश्वास के साथ इन पर विजय प्राप्त की गयी है। प्रायः भारत में व्यक्ति रूप से और सामूहिक रूप से नव जागरण और नव्य भावनाओं का स्फुरण इसी तपस्या के अङ्ग से ही उपलब्ध हो सका है। मराठों के स्वराज्य की स्थापना इसी त्याग और तपस्या के वल पर की गयी थी। चैतन्य महाप्रभु के वारे में यह प्रसिद्ध है कि वे मुखशुद्धि के लिए एक हर्र भी अपने पास न रखते थे। सभी वैष्णवों की प्रगति एवम् उन्नति, भारत का शिल्प, कला, विद्या, संगीत तथा सभी कुछ फिर चाहे अध्यात्मिक हो या आधि भौतिक सभी तपस्या से अनुप्राणित है। इस तपस्या तत्व की उपयोगिता वड़े सशक्त स्वरों में मध्ययुगीन वैष्णव भक्त कवियों ने प्रतिपादित की है। भक्त आत्मसाक्षात्कार का अभ्यासी होने से दुःख निरोध करता है। शीळ, सदाचार, ब्रह्मचर्य और तपस्या भक्त में मूर्तिमान होती रही है। अपने जीवन में दुःखों का अनुभव करते हुए तथा उनसे प्रभावित हुए विना उनको दूर करने में प्रयत्नशील रहकर वे आत्माराम तपस्वी वने हैं। अतः भारत सदा ऐसे निष्कामी संतों पर सदा गर्व करता रहा है। ज्ञान भी विना तपस्या के असंभव है और विना ज्ञान की तपस्या निष्फल है। तपस्या जीवन को संजीवनी और सौष्ठव प्रदान करती है। योग भी तपस्या से सफल होता है। इसीलिए गीता में कहा गया है—

'युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु'[1]

अर्थात् आहार विहार में युक्त रहना ही योग्य है। उसमें रत रहना या उससे वंचित रहना अयोग्य है। निरोध प्राणायामादि की साधनाएँ अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में पड़कर भ्रष्ट और हानिकारक हो जाती हैं। इसकी साक्ष्य वज्रयान और सिद्धयान दे सकते हैं।

शकराचार्य ने इसीलिए अपने आश्रमानुसार विहितकर्म करना ही तप माना है और इसी से उन्होंने वौद्ध धर्म के दोषों का निष्कासन किया और हिन्दू धर्म को विशुद्ध रूप देकर उसे परिष्कृत किया।

लोकधर्म की गरिमा रखने के हेतु वैष्णव सन्तों ने मन्त्रतन्त्रों के निकृष्ट प्रयोगों की निन्दा की। तुलसी ने कहा—'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।' कवीर योग के अभ्यासी थे पर तपस्या की सराहना उन्होंने भी की। उनका कथन है।

---

१. गीता, ६–१७।

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप ते जा दिन उपजी दिन-दिन अधिक चली।
जहाँ-जहाँ डोलो सो परिकरमा। जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवों तो करो दंडवत पूजो और न देवा।
आँख न मूंदो कान न रूंधो तन कण्ठ नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानो हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारो॥[1]

तपस्या के दुर्ग पर चढ़ना ऐसा दुर्गम है जैसे निराधार और फिसलाहट से युक्त पर्वतीय कगार पर चढ़ना। आत्मविजय ही ब्रह्म विजय है। महात्मा गाँधीजी का इस विषय में यह मत कितना समीचीन है—

'श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान और आत्म ज्ञान की वृद्धि होती है इसलिए अन्तः शुद्धि होती हैं, परन्तु उसका अन्तः शुद्धि के साथ कार्यकारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यंत बुद्धिशाली लोग अत्यंत चरित्र भ्रष्ट भी पाये जाते हैं किन्तु श्रद्धा के साथ शून्यता का होना असंभव है।'[2]

—महात्मा गाँधी।

इसी भक्ति युग ने कबीर जैसा निर्मम बुद्धिवादी उत्पन्न किया। भक्ति के कारण श्रद्धा तत्व की प्रधानता का पाया जाना इस युग की विशेषता थी। इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि हम तभी उत्कर्षवान रहे जब श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय किया गया। हमारा अधःपतन तभी हुआ जब हमने बुद्धि का आश्रय छोड़ दिया। मध्ययुगीन भक्ति परम्परा में दक्षिण भारत में वेदान्त भक्ति युक्त वैष्णव धर्म तथा बङ्गाल में प्रेमोल्लासमयी रस निष्यंदिनी वैष्णव धाराएँ उस समय चल रही थी। उत्तर भारत में निर्गुण सन्तमत और सगुण भक्ति युक्त वैष्णव धर्म का प्रवाह बह रहा था। इन में दार्शनिक कवि बनकर अपनी अनुभूति प्रधान बातें भक्ति की माधुरी के साथ अभिव्यंजित कर रहा था। राम, कृष्ण और विठ्ठल, विष्णु के अवतार बनकर आराध्य देव बने। जो वेदान्तियों के निर्विशेष थे, बौद्धों के लिए सम्यक सम्बुद्धि से मौन होकर साध्य हो गये थे, उसे तानपूरे पर गाकर सार्वजनीन व सर्व-सुलभ बनाकर मीरां, कबीर, सूर, तुलसी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि ने अपनी वाणी से आश्वासन देते हुए प्रस्तुत किया। भारतीय विचार-साधना में दो प्रकार का महत्व है। एक सगुण भक्ति तत्व जो श्रुति सम्मत-स्मृति प्रतिपादित था, तो दूसरा निर्गुण वादी और बौद्ध

१. कबीर ग्रंथावली।
२. आत्मकथा—महात्मागाँधी।

साधना की विरासत लेकर चल पड़ा था। प्रथम सगुण भक्त और दूसरे निर्गुण संत भक्त कहलाए। मध्य युग के वैष्णवों की भक्ति सगुण तथा निर्गुण और सगुण की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में सामने आई है। एक के प्रतिनिधि तुलसीदास, एकनाथ और रामदास हैं, तो दूसरे के सूरदास, ज्ञानेश्वर, मीरां, नामदेव और तुकाराम हैं और निर्गुण के कबीर, नामदेव तथा अन्य सन्त हैं। बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव और श्रमण-संस्कृति से जुड़े हुए कबीर एकमात्र सन्त हैं। भारत का यह भक्ति-आन्दोलन उत्तर में सगुण और निर्गुण की भक्ति का बाना पहनकर तथा दक्षिण में वेदान्त से अनुप्राणित भक्ति से सम्पन्न वैष्णव रूप लेकर तथा बङ्गाल में प्रेम रूपा एवम् श्रेङ्गारिक रहस्यवाद इन तीन मुख्य स्वरूपों में सामने आया। भक्ति दक्षिण में उत्पन्न होकर पूर्व में गई वहाँ से उत्तर भारत में जाकर विकसित हुई। ठीक इसी तरह बौद्ध महायान का भी विकास हुआ। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन श्रुति, स्मृति, पुराण, भागवत, गीता, हरिवंश, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि के दर्शन सिद्धान्तों और आचार्यों से अपनी परंपरा जोड़ता है, तो इतिहास के पक्ष से उसे महायान की भक्तिशाखा से भी जोड़ने का कार्य अनुचित नहीं माना जावेगा।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति का बीजारोपण होकर वह अंकुरित, पुष्पित और फलित हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में जबकि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन किया जा रहा था तथा वर्ण, धर्म और जाति भेद की नींव पुनः दृढ़ की जा रही थी उस समय शैवों ने महायान के विरति विवेक तत्वों को आत्मसात कर लिया और महायान के मानवी और भक्ति तत्वों को वैष्णव साधकों ने हृदयंगम कर लिया। पुराणों के योगी शिव और ध्यानी बुद्ध में साम्य है बल्कि कहना चाहिए कि नाममात्र भी अन्तर नहीं है। नेपाल में यह समन्वयीकरण विशेष हुआ क्योंकि कुछ मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनको देखकर निर्णय नहीं कर सकते कि वे बुद्ध-मूर्तियाँ हैं या शिव-मूर्तियाँ। इसलिए बहुत से बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मठों के अधीन हो गए। वही उपासक और वही उपास्य इस नाते बोध गया का मन्दिर शैवों के हाथों में चला गया। बारहवीं शताब्दी के जयदेव ने पुराणों के आधार पर भगवान् बुद्ध की विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्तुति की है। तुलसीदासजी ने उनको इसी रूप में लिया है। अन्य वैष्णव कवि भी इसी रूप में मानते हैं। मध्ययुगीन भक्ति-साधना में उसका पूरा रूपान्तर हो गया। चीनी यात्री फाहियान ने जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा की रथ यात्रा देखी थी जो बुद्धयात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही था।

मायावाद और अवतारवाद के सिद्धांत प्रथम बौद्ध साधना में प्रकट हुए हैं।

तथागत स्वयम् निस्वभाव, निर्गुण और धर्मात्मा स्वरूप हैं। लोककल्याणार्थ माया निर्मित रूप को गौतमबुद्ध आदि अनेक वोधिसत्वों के रूप में ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार तुलसी के राम आज अनादि सच्चिदानंद, अनाम, परमधामा, अखण्ड और अनन्त हैं उसी प्रकार वे दाशरथी राम कौसल्या की गोद में खेलने वाले भी हैं और लोकपालक और रावण के संहारक भी हैं। कबीर के राम, 'दशरथसुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना', हैं। महायान में तथागत को वैसा ही समझा गया। बुद्ध महायानियों के लिए बुद्ध धर्म–शून्य, तथागतस्वरूप और निःस्वभाव हैं। इस तरह भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनों कल्पनाएँ अपने समन्वय के साथ तथागत के व्यक्तित्व में आ गई थीं। राम और कृष्ण के अवतार वाद को लेकर मध्ययुगीन वैष्णव धारा में यह समन्वय को लेकर विकसित और समृद्ध हुई। वैष्णव साधना में महायानी साधना इस प्रकार रूपान्तरित हुई। डा० जदुनाथ सरकार बताते हैं कि मध्ययुग के एक उड़िया कवि ने 'दारु ब्रह्म' नामक कविता में जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध रूप में स्तुति की है, जिसमें जगन्नाथ से कहलवाया है कि 'मैं बुद्धावतार हूँ, मैं कलियुग के जीवों का उद्धार करूँगा।'

तांत्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के भीतर अपने लिए एक स्थान कर लिया। यह कार्य विशेषतः पूर्वी बङ्गाल तथा आसाम में विशेष रूप से सम्पन्न हुआ। वैष्णव साधना ने बौद्ध धर्म की ह्रासावस्था की दशाओं के मन्त्र-तंत्रादि के प्रभावों को किस प्रकार ग्रहण किया यह देख लेना भी उपयुक्त होगा।

वाम मार्ग की प्रवृत्तियाँ तांत्रिक साधना ने अपना ली थी। इनको बौद्धों ने अपना लिया था। इसके कारण बौद्ध परम्परा खोखली हो गई। तांत्रिक अद्भुत प्रतीकों का प्रयोग करते थे तथा बड़े योगी होने का भी दावा करते थे। बौद्धों पर इनका विशेष प्रभाव पड़ने से परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। नेपाल तथा बङ्गाल में शैवों और शाक्तों से बौद्धों ने ये साधनाएँ लीं। तात्विक रूप से इनमें और बुद्ध की शिक्षाओं में कोई समन्वय न था। स्वयम् बौद्ध धर्म में हठयोग, मन्त्रयोग आदि को प्रोत्साहन न था। पर चौरासी सिद्धों के प्रभाव से बौद्धों पर भी इसका असर हुआ। स्व० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन अपनी पुरातत्व निबन्धावली में विवेचन करते हैं कि बौद्धों के लिए यह काल उनके दुर्दिनों का सूचक था। भैरव[1] भवानी या बुद्ध-तारा की उपासना करके तांत्रिक पृष्ठभूमि को इस साधना ने स्वीकार कर लिया। इसी माध्यम से अपने अंतिम भग्न-तांत्रिक रूप से वह नाथपंथ निर्गुणी

---

१. पुरातत्व निबंधावली—स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

तथा सहजयान वैष्णवी साधना पर अपना अमिट प्रभाव और छाप छोड़ गया है; इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा । इस बौद्ध तांत्रिक धर्म की तारा तथा शैवी शक्ति में कोई भेद नहीं है । इसने आसाम तथा बङ्गाल में अपना सम्पूर्ण प्रभाव वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन पर छोड़ा है । निर्गुणवादी सन्तों पर उत्तर कालीन बौद्ध साधना ने अपना प्रभाव अधिक छोड़ा है । डा० हरप्रसाद शास्त्री की गवेषणाएँ और निष्कर्ष निर्गुण सम्प्रदाय की सन्त साधना के उद्गम सम्बन्धी सिद्धांतों पर प्रकाश डालने वाली हैं । मत्स्येन्द्रनाथ नाथसंप्रदाय के संस्थापक थे और गोरखनाथ के गुरु । लामा तारानाथ का यह कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव । जो कुछ भी हो इतना तो कहा जा सकता है कि अपनी उपासना पद्धति में वे भग्न बौद्ध धर्म का प्रभाव लिए हुए हैं । कबीर नाथ पंथियों के विरुद्ध हैं पर अपनी हठयोग की भाषा के प्रयोग के लिए वे इनके ऋणी माने जायेंगे । वे उस बौद्ध तांत्रिक साधना के भी ऋणी हैं, जिसका उन्हें स्वयम् पता नहीं था । बङ्गाल के सहजिया, न्यारा, बाऊल-सम्प्रदाय आदि सभी वैष्णव संप्रदाय उत्तरकालीन बौद्ध सप्रदाय से प्रभावित है । चैतन्य महाप्रभु ने अपनी दक्षिण यात्रा के समय सन् १५५१ में एक बौद्ध नैयायिक को परास्त किया था । महायान का अवशेष समूचे वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में छिपा पड़ा है । बौद्ध साधना ने अपनी विरासत संत साधना के लिए छोड़ दी थी, जिसे एक मात्र कबीर ने प्रतिनिधिक रूप से ग्रहण किया । कबीर का व्यक्तित्व बड़ा अक्खड़ बेपरवाही से युक्त, मस्त मौलापन से भरा हुआ, जीवन की कठोर अनुपासनात्मकता से परिपूर्ण था । उनके स्वभाव में ये विशेषताएँ अपने ढङ्ग की मिलती है जो किसी बौद्ध भिक्षु के स्वभाव में नहीं हो सकती । वज्रयानी चौरासी सिद्धों के साथ वे तुलनीय हो सकते हैं । वे सरहपा के समान खरी बात कहने वाले, जातिवाद पर कठोर प्रहार करने वाले हैं । ढेण्डणपाद के व्यक्तित्व और शैली में वे अपनी उलट बांसियों में कहते हैं । कबीर में कुछ बातें ज्ञानेश्वर की हैं तो कुछ प्रल्हाद की, कुछ बुद्ध तो कुछ स्वामी दयानन्द की । बुद्ध कहते हैं, 'यं मया सामं दिट्ठं तदहं वदामि' अर्थात्' जो मैंने देखा, उसे मैं कहता हूं ।' कबीर का भी निवेदन है कि, 'सो ज्ञानी जो आप विचारे', और 'मैं कहता आँखिन की देखी ।' स्पष्ट है कि अनुभूति साम्यता दोनों की एकसी है । सचमुच कबीर की साधना विलक्षण थी । वे ज्ञानी भी है और भक्त भी । अत्यन्त विनम्रता के साथ वे हरिजननी के बालक हैं ऐसा एक बार कहते हैं, तो दूसरी बार वे बेहद के मैदान में सोते हैं, और अनहदनाद सुनने वाले योगियों के साथ रहकर प्रेमोपासक सूफी कवियों का भी साथ देते हैं । राम और अल्लाह की एकता दिखा-कर भी जहाँ अल्लाह राम की गम नहीं वहाँ कबीर घर बसाने की बात कहते हैं ।

भी। तथा उसकी कोई आशा भी न थी। किन्तु इस ग्रन्थ में कृष्ण का दीपक हरि कथा के बहाने स्वयम् अपने आप ही प्रकाशित हो गया है।

यह ग्रन्थ वाराणसी में कब लिखा गया था। इसे स्वयम् नाथ महाराज के शब्दों में ही सुनना उपयुक्त होगा।[1]

वाराणसी महापुरी॥ मनिकर्णिकेच्या तीरीं।
रामजयन्ती माझारी॥ ग्रन्थ निर्धारी सम्पविला॥८४॥
शके चवदाशेंत्र्याण्णव॥ प्रजापती संवत्सराचे नांव॥
चैत्र मासाचे वैभव॥ पर्व अभिनव रामनवमी॥८५॥
ते दिवशी सार्थक अर्थी॥ रुक्मिणी स्वयंवर समाप्ती॥
एका जनार्दन कृपास्थिति॥ ग्रथ वाराणसी संपविला॥

मोक्षदा-पुरी-वाराणसी में मनिकार्णिका के तीर पर शक १४९३ में प्रजापति संवत्सर चैत्र शुद्ध रामनवमी के दिन अपने गुरु श्री जनार्दन की कृपा से यह ग्रन्थ लिखकर प्रकट हुआ। एकनाथ की यह रचना अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस कथानक पर अनेक मराठी कवियों ने लिखा है, पर श्री एकनाथ जी के इस ग्रन्थ की विशेषता कुछ और ही प्रकार की है। इसमें अनेक प्रकार के विविध रसों की अभिव्यंजना है, तथा साथ-साथ सगुण हरिभजन को भी वे नहीं भूले हैं। यथा[2]—

सगुण भजन महिमा—

व्रत तप यज्ञ दान। त्याहून अधिक हरीचे भजन।
निमिषा माजी समाधान। अमना होऊनि ठाके॥

हरि का भजन, व्रत, तप, यज्ञ तथा दान से भी बढ़ कर है क्योंकि उमसे एक ही निमिष मे समाधान प्राप्त हो जाता है। मन से जो इसमें लीन नही हो पाते हरि भजन में लग जाते है, अर्थात हरि के गुणानुवाद में लग जाते है। ऐसा हरि भजन का प्रताप है। इस खण्ड काव्य में रुक्मिणी ने कृष्ण को जो प्रेम-पत्र भेजा है उसकी भावव्यंजना बानगी के तौर पर यहाँ देखी जा सकती है।[3]—

रुक्मिणी का प्रेम-पत्र—

पत्रिका लिहिले चवथे भक्ती। वाचितांचि भक्त पती॥
सहज स्थिति धाविन्नला॥३॥

यह प्रेम पत्रिका सख्य भक्ति से प्रेरित होकर लिखी गई है। जिसे प्राप्त कर श्रीकृष्ण सहज ही उमके रक्षणार्थ दौड़ पड़े। इस प्रणय-पत्रिका में आगे चलकर

---

१. एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, पृ० २५७, ओवी संख्या ८४–८६।१८।
२. ,, ,, पृ० ३४, प्रसंग ४ ओवी सख्या २२।
३. एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, प्रसङ्ग ४, ओवी ३, पृ० ३१।

यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि जो अपने धार्मिक नित्य कर्म में जुटकर उसमें रत रहता है, वही योग्य समय भगवान् में लीन हो सकता है। यों भगवान् में हृदयरत होना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी अभिप्राय से वह आगे चलकर कहती है–

ऐके त्रैलोक्य सुन्दरा सकळ। सौंदर्य वैरागरा॥ तुझेनि सौंदर्य सुन्दरा॥
सुन्दरत्व कैंवी वर्णू॥
तरीच साधेल हे लग्न॥ सरी म्यां केले असेल भगवद् भजन॥
ब्रह्म भावे ब्राह्मण पूजन॥ देवार्चन हरीचे॥१८॥[1]

हे त्रैलोक्य सुन्दर ! सकल सौन्दर्य के अधिष्ठाता तुम्हारे सौन्दर्य का मैं क्या वर्णन करूँ ? क्या ऐसी भी कोई स्त्री हो सकती है, जो विवाह-योग्य मर्यादा एवं आयु प्राप्त हो जाने पर तुम्हें पति के रूप में प्राप्त करने की वांछा न रखती हो। हे मन मोहन श्रीकृष्ण ! यदि तुम कहोगे कि सांवले वर्ण के श्रीकृष्ण को वर रूप में क्यों बुला रही हो। तो उसे भी सुनलो। शिशुपाल के साथ विवाह की कल्पना भी मुझे यम से भयानक जान पड़ती है, इसलिए मुझे इस सङ्कट से आकर उबार लो यही मेरी आपसे प्रार्थना है। मेरा उद्धार आप इस अवसर पर उपस्थित रहकर कर सकते हैं। यदि मैंने ईश्वर भजन-पूजन अर्चन आदि किया हो, ब्रह्मभाव से ब्राह्मण की पूजा की हो, तो मेरा श्रीकृष्ण से विवाह निश्चित रूप से संपन्न होगा।

अतःएव इस पत्रिका के मिलते ही तुरन्त आ जाओ। क्योंकि[2]—

पत्रिका पाहावी सावधान। विलंब न करावा व्यवधान।
प्रातःकाळी आहे लग्न। ऐशिया समयीं पावावें॥२६॥ एकला
येऊनि घालिशी उडी॥ तेव्हां मज म्हणशील कुडी॥
बुद्धि घड़ फुगडी। ऐकावी॥

इस कार्य में जरासी देरी भी अनुचित और घातक सिद्ध हो सकती है। इस लिए इस पत्रिका को पढ़कर शीघ्र ही सावधान होकर आ जाइये। प्रातःकाल ही लग्नवेला है। यदि समय पर अनुपस्थित रहोगे तो मुझे जीवित न पाओगे। मैं जागते सोते और स्वप्न में सदा तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को भी ध्यान में नहीं लाती हूँ, न किसी को देखती हूँ। मुझे अपनी सेविका बना लो। तुम्हारे बिना इस जीवन का क्या मूल्य है ? वह इस प्रकार निश्चय कर लेती है—[3]

तुझी कृपा नव्हता कुडी। कवण जिणियाची आवडी॥ देह दंडाची हे वेडी। कोण फोरणी ओढील॥५९॥ एसे घडविता जरी न घडे॥ तरी देह करीन कोरडे॥ व्रते तपे जो अवघडें। तुझिये चाडे करीन॥६१॥

१. एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, प्रसङ्ग ५, ओवी १–१२–१३–१८।
२. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ, पृ० ३५, प्रसङ्ग ४ ओवी २६–२७।
३. ,, ,, पृ० ४०, प्रसङ्ग ४, ओवी ५९–६१

आपके विना इस शरीर की किसे चिन्ता है ? तुम्हारी प्राप्ती हो जाय इस लिए कठिन से भी कठिन व्रत वैकल्य क्यों न करना पड़े, मैं उन्हें अवश्य करूँगी। उसके लिए मैं प्राण तक उत्सर्ग कर दूँगी। इस कार्य के लिए एक क्या अनेक जन्म भी लेने पड़े तो मैं लेने के लिए तैयार हूँ। मैं आपके सिवा और किसी को वरण नहीं कर सकती।

यह प्रणय-पत्रिका यद्यपि पारमार्थिक शैली में भाव भीने भक्तियुक्त अन्तः-करण से लिखी गयी है। फिर भी केवल प्रियतम और प्रेयसी के बीच लिखी जाने वाली प्रणय पत्रिकाओं में वर्णित शृङ्गार रस की दृष्टि से भी इसका अध्ययन किया जाय तो वह पत्रिका प्रेयसी के द्वारा अभिव्यक्त की गई उच्च कोटि की भाव व्यंज-कता से परिपूर्ण एवम् ओतप्रोत है। अतएव अपने ढङ्ग से इसे अनुपम और अद्वितीय स्वरूप की माना जा सकता है। इतनी आत्मीयता पूर्ण प्रणय-पत्रिका पाकर श्रीकृष्ण का हृदय भी भाव-विभोर हो जाता है। वे तुरन्त यह निश्चय कर लेते हैं कि मैं सहायता के लिए जाऊँगा।

इसका वर्णन देखिए[१]—

जो दुजियाची वास पाहे ।। त्याचे कार्य काहींच नोहे ।।
यश कैसेनि तो तांहे ।। साह्य पाहे सांगाती ।।

जो दूसरों की सहायता पर निर्भर रहते हैं, उनका कोई भी कार्य कदापि सफल नहीं हो सकता। मैं रुक्मी को मुँह की खाने पर मजबूर करूँगा क्योंकि द्वेषपूर्ण होकर उसने अपनी वहन का मेरे साथ विवाह करने के कार्य का विरोध किया है, मेरे क्रोध करने पर क्या हो जायगा यह वह अभी नहीं जानता। क्योंकि मैं ऐसा पराक्रम करूँगा, जिससे उसके छक्के छूट जायेंगे।[२] यथा—

जैसा काष्ठा द्वयाच्या अरणीं ।। मथुनि काढिजे अग्नी ।।
तेवी अरि वीराते विभांडौनी ।। पवित्र रुक्मिणी परणीन ।।

जिस प्रकार यज्ञ के लिए पवित्र अग्नि ईंधन के रूप में लाये गये दो काष्ठ खंडों को लेकर एक दूसरे की रगड़ से उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार अमोल अनमोल लक्ष्मी जैसी पवित्र रुक्मिणी को मैं शत्रु पक्ष के वीर लोगों के साथ प्रकर्ष रूप से युद्ध करके प्राप्त करूँगा। इतना निश्चय कर श्रीकृष्ण रथारूढ़ होते हैं, जिसके शैव्य, सुग्रीव, वलाहक और मेघ पुष्प नाम के अश्व हैं और दारुक नाम का सारथी रथ हाँकने वैठा है।

---

१. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ पृ० ४३, प्रसङ्ग ५—ओवी १—२।
२. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ पृ० ४३, प्रसङ्ग ५—ओवी ४—५।

नारद की विनोद प्रियता का वर्णन—

अपने दिए हुए वचनानुसार श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। तब श्रीकृष्ण, यादव और मागध पक्ष के लोगों में द्वंद्व युद्ध होगा इस भाव से नारद हर्ष से नाचने लगते हैं उनकी चोटी खड़ी हो जाती है। रुक्मिणी स्वयंवर में नारद के स्वभाव का परिपोष बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से वर्णित है[1]—

नारद-चरित्र-चित्रण—

> हर्षे नाचत नारद। आतां होईल द्वन्द्व युद्ध॥ यादव आणि मागध॥
> झोट धरणीं भिडतील॥७३॥ थोर हरिखे मिटीली टाळी॥
> साल्या मेहुणा होईल कळी॥ कृष्ण करील खांडोळी॥ ते मी न्हाळी
> पाहीन॥

अब कैसा द्वंद्वयुद्ध होगा। यादव पक्ष के और मागध पक्ष के लोग एक दूसरे के साथ लड़ेंगे और उन्हें तमाशा देखने को मिलेगा। इसी भावना से अत्यन्त हर्ष भरित होकर नारद ताली पीटना शुरू कर देते हैं। साले-बहनोई में द्वंद्व होगा और अब श्रीकृष्ण अपने पराक्रम से शत्रुपक्ष के लोगों को रणक्षेत्र में मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना देंगे। मैं यह सारी करतूत कुतूहलपूर्वक देखूंगा। नारद को इसी का अपार हर्ष है। इसमें नारद के स्वभाव का पूर्ण स्वरूप चित्रित है।

रुक्मी और कृष्ण के युद्ध का एक दृश्य द्रष्टव्य है[2]—

> जे जे धनुष्य रुक्मिया काळी। ते ते तोडी श्रीकृष्ण॥
> रुक्मिया कोपला थोर। कृष्णासीं म्हणे स्थिर स्थिर॥
> गुणी लाविले रुद्रास्त्र। महारुद्र प्रकटला॥ दाढा विक्राळ तिखटा॥
> माथां मोकळिया जटा॥ काळिमा आली से कंठा॥
> मिशा पिंगटा आरक्त॥ श्रीकृष्णा अस्त्रविद्या चतुर॥
> बाणीं योजिला भस्मासुर॥ बाण देखोनि पळेरुद्र।
> धाके थोर कांपतसे॥

रुक्मी के प्रत्यक शस्त्र को श्रीकृष्ण विफल कर देते हैं। इससे रुक्मी को क्रोध आता है और वह श्रीकृष्ण को ललकारता है. और कहता है कि रुको। इसके बाद वह अपने धनुष की प्रत्यंचा पर रुद्र का आवाहन करता है। उसकी अभियंत्रणा से महारुद्र प्रकट हो जाता है। इसकी प्रखर और तीक्ष्ण दंष्ट्राएँ थीं तथा जिसकी

---

१. रुक्मिणी स्वयंवर पृ० ८३, प्रसंग ७–ओवियाँ ७२–७३–७६।

२. रुक्मिणी स्वयंवर पृ० ८३, प्रसंग १२, पृ० १४९, १०२।१०६–१०९।

धरम न अरथ न काम रुचि पद न चहहुँ निर्वान ।
जनम-जनम रति रामपद यह वरदान न आन ।।[1]

तुकाराम का भी यही मत है । वे मोक्ष और योग को पैरतले पड़ी हुई चीजें समझते हैं क्योंकि उन्हें वह आनन्द प्राप्त हुआ था जिससे परम और कुछ नहीं । वैष्णव भक्तों ने तत्व मीमांसा पर जैसे ध्यान नहीं दिया उसी तरह प्रमाण मीमांसा की भी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की । वेद प्रामाण्य को सभी ने स्वीकार किया है । रामदास और तुलसीदास वेद श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ अपनाते हैं । वाले स्वर में जायसी भी गाते है—
व्यवहृत होता न्थ नहिं, चलहि ते भूलहि वन मांझ । और
कहते है । पाली में य मुख सांच जो कहा । सो जुग-जुग अहिथिर होई रहा ।'[2]
आचार्य क्षितिमोहन सेन भक्त और आगे बढ़ गये । वेद को ही प्रमाण न मानकर समीक्षकों ने अनेक व्याख्याथपर्वशास्त्र चक्रवर्तित्व का स्वरूप भी प्रदान कर दिया । की 'स्मृति' तथा 'निरति' वा ा शून्यं वैदिक मपि वाचं नाम्य सेत । भागवत से बौद्धों की उलटवासियों से मे । इसलिए वे कहते हैं, 'वेदेर निगुढ़ अर्थ बूझते ना साथ कबीर ने व्यक्त कि अर्थ कर ये निश्चय ।' शब्द प्रमाण की सीमा को बढ़ाना कोई कहे । सहज रुद्ध गेतिक्रिया के रूप में उनका यह कथन—'तर्क शास्त्रे जड़ 'शून्य' शब्द लोहदण्ड़ । आमि द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड़ ।' दक्षिण की भक्ति सहस्रार जो वेदान्त की भावना से गंभीर रूप में निहित है । इस विषय में बड़ी मिला है । उग्र रूप तो कबीर में मिलता है—'साधु सती और सूरमा इन पटतर की ऊनाही ।' बुद्ध की तरह अदम्य वीर्य कबीर में मिलता है । वे अपने को सूरमा कहते हैं ।[3] 'सूरघमसान है पलक दो चार का सती घमसान फलक एक आगे । साध संग्राम है रैन दिन जूझना देह पर्यन्त का काम भाई ।'

बङ्गाल का वैष्णव धर्म शृङ्गारिक-रहस्यवादपूर्ण था । इससे वह नैतिक तत्वों की कुछ अवहेलना करता रहा । अर्थात् प्रधान रूप से इसको उसने महत्व नहीं दिया । अन्य भक्ति-संप्रदायों ने भक्ति-तत्वों के साथ नीति-तत्व को स्पष्टतया अपनी साधना में स्थान दिया है । बाह्य कर्मकाण्ड का प्राय: सर्वत्र अभाव है । मध्ययुगीन वातावरण भक्ति के रस से सराबोर हो रहा था । वैष्णव साधना कहीं ...खी, कहीं सबदी, कहीं मङ्गल-मुददैनी-रामकथा सुनाकर, कहीं प्रभु की ल्हादिनी

१. रामचरित मानस—तुलसीदास ।
२. पद्मावत—जायसी ।
३. कबीर ।

शक्ति के साक्षात्कार से तो कहीं अंत काल में 'राम तुम को भवजाल से छुड़ायेंगे', ऐसा आश्वासन देकर निर्बलों में चारित्र्य गुणों को संचारित करने का अद्भुत सामर्थ्य प्रदर्शित किया है। इस मार्ग पर चलने वाले अपने भवबन्ध को काटते हैं। अपने लिये वे यहीं पर अमृत परोसा हुआ देखते हैं। 'राम जपत भवसिंधु सुखाहिं।" और 'रामचरित जे सुनत अघाहिं रसविशेष जाना तेहि नाहिं।' ये उक्तियाँ यही सिद्ध करती हैं कि भक्ति की साधना में अपरिमित आश्वासन है। कलियुग में ज्ञान, और वैराग्य की साधना नहीं हो सकती। भक्ति, पंथ, ज्ञान, वैराग्य तथा वैदिक ज्ञान को मिथ्या नहीं कहती। 'जाकी प्रीति प्रतीति जहाँ तहँ ताको काज सरो।' यह कहकर और 'सो सब भाँति खरो' ऐसी मान्यता देकर इन भक्तों ने समन्वय मार्ग अपनाया है। वैष्णव साधक जब 'कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो' की भावना से युक्त हो जाता है तो प्रपत्ति और प्रतिपद अर्थात् आचार मार्ग मिल जाता है।

पशुहिंसा जब वेदों के नाम पर होने लगी तब इनके विरोध में जैन व बौद्ध संप्रदाय अहिंसा प्रधान मतों को लेकर सामने आगये। जैन-साधना में योग को महत्वपूर्ण माना गया है। जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। बौद्ध धर्म दु:खों का मूल इच्छा को समझता है। अतः इनको ही नष्ट करना चाहिए यही उसका निवेदन है। ज्ञान आचार की शुद्धता और योग को बौद्ध धर्म मानता है पर आत्मा को नहीं मानने से केवल सदाचार की बातें करना दार्शनिक दृष्टि से आधारहीन जान पड़ता है। जैन धर्मावलंबियों ने ग्रीकों के प्रभाव में आकर तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ पूजना शुरू किया। बौद्ध मूर्तियाँ भी पूजी गयीं। वैदिक धर्मावलम्बियों ने रामायण महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किये। चौबीस अवतारों की प्रतिष्ठा की गई। उनकी मूर्तियां बनीं। नवीन संस्करणों में शंबूकवध, तुलाधार वैश्य, धर्म व्याध की कथाओं को जोड़कर वर्णों के कर्तव्य कर्म पर बल दिया गया। बौद्धों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक कल्याणकारी भावनाओं को यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म में नवीन रूप से सम्मिलित कर लिया गया।

वैष्णवी साधना में सूफी रहस्यवाद से भी बहुत सी बातें स्वतः आ गयी है या अन्य पद्धति से भी ग्रहण की गई हैं। हम यहाँ पर उन्हें समझने का प्रयत्न करेंगे।

रहस्यवाद क्या है ?

परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों और ज्ञान का पता हो जाने पर उसे एक विशिष्ट साधना से और अनुभूति से रहस्यवादी प्राप्त करता है। आमतौर पर सर्व साधारण इस ज्ञान को या इस अनुभूति को नहीं उपलब्ध कर सकते। इसका ज्ञान और

अनुभूति अपने तक ही सीमित रखकर मौन रहकर ही उसे रहस्यवादी समझता है। रहस्यवादी अनुभूति गूंगे की शर्करा ही है। जिसके द्वारा मनुष्य विश्व एवम् ब्रह्माण्ड को सम्पूर्ण और अखंडित समझता है। इस अनुभूति पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का ही एकान्त अधिकार है ऐसा समझना भ्रामक है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। आज के व्याख्याकार रहस्यवाद को आंतरिक सामंजस्य स्थापित करने की कला मानते हैं।[1]

सेलबी के मतानुसार रहस्यवाद उस धर्म का नाम है जिसमें अन्तिम सत्य या ईश्वर के साथ तादात्म्य तथा उसका उत्कट साक्षात्कार निहित है।[2] रहस्यवाद का दैवी सिद्धांत तर्कानुमानाश्रित होने की अपेक्षा भीतरी आत्मप्रेरणा और साक्षात्कार पर निर्भर है। इसीलिए रहस्यवाद उन लोगों के लिए है, जो साक्षात्कार, दैवी दृश्य आदि बातों पर दुगुना विश्वास करते हैं। प्रायः सभी धर्मों में जो रहस्यवाद पाया जाता है वह व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित है। रहस्यवाद के किसी भी शाखा में जो प्रारंभिक बातें हैं उनमें अव्यक्त की अपरोक्षानुभूति प्रथम बात है। अतीन्द्रिय दृष्टि संस्कार या तप से संप्राप्त होती है। इसी शक्ति की सहायता से रहस्यवादी उन चीजों को देख सकता हैं जिन्हें सर्व साधारण नहीं देख पाते। किसी अभिजात कलाकार या कवि में जो अतीन्द्रिय दृष्टि होती है वही रहस्यवादी में परमात्मा के साक्षात्कार के लिए समझनी चाहिए। रहस्यवादी प्रवृत्ति साधारण जीवन के स्वार्थपरक और साधारण प्रसङ्गों से अपना लक्ष्य हटा लेना है और इसी लक्ष्य को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करना है। यही चिंतन कहलाता है। इस अवस्था में विचार या मनन नहीं होता। इसी का मतलब है अन्तर्दृष्टि से देखना। यह एक प्रकार की ध्यान-धारणा ही है जिसमें मन अतीव संवेदनाक्षम बन जाता है। इसमें कई बार एक प्रकार की संमोहनावस्था भी आ जाती है। इसे हम आत्म-संमोहन भी कह सकते हैं। इसके नित्य अभ्यास से मन की प्रवृत्ति में उस प्रकाश एवम् ईश्वरी सत्ता की कृपा पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। रहस्यवादियों की यह सबसे ऊँची अवस्था मानी जाती है। ऐसे भी उदाहरण देखे गये हैं जिनमें रहस्यवादी समाधि एवम् उन्मनी में मस्त हो जाते हैं। यह सब रहस्यवादी अनुभूतियाँ आत्मिक प्रकार की हैं। यद्यपि उनमें विश्वसनीयता एवम् सत्यता है। कोई भारतीय दार्शनिक ब्रह्म का साक्षात्कार जब करता है, या कोई सूफी अल्लाह का साक्षात्कार जब कर लेता है तब उस परमतत्व के साथ की गई बातचीत और अनुभव उसी कोटि का समझना पड़ेगा।

---

१. थ्योअरी ॲन्ड ऑर्ट ऑफ मिस्टिसीझम, पृ० ६—राधाकमल मुकर्जी।
२. सायकालाजी ऑफ रीलीजन—सेलबी—पृ० २४७–२६५।

रहस्यवादी अस्मितायुक्त होकर सतर्क जानकारी सहित जो कार्य करता है वह दो प्रकार का होता है। (१) आत्मा सम्पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व में आ जाती है और (२) हमारी साधारण शक्तियों से अधिक तेजस्वी शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई देती हैं। हमारी सतर्क जानकारी एक आध्यात्मिक वातावरण का विस्तृत केन्द्र बन जाती है, जो सदा हमारे साथ बनी रहती है। इसे हम पूर्णतया वस्तुतः व्यक्तिगत अनुभूति ही कह सकते हैं। बाह्य रूप से इसकी कोई अधिकृत सूचना या विश्वास दिला सकने वाली प्रमाण की बातें उपलब्ध नहीं हो सकतीं।

यों रहस्यवादी जीवन की प्रमुख तीन अवस्थाएं मिलती हैं—(१) अन्तः-शोधन या निषेध के माध्यम से प्राप्त होने वाली दशा या अवस्था। (२) आत्मा के प्रकाश की अवस्था, (३) तादात्म्य या साक्षात्कार की अवस्था।

'अंडरहिल' के अनुसार रहस्यवाद सत्य के साथ साक्षात्कार है।[1] सत्य के साथ साक्षात्कार करने वाला मानव कम या अधिक मात्रा में उसके साथ साक्षात्कार किया करता है। इसमें अपरोक्ष का परोक्ष के साथ अनुभूत्यात्मक सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। इसमें उसकी निजी अनुभूति उसे सत्य के साथ स्वसवेदन कराती है। इससे ईश्वर के अस्तित्व और उसकी उपस्थिति की निश्चिति उसे हो जाती है। वैसे ईश्वर का ज्ञान धार्मिक दर्शनशास्त्र से हो जाता है, परन्तु ईश्वर के साथ मानव का प्रेम का सम्बन्ध हो जाना उसके रहस्यवादी साक्षात्कार को बतलाता है और वह उसकी आत्मा का परमात्मा में लय-योग सिद्ध करता है। इसका लक्ष्य और परिणाम यह होता है कि उसकी ससीम अच्छाइयाँ असीम हो जाती हैं और वह उसके साथ एकाकार हो जाता है।

आत्मा की जागृति या आत्म सुधार का सर्व साधारण स्वरूप इस प्रकार का माना गया है। यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत और उसका जागृत स्वसंवेदन व्यक्ति की अपनी अस्मिता को दबाता है। बहुधा वह अचानक छूट जाती है और सत्य के साथ उसका साक्षात्कार हो जाता है। परिणामतः नये तत्व उसके सामने आने लगते हैं। किसी को भी दैवी प्रकाश तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक प्रथम उसकी अंतः शुद्धि, अपरिग्रह, पवित्रता, आज्ञाधारकत्व एवम् आत्म-सयमन उसे प्राप्त न हो जाय।

अन्तः-शुद्धि की अवस्था आत्म प्रकाश की ओर ले जाने वाली ऐसी स्थिति है जिसमें सतर्क जानकारी तीव्रतर होकर इतनी तेज हो जाती है कि प्रत्यक्ष चिन्तन चिरंतन और अज्ञात के बारे में होने लगता है। दैनंदिन जीवन में अत्यंत गहरे तथा तीव्रतम और शीघ्र उत्पन्न होने वाली संवेदनशील क्रियाएँ उत्पन्न होने लगती हैं

१. मिस्टीसीज्म—एलविन अण्डर हिल—पृ० २२।

क्योंकि, सर्वशक्तिमान् का आनंदयुक्त प्रभाव उस पर छाया हुआ रहता है। ईश्वर की उपस्थिति से प्रार्थना, उपोषण, ध्यान और अन्य धार्मिक क्रियाओं से आत्मिक शक्तियाँ वढ़ाई जा सकती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इससे अन्तःकरण में स्थित भगवान् स्वसंवेद्य हो जाते हैं। परमेश्वर का अन्तदर्शन एक सचाई की चीज है यह वात सभी रहस्यवादी स्वीकार करते हैं। ईश्वर के विरह से उत्पन्न होने वाली वेचैनी, चिन्ता, वेदना साधक को दैनंदिन जीवन के अभावों तथा दुःखों की तरह कष्टदायक हो जाती हैं। शरीरज सुखों की निवृत्ति से रहस्यवादी को उसकी मानसी और आत्मिक प्रवृत्ति उच्च स्तर पर ले जाकर परमात्मा की ओर अग्रसर एवम् केन्द्रित कर देती है। इस कार्य में अनिवार्यतः सद् का असद् प्रवृत्ति से द्वंद्व होता है--संघर्ष होता है। परिणामतः अतीव वेदना और परम दुःख भी होता है।

साक्षात्कार अर्थात् आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य और उसकी भावनात्मक अंतर्दृष्टि ही इस ऐक्य का मूल कारण है। साधक के हृदय की आँखें खुलकर परमात्मा में विश्राम करती है। इस अवस्था के तीव्र और साधारण दोनों रूप होते हैं। इसके पहले कोई विद्वान एक और अवस्था मानते है जिसे आत्मा की 'अंधकारपूर्ण-रात्रि' कहा जाता है। इसके वाद जागृति होती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। तादात्म्य अवस्था तो एक तरफ रहती ही है तो दूसरी तरफ आत्मा का परमात्मा से 'आध्यात्मिक-विवाह' भी होता है। यह अनुभूति प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त की जाती है। आध्यात्मिक विवाह का वर्णन करने वाली भाषा भी चित्रोपम होती है और विचित्र रूप से घोर शृङ्गारी भी। देखने और श्रवण करने की अतीन्द्रिय शक्तियों का उत्पन्न होना, भावना की गहरी दशा में जाना, वाह्य संवेदनशीलता का त्याग आदि प्रायः रहस्यवादी की प्रवृत्तियाँ वतलाई गई हैं। इससे उसका चरित्र दृढ़ तथा नैतिक शक्ति वढ़कर अध्यात्म-प्रवण वनने में सहायक हो जाती हैं।

किसी व्यक्ति के चेहरे में दैवी सौन्दर्य का आविष्कार होने के लिए जिन वातों की आवश्यकता है उनमें से एक 'दीक्षा' है। इस दीक्षा में मंत्र एवम् तंत्र का मौखिक एवम् वैचारिक प्रभाव होता है जिसमें सौन्दर्य का मधुर भाव वढ़कर एक तीव्र सवेदना में परिणत हो जाता है और उनके महान आनन्द से शक्तिपात होकर रौद्रस्वरूप के दर्शन दे देता है। इस दीक्षा के अवसर पर सारा जगत् किसी नये चैतन्य में व्याप्त दिखाई पड़ता है। सत्य-संवेदन के अनिरुद्ध प्रवाह से परे है, जिसमें सारी संवेदना लिपटी दिखाई देती है। इस अवस्था में साधक के कानों में वह परतत्त्व गूंज उठता है कि 'तूने मुझे पा लिया है।'[1] रहस्यवाद का यही प्रथम

[1] मिस्टीसीज्म—एलविन अण्डरहिल–पृ० २३।

सिद्धान्त है। हम सत्य की खोज करते हैं पर हम ससीम हैं। खोजने की तत्परता भी स्वयमेव एक मंजिल है। सत्यान्वेषण करने वाले यात्री उसको देखते हैं और हमें उसके बारे में निवेदन करते हैं। अध्यात्मिक जगत् में उन्हें संदेश प्राप्त हो जाते हैं। यह संदेश अनन्त के जीवन का प्रेम का और पारमार्थिक सत्य का होता है। रहस्यवाद सत्य का अन्वेषण करता है। रहस्यवादी केवल अनन्तसत्ता के अस्तित्व को ही सिद्ध नहीं करता अपितु उसे जानने की संभावना के साथ उसे प्राप्त करने वाले साधन सहित हमें संबद्ध कर देता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक संत डा० रामभाऊ रानडेजी के मतानुसार रहस्यवाद का विवेचन इस प्रकार है[1]—

इन्द्रियातीत, प्रत्यक्ष एवम् तात्कालिक अनुभूति ही ईश्वर-साक्षात्कार है। रहस्यवाद का अर्थ परमेश्वरी साक्षात्कार है। सामान्यतः 'अज्ञेय गूढ़ तथा अद्भुत एवम् गुप्त बातों से उत्पन्न होने वाली अनुभूतियाँ', यह अर्थ इसका कदापि नहीं है। भक्ति युक्त शान्त अन्तःकरण से मानवी मन की उच्चतम संपादन की हुई श्रेष्ठ अवस्था जिसमें ईश्वरीय ध्यान सपन्न हो जाता है वही साक्षात्कार है। स्तब्धता के साथ ईश्वर में रममाण हो जाना, या लीन होना इसी का स्वरूप है। अध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अनुभव अनिर्वचनीय माना जाता है। इस अनुभव की हम शास्त्रों की तरह चर्चा भी नहीं कर सकते। अतः विस्तृत रूप में शाब्दिक अभिव्यंजन भी असंभव है। प्लेटो भी कहता है कि इस साक्षात्कार के अनुभव पर मेरा कोई लेख कभी भी प्रसिद्ध नहीं होगा। इन्द्रियातीतता पारमार्थिक अनुभव का दूसरा लक्षण है। अनिर्वचनीयता और इन्द्रियातीतता एक दूसरे से संलग्न है। बुद्धि, इच्छा-शक्ति और संवेदना इन तीनों से ईश्वर-साक्षात्कार किया जा सकता है। कला, शास्त्र तथा काव्य में उच्चतम विचारों की श्रेणी में हम तभी पहुंच सकते हैं, जब अन्तिम सत्य या तत्त्व के साथ एकरूपता हो जाय। केवल बुद्धि की सहायता ईश्वरी साक्षात्कार में सहायक नहीं होती। उसके लिए श्रेष्ठ शक्ति की आवश्यकता है। अतीन्द्रिय शक्ति बुद्धि, भावना और क्रियाशक्ति की आवश्यकता है। अतीन्द्रिय शक्ति बुद्धि भावना और क्रियाशक्ति से भिन्न नहीं है वरन्, इन सब में वह ओतप्रोत भरी हुई है और इन सब का आधार भी है। अनुभूति-शास्त्र पूर्ण रूपेण चिकित्सात्मक है यह इससे सिद्ध हो जाता है। परमार्थ के क्षेत्र में अन्तिम सत्य का अनुभव करने के लिए सतत, तथा अनन्त काल तक परिश्रम करना पड़ता है। इसके लिए अध्यात्म क्षेत्र में Will Power क्रिया

१. मिस्टिसीज्म इन महाराष्ट्र—डा० आर. डी. रानडे।

शक्ति की अतीव आवश्यकता है। सच्चा आध्यात्मिक जीवन भावना प्रधान ही रहता है। इन्द्रियातीत प्रज्ञाशक्ति का आधार जीवन में सबके लिए आवश्यक है। यह अनुभूति अनिर्वचनीय तथा बुद्धिग्राह्य है पर वह इन्द्रियों के परे होने से ऐसे साधकों का एक संप्रदाय बन जाता है। ऐसे अनुभव केवल परमेश्वर को ही ज्ञात रहते हैं।

संसार के सब कालों के, सब देशों के, इन आत्मज्ञ-रहस्यवादियों का एक दैवी तथा सनातनी समाज बनता रहता है। देश, काल, जाति के बधन इन्हें नहीं जकड़ते।

सूफी मत—

सूफी साधना में ब्रह्मवाद और शून्यवाद का अद्वितीय समन्वय है। प्राय: सूफी नाम से सभी इस्लामी रहस्यवादियों को पहचाना जाता है। इ. स. ७१६-८१४ में इराक में हमें 'सूफी' शब्द मिलता है। यह शब्द 'सुफ' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है बिना धुली हुई ऊन का वस्त्र या चोगा जो ईसाइ यति पहना करते थे। यतियों के जीवन विषयक बहुत से चिन्हों में से यह भी एक है। पर सभी लोग इस बात को मानते हैं कि सूफीवाद वास्तव में इस्लामी ही है। सूफियों को इसीलिए आदर की दृष्टि से देखा जाता है कि वे अपना मत पैगंबर महम्मद से विरासत में प्राप्त होने का दावा करते हैं। कुरान में पैगंबर के असली व्यक्तित्व के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, लेकिन कुरान में साधु जीवन संबंधी एवम् रहस्यवादी तत्त्व दूसरे ही ढङ्ग से मिले जुले दिखाई देते है। कुरान में जो साधु जीवन संबंधी प्रमाण मिलते हैं उन्हीं पर सूफी लोग अधिक जोर देते हैं। महम्मद पैगंबर ने किसी भी अपरिवर्तनीय सिद्धान्त की या रहस्यवादी धर्मनीति की प्रणाली जारी नहीं की, लेकिन यह सत्य है कि कुरान में दोनों के निर्माण के लिए काफी सामग्री है। गहन विचार की अपेक्षा भावना से ही उत्स्फूर्त होने की वजह से महम्मद पैगंबर के ईश्वर संबंधी उद्गारों में बहुत सी असंगतियाँ पायी जाती हैं। जब कि मुल्ला-मौलवियों ने अपने पंथ का वैचारिक ढांचा बनाते हुए, 'ईश्वर की सत्ता विश्वव्यापी होकर भी उसके परे है।' 'इस कुरान के एक मत का अवलंबन लिया तो सूफीयों ने कुरान के सिर्फ उस मत का आश्रय लिया है, जिसमें ईश्वरी सत्ता विश्व अन्तर्व्यापी मानी गयी है। इन्हीं दो तत्त्वों को अँग्रेजी में transcendence और immanence के नाम से अभिहित किया जाता है। सूफियों की दृष्टि तत्व पर विशेष है।

अल्लाह सूफियों के लिये स्वर्ग एवम् धरती का नूर है। वही आदि है। और अन्त भी। बाहर भीतर सर्वत्र वही है। सिवा उसके स्वरूप के सब कुछ

नश्वर है। जिनको अल्लाह प्रकाश नहीं देता है उनको कभी भी प्रकाश नहीं मिल सकता। वस्तुत: रहस्यवादी तत्त्वों के बीज यहीं पर मिल जाते हैं। पुराने सूफियों के लिए कुरान ही केवल खुदा का शब्द नहीं है, वह तो ईश्वर के निकट ले जाने वाला प्रथम माध्यम है। हार्दिक प्रार्थना एवम् समग्र ग्रन्थों का चितन और विशेप प्रकार के रहस्यमय परिच्छेदों का चिन्तन जिनमें 'रात्रियात्रा एवम् स्वर्गारोहण, सम्वन्धी निर्देश हैं। सूफियों ने पैगंवर के रहस्यमयी अनुभूतियों का स्वानुभव करने का भी प्रयत्न किया। यों सूफियों को कुरान के विशेप दीक्षित अध्येता समझा जाता है। ईसवी सन १००० के बाद सूफीवाद में यूनानी दर्शन का मेल हुआ। कतिपय ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि सूफी-वाद की आरम्भिक प्रगति ईसाई-रहस्यवाद से अनुप्राणित हुई थी। ईसाई महत 'राहिव'का कथन है कि इस्लाम में मठवास का कोई तत्त्व अङ्गीकार नहीं किया गया। महम्मद पैगंबर 'रहवानि' (मठवास) यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य का भी कुरान में निषेध करते हैं। परंतु कुरान की आयतों का वह भाष्य जो तीसरी हिज्र शताब्दी में प्रचलित था, इस बात की पुष्टि करता है कि मठवास ईश्वर की आज्ञापित संस्था है और पैगंवर के द्वारा मठवास की निन्दा उनकी की गई हैं जिन्होंने मठवास को भ्रष्ट किया था।

आद्य इस्लामी नियतिवाद, आगामी ईश्वरीय कोप के स्वप्न, उपोषण करने वाले विरह की पीर से या पश्चाताप से रोने वाले, उसकी लगातार चलने वाली प्रार्थनाएँ, खुदा की कड़ी और अनुशासन युक्त भक्ति आदि वातों से सूफी रहस्यवाद सम्पन्न है। प्रेम से ईश्वर की प्राप्ति होती है अत: उसी एक ईश्वर में सम्पूर्ण आसक्ति रहस्यवाद में निर्धारित है।

हमारे अधिकारी विद्वानों की दृष्टि में सूफी-मत की सर्व प्रथम उल्लेखनीय उद्गात्री वसरा की स्त्री संत 'रविया' है। इसका काल सन ८०१ ईसवी है। कहा जाता है कि उसके माता-पिता का कोई पता न था। निम्नलिखित पंक्तियों में इस गुलाम संत 'रविया' के रहस्यवाद का आदर्श प्राप्त होता है—

'मैं तुझसे दो तरह से प्रेम करती हूं। एक स्वार्थवश होकर और दूसरे उस तरह जैसे कि तुझ से करना योग्य माना गया है। स्वार्थी प्रेम मुझे नहीं करना चाहिए। हर विचार तेरे वारे में ही हों तो अच्छा है। पवित्र प्रेम वही है जिसमें तू केवल मेरी ओर भक्तियुक्त दृष्टिपात से पर्दा उठाता है न कि मेरी प्रार्थना से। तेरी सच्ची प्रार्थना स्वार्थ और परमार्थ दोनों में निहित है।[१]

रहस्यवादी साक्षात्कार का तत्व कुरान की आयतों से परे है। और वह

१. लीगसी ऑफ इस्लाम—निकॉलसन और आर्नोल्ड।

ईश्वर कृपा से ही उपलब्ध होता है। किन्तु पैगंबर की कुछ अविश्वसनीय पारंपरिक गाथाओं में इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, जैसे ईश्वर ने कहा, 'धर्म निहित कर्तव्यों से अधिक कार्य करने वाला मेरा सेवक जब मेरे निकट आता है और जब मैं उससे प्रेम करता हूं, तब मैं उसका कर्ण बन जाता हूं, क्योंकि वह मेरे द्वारा सुनता है, मैं उसकी आँख बन जाता हूं ताकि वह मेरे द्वारा देख सके, मैं उसकी जिह्वा बनता हूँ, जिससे कि वह मेरे माध्यम से बोल सके और मैं उसका हस्त बनता हूँ, जिससे कि वह मेरे द्वारा ग्रहण कर सके।'

सूफियों ने एक ऐसी अध्यात्मिक प्रणाली का निर्माण किया जिनमें आत्म-शुद्धि द्वारा आत्म प्रकाश पाने का मार्ग अपनाया गया है, जिसका परिपाक आत्मा का स्वसंवेदन (मारिफ़ा) है। अपने हृदय से उसको देखने वाले संतों के द्वारा किये गये ईश्वरीय गुणों का ज्ञान ही आत्मा का स्वसंवेदन है। उसकी प्राप्ति का मार्ग मार्ग (तरीका) उन गुणों के संपादन में एवम् रहस्यवादी अवस्थाओं में निहित है। प्रथम स्थिति पश्चाताप की है, जिससे हृदय परिवर्तन होता है। सन्यास, अपरिग्रह, तितिक्षा और आस्तिकता ये बातें इसके पश्चात् आती हैं। इनमें से प्रत्येक एक दूसरे का अध्ययन है। 'गझाली' और 'सादी' नामके सूफी संतों ने इन सिद्धांतों का उपयोग किया है। ईश्वरीय तादात्म्य की कल्पना ने सूफियों को ईश्वर निर्मित प्राणियों से प्रेम किये बिना ईश्वर से प्रेम नहीं किया जा सकता यह सिखाया। ईश्वर का ज्ञान साधक को उसी के द्वारा हो सकता है। 'अबूयजीद' पर अद्वैत दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसने 'फ़ना' का तत्त्व विकसित किया। 'फ़ना' का अर्थ है, अपनी हस्ती मिटा देना। 'फ़ना' का उत्तर पक्ष 'बका' है। बका का अर्थ ईश्वर के साथ तादात्म्य है। यह तत्त्व भी बाद में इसमें जोड़ा गया।

यद्यपि लययोग से शुद्ध तादात्म्य की ओर बढ़ने के प्रयत्न का अतिरेक हुआ फिर भी यह सिद्धान्त अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 'बयाज़ीद' ने अपने निराभास होने का आत्म निवेदन किया। सूफियों का यह एक कथानायक ही है। उसकी परमानंदावस्था के उद्‌गारों का उल्लेख वे सर्वत्र करते हैं। प्रेमी, प्रिय और प्रेम के एकत्व का इस सूफी-संत ने अनुभव किया था क्योंकि तादात्म्य की दुनियाँ में सभी एक हो जाते हैं। हलाजने 'अनल-हक' (अहम् ब्रह्मास्मि) का अकाट्य सूत्र-प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ईश्वर का सार प्रेम-तत्व है। ईश्वर ने मानव को अपनी ही आकृति का बनाया। इसमें उसका उद्देश्य यही था कि मानव ईश्वर से ही प्रेम करे। इसी से मनुष्य अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति कर, ईश्वर की मूर्ति अपने में देखे तथा ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय सत्ता में तादात्म्य पाले। हलाज के नजरों में रहस्यात्मक ऐक्य इस सर्जनशील दुनियाँ के साथ ऐक्य है।

'हलाज' ने अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया कि आत्म त्याग और आत्म क्लेश से ही पावित्र्य की परिपूर्ति होती है। हलाज सत्य के लिए जीवित रहा और उसी के लिए मरा भी।

सूफी संतों में गझाली, जलालुद्दीन रूमी आदि प्रमुख हैं। सूफी एकेश्वरवाद जीवन में उतारने पर प्रायः सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वरीय व्यक्तित्व और नैतिक अधिकारों का महत्व उसमें निहित रहता है। यह विश्व उसका बाह्य रूप है जो भीतर से उसका आन्तरिक स्वरूप माना जाता है। प्रत्येक चमत्कार सत्य के किसी तत्व का उद्घाटन करता है। मानव उसका छोटा स्वरूप है जिसमें सभी ईश्वरीय तत्त्व, गुण आदि इकट्ठे होकर सामने आते हैं और केवल मनुष्य में ही परमेश्वर ने अपना अस्तित्व प्रकट कर दिया है। ज्ञेयवाद के सारे तत्त्व इसमें आ गये हैं।

सर्वत्र परमात्मा विद्यमान है, वे सर्वत्र अपने विचारों सहित हैं। विश्व में जितने स्वरूप या पदार्थ हैं वे सारे उसी के रूप हैं। प्रत्येक कार्य और प्रत्येक अस्तित्व में ईश्वरीय शक्ति का प्रकाशन होता है। जिन रहस्यवादियों ने उसका अनुभव किया है वेही उसको समझ सकते हैं किन्तु वे उसको दूसरों को नहीं प्रदर्शित कर सकते। सिर्फ प्रतीकों के सहारे ही वे वैसा करते हैं। प्रेम का संवेग परमानंदावस्था में आने वाली 'हाल' की दशाओं में सादृश्यको स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है। इसे सूफी संत सदा ज्ञेयत्व के साथ सबधित करते हैं। इन्हीं बातों को लेकर रहस्यवादी सूफी साहित्य भी 'जलालुद्दीन रूमी' जैसे लोगों ने लेकर लिखा है।

ईश्वर पर निर्भर रहना वका है। अपनत्व छोड़कर जो अपना सर्वस्व ईश्वर में लीन करता है अर्थात् फ़ना कर सकता है, वह पूर्ण रूप से इनसान है। वह ईश्वर तक केवल यात्रा ही नहीं करता तो अनेकत्व से एकत्व में प्रवेश करता है और ईश्वर में तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वैसे संसार में रहकर उसके अनेकत्व में भी एकत्व रख सकता है। जगत् का वेसुरापन एक ऐसी एकतानता है जो समझ में नहीं आयी है। सभी अधूरे दुर्गुण सार्वजनीन अच्छाईयाँ हैं। ईश्वर, मसजिद, गिरजा, मंदिर में नहीं है वरन् वह शुद्ध हृदय में है। सूफी संत रूमी को मानव के पापकर्मों की बात सही जान पड़ी थी। इसके साथ परमात्मा की अच्छाई पर भी उनका भरोसा था। निर्माता की दृष्टि से अन्य प्राणियों के साथ कुकर्म करते समय वे कुकर्म की असत्यता नहीं मानते। संपूर्ण स्वातंत्र्य पूरे प्रेम के बिना संभव नहीं। वह तो उस ऐक्य में है जो मनुष्य की इच्छा शक्ति का ईश्वरी शक्ति से तादात्म्य स्थापित करती है।

हर प्राणी सब प्रकार की जीव पद्धतियों से प्रगति करता हुआ मनुष्ययोनि

ाक पहुँचता है तथा आत्मिक उन्नति करते-करते वह परमात्मा में मिल जाता है। रमात्मा से तादात्म्य और उसका विरह अज्ञान के कारण स्वप्नवत जान पड़ता है। ग्रामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर ये रहस्यवादी जब प्रेम में विभोर होकर मस्त हो जाते हैं तब उनका व्यक्तित्व भगवान् में मिल जाता है। उनको हम साधारण नियमों से नहीं तौल सकते। यह तो उनका एकनिष्ठ प्रेम है जो भगवान् के प्रति रहा करता है।

सूफी साधना और वैष्णव मत—

रहस्यवाद का प्रभाव सूफियों के माध्यम से वैष्णव-साधना पर उत्तर और दक्षिण भारत में सीधा और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारों से पड़ा है।

सातवीं शती से मलाबार में अरबी व्यापारियों ने अपने व्यापारी उपनिवेश बसाने आरम्भ किये। मलाबार के 'चेरमाण पेरूमल' ने इस्लामी धर्म स्वीकार किया। आठवीं सदी से ही कोंकण, दाभोल तथा मलाबार में इनके पैर जमने लगे। महम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण कर दिया था। राजा के धर्म परिवर्तन से प्रजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। नवीं शताब्दी में मलाबार में पूरी तरह इस्लाम फैला। मोपला लोग इन्हीं की सन्तान हैं। अरबस्तान के कट्टर इस्लाम में इरानी सूफीवाद ने उदारता लादी। इसी ने भारत में आकर हमारे भक्ति संप्रदायों पर अपनी छाप छोड़ी और भक्ति साधना में कुछ बातों का योग दान दिया।

आर्यो ने सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली शक्तियों को उनके प्राकृतिक रूपों में देवरूप बनाकर ग्रहण किया। बहुदेव-वाद की ब्रह्मवाद में प्रतिष्ठा की। ईरान में सूफियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। यह व्यक्त और अव्यक्त रूपों के माध्यम से सगुण तथा निर्गुण उपासना पंथों में प्रकट हुआ। पश्चिम में हृदय पक्षीय भक्ति को और बुद्धि पक्षीय ज्ञान को लेकर क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ निर्माण हुई। भक्ति ने ज्ञान को अपने ऊपर कभी भी आरूढ़ नहीं होने दिया। ईश्वर को जितना हम जानते हैं उतनी ही भक्ति होती है। जानकर हृदय को प्रवृत्त करने में भक्ति की सार्थकता है। अतः भक्ति का प्रारंभ ज्ञानपूर्वक होता है। प्रेमी प्रिय के स्वरूप को जितना जाने रहता है उतने में मग्न होकर भी उसको अधिक समझने के लिए उत्कंठित रहता है। वैष्णव भक्तिमार्ग सीदा-सादा प्रेममार्ग है।

सगुणोपासक साधकों की यह साधना मनुष्य की सहज रागात्मिका प्रवृत्ति पर आधारित है। योग साधनात्मक रहस्यवाद है। सूफियों के भावात्मक रहस्य-वाद को हृदय पक्ष की प्रधानता से वैष्णव भक्तिमार्ग ने अपने में समाविष्ट कर

दो पक्ष सामने आते हैं—(१) लीला पक्ष (२) ध्यान पक्ष। लीला पक्ष में गोपियाँ कामिनी रूप से श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं और उनको चाहती थीं। ध्यान पक्ष में काव्य की रसानुभूति के ढङ्ग पर भक्त अपने को गोपिका रूप में रखकर श्रृङ्गार के आनन्द का अनुभव कर सकता है। पुरुष के साथ यह आलंकारिक आरोप मात्र होगा। परन्तु स्त्री के ध्यान में आरोप की भावना हटने पर वह पुरुष के आलिंगन की कल्पना में मग्न हो जाने की संभावना है। सूफी और ईसाई भक्तों के माधुर्य भाव में यह बात थोड़ी कठिन है। रहस्य भावना का यत्र-तत्र उपयोग रहस्यवाद नहीं है और भारतीय भक्ति मार्ग में ऐसा नहीं है।

भक्तों के कृष्ण व भक्तों के राम सौन्दर्य और मङ्गल ज्योति जगाने वाले हैं। भारतीय भक्ति मार्ग में राम और कृष्ण उपदेशक के रूप में नहीं देखे जाते तो उपास्य रूप में भगवान् के रूप में ध्याये जाते हैं। भारतीय सगुण मार्गियों के उपास्य और उपासक इन दोनों का लक्ष्य मानवहृदय है और शास्त्र भी मानव हृदय ही है। भक्त-हृदय के सहारे मङ्गल विधायक सत्ता में अपनी सत्ता को परिणत करता है, तथा दूसरों के हृदय पर भी प्रभाव डालकर, उन्हें कल्याण मार्ग की ओर आकर्षित करता है। गीता में कृष्ण का कथन है कि जहाँ पर शील, शुभ गुण, सौन्दर्य, शक्ति, पराक्रम, ज्ञान अथवा बुद्धि का उत्कर्ष हो वहाँ मेरी विशेष कला समझनी चाहिए।

मुस्लिम साधना के बाद भारत की वैष्णवी साधना पर ईसाईयों का भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। ईसाई धर्म में से ही भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है ऐसा आक्षेप लिया जाता है। इस आक्षेप का निराकरण हम यहाँ पर आवश्यक समझते हैं। यद्यपि अब यह मत सर्वमान्य हो गया है कि किसी भी प्रकार से ईसाई धर्म पर ही भारत के भक्ति तत्त्व का प्रभाव पड़ा है। इसे समझने के लिए गीता और महाभारत का भक्तिपरक विवेचन देखना समीचीन होगा।[1]

गीता और महाभारत—

भगवान् वासुदेव की एकान्त भाव से भक्ति करते हुए संसार के अपने व्यावहारिक एवम् लौकिक कार्य स्वधर्मानुसार करते रहने पर मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। नारायणीय धर्म सीधे नारायण से नारद को प्राप्त हुआ था। गीता में वही धर्म पुनः कथित है। प्रवृत्ति परक भागवत धर्म और नारायणीय धर्म में वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उपपत्ति परंपरा दी गई है। व्यक्ति सृष्टि का क्रम इसके द्वारा समझ में आजाता है। वासुदेव का भक्ति-

१. गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक।

मार्ग एक प्रशस्त राजपथ है ऐसा गीता कहती है। दूसरे किसी भी उपास्य की भक्ति करने पर अन्त में वह वासुदेव की भक्ति हो जाती है। ज्ञानी, आर्त, जिज्ञासू, और मुमुक्षु ये भक्तों की चार श्रेणियाँ हैं। गीता और भागवत में भक्ति विषयक कोई अंतर नहीं है। सात सौ श्लोकों की श्रीमद्भगवद्गीता व्यास प्रणीत है। महाभारत का ही वह एक अंश है। महाभारत के रचयिता भी व्यास मुनि हैं। व्यक्तोपासना अर्थात् भक्ति, गीता का विवेच्य विषय है। वैदिक भक्ति मार्ग बहुत प्राचीन है यह गीता और उपनिषदों के सम्बन्धों से ज्ञात हो जाता है। लोकमान्य तिलक के मत में महायानी-भक्ति श्रीकृष्ण के भागवत धर्म से ही प्रभावित हुई थी। बुद्धपूर्व ६ सौ से अधिक ईसवी पूर्व भारत का भक्ति मार्ग प्रस्थापित हो गया था। नारद पांचरात्र, नारद और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र उत्तरकालीन हैं। प्राचीन उपनिषदों में जो सगुणोपासनाएँ वर्णित हैं उनसे ही क्रमशः भागवतों का भक्तिमार्ग विकसित हुआ। बाहर से यहाँ भक्ति आई ही नहीं और न कोई उनकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। पातंजल योग के अनुसार चित्त स्थिर होने के लिए व्यक्त और प्रत्यक्ष चीज आँखों के सामने रहनी आवश्यक है। भक्तिमार्ग मे इससे सहायता ही मिली। गीता में ब्रह्मज्ञान उपनिषदों पर आधारित है और सृष्टिक्रम सांख्य दर्शनानुसार विवेचित है। वासुदेव भक्ति को मिलाकर क्षर और अक्षर ज्ञान का प्रतिपादन, सामान्य लोगों के लिए सुलभ और आचरणीय कर्ममार्ग से उद्बोधित किया गया।

ब्रह्मसूत्र के प्रणेता व्यास हैं। मूल भारत में गीता का आज का प्रचलित रूप देने का और ब्रह्मसूत्र रचने का कार्य व्यास ने किया। बादरायणाचार्य ने अपने युग में मिलने वाले महाभारत के भागों का अन्वेषण कर इस ग्रन्थ का पुनरुज्जीवन किया। कर्म-प्रधान भक्तितत्व गीता ने भागवत धर्म से लिए। जीव नित्य ही परमात्मा का अंश है और क्षेत्रज्ञ जीव का स्वरूप उपनिषदों के ऋषियों की मत-प्रणालीनुसार है। इन सब की एक वाक्यता ब्रह्मसूत्रों में मिलती है। सांख्य और योग का ही केवल समन्वय गीता में नहीं है। पश्चिमी विद्वान 'सांख्य' और 'योग' शब्द के अर्थ नहीं जान सके। ईसाई धर्म भक्ति प्रधान होने से दर्शनशास्त्र ईसाईयों को ज्ञात न था। फलतः युरोपीय विद्वान अपने मत के प्रतिवाद में सदा भ्रम उत्पन्न करते हैं। यूनानी दर्शन के साथ ईसाई भक्ति का सम्बन्ध बाद में जोड़ा गया है।

भारत में भक्ति मार्ग का उदय होने के पूर्व मीमांसकों का यज्ञमार्ग, उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग तथा सांख्य और योग अपनी परिपक्व दशा में थे। इसीलिए

इन सब शास्त्रों और विशेपतः ब्रह्मज्ञान को छोड़कर स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित भक्ति मार्ग इस देश के लोगों को मान्य नहो हो सकता था ऐसा लोकमान्य का कहना है।

औपनिपदिक-ज्ञान को छोड़कर भक्ति की कल्पना अपने से स्वतन्त्र रूप में अचानक उत्पन्न नहीं हुई और न वह वाहर से भारत में आई। ब्रह्मचिन्तन में प्रथम यज्ञों के अङ्गों की, वाद में 'ॐ' की, रुद्र की, विष्णु की और अन्य वैदिक देवताओं की या आकाशादि सगुणव्यक्त ब्रह्म प्रतीकों की उपासना आरम्भ हुई। अन्त में राम, नृसिह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदि की भक्ति एवम् उपासना आरम्भ हुई।

ऐतिहासिक दृष्टिसे रामतापनी, नृसिंह तापनी आदि भक्ति प्रधान उपनिपदों की भापा से सिद्ध हो जाता है कि वे अर्वाचीन हैं। छान्दोग्य आदि पुराने उपनिषदों में वर्णित ज्ञान-कर्म समुच्चय का आविर्भाव हो जाने पर योग और भक्ति को प्राधान्य मिला। योग-प्रधान और भक्ति-प्रधान उपनिपदोंका अन्तिम साध्य ब्रह्मज्ञान ही है। इसीलिये रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव इनमें से जिनकी भी भक्ति करनी हो वे परमात्मा के रूप हैं—परब्रह्म के रूप हैं ऐसे वर्णन मिलते हैं।

भागवत धर्म को ही 'नारायणीय', 'सात्वत', 'पांचरात्र' आदि नामों से भी समझा गया है। उपनिषदकाल के वाद बुद्ध पूर्व वैदिक ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध न होने से गीता के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध होने वाले धर्म ग्रन्थों में महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान, शाण्डिल्यसूत्र, भागवत-पुराण, नारद-पांचरात्र, नारद-भक्तिसूत्र और रामानुजाचार्य के ग्रन्थ शालीवाहन शक १२०० में लिखे गये हैं। इनकी सहायता से हम मूल भागवत धर्म पर प्रकाश नहीं डाल सकेंगे। नारायणीयोपाख्यान में वर्णित दशावतारों में बुद्ध का समावेश नहीं है जो अन्य उल्लिखित ग्रन्थों में किया गया है। नर और नारायण इन दो ऋषियों ने भागवत धर्म आरम्भ में कथन किया है। नारद को श्वेतद्वीप में यह भागवत धर्म नारायण ने सुनाया था। यह द्वीप क्षीर-समुद्र में मेरुपर्वत के उत्तर में है। 'वेबर' का अनुमान है कि भक्ति का तत्व ईसाई धर्म से भारत में लिया गया है। लोकमान्य तिलक इसका खंडन करते हैं।[1] पाणिनि को वासुदेव भक्ति का तत्व ज्ञात था। जैन और बौद्धधर्मों में भी वासुदेव-भक्ति का उल्लेख है। पाणिनि, बुद्ध और क्राईस्ट पूर्व थे। अतः स्पष्ट है कि किसी भी तरह ईसाई धर्म द्वारा भक्ति यहाँ पर प्रचलित नहीं हो सकती थी।

'सेनार्त' नामक एक फ्रेंच अपने एक लेख में लिखता है[2]—

---

१. लोकमान्यतिलक का गीता रहस्य।

२. दी इन्डियन इन्टरप्रेटर—त्रैमासिक, जनवरी १९०९–१०।

'No one will claim to derive from Buddhism or the Yoga. Assuredly Buddhism is the borrower.'

स्पष्ट है भागवत धर्म बुद्ध धर्मपूर्व यहाँ पर विद्यमान था।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को लुप्त हो गये हुए भागवत धर्म का उपदेश दिया था। इसके दर्शन शास्त्रानुसार परमेश्वर को वासुदेव, जीव को संकर्षण, मनको प्रद्युम्न और अहंकार को अनिरुद्ध कहा गया है। श्रीकृष्ण ही स्वयं वासुदेव हैं, संकर्षण बलराम हैं, तथा प्रद्युम्न पुत्र है और अनिरुद्ध प्रपौत्र हैं। श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया वही तत्पूर्व काल में नारायणीय वा पांचरात्र के नाम से प्रचलित रहा होगा। श्रीकृष्ण की सात्वत जाति में उसका प्रचार होने से उसे सात्वत-धर्म कहा गया होगा। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन नरनारायण के अवतार हैं इसी कल्पना से इस धर्म को भागवत् धर्म कहने लगे होंगे।

श्रीकृष्ण यादव, पांडव और कौरवों के बीच का भारतीय युद्ध का काल कलियुग का आरम्भ काल माना जाता है। विद्वानों के मतानुसार इ. स. के पूर्व १४०० वर्ष पांडव और भारतीय युद्ध हुआ था। यही श्रीकृष्ण का काल है। इसको मान लेने पर श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म करीब-करीब बुद्ध के ८०० वर्ष पूर्व प्रवृत्त किया था। लोकमान्य के मत में भागवत धर्म को आगे चलकर विभिन्न स्वरूप प्राप्त हुए। इसलिए श्रीकृष्ण के बारे में अलग-अलग कल्पनाएँ निकली। अतः भिन्न-भिन्न कृष्ण मानने की आवश्यकता नहीं हैं। 'मैत्र्युपनिषद' के अनुसार रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण सभी ब्रह्म हैं। ज्ञानी पुरुष भी ब्रह्ममय है। अतः श्रीकृष्ण भी परब्रह्म हैं। वैदिक काल की पूर्व मर्यादा खाइस्ट पूर्व ४५०० वरसों से कम नहीं मान सकते। वेदों की उदगयन स्थिति दर्शन वाक्यों के आधार पर 'ओरायन' में लोकमान्य इसे सिद्ध कर चुके हैं। इसे पश्चिम पंडित भी मान्य कर चुके हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ यागादि प्रधान ग्रन्थ हैं। वह ईसवी पूर्व २५०० वर्ष में और छान्दोग्य उपनिषद जैसा प्रधान ग्रन्थ ईसवी पूर्व १६०० वर्ष में लिखा गया है। इस तरह काल निर्णय हो जाने पर भागवत धर्म के उदय काल पाश्चात्य पंडित जिन कारणों से जितना इधर खींचते हैं वे कारण ही नष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण और भागवत धर्म एक ही समय में प्रचलित थे यह निष्कर्ष निकलता है। वैदिक काल समाप्त हो जाने से सूत्र और स्मृति ग्रन्थों का निर्माण काल आरम्भ हो गया है। अन्य ऐतिहासिक बातें और वस्तुस्थिति का भी मेल बैठ जाता है।

भागवत धर्म का उदय १४०० वर्ष पूर्व ईसवी और बुद्ध पूर्व सात आठ सौ वर्ष हो चुका है। यह काल बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्म मार्ग इससे

भी प्राचीन है। उपनिषदों और सांख्यशास्त्र का ज्ञान भी भागवत धर्म निकलने पूर्व प्रचलित होकर सर्वमान्य हो गया था।

भागवत धर्म के पूर्व भी किसी न किसी प्रकार की भक्ति आरम्भ हो चुकी थी। भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवद्भक्त को परमेश्वर की तरह जग के धारण पोषण के लिए कर्मरत हो जाना चाहिए। भागवत धर्म ने निष्काम कर्म प्रधान प्रवृत्तिमूलक मार्ग श्रेयस्कर है ऐसा प्रतिपादन किया। ज्ञान के के साथ कर्म और भक्ति के साथ कर्म का योग्य समन्वय कर दिया। मूल भागवत धर्म में इसे निष्काम प्रवृत्ति तत्व माना गया है। यही नैष्कर्म्य है। धीरे-धीरे वैराग्य प्रधान वासुदेव भक्ति इस धर्म में प्रधान हो गई। ज्ञान और भक्ति के साथ पराक्रम का नित्य मेल रखने वाला मूल भागवत धर्म आगे चलकर सन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रसार से कर्मयोग पीछे रहकर उसे वैराग्य युक्त भक्ति स्वरूप प्राप्त हो गया। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद जो वैदिक-संप्रदाय बने उनमें से कुछ ने भगवद्गीता को सन्यास-प्रधान तो कुछ ने केवल भक्ति-प्रधान और कुछ ने विशिष्टाद्वैत का स्वरूप दिया।

गीता का धर्म भी मूल भागवत धर्म के स्वरूप को ही बतलाता है। गीता और मूल भारत खिस्त पूर्व १४०० वर्ष भागवतों के दो प्रधान ग्रन्थ थे। किन्तु उनका निर्माण बाद में हुआ होगा। किसी भी धर्म के प्रादुर्भाव काल में लिखे गये ग्रन्थ उसी समय धर्म ग्रन्थ नहीं बनते। महाभारत और गीता के बारे में भी यही न्याय लागू हो जाता है। भारतीय युद्ध के बाद, पाँच सौ वर्षो के भीतर ही आर्ष-महाकाव्यात्मक मूल भारत निर्माण हुआ होगा। आर्षमहाकाव्य में केवल नायक के पराक्रम का वर्णन करने से काम नहीं चलता। नायक जो कुछ करता है वह योग्य है या अयोग्य यह भी कहना पड़ता है। यही आर्ष महाकाव्य का एक मुख्य भाग रहता है। इसीलिए महाकाव्यात्मक मूल भारत में ही कर्मयोग प्रधान भागवत धर्म का निरूपण करना पड़ा। यही मूल गीता ग्रन्थ है। इसमें भागवत धर्म का मूल स्वरूप सोपपत्तिक प्रतिपादन के साथ व्यक्त हुआ है। अनुमानतः ६६० वर्ष खिस्तपूर्व इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ होगा।

अज्ञानियों के लिए भक्तिमार्ग सुलभ सोपान है, तथा ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए प्रवृत्तिमार्ग की स्वीकृति उचित है यही गीता का प्रतिपादन है। बुद्ध धर्म में वासनाक्षय का निवृत्तिपरक मार्ग उपनिषदों से लिया गया है। श्रीकृष्णोक्त भगवद्-गीता के अतिरिक्त प्रवृत्तिपरक भक्तितत्व वैदिक मत में न होने से महायान पंथ के अस्तित्व में आने के पूर्व भागवत धर्म और भगवद्गीता का तत्व प्रचारित था यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष बाद बौद्ध धर्मीय भिक्षुओं की

दूसरी परिषद हुई थी। उसके वाद सिलोन में प्रचार करने के लिए लिखे गये विनय पीटकादि ग्रन्थ आते हैं। यह काल २४१ ईसवी पूर्व का है। इस युग में प्रचलित वैदिक ग्रन्थों में से इन वौद्ध ग्रन्थों में कुछ वातें ले ली गई हैं। महाभारत के कई श्लोक वौद्ध ग्रन्थकारों ने ले लिये हैं। यही कहना पड़ेगा कि महाभारतकार ने वौद्ध ग्रन्थों से कुछ नहीं लिया।

अंत: यदि महाभारत का काल निर्णय न भी हो सका, तो भी केवल अनात्मवादी तथा मूलतः सन्यासपरक वौद्धधर्म से क्रमशः विकसित होने वाले भक्तिपरक और प्रवृत्तिपरक तत्व स्वाभाविक रीति से निकलना असंभव है। महायान पंथ की उत्पत्ति के वारे में स्वयं वौद्ध ग्रन्थकारों के द्वारा किया गया श्रीकृष्ण नाम निर्देश वतलाता है कि भक्तितत्व महायान ने उनसे ही लिए हैं। गीता में पाया जाने वाला प्रवृत्तिपरक और भक्ति प्रधान तत्वों का महायान पंथ के मतों में सादृश्य और साम्य इसीलिए है। वौद्धधर्म के साथ समकालीन जैन और वैदिक पंथों में प्रवृत्तिपरक भक्तिप्रधान तत्वों का अभाव यही सिद्ध करता है कि महायान पंथ के प्रादुर्भाव होने के पूर्व भागवत धर्म प्रचलित था और भगवद्‌गीता सर्वमान्य थी।

अत: निर्णय में कह सकते हैं कि गीता के आधार पर महायान पंथ निकला है और श्रीकृष्णोक्त गीता के तत्व वौद्ध धर्म में से नहीं लिये गये हैं।

सांख्य, योग और वेदांत दर्शन वैष्णव मतों पर अपना प्रभाव पर्याप्त रूप से छोड़ चुके हैं। यहाँ पर क्रमशः इनके प्रभावों का विवेचन किया जाता है।

सांख्य और वैष्णव मत—

सांख्य दर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल थे। यह वहुत पुराना दर्शन है। 'संख्या' शव्द से इसका कोई सम्वन्ध रहा होगा। इस दर्शन में संख्याएँ अन्तिम तत्वों को वतलाने वाली है। 'सांख्य' शव्द का दूसरा अर्थ सम्यक ज्ञान या परिपूर्ण ज्ञान लिया जाता है। यह एक व्यक्ताव्यक्त यथार्थवादी द्वैती सिद्धांत है। सत्य की अन्तिम परिणति दो तत्वों में हो जाती है। ये दो स्वतंत्र तत्व पुरुष और प्रकृति माने गये हैं।

प्रकृति का अस्तित्व अनुमान से पहिचाना जाता है। संसार के पदार्थों का एक योग्य कारण होता है। यह कारण क्या हो सकता है? यह पुरुष नहीं क्योंकि वह कारण और परिणाम दोनों नहीं है। केवल भौतिक अणु परमाणु जगत् निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि इसमें मन और वुद्धि जैसी सूक्ष्म चीजें भी हैं। इस जगत् का अन्तिम कारण प्रकृति है जो प्रधान और अव्यक्त है। यह अन्तिम तत्व असंवेद्य और अवोध तत्व है जो स्वयम् अकारण, सनातन और सर्वव्यापी है तथा अत्यन्त

सूक्ष्म और अतीव शक्तिमान भी। इसका विकास और विनाश चक्रनेभिक्रम से होता रहता है।

प्रकृति तीन गुणों से बनी है, जो सत्व, रज और तम के नाम से पहचाने जाते हैं। इन त्रिगुणों की एकता जगत् के साम्यावस्था को बनाये रखती है। इन गुणों को हम प्रत्यक्षानुभूति के रूप में नहीं ले सकते। उनके होने वाले परिणामों से हम अनुमान मात्र कर लेते हैं. जो इस भौतिक जगत् के पदार्थों पर होता रहता है। प्रत्येक ऐसा पदार्थ अपने में सुख और दुख तथा तटस्थता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। कारण में ही परिणाम को रहना चाहिये। प्रकृति सब पदार्थों का मूल कारण है अतः सुख, दुख और तटस्थता ये विशेपतायें उसमें होती हैं। इन्हें ही सत्व, रज और तम के नाम से पहिचानते हैं। सुख की प्रकृति सत्व कहलाती है और वह प्रकाशक, तेजस्वी तथा उत्स्फूर्त होती है। उसका यह स्वरूप पदार्थो की स्वसंवेदिता में प्रकट हो जाता है। अग्नि अपनी ज्वालाओं से प्रकट होता है। ज्वालाओं का ऊपर उठना, अनेक प्रकार की सुगन्ध, वायु आदि बातें रजस प्रकृति में आती है। यह तत्व पदार्थो को कृति और गति देने वाला है। इसी के कारण अग्नि फैलता है, हवा वहती है तथा तन मन वेचैन होता है। इसी से दुख उत्पन्न होता है और दुख की अनुभूति भी होती है। पदार्थो की नकारात्मकता या अक्रियात्मकता के तत्व को 'तम' कहते हैं। मनमें अहंकार और अज्ञान उत्पन्न करना इसका कार्य है। गति को रोकने वाला, भारी बनाने वाला, मोह तथा संभ्रम की ओर अग्रसर करते हुए हमारी क्रियाशीलता रोककर निद्रा, आलस्य और तन्द्रा में ले जाने वाला यही तत्व है।

ये तीनों गुण परस्पर संघर्पी और परस्पर सहायक दोनों है। संसार का हर पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है वैसे उनका अनुपात कम अधिक मात्रा का ही हो सकता है। एक ही समय ये एक दूसरे को दवाने या प्रभाव डालने का प्रयास करते रहते है। संसार के प्रलय के समय प्रत्येक गुण अपने में तिरोहित हो जाता है। इसे 'स्वरूप-परिणाम' कहते हैं। प्रत्येक गुण के कार्य परस्पर उपकारी सिद्ध होते है। अपने स्वरूप परिणाम को जव प्रत्येक गुण प्राप्त हो जाता है तव उस अवस्था को साम्यावस्था कहते हैं। सांख्य इसी को 'मूल प्रकृति' कहता है। गुणों की संपूर्ण 'साम्यावस्था' के कारण उनमें परस्पर कोई भी विशेपता उस समय उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जव साम्यावस्था में विरोध होता है तब ये गुण परस्पर को दवाते रहते हैं। इसे 'विरूप–परिणाम' कहते है इसी से संसार की उत्क्रान्ति होती है।

सांख्य द्वारा प्रमाणित दो सत्यों में से 'आत्मा' एक सत्य है। उसका

मूलसार स्वसंवेदिता है और वह अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न है। सांख्य दर्शन द्वैती है। प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र अन्तिम सत्य हैं जो इस विश्व में पाये जाते हैं। पुरुष के सामने प्रकृति आती है और तभी से जगत् की उत्क्रान्ति आरम्भ हो जाती है। प्रकृति कर्तृत्वपूर्ण किन्तु अज्ञानी और निःसंवेद्य होती है। मूल प्रकृति एक है जो अव्यक्त है। यही अव्यक्त प्रकृति बाद में व्यक्त हो जाती है। अव्यक्त प्रकृति नित्य, स्वतन्त्र, निरवयव, निष्क्रीय, त्रिगुणी अविवेकी (object of knowledge) ज्ञान का विषय अचेतन और प्रसवधर्मी एवम् एक होती है। व्यक्त प्रकृति अनित्य, परतंत्र, सावयव सक्रिय, अविवेकी, ज्ञान का विषय, अचेतन, प्रसवधर्मी और अनेक होती है। पुरुष नित्य, स्वतंत्र, निरवयव, निष्क्रिय, निर्गुण, विवेकी चिंतक, चेतन, अप्रसवधर्मी और अनेक हैं।

प्रकृति की उत्क्रान्ति में प्रकृति से प्रथम महत् (Cosmic-Intellegince) या बुद्धि उत्पन्न होती है। इस विस्तृत भौतिक संसार में बुद्धि तत्व सब से बड़ा तत्व हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से उसका कार्य निश्चित करना और निर्णय लेना है। बुद्धि की सहायता से संसार के पदार्थ हमें ज्ञात होते हैं। प्रकृति से अहङ्कार उत्पन्न हुआ जो महत् से उद्‌भूत होता है। इसके कारण संसार के पदार्थों को एक दूसरे से अलग कर उसका अंतर समझते हैं। मनो वैज्ञानिक दृष्टि से हमें अपने 'अहम्' को पहचानने की अनुभूति इसी से होती है। भ्रान्ति या गलती से बदली हुई प्रकृति से इसी के कारण आत्मा मिल जाती है अर्थात् अपने आपसे मुलाकात होती है। इसी के कारण व्यक्ति अपने आपको स्वयम् उसका कर्ता और फलों का भोक्ता भी समझता है।

अहंकार से सोलह तत्व निकले हैं। मन, पंचकर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पंच तन्मात्राएँ मिलकर ये सोलह माने गये हैं। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्व हैं। इस तरह कुल २४ तत्व आत्मा को छोड़कर सांख्य ने माने हैं। प्रकृति की उत्क्रान्ति के पीछे एक निश्चित ध्येय रहता है। परन्तु प्रकृति स्वयम् उसके बारे में अनभिज्ञ रहती है। पुरुष के आनन्द के लिए ही उसका प्रथम उत्कर्ष होता है। इसी में ही वह संतुष्ट नहीं है वरन् पुरुष की मुक्ति के लिए भी वही प्रयत्नशील होती है क्योंकि यही उसका अन्तिम ध्येय भी है। यह अचेतन और जड़ प्रकृति पुरुष को प्रभावित करने के लिए किस तरह कार्य कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य इस प्रकार देते हैं कि प्रकृति पुरुष के लिये उसी प्रकार कार्य करने लगती है जैसे एक बछड़े को देखकर गाय दूध को प्रवाहित करना आरम्भ कर देती है।

सांख्यदर्शन में 'प्रधान' का कोई उद्देश्य न होने से उसे ग्राह्य नहीं माना जा सकता। यदि पूछा जाय कि वह पुरुष की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है तो पुरुष तो स्वयं मुक्त है, उदासीन है, आनन्द और दुःख से तटस्थ है। तब प्रश्न उपस्थित होता है दोनों में सम्बन्ध कैसे प्रस्थापित किया जा सकता है? सांख्यों के अनुसार प्रधान प्रकृति और पुरुष में लंगड़े और अन्धे का सम्बन्ध है। पुरुष निष्क्रिय-लंगड़ा है और प्रकृति अन्धी है अतः दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। उदासीन और निष्क्रिय पुरुष प्रधान प्रकृति में क्रिया कैसे उत्पन्न करता है? केवल पुरुष की उपस्थिति प्रकृति को गतिमान कर देती है ऐसा मानें तो उसे सर्वदा गतिशील रहना चाहिए। परन्तु प्रलय भी होता है। प्रकृति और पुरुष इन दोनों को सांख्य नित्य मानते हैं इस कारण उनका सम्बन्ध भी नित्य हो जाता है। इसी से सांख्यवादी नाना जीववादी बने हैं। इनका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर अपना कोई अभिप्राय नहीं मिलता। पुरुष प्रकृति की अन्तिम प्राप्ति की साधना के लिए इसमें कोई कार्यक्रम नहीं दिखाई देता। प्रकृति प्रसवशीला होने के कारण जीव के भले बुरे कार्यों का कर्मविपाक होता रहता है। वैष्णव सन्तों के साहित्य पर सृष्टि व्यापार और कर्मविपाक सिद्धान्तों का गहरा असर पड़ा हुआ दिखाई देता है। त्रिगुणात्मिका-प्रकृति प्रशवशीला, और जड़ होने से, तथा पुरुष चेतन और अकर्ता होने के कारण, सृष्टि व्यापार के लिए ईश्वर जैसे तत्व का प्रतिपादन, सांख्य दर्शनकारों ने नहीं किया है। इसी से कपिल-सांख्य को निरीश्वरवादी सांख्य माना गया है।

योगशास्त्र का वैष्णव साधना पर प्रभाव—

योग सूत्रकार महर्षि पातंजली योग सूत्रों के और दर्शन के प्रणेता माने गये गये हैं। सांख्यों के सृष्टि व्यापार को एवम् तत्वों को ये भी मानते हैं। ये कैवल्य और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर योग साधना से प्राप्त होता है। 'योगः चित्तवृत्ति निरोधः।' इसका मुख्य सूत्र है। परन्तु इसके साथ वे ईश्वरी कृपा से भी मोक्ष प्राप्ति हो सकती है इसे मानते हैं। परमेश्वर भक्ति से वश किया जा सकता है यह उन्हें मान्य है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यह ईश्वर विषयक सूत्र है। इसमें हठयोग और राजयोग का वर्णन किया गया है। ईश्वर प्राप्ति का ध्येय मान्य कर लेने से चित्तवृत्ति का निरोध या योग मनुष्य आचरण में क्यों लाये ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो गया होता। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। योगाचरण के लिये ईश्वर प्राप्ति का ध्येय इन्हें मान्य है और ये भक्तिमार्ग को भी अपनी मान्यता प्रदान कर देते हैं।

हठयोग—यह एक विशिष्ट शारीरिक क्रिया है जिसमें विशिष्ट प्रकार से प्राण वायु का रोधन कर उसे समाधि अवस्था तक पहुँचाया जाता है।

राजयोग—केवल बुद्धि या विवेक सामर्थ्य से समाधि अवस्था प्राप्त कर लेना राजयोग कहलाता है। बुद्धि के जटिल मार्ग को छोड़कर केवल हठयोग का आश्रय लेकर भी ध्येय सिद्धि कर ली जाती है। पर यह भी अधिकारी और पात्रतम ही कर सकते हैं। हठयोग में प्राणवायु का शरीर में से विशिष्ट क्रियाओं द्वारा भ्रमण कराया जाता है। इन प्रक्रियाओं में जिन चक्रों का शोधन आवश्यक है वह यदि न हुआ तो सारी क्रियामात्र शारीरिक क्रिया बन जायगी। उदाहरणार्थ—मूलाधार चक्र का शोधन होते समय उस स्थान की चार मातृकाएँ एवम् चार अक्षर मात्र दिखाई देना आवश्यक है। इससे कम या अधिक अक्षर दिखाई दें तो वह अनुचित होगा। गणपति इस चक्र के अधिष्ठाता हैं। मूलाधार-चक्र शुद्ध होते समय जो योगी चार मातृकाओं को देखेंगे और जिनको गणपति की प्रसन्नता प्राप्त हो जायगी, उनका ही चक्र शोधन, क्रिया द्वारा शुद्ध हो गया है, ऐसा निश्चित होगा। अन्य षड्चक्रों के बारे में भी यही नियम है। इस प्रकार षड्चक्र-शोधन से साधक, समाधि अवस्था तक पहुँचकर सच्चा योगी बन जाता है। अन्यथा सारी क्रियाएँ केवल शारीरिक क्रियाएँ बन जाती हैं और समाधि भी केवल शारीरिक क्रिया ही मानी जावेगी ऐसे योगी भी शरीर-दृष्टिकोण से ही समाधि लगाते हैं। उनको इससे न तो ब्रह्म प्राप्ति होती है और न ज्ञान प्राप्ति।

वस्तुतः योग का तात्पर्य परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग है। अर्थात् अन्य मार्ग भी अन्त में योग में ही आकर समाविष्ट हो जाते हैं। इसी से भगवद् प्राप्ति के साधन प्रकारों के साथ आगे चलकर योग शब्द जोड़ा गया है। जैसे हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि। जिस मार्ग से जो जाता है वैसे ही उसकी पहचान होती है। जैसे ज्ञानमार्ग से जाने वाला ज्ञानयोगी, भक्तिमार्ग से जाने वाला भक्तियोगी इत्यादि।

हर एक व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं रहता कि वह किस मार्ग से जावे। उसे गुरु के पास इसीलिए जाना पड़ता है, कि वह किस मार्ग का अधिकारी है इसका ज्ञान उसे मिल जाय। यदि उत्तम गुरु मिल जाता है तो अपने शिष्य का अधिकार और पात्रता देखकर गुरु उसे उसके योग्य मार्ग बतला देता है। अलग-अलग योगों का सम्बन्ध तो एक दूसरे के साथ आता ही है। रोगी शरीर वाले को ज्ञान-मार्ग से जाने के लिये प्रथम अपना शरीर निरोगी रखना आवश्यक है। हठयोगी को भी भक्ति आदि का विचार थोड़ा बहुत करना ही पड़ता है। अतः प्रसङ्ग और

परिस्थिति के अनुसार जिसे जितना आवश्यक है उतना उस योग का उपयोग होकर उसे अपना इष्ट और अभीप्सित मार्ग मिल जाता है। तभी वह उस विशिष्ट पंथ का (school) का योगी कहलाता है। उपयुक्त और योग्य मार्ग का गुरु के द्वारा अथवा स्वयम् समझ बूझकर अपनाना ही 'योग: कर्मसु कौशलयम्।' माना गया है।

अर्जुन से भगवान् कृष्ण ने कहा कि 'योगं युंजन् मदाश्रय:' अर्थात् मेरे आश्रय के लिए जिसने आचरण मे जो योग लिया है वही योग है। इसीलिए योगाचरण या योगमार्ग की कुशलता रहने पर भी ईश्वरी आश्रय का हेतु भी आवश्यक है। हठयोग में कुंडलिनी का क्या अर्थ है ? उसकी जागृति कैसे होती है यह समस्या सदा रहती है। इसे भी जरा देख लिया जाय।

एक योग सूत्र है 'अपाने जुह्वति प्राणम्' अपानवायु में प्राण वायु का हवन करने वाला अपनी जीवन-शक्ति बढ़ा सकता है। साधारणत: मनुष्य १०–१२ अंगुल सांस ले सकता है। वह उसे बीस अंगुलों तक बढ़ा सकता है। इतना कर लेने पर वह प्राणवायु अपान वायु के साथ संयुक्त कर सकता है। अपान वायु का आगार नाभि के निचले विवर में रहता है। जो व्यक्ति इस विवर में प्राणवायु को पहुंचा सकता है अर्थात् जिसे इस कार्य में सफलता मिलती है, वही अपनी जीवन शक्ति सहज वढा सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को जीवन में नित्य अपान वायु का हवन करना पड़ता है। प्रत्येक के पास अपान वायु का एक निश्चित परिमाण और संचित रहता है और इसी में से नित्य का जीवन व्यतीत करते हुए उसे खर्च करना पड़ता है। इस कार्य को करते हुए उसे सामान्यत: कोई कष्ट नहीं होता। भोजन के भोज्य पदार्थों में से कोई कम या अधिक खा लिया जाय, या निद्रा अनियमित एवम् अधूरी हो जाय तो उसे इन बातों से कोई कष्ट नहीं होता। साधारण रूपेण बीस अंगुल तक कोई सांस नहीं ले सकता और केवल जोरों से भीतर सांस खीचने से भी कोई कार्य नहीं हो सकता। इस कार्य के लिए पहुँचे हुए गुरु की आवश्यकता रहती है। अपान वायु का विवर इतना रिक्त भी नहीं रहता कि जितनी मात्रा में चाहे उतनी मात्रा में प्राणवायु उसमें डाल दी जाय। यह कार्य परिश्रम और विशेष अध्ययन से साध्य है।

इस तरह प्राणवायु को नाभि के निचले विवर में पहुँचाने पर वह उसे वैसे ही एक विशिष्ट प्रकार से और क्रिया से, तथा एक विशिष्ट रास्ते से ही पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है। इसकी प्रत्येक क्रिया गुरु के सान्निध्य में और मार्गदर्शन में होना अनिवार्य है। इसमें गलती होने से भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। अत: किसी भी प्रकार की गलती इसमें खप नहीं सकती। प्राणवायु को पीछे घुमाने पर

उसे फिर वापस पीठ की ओर से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ाना आवश्यक है। मेरुदण्ड के मन के एक पर एक रखे रहते हैं। उनमें आर-पार रंध्र रहता है। सामान्यतः इसे खुला रहना चाहिए। पर सहसा वह खुला नहीं रहता। इस रंध्र के बंद रहने से जब प्राणवायु ऊपर चढ़ाई जाती है, तो छिद्र खुल जाता है। इस घर्षण-क्रिया से ऊष्णता उत्पन्न हो जाती है और अत्यंत दाह होता है। शरीर गरम हो जाता है, और अत्यंत कष्ट होता है। योग्य मार्गदर्शन से ये क्रियाएँ यशस्वी होने लगती हैं। मुक्ताबाई ने ज्ञानेश्वर की पीठ पर तन्दूर की रोटी की तरह मांडा सेका था। इस तरह की एक किवदंती प्रसिद्ध है। इस कथा का इङ्गित यही है कि जो ऊष्णता उत्पन्न हुई उसका यह लाक्षणिक वर्णन है। इस तरह पूरे मनकों का मार्ग रिक्त हो जाने पर वायु ऊपर चढ़ने लगती है। ऊपर चढ़ते-चढ़ते यह अंतिम मनके से बड़े मस्तिष्क में जहाँ वह छोटे मस्तिष्क से जुड़ा रहता है, वहाँ प्रवेश करती है। वहाँ से बड़े मस्तिष्क में से होते हुए मस्तक के ठीक मध्यभाग में से उसे आदि मस्तकाकार कपाल के मध्य में से फिर उसे नीचे लाना पड़ता है। यहाँ तक की सारी यौगिक क्रियाएँ साध्य हो जाने पर सर्व साधारण तथा मनुष्य नासिका में से प्राणवायु को भीतर लेते समय इस नाक के बराबर ऊपरी और पिछली ओर से चढ़ाकर मस्तक में लायी हुयी वायु मार्गस्थ हो जाती है और ऊपर और नीचे के भार के कारण वहाँ का मार्ग भी खुला होकर वहाँ की वायु से यह वायु मिल जाती है। इन दोनों वायुओं का संयोग दोनों भौंहों के बीच में स्थित है। इस स्थान को आज्ञाचक्र कहते हैं। यही अमृतप्राशन है। इसे ही कुंडलिनी-जागृति कहा जाता है। कुंडलिनी के काव्यात्मक वर्णन कई ग्रन्थों में मिलते हैं। उसे शरीर की सब चीजें खा डालती है। मनुष्य बलवान हो जाता है, उसका शरीर कांतिमान हो जाता है। उसकी त्वचा, केश स्वर्ण जैसे बन जाते हैं। इस तरह के वर्णन ज्ञानेश्वर आदि संतों के साहित्य में मिलते हैं। षट्चक्र-भेदन इसी तरह हो जाता है, और वे स्थान शुद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक चक्र पर एक देवता का अधिष्ठान है। अतः प्रत्येक चक्र भेदन के समय उसके अधिष्ठात को प्रसन्न कर लेना पड़ता है। केवल शारीरिक क्रिया करते हुए प्राणवायु को षट्चक्रों तक पहुँचाकर समाधि तक पहुँच सकते हैं।

पर इससे ज्ञानप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। समाधि-अवस्था में जाने पर मरण में जीव का आत्यंतिक लय नहीं है ऐसा साक्षात्कार योगी को होता है। जिस चक्र पर जो अक्षर या मातृका होगी उन तक प्राणवायु के पहुँचने पर योगी का अन्य अक्षर सुनना या परावाचा से उच्चारण करना असंभव हो जाता है। इसे ही उन चक्रों की शुद्धि क्रिया माना जाता है।

अपनी आयु वढ़ाने के लिये भी योगी इसका उपयोग कर सकते हैं। मनचाहे दिनों तक वह जीवित रह सकता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रत्येक चक्र की शुद्धि के समय उसके अधिष्ठता की कृपा और प्रसन्नता की प्राप्ति आवश्यक है। यह सब साध्य होने के लिए अच्छे व उच्च कोटि के गुरु की आवश्यकता रहती है। आधुनिक काल में जो योगी हम देखते हैं वे केवल शारीर क्रिया के जानकार हैं। अतः समाधि लगाने पर भी उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होता। उन्हें फिर सगुणोपासना करनी ही पड़ती है। शरीर की शुद्धि के साथ और विकास के साथ मनका विकास और शुद्धि नहीं हुआ करती है। ईश्वरी प्रसाद भी नहीं रहता। अतः उसे सगुणोपासना से ही प्राप्त कर लेना पड़ता है। जिनके पास मन और वुद्धि की पहुँच रहती है वे निर्गुणोपासना से समाधि के वल पर ब्रह्मप्राप्ति कर लेते हैं। प्रायः ऐसे लोग विरले और नगण्य प्राय ही मिलते हैं। पातंजल योग के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति का यही मार्ग है।[१]

कपिल सांख्य जिस तरह निरीश्वरवादी है वैसे ही पातंजल योगदर्शन सेश्वरवादी है। पातंजल योगदर्शन के चार पाद हैं। (१) समाधि-पाद, (२) साधन-पाद, (३) विभूति-पाद और (४) कैवल्य-पाद। सत्य की स्वरूप सिद्धि करके उस अवस्था में तदाकार होने की भूमि को समाधि कहा गया है। इस समाधि के हेतु यम, दम नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि है। इसको अष्टांग-योग कहते हैं। इसका विवरण साधनपाद में किया गया है। विभूतिपाद में योगी के अधिकारानुरूप क्रिया वताकर हर क्रिया से होने वाली सिद्धि का वर्णन किया गया है। वैसे ही उसमें केवल अभ्यास से हर यौगिक क्रिया सिद्ध होने की आशंका के कारण ईश्वर कृपा का औचित्य दिखाया है। 'पुरुष विशेषो ईश्वरः' इस प्रकार ईश्वर की व्याख्या करते हुए 'तस्य वाचक प्रणवः' इस सूत्र में उसका नामाभिधान किया गया है। उसकी प्राप्ति के लिए अर्थात् उसकी भावना करने के हेतु 'तज्जप स्तदर्थ भावनम्' सूत्र द्वारा प्रणव अर्थात् ॐकार का जप करने का विधान वतलाया गया है। इसीलिए योगदर्शन सेश्वर-सांख्य कहलाता है। इस तरह पिंड-ब्रह्माण्ड रचना के हेतु योग दर्शनाकार को कपिल-सांख्य ही अभिप्रेत है। अतः उसे नीरीश्वर-सांख्य और इसे सेश्वर-सांख्य कहा जाता है।

शौच, अस्तेय, नियम, अहिंसा, अपरिग्रह आदि नियमों का योग सिद्धि के हेतु योगदर्शन में विशेष अनुरोध दिखाई देता है। उसी का उपयोग लोगों का चारित्र्य वनाने के हेतु मराठी और हिन्दी के वैष्णव संतों ने प्रकर्षेण रूप से

---

१. तोंडओळख—डा० रा. प्र. पारनेरकर, पृ० ७०–७२–७५।

किया है। योगदर्शन से यदि मुमुक्षु चाहे तो साधन सम्पन्न भी बन सकता है तथा आगे चलकर चाहे तो अपनी स्वेच्छा से योग, ज्ञान या भक्ति इनमें से किसी भी साधन में जुटकर कृतार्थ होने के लिए मुक्ष्म बन जाता है।

वेदान्त दर्शन का वैष्णव मत पर प्रभाव—

प्रसिद्ध वेदान्त दर्शन उसकी अध्यात्मवादी दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। वेदान्त का अर्थ वेदों का अन्त कुछ लोग बतलाते हैं। विशेषतः उपनिषदों में वर्णित एवम् बतलाये गये विचारों और तत्वों को लेकर वह आगे बढ़ा है।

उपनिषदों में भी वेदों का अंत कई ढङ्ग से माना गया है। वैदिक युग की वे अन्तिम साहित्यिक कृतियाँ समझी जाती हैं। प्रथम वैदिक मंत्र ऋचाएँ और संहिताएँ निर्माण हुई। ब्राह्मणों में इन ऋचाओं को लेकर यज्ञकर्मों में विनियोग किया है और अन्त में उपनिषदों में उसकी दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया है। व्यक्तिगत जीवन में प्रथम संहिताओं का अध्ययन, बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों का और अन्त में उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है। तब तक वृद्धावस्था आजाती थी, उपनिषदों में आध्यात्मिक विचार-संपदा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। उपनिषद का अर्थ सत्य के निकट जाना है। विशिष्ट चुने हुए शिष्यों को ही पढाया जाता था। भिन्न-भिन्न रचयिताओं के द्वारा वे रचे गये थे। बादरायणाचार्य ने उनके प्रमुख विचारों का संकलन 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से किया है। यही आगे चलकर वेदान्तसूत्र कहलाया गया। वेदान्त दर्शन का यह प्रमुख आधारभूत ग्रन्थ है जिस पर अनेक भाष्य लिखे गये और अपने-अपने ढङ्ग से उसके अर्थ लगाये गये। ये ही आगे चलकर वेदांत दर्शन के अनेक उपसिद्धांत बनकर सामने आये। इनमें शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क आदि सम्प्रदाय आते हैं। इसके बाद भी भाष्यों पर और उपभाष्य आदि लिखे गये। यह सारा साहित्य वेदांत वाङ्मय के नाम से पहचाना जाता है। वेदांत की सब से महत्वपूर्ण विशेषता उपनिषदों के अद्वैत सिद्धांत पर जोर देना है। सत्य को इस संसार में केवल एक ही अन्तिम स्वरूप में रखा जाता है। इसमें एक तत्व स्वसंवेद्य और दूसरा आध्यात्मिक स्वरूप का है। ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का परस्पर सम्बन्ध, अंतिम सत्य और जगत् का सम्बन्ध आदि की चर्चा उसमें होती है।

शङ्कराचार्य के अनुसार जगत् का निर्माण ही नहीं हुआ। जो अनुभव हमें जगत् का होता है वह माया या अविद्या के कारण होता है। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा परमात्मा से बहुत साम्य और अभिन्नत्व रखती है।

साधारण जीवन के अनुभव में उन दोनों का जो अन्तर सामने आता है वह केवल अविद्या के कारण आता है। रामानुज-संप्रदाय, विशिष्टाद्वैत और मध्व का द्वैताद्वैत माना जाता है। हम अपने अन्य अध्याय में इस पर पर्याप्त रूप से विवेचन करु चुके हैं अतः यहाँ पर उन पर कोई विवेचन नहीं है।

वेदांत के सभी संप्रदाय आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म-विद्या को उच्च कोटि का ज्ञान मानते हैं। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से इस मार्ग का अधिकार मिल जाता है और वह अभ्यास, ध्यान और मनन से प्राप्त होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार अपने आत्म साक्षात्कार से सम्पन्न है। इससे सच्चे अपरिमित आनन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्द के सामने सांसारिक सुखों का कोई मूल्य नहीं होता। पारमार्थिक आनन्द का स्रोत आत्मा में होता है। ईश्वर सर्वत्र और सर्वव्यापी है। वह बाहर भीतर और सर्वत्र है। वैदिक वाङ्मय से ईश्वर को जानते हैं। तर्कों के द्वारा उसे नहीं जान सकते। वैसे निष्ठावान साधक कड़े अनुशासन-पूर्ण, नैतिक और धार्मिक अध्यवसाय से स्वयम् परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। श्रद्धा मूलतः ध्यान और धार्मिक बातों पर होना आवश्यक है। वेदों में ईश्वर को 'नेति-नेति' कहा गया है। इस विश्व का वही कर्ता-धर्ता और संहारक है एवम् नियामक भी।

शङ्कराचार्य परमतत्व को दो दृष्टियों से देखते हैं। प्रथम तो संसार को व्यावहारिक रूप से सत्य मानते हैं। इसके लिए इस संसार का निर्माता, पालनकर्ता और संहारकर्ता ईश्वर है। उसकी हम पूजा कर सकते हैं। दूसरे पारमार्थिक दृष्टि से यह संसार असत्य है। अतः इस स्तर पर आकर जब संसार ही नहीं तब उसका निर्माता भी नहीं है। केवल अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है। इसका कोई दूसरा रूप संभव नहीं है। ईश्वर तत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है वह उसका स्वरूप लक्षण नहीं है। केवल सगुण या ईश्वर ही पूजा का आधार बन सकता है, जिसकी भक्ति की जा सकती है। लेकिन अन्त में परमार्थ के ऊपरी स्तर पर आकर यह अंतर लुप्त हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म के परे कुछ है ही नहीं। वह अनिर्वचनीय भी है। इसके कुछ सूत्र इस प्रकार है—'एकोब्रह्मः द्वितीयो नास्ति', 'नैहनानास्ति किंचन, और ब्रह्मम् सत्यं जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' आदि।

मायावाद क्या है ?

मायावादी दो प्रकार के भाव पदार्थों को मानते हैं। एक ज्ञान और दूसरा अज्ञान। ये दोनों भाव पदार्थ है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं वरन् वह भी एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ है। अज्ञान रूपी भाव पदार्थ के दो विभाग हैं प्रथम

आवरण और दूसरा विक्षेप। रजोगुणयुक्त अविद्या ही आवरणयुक्त अज्ञान है। सत्वगुणयुक्त माया विक्षेप युक्त अज्ञान है। रजोगुणयुक्त अविद्या से आगे चलकर जीव निर्माण होता है। सत्व गुणयुक्त माया से ईश्वर निर्माण होता है। जीव अविद्योपाधित होने से अविद्या का ही निर्माण कर सकता है और करता है। वह कार्य रूप है। ईश्वर मायोपाधित होने से माया को ही उत्पन्न कर सकता है और करता है। वह कारण रूप है। पुरुष–प्रयत्न अविद्या को मिटा सकता है। ब्रह्म पद अध्यात्मिक दृष्टि से सिद्ध हो सकता है। सर्प-रज्जु का दृष्टांत इसे समझाने के लिए दिया जाता है। आवरण युक्त अज्ञान से रज्जु–सर्प जैसी भासित हुई यही अविद्या है। इसका निराकरण ज्ञान से हो सकता है और दीपक ले आने पर जब देखा तब अज्ञान नष्ट होकर मूल रज्जु स्वरूप गोचर हो गया। यहाँ ज्ञान से अज्ञान का निराकरण हो गया पर विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण ज्ञान से नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी यह अज्ञान विद्यमान रहता है। जैसे नदी के तट पर खड़े होकर तटवर्ती वृक्ष की ओर देखने पर उसका तना नीचे और शाखायें तथा उप-शाखायें ऊपर बढ़ती चली गई है ऐसा दिखाई देता है। इतना ही नहीं तो पानी में हम अपना निजी प्रतिबिम्ब भी उलटा देखते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ही समय जब ज्ञान रहता है तब अज्ञान का निराकरण नहीं होता वरन् वह कायम रहता है। अर्थात् विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण सत्य ज्ञान से नहीं हो पाता। वह कायम रहता है। अब तक के विवेचनानुसार अविद्या का निराकरण पुरुष-प्रयत्न से हो जाने पर 'ब्रह्मसत्य' यह पद सिद्ध हो जाने पर और उसकी प्रतीति ही आने पर 'जगन्मिथ्या' यह पद सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उसकी निष्पत्ति विक्षेपयुक्त अज्ञान से उत्पन्न है। पुरुष-प्रयत्न से वह साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह बात उसके अधीन नहीं परन्तु वह ईश्वराधीन है। जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति यदि लेनी हो तो उपासना से और भगवान् की कृपा प्राप्त करने से ही वह हो सकेगी। यहाँ पर आधिदैविक पक्ष आता है। 'ब्रह्म सत्यं' के प्रतीत होने में आध्यात्मिक पक्ष है। यह वही पक्ष है जिसे आज मनोविज्ञान (Psychology) कहते हैं। पुरुष-प्रयत्न से मनुष्य चित्तचतुष्टय की शुद्धि का अर्थ यही है कि यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। जगत् आदि पदार्थ आधिभौतिक के अन्तर्गत आते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म सत्यम्' की प्रतीति हो जाने पर जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति प्राप्त करने के लिए ईश्वर की कृपा, करुणा-दया आदि की अपेक्षा सिद्ध हो जाती है। इस तरह मायावादी आचार्यों ने भी अध्यात्मवाद की अपेक्षा आधिदैविक पक्ष की श्रेष्ठता स्वीकार की है। श्रेष्ठता इसलिए क्योंकि उसमें पराधीनता है। ईश्वर यदि कृपा करे तो ही यह संभव है अन्यथा नहीं।

गीता का यह श्लोक इस पर प्रकाश डालने वाला है।[1]

दैवी एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते ॥

श्रीमद् आद्य शङ्कराचार्यजी का इस श्लोक पर किया गया भाष्य मननीय और ऊपर किये गये विवेचन की दृष्टि से महत्व रखता है अतः वह द्रष्टव्य है। ईश्वर की शरणागति लेने के हेतु अपने अद्वैत सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए वे कहते है[2]—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं नमाम कीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वच न समुद्रो न तारङ्गः ॥

'जीवो ब्रह्मैव नापरः', अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों का अनुभव करने के पश्चात् भी जीव के लिए ईश्वर-ईश्वर ही रहता है। ईश्वर जीव का स्वामी ही है। अतः अभेदानुभूति करने के कारण ईश्वर की शरण लेने में शरमाने की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा अपना स्पष्ट अभिप्राय ईश्वर को सादर अभिवादन कर शरणागति की वे अपनी तीव्र लगन प्रकट करते हैं।

जीव अविद्या की उपाधि से जन्ममरण के चक्र में पड़ जाता है। अविद्या ही जीव का बंधन है। अतः अविद्या नाश और ब्रह्म एवम् आत्मज्ञान से उसे इस बंधन से छुटकारा मिल जाता है। यही मोक्ष है। इस मोक्ष का साधन ज्ञान ही है। वेदान्तरों का यह आग्रह होते हुए भी ईश्वर की उपासना या आराधना की आवश्यकता वे महसूस करते हैं। अविद्या बंधन के हेतु पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानकर क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध में से प्रारब्धवाद का सिद्धांत सम्मुख रखकर मानव के ऐहिक जीवन में होने वाले सुख-दुखों के साथ सम्बन्ध जोड़ते है। इससे इनसान पुण्यकर्म करने के लिए प्रोत्साहित तथा पापकर्म करने के लिए हिचकिचाने वाला पाप-भीरु होता है। मोक्ष और प्रारब्धवाद को मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने माना है। अपने साहित्य में ये संत मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष बतलाते है। तथा सुख-दुख का हेतुपूर्वक कर्म पाप पुण्य के परिणाम का कारण है ऐसा बतलाकर मनुष्य को सत्य पथ पर लाने का अथक परिश्रम भी वे करते हुए दिखाई देते हैं। दारिद्र्य और विपन्नता सदियों तक सहने वाला भारत इसी के कारण नीतिमान बना रहा। जीवन की नश्वरता, सुखों का क्षणभंगुरत्व और दुःखों का आधिक्य बताकर मानव को सदाचार पर चलने के लिए प्रवृत्त करने का वैष्णव संतों ने प्रयत्न किया है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता–अध्याय ७, श्लोक १४।
२. आचार्य षट्पदी–शंकराचार्य स्तोत्र ॥३॥

नाथ-संप्रदाय और वैष्णव मत—

मराठी और हिन्दी वैष्णव सन्तों के साहित्य पर नाथ संप्रदाय का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। कबीर और सन्तमत उससे सीधा प्रभावित है ही परन्तु मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ आदि का नाथ-संप्रदाय से सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर उसे ही समझने का प्रयत्न किया जावेगा।

प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर अपनी गुरु परम्परा देकर इस संप्रदाय का उद्गम[1] कैसे हुआ उसे बताते हैं—

क्षीर सिंधु परिसरीं। शक्तिच्या कर्ण कुहरीं।
नेणों कें श्री त्रिपुरारी सांगितलें जें ॥५२॥

मग आर्ताचानि बोरसे। गीतार्थ ग्रंथनमिसें। वर्षला शांतरसें तो हा ग्रंथ् ॥१७६२॥[2]

क्षीरसागर के तट पर भगवान शंकर ने जो ज्ञान पार्वती से उनके कानों में निवेदन किया उसे कब कथन किया यह तो ज्ञात नहीं है। वह ज्ञान क्षीर समुद्र में मछली के पेट में गुप्त रूप से रहने वाले मत्स्येन्द्रनाथ ने सुनकर ग्रहण कर लिया। सप्तश्रृङ्ग पर्वत पर सहज संचार करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ आए, तो वहाँ पर भग्नावयवी चौरंगीनाथ पड़े हुए थे। उनको मत्स्येन्द्र के दर्शन हो जाने से सारे अवयव प्राप्त हो गए। तब अपनी अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से अपना सारा यौगिक एवम् आध्यात्मिक ऐश्वर्य उन्होंने श्री गोरखनाथ को प्रदान किया। योगरूप कमलिनी अपने भीतर धारण करने वाले सरोवर की तरह और विषयों का विध्वंस करने वाले इस यश को संपादन करने वाले 'विषयविध्वंसक वीर' श्री गोरखनाथ को श्रीमत्स्येन्द्र ने अपने योगैश्वर्य के पद पर स्थित कर उसका राज्याभिषेक किया। उसके बाद आशुतोष शङ्कर से प्राप्त अद्वयानंद सुख गोरखनाथ ने गहिनी नाथ को प्रदान किया। कलि के द्वारा सारे प्राणियों को ग्रस लिया गया है ऐसा देखकर गाहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को आदेश देकर उनका उद्धार करने की आज्ञा दी और वह ज्ञान भी दे दिया जो उन्हें सम्प्राप्त था। निवृत्तिनाथ से श्री गाहिनीनाथ ने कहा कि आदिगुरु महादेव से परम्परागत यह ज्ञान ऐश्वर्य हमारे कुल को प्राप्त हुआ है। इसी साधन से कलि द्वारा सताये गये जीवों की दुःख से निवृत्ति करो। श्री निवृत्तिनाथ स्वभाव से ही कृपालु थे। श्रीगुरु की आज्ञा से पीड़ित लोगों के दुःख की निवृत्ति हो जाय, इसलिए मेघ जिस प्रकार पानी बरसाकर

१. ज्ञानेश्वरी–अध्याय १८, ओवी १७५२–६२।
२. ज्ञानेश्वरी–अध्याय १८, ओवी १७५२ से ६२।

आतप क्षोभ निवारण कर देते हैं वैसे ही गीतार्थ करने के मिस ज्ञानेश्वर ने शान्त रस की वृष्टि की। यहाँ चातक की तरह गुरु का प्रसाद प्राप्त हो जाय ऐसी इच्छा करके बैठे हुए मुझ जैसे अनन्य शिष्यों को देखकर उन्होंने मुझ पर कृपा की, मैं इसलिए इस सुयश को प्राप्त कर सका हूँ।

—ज्ञानेश्वरी।

नाथ संप्रदाय की महाराष्ट्रीय परम्परा का पता इससे लग जाता है। कुछ लोगों का यह मत है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गए। पर यह मत हमें समीचीन नहीं लगता। ज्ञानेश्वरी से उपलब्ध गुरु परम्परा—वे बौद्ध नहीं थे। इसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। दसवीं शताब्दी में तांत्रिक साधना में जो वामाचार विकृत रूप धारण कर चुका था उसका शुद्धिकरण गुरु गोरखनाथ ने किया और शुद्धाचार से युक्त नाथ पंथ का विकास किया। नाथ संप्रदाय मध्ययुगीन भारतीय साधना की गंगाजी मानी जा सकती है।

नाथ संप्रदाय का उदय उत्तर भारत में ही हुआ ऐसा बतलाया जाता है। 'नाथ संप्रदायाचा इतिहास' के लेखक श्री रा. चिं. ढेरे के मत से नाथ-सम्प्रदाय की उदय भूमि दक्षिण का श्री शैल 'कदलीवन' है और इस सम्प्रदाय की प्रथम लीला स्थली आंध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र है।[1]

नाथ सम्प्रदाय के उदयकाल पूर्व श्री शैल में तांत्रिक साधना का प्रभावी केन्द्र था। यहाँ शैव, बौद्ध और शाक्त तांत्रिकों के अड्डे थे। यहाँ योगिनियों का जमघट भी था। स्त्री प्रधान साधना पद्धति की प्रक्रियाएँ भी बड़ी जोर शोर से यहाँ पर चल रहीं थीं। कदलीवन श्री शैल के आसपास ही था। यहाँ पर मत्स्येन्द्रनाथ योगिनियों के जाल में फँस गये। उत्तर के पंडित तंत्र साधना को रोकने का कार्य नाथ सम्प्रदाय ने किया इसे मानते हैं, तथा श्री शैल तंत्र साधना का केन्द्र था वह भी स्वीकार करते हैं। पर कदलीवन दक्षिण में था वह उन्हें मान्य नहीं है। भारतीय साधना की सामग्री में दक्षिण के साधनों का विचार करना उन्हें शायद अमान्य है। वास्तव में यदि कदलीवन श्री शैल के आस-पास था इसे स्वीकार कर लिया जाय, तो नाथ-सम्प्रदाय का उदगम् किस स्थल से हुआ इसका पता लग सकता है। श्री शैल और कदली वन की अभिन्नता बतलाने वाले कई प्रमाण उपलब्ध हैं। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए 'नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास' यह पुस्तक द्रष्टव्य है।[2]

---

१. नाथ संप्रदायाचा इतिहास, पृ० २८—श्री रा. चिं. ढेरे।
२. नाथ संप्रदायाचा इतिहास, रा. चिं. ढेरे, २४—२८।

श्री शैल पर मंजुनाथ (आदिनाथ) कदलीश्वर नामक स्थान नाथ सम्प्रदाय का पुरातन पीठ माना गया है। सर्व साधारण रूप से यह भी माना गया है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में हुए थे।

ज्ञानेश्वर का जन्म सन १२६० में हुआ। अपनी आयु के २१ वें वर्ष में उन्होंने समाधि ली। सन १२९० में ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त हुई। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से हम किसी भी तरह नाथ संप्रदाय को ११ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं ले जा सकते। गोरखनाथ के समय शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के ह्रासावशेष अनेक संप्रदायों में बँट गए थे। इन सबको सङ्कुटित कर बारह सम्प्रदायों को मुसलमान होने से बचाया। उनकी 'गोरखबानी' प्रसिद्ध हैं, 'अवधूत-गीता' दत्तात्रेय द्वारा रचा गया ग्रन्थ मानते हैं, और नाथ सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ भी। यह बात तो निश्चित ही है कि नाथ संप्रदाय एक शैव अद्वैत मत है। पर दत्तात्रेय भैरव, शक्ति तथा योग सम्प्रदाय से भी नाथ सम्प्रदाय सम्बद्ध है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एक और अलग ग्रन्थ है जो नाथ सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है। तांत्रिक साधना से मुक्त करने के लिये पूर्ववर्ती साधनाओं में जो ग्राह्य था उसे अङ्गीकार कर लिया, अशुद्ध था उसे शुद्ध किया, त्याज्य था उसे नष्ट किया। शिव-शक्ति का प्राधान्य, गुरु संस्था का महत्व, अद्वैत विचार, प्रतीति-प्रामाण्य, अवधूतावस्था आदि बातों का विशेष प्रतिपादन उन्होंने किया। गिरनार पर्वत पर गोरख और दत्तात्रेय मिले थे। 'दत्त गोरक्ष संवाद' प्रसिद्ध है दत्तात्रेय ने ही गोरख को योग सिद्धि प्राप्त करा दी। तंत्र मार्ग की विकृत यौगिक प्रक्रियाओं का शोधन करके उसे विशुद्धि बनाकर मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा मैथुनादि पंच मकारी स्त्री-प्रधान-वामाचार को साक्षेपपूर्वक दूर किया। और 'विषय विध्वंसक वीर' यह वीरुद धारण किया। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व है। अपने अलौकिक योग-सामर्थ्य से और अतलस्पर्शी प्रज्ञा से तंत्रमार्गी के अनेक दल गोरक्ष-मतानुयायी बने और उन्होंने पूर्व संस्कार और गोरक्षोपदिष्ट मार्गो के विचित्र संमिश्रण से अपना स्वतन्त्र मार्ग चलाया। हिन्दी वैष्णव कवियों में कबीर नाथपंथ से प्रभावित हैं। उत्तर भारत में यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का विकास न होकर बाद में उसमें अनेक विकृतियाँ आ गई थीं जिनका कबीर ने निषेध किया है। अवधू, निरंजन आदि अनेक शब्द तथा काया-साधना की बातें नाथ पंथियों की विरासत के रूप में कबीर और अन्य निर्गुनियों सन्तों को मिली हैं। नाथ सम्प्रदाय ने सूफियों पर भी अपना प्रभाव डाला है। महाराष्ट्र में ज्ञानियों के गुरु श्री ज्ञानेश्वर सीधे नाथ पंथ से जुड़े हुये हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि वैष्णवों में एक तरफ की

कड़ी ज्ञानेश्वर को लेकर और दूसरी कड़ी कबीर को लेकर नाथ सम्प्रदाय को वैष्णवों से जोड़ती है।

मूलतः नाथ पंथी होने पर भी उनके द्वारा वैष्णवों का भागवत धर्म बहुत ही प्रभावित हुआ। इसी से शैव तथा वैष्णवों में ऐक्य भावना निर्माण हुई और वे पारस्परिक रूप में एक दूसरे के देवता के प्रति आदर करने लगे। श्री क्षेत्र पंढरपुर के विठोबा की मूर्ति इन लोगों की पूजा और भक्ति का विषय बनी। इस देवता की मूर्ति में शिव और विष्णु सुचारु रूप से एकत्रित किये गये हैं। विठोबा बालकृष्ण ही हैं। बालकृष्ण या श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जो वैष्णवी भावना मनुष्य में पाई जाती हैं उस तरह विठ्ठल भजन करने से शैवी या वैष्णवी किसी भी एक प्रकार की भावना निर्माण नहीं होती। 'विठ्ठल' नाम में ऐसा जादू भरा हुआ है कि इस नाम के लेने से शिव तथा विष्णु की अनुभूति एक ही रूप में एक ही समय हो जाती है। मराठी के वैष्णव सन्त कवियों ने अपने ग्रन्थों द्वारा भागवत धर्म पर प्रवचन कर उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है वैसे ही ईश्वर प्राप्ति के हेतु भक्ति को सुलभतम साधन बतलाया है। स्थान-स्थान पर अपने आपको वे भागवत कहलाते हैं। उनमें हमें किसी तरह की सांप्रदायिकता, या कटुता नहीं दिखाई देती जो स्वयं को वैष्णव या शैव कहलाने वाले सांप्रदायों में आज तक भी बनी हुई है। पंढरीनाथ विठोबा के भक्त ज्ञानेश्वर से लेकर आज तक जितने भी हुए हैं वे सब वारकरी कहलाते हैं। वास्तविक रूप से ये सब भागवत धर्मानुयायी ही हैं, और वैष्णव होते हुए भी शैव और अन्य सम्प्रदायों के साथ इनमें सहिष्णुता है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा नाथ सम्प्रदाय में जो शैव और वैष्णवों का समन्वय किया गया उसी का ही यह मूर्त रूप है। नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ शङ्कर-महादेव-शिव का समन्वयात्मक रूप कानडा विठोबा अर्थात कर्नाटक के विठ्ठल कृष्ण रूप में परिणत हुआ।

उत्तर भारत के नाथ सम्प्रदाय में यह परिणत रूप नहीं दिखाई देता। वहाँ तांत्रिक साधना का आडम्बर दिखाई देता है। कबीर ने नाथ सम्प्रदाय पर भागवत धर्म के संस्कार अवश्य किये हैं। नाथ सम्प्रदाय में नौ नाथ प्रसिद्ध हैं, और इनके बारे में विभिन्न कथाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचलित हैं।

तन्त्र सम्प्रदाय और वैष्णव मत—

अथर्व वेद में मन्त्रों तन्त्रों आदि की भरमार है। तांत्रिकों की साधना प्राचीन है। तन्त्र शब्द की परिभाषा—'तन्यते विस्तार्य ते ज्ञान मनेन इति तंत्रम्। तनोति विपुला नर्थान तंत्रमंत्र समन्वितान् त्राणंच कुरुते यस्मात् तंत्रम इत्यभि

श्री शैल पर मंजुनाथ (आदिनाथ) कदलीश्वर नामक स्थान नाथ सम्प्रदाय का पुरातन पीठ माना गया है। सर्व साधारण रूप से यह भी माना गया है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में हुए थे।

ज्ञानेश्वर का जन्म सन १२६० में हुआ। अपनी आयु के ३१ वें वर्ष में उन्होंने समाधि ली। सन १२६० में ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त हुई। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से हम किसी भी तरह नाथ संप्रदाय को ११ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं ले जा सकते। गोरखनाथ के समय शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के ह्रासावशेष अनेक संप्रदायों में बँट गए थे। इन सबको सङ्घटित कर बारह सम्प्रदायों को मुसलमान होने से बचाया। उनकी 'गोरखबानी' प्रसिद्ध हैं, 'अवधूत-गीता' दत्तात्रेय द्वारा रचा गया ग्रन्थ मानते हैं, और नाथ सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ भी। यह बात तो निश्चित ही है कि नाथ संप्रदाय एक शैव अद्वैत मत है। पर दत्तात्रेय भैरव, शक्ति तथा योग सम्प्रदाय से भी नाथ सम्प्रदाय सम्बद्ध है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एक और अलग ग्रन्थ है जो नाथ सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है। तांत्रिक साधना से मुक्त करने के लिये पूर्ववर्ती साधनाओं में जो ग्राह्य था उसे अङ्गीकार कर लिया, अशुद्ध था उसे शुद्ध किया, त्याज्य था उसे नष्ट किया। शिव-शक्ति का प्राधान्य, गुरु संस्था का महत्व, अद्वैत विचार, प्रतीति-प्रामाण्य, अवधूतावस्था आदि बातों का विशेष प्रतिपादन उन्होंने किया। गिरनार पर्वत पर गोरख और दत्तात्रेय मिले थे। 'दत्त गोरक्ष संवाद' प्रसिद्ध है दत्तात्रेय ने ही गोरख को योग सिद्धि प्राप्त करा दी। तंत्र मार्ग की विकृत यौगिक प्रक्रियाओं का शोधन करके उसे विशुद्धि बनाकर मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा मैथुनादि पंच मकारी स्त्री-प्रधान-वामाचार को साक्षेपपूर्वक दूर किया। और 'विषय विध्वंसक वीर' यह बीरुद धारण किया। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व है। अपने अलौकिक योग-सामर्थ्य से और अतलस्पर्शी प्रज्ञा से तंत्रमार्गी के अनेक दल गोरक्ष-मतानुयायी बने और उन्होंने पूर्व संस्कार और गोरक्षोपदिष्ट मार्गों के विचित्र संमिश्रण से अपना स्वतन्त्र मार्ग चलाया। हिन्दी वैष्णव कवियों में कबीर नाथपंथ से प्रभावित हैं। उत्तर भारत में यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का विकास न होकर बाद में उसमें अनेक विकृतियाँ आ गई थीं जिनका कबीर ने निषेध किया है। अवधू, निरंजन आदि अनेक शब्द तथा काया-साधना की बातें नाथ पंथियों की विरासत के रूप में कबीर और अन्य निर्गुनियों सन्तों को मिली हैं। नाथ सम्प्रदाय ने सूफियों पर भी अपना प्रभाव डाला है। महाराष्ट्र में ज्ञानियों के गुरु श्री ज्ञानेश्वर सीधे नाथ पंथ से जुड़े हुये हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि वैष्णवों में एक तरफ की

कड़ी ज्ञानेश्वर को लेकर और दूसरी कड़ी कबीर को लेकर नाथ सम्प्रदाय को वैष्णवों से जोड़ती है।

मूलत: नाथ पंथी होने पर भी उनके द्वारा वैष्णवों का भागवत धर्म बहुत ही प्रभावित हुआ। इसी से शैव तथा वैष्णवों में ऐक्य भावना निर्माण हुई और वे पारस्परिक रूप में एक दूसरे के देवता के प्रति आदर करने लगे। श्री क्षेत्र पंढरपुर के विठोबा की मूर्ति इन लोगों की पूजा और भक्ति का विषय बनी। इस देवता की मूर्ति में शिव और विष्णु सुचारु रूप से एकत्रित किये गये हैं। विठोबा बालकृष्ण ही हैं। बालकृष्ण या श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जो वैष्णवी भावना मनुष्य में पाई जाती हैं उस तरह विठ्ठल भजन करने से शैवी या वैष्णवी किसी भी एक प्रकार की भावना निर्माण नहीं होती। 'विठ्ठल' नाम में ऐसा जादू भरा हुआ है कि इस नाम के लेने से शिव तथा विष्णु की अनुभूति एक ही रूप में एक ही समय हो जाती है। मराठी के वैष्णव सन्त कवियों ने अपने ग्रन्थों द्वारा भागवत धर्म पर प्रवचन कर, उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है वैसे ही ईश्वर प्राप्ति के हेतु भक्ति को सुलभतम साधन बतलाया है। स्थान-स्थान पर अपने आपको वे भागवत कहलाते हैं। उनमें हमें किसी तरह की सांप्रदायिकता, या कटुता नहीं दिखाई देती जो स्वयं को वैष्णव या शैव कहलाने वाले सांप्रदायों में आज तक भी बनी हुई है। पंढरीनाथ विठोबा के भक्त ज्ञानेश्वर से लेकर आज तक जितने भी हुए हैं वे सब वारकरी कहलाते हैं। वास्तविक रूप से ये सब भागवत धर्मानुयायी ही हैं, और वैष्णव होते हुए भी शैव और अन्य सम्प्रदायों के साथ इनमें सहिष्णुता है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा नाथ सम्प्रदाय में जो शैव और वैष्णवों का समन्वय किया गया उसी का ही यह मूर्त रूप है। नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ शङ्कर-महादेव-शिव का समन्वयात्मक रूप कानडा विठोबा अर्थात कर्नाटक के विठ्ठल कृष्ण रूप में परिणत हुआ।

उत्तर भारत के नाथ सम्प्रदाय में यह परिणत रूप नहीं दिखाई देता। वहाँ तांत्रिक साधना का आडम्बर दिखाई देता है। कबीर ने नाथ सम्प्रदाय पर भागवत धर्म के संस्कार अवश्य किये हैं। नाथ सम्प्रदाय में नौ नाथ प्रसिद्ध हैं, और इनके बारे में विभिन्न कथाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचलित हैं।

तन्त्र सम्प्रदाय और वैष्णव मत—

अथर्व वेद में मन्त्रों तन्त्रों आदि की भरमार है। तांत्रिकों की साधना प्राचीन है। तन्त्र शब्द की परिभाषा—'तन्यते विस्तार्य ते ज्ञान मनेन इति तंत्रम्। तनोति विपुला नर्थान तंत्रमंत्र समन्वितान् त्राणंच कुरुते यस्मात् तंत्रम इत्यभि

धीयते। स्मृतिश्च तंत्राख्या परम ऋषि प्रणीता।' गौतम के न्याय सूत्र में 'समान तंत्र', 'न्याय तंत्र' ऐसे शब्द आये हैं।

तंत्रकारों की ऐसी श्रद्धा है कि कलियुग की अवस्था ऐसी है कि जिसमें कोई भी वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार आदि ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। सभी पशु बनकर कार्ययापन करते हैं, अतः शिव ने लोगों के मोक्ष के लिये आगम-तन्त्रों का निर्माण किया है। गुरु-शिष्य-महिमा अन्य भारतीय शास्त्रों की तरह इसमें भी है। निगम वेद को कहते हैं और आगम दर्शन को कहते हैं। आगम की परिभाषा—आगच्छति बुद्धिम्—आरोहंति यस्मान् अभ्युदय निश्रेय सोपायाः स आगमः। आगम तन्त्रों में वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, पांचरात्र आगम और भागवत आगम आदि हैं। वैदिक ग्रन्थों में तन्त्रों का पांचवाँ और छठा स्थान है। जैसे—श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्र। दत्तात्रेय का तन्त्रोपासना से सम्बन्ध है। त्रिदेवोंका ऐक्यावतार श्री दत्तात्रेय हैं। तन्त्र की पुस्तकों में 'तन्त्र कौमुदी', 'शक्ति आगम', 'रुद्रीय माला', 'कलिका-कुलार्णव', 'तंत्र-तत्व' तथा 'हितोपदेश' और 'महानिर्वाण' आदि पुस्तकें प्रमुख हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से शिव ही प्रमुख हैं। शिवजी ने अपनी पत्नी दुर्गा को कई रहस्यात्मक बातें बतलाई हैं। वेद, सूत्र और पुराणोक्त धर्म तो सामान्य धर्म है। किन्तु शैवी तन्त्र शास्त्र रहस्यात्मक है तथा सब के पहुँच की चीज नहीं है। अतः यह असामान्य और अलौकिक है।

तन्त्रों का दूसरा नाम आगम भी है। इनके रचयिता का पता नहीं लगता। किसी युग में तन्त्रों का बड़ा जोर-शोर था और वेदों से भी उनका महात्म्य बढ़ गया था। अतः यहाँ के लोग धर्मशास्त्र, पुराण और तंत्रों से अनुशासित होते थे। कलियुग में इनका प्रभाव स्वाभाविक है। हमारे यहाँ की धार्मिक क्रियाएँ तांत्रिक हैं। तन्त्रों में से आधे तो औषधियों का काम करते हैं। इस प्रकार की धारणा वास्तव में ठीक नहीं है। वुड्रॉफ जैसे लोग इसलिए इस प्रकार की धारणा रखते थे क्योंकि उनको धर्मशास्त्रों का कोई ज्ञान न था।

शाक्तों के धर्म ग्रन्थ भी तन्त्र कहलाते हैं। इनके सिद्धांतों को वामाचारी दक्षिणाचारी कहा जाता है। इनका स्वर कहीं-कहीं वेदानुकूल है तो कहीं-कहीं वेद विरोधी, एवम् शूद्रों के लिये भी है। बहुत से वैष्णव और शैव जो अपने आपको बाह्यतः वैसा कहलवाते हैं पर जिनका व्यवहार वामाचारी होता है, वे छिपे रूप में शाक्त ही हैं। जैनों और बौद्धों ने तन्त्रों से अपनी कई धार्मिक क्रियाओं को अनुप्राणित किया है। तिब्बत का लामा संप्रदाय, तथा नैपाल का हीनयान बौद्ध संप्रदाय ऐसे ही तन्त्रकारों से सम्बद्ध है। भक्ति मार्ग की ही तरह तन्त्र मार्ग का

अध्ययन एवम् साधना होती है। तंत्रमार्गी अपने मार्ग को उपनिषदों से बढ़कर तथा ज्ञान और कर्ममार्ग से श्रेष्ठ बतलाते है। शिव की पत्नी कालिका ही उपासना की प्रमुख उपास्या हैं। प्रकृति-शक्ति को प्रधान माना जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति, संहार और पालन पुराणों की तरह वर्णित है। उपासना दैवी शक्ति प्राप्त करने की विधि तथा सिद्धि और परब्रह्म (Supreme Being) के साथ तादात्म्य की चर्चा प्रत्येक तन्त्र में की गई है।

आज के उपलब्ध तांत्रिक ग्रन्थ भले ही ९ वीं–१० वीं शताब्दी के हों किन्तु आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य, बौद्ध, जैन, नागार्जुन और अन्य लोग इन सब पर तंत्र का प्रभाव पड़ा हुआ है। तन्त्रकारों की रीति अपनाये हुए श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी की 'सौंदर्य लहरी' यह रचना प्रसिद्ध है। तंत्रकारों के सिद्धांत सांख्य दर्शन से प्रभावित होते हुए भी आगे चलकर वेदान्तियों ने भी तंत्रकारों की शक्तिको अपनी माया के रूप में ढाल दिया है। इनके ग्रन्थों की भाषा ऊबड़-खाबड़ संस्कृत है। ह्लासावस्था में पहुँचे हुए बुद्ध धर्म का स्वरूप इनमें देखने को मिल जाता है। तिब्बती अक्षरों में तांत्रिक देवता उल्लिखित हैं। इनको रयद (Rayad) कंजूर और तंजूर (Kanjure & Tanjure) कहते हैं। मंजुश्री यह एक नाम और मिलता है।

दुर्गा के कई नामों में से एक नाम योगनिद्रा है। विष्णु और कृष्ण से इसका विशेष संबंध है। शिव की दुर्गा और विष्णु की ल्हादिनी, संधिनी और संवित् आदि शक्तियाँ है। इन मुख्य देवताओं की ये सगुण साकार सहचारियाँ है। गौड़ देश तांत्रिकों की भूमि माना गया है।

हिमालय के केदारनाथ, तुङ्गनाथ, रुद्रनाथ, मघमाहेश्वर, कल्मेश्वर आदि पांच स्थानों में महार्णव तन्त्र पैदा हुआ ऐसा बतलाया जाता है। यह बर्फ से ढका हुआ पार्वत्य प्रदेश है, जहाँ से गंगोत्री जमनोत्री निकलती है। वहीं केदारनाथ और बद्रीनाथ है। शिवजी कैलाश में रहते है। मानसरोवर अपनी पवित्रता से वहाँ पर विद्यमान है।

शिव के द्वारा वर्णित तन्त्र, यमल, डमर आदि है। शिवसूत्र में संवादशैली मे इनका लिखा मिलता है।[1] ये संवाद शिव और पार्वती के बीच हुए थे। श्रीगणेशजी ने प्रथम देवयोनि को तन्त्र पढ़ाया जो उनको शिवजी से प्राप्त हुआ था। महानिर्वाण तन्त्र में उसका उल्लेख है।[2] जो विद्यमान है, वह 'तत्सत्' है। ब्रह्म दो प्रकार का है। 'निष्कला' और 'सकला'। प्रकृति ही कला है। शक्ति सर्वत्र

१. शिवसूत्र।
२. महानिर्वाण तंत्र।

रहती है। ब्रह्म केवल उचित का स्वरूप है। शक्ति और वह स्वयम् अनादि रूप है। वह ब्रह्मरूपा है तथा सगुण और निर्गुण दोनों है। उसे चैतन्य–रूपिणी देवी भी समझा जाता है। सब भूतों में वह अभिव्यक्त होती है। इन सबके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है। शारदा के शब्दों को सारा विश्व घेरे हुए है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे तिल में तेल। ब्रह्म और शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ। पहले केवल ब्रह्म था उसने कहा—'एकोऽहम् बहुस्याम्।' नाद से बिंदु उत्पन्न हुआ। सूक्ष्म शरीर की अवस्था को अमाकला कहा जाता है। वही मूल मंत्र है। बिन्दु तीन प्रकार के होते हैं—(१) शिवमय, (२) शक्तिमय, (३) शिवशक्तिमय। परांग बिन्दु से एक वृत्त का बोध होता है।

शब्द ब्रह्म ही अपरब्रह्म है। शिव शक्ति के मिलने पर उसे पराशक्तिमय कहते हैं। देवी उन्मुखी हो जाती हैं। शब्द ब्रह्म से तीन शक्तियाँ निसृत होती हैं—(१) ज्ञानशक्ति, (२) क्रियाशक्ति, (३) इच्छाशक्ति। शिवशंभू से सदाशिव, उससे ईशान और रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा निर्माण होते हैं। ये सब शक्तिमय होते हैं पर इनके बिना वे कुछ भी नहीं है। तन्त्र-मार्ग योग और वेदान्त दर्शन से प्रभावित है।

मनुष्य के भीतर शब्द ब्रह्मा देवी कुण्डलिनी का रूप धारण करते हैं। मनुष्य में मूलाधार के स्वयंभू लिंग में पराशक्ति माया स्थित रहती है। यह कुंडलिनी कुंडल मारकर बैठी रहती है। (A coiled serpent) यही स्वयं प्रकाशित जीव-शक्ति कहलाती है। प्राण उसी के द्वारा प्रकट होते हैं। मूलाधार में यही सोती है। कान बंद करने पर यदि फुसफुसाहट की आवाज (Hissing sound) न सुनाई दे तो मृत्यु हो जाती है। यही देवी, महामाया, अविद्या, विद्या, प्रकृति अंबामाता तथा ललिता है। ललिता–जो निरंतर क्रीड़ा करती है, जिसकी क्रीड़ा संसार का खेल है। जिसकी आँखें सुन्दर पानी में तैरती हुई मछली की तरह खेलती रहती हैं। जो उसकी स्वर्गीय मुखाकृति पर विराजित हैं, तथा जो कभी खुली, तो कभी बंद अर्थात् अर्धोन्मिलित रहती हैं। जो दृश्य है और अदृश्य भी। अपनी आभा से अपरिमेय शब्दों को प्रकाशित करना इसी का कार्य है। ये अपने ही अतीव अंधकार में लिपटी हुई हैं।

तन्त्रशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार देवी ही परब्रह्म है। वे गुणों और स्वरूपों के परे हैं और ब्रह्माण्ड की माता है, तथा तीन प्रकार की हैं। (१) पररूपा (Supreme) इस स्वरूप को कोई नहीं जानता, ऐसा वर्णन विष्णु यमल के अनुसार है। (२) सूक्ष्म रूपा (Subtle) यह स्वरूप मंत्रमय है। इसीलिये यह मन में स्थिर नहीं हो पाता कारण सूक्ष्म है। (३) स्थूल (Concrete) रूपा या

साकार सगुण रूप हाथ पैर युक्त आकृति देवी ही प्रकृति रूप से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपी हैं तथा उसके पुरुष और स्त्री रूप भी हैं। पर स्त्री रूपों में उसका अंश अधिक है। महादेवी के रूप में वह सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुरा, सुन्दरी, अन्नपूर्णा तथा अन्य देवियों के रूप में परब्रह्म की अवतार हैं।

आठ प्रकार के बंधनों को तोड़कर उससे मुक्त होने के लिए साधना की जाती है और वह कई प्रकार की होती है। भागवत के गोपी वस्त्र-हरण की कथा को तंत्रकारों ने अपने ढङ्ग से समझाया है। कात्यायनी व्रत करने वाली गोपियों ने यमुना में स्नान किया। अपने कपड़े यमुना के किनारे उन्होंने उतारकर रखे थे। श्रीकृष्ण ने उनके वस्त्र चुराये और उनको अपने पास नग्न ही आने के लिए विवश किया। इस संसार में उलझे हुए मनुष्य के कृत्रिम प्रावरण या वस्त्र ही वे पटल हैं जो मनुष्य पर लादे गये हैं। आठ गोपियाँ संसार की अष्टधा-प्रकृति का मार्ग है और जो गलतियाँ जीव को भ्रम में डाल देती हैं, वे ही मानों वस्त्र हैं जो श्रीकृष्ण ने चुराये थे।

मंत्र शास्त्र और वैष्णव मत—

मंत्र शास्त्र में या तंत्र में तंत्रकारों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मन्त्र प्रयोग करते समय तथा गुरुभक्ति में प्रगति करने के लिए गुरु बदलने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। इस बारे में इस प्रकार के कई उल्लेख मिलते हैं[1]—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यः गुरोर्गुर्वेतरं व्रजेत्॥

जिस प्रकार मधु की इच्छा करने वाला भृङ्ग एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उड़कर चला जाता है, उसी तरह जिसे ज्ञान लालसा है ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह जहाँ से जो कुछ तथ्य उपलब्ध हो जाय उतना वहाँ से लेकर अपनी प्रगति के मार्ग पर आगे चलता रहे। इससे सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र शास्त्र अंधश्रद्धा का विषय नहीं, शास्त्र का विषय है।[2]

षड्दर्शनों के बारे में तन्त्रकारों का यह अभिप्राय था—

अन्यान्यशास्त्रेषु विनोद मात्रम्।
न तेषु किञ्चित् भुवि दृष्टमस्ति॥
चिकित्सिते, ज्योतिषतंत्रपादाः।
पदे-पदे प्रत्यय मावहान्ति॥१॥

---

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. " " "

न्यायादि शास्त्र हमें प्रत्यक्ष अनुभव बतलाने वाले नहीं हैं। परन्तु वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र और मंत्र-शास्त्र आदि से हम पग-पग पर प्रत्यक्ष अनुभव ले सकते हैं।[1]

तन्त्रकार और मंत्रशास्त्रज्ञ के अनुसार वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार है--
'इष्टप्राप्तनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।'

—सायणाचार्य (ऋग्वेदभाष्यभूमिका)[2]

इष्टफलप्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने के लिए अलौकिक उपाय बतलाने वाला ग्रन्थ वेद कहलाता है। वेदों का वेदत्व और अमोघत्व इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विन्दति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

जिस कार्य के लिये प्रत्यक्ष, व्यावहारिक उपायों का अथवा तर्कों पर आधारित अनुमानों का उपयोग नहीं होता और किसी भी प्रकार से न हो सकने वाला कार्य वेद से निश्चित सफल हो जाता है। वेदों का वेदत्व और अमोघत्व इसी में समझना चाहिए।

मंत्रशास्त्र को उपनिषद् वाङ्मय में तथा सूत्र वाङ्मय में और तन्त्रकारों द्वारा 'इत्यधिदैविक्रमः' से अभिहित किया गया है। भिन्न-भिन्न यंत्रों के प्रयोग और प्रमुख अधिष्ठाताओं के विषय को 'विद्या' कहा जाता है। प्राचीन ऋषियों में से मंत्र शास्त्र के अध्वर्यु और तन्त्रकार शुक्राचार्य अथर्ववेद के बारे में अपना मत इस उक्ति से प्रकट करते हैं[3]—

अथर्वांगिरसो नाम सूपास्योपासनात्मकः।
इति वेद चतुष्कंतु ह्युद्दिष्टं च समासतः।
विविधोपास्य मंत्राणाम् प्रयोगस्तु विभेदतः।
कथिता सोपहारास्त धर्म्मश्च नियमैश्चषट्।
अथर्वणा चोपवेदस्वतंत्ररूपः स एव ह॥

'अथर्वांगिरस' नामक वेद में उपास्य और उपासना का विषय प्रधान है। चार वेदों का उद्दिष्ट एकत्रित रूप में सिद्ध होकर अथर्ववेद में देखने को मिलता है। 'तन्त्ररूप' नाम का पाँचवा वेद इसी अथर्वण वेद का उपवेद ही है। तात्पर्य यह है

---

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. सायणाचार्य—ऋग्वेदभाष्यभूमिका।
३. तंत्र और मंत्रशास्त्र—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

कि अथर्ववेद काल में मंत्र शास्त्र को मूर्त स्वरूप प्राप्त हो गया था। इस काल से आगे के काल में भारतवर्ष में कुछ समय तक मंत्रशास्त्र की काफी उन्नति हुई। इस शास्त्र की उन्नति की दृष्टि से जो-जो नये अनुसन्धान हुए तथा इस शास्त्र की जो-जो शाखाएँ निर्माण हुई वे सब अथर्ववेद की उपांग समझी गयीं।

मंत्रशास्त्र की मंत्रसिद्धि के लिए अथवा मंत्र के अधिष्ठाता की प्राप्ति के लिए जो आराधना की जाती है उसे उपासना कहते हैं। इस उपासना-विषय पर प्रकाश डालने वाले साहित्य को 'उपासनाकाण्ड' कहा जाता है। वेदों में या उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञान-काण्ड उपासनाकाण्ड, और कर्मकाण्ड ऐसे तीन काण्ड मिलते हैं। अतः तंत्रकारों का इतिहास उपनिषद्काल से उपलब्ध हो जाता है। इसे आठवीं-शती या दसवीं शती की उपज मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तंत्रकार अपने विषय का तीन रूपों में विभाजन करते हैं—(१) मंत्र, (२) यन्त्र और (३) तन्त्र। मंत्र—ऐसा कोई अक्षर समुच्चय मंत्र कहलाता है जिसके जपने से देवतादर्शन, तथा निज इष्ट-प्राप्ति हो जाती है।

यंत्र—यंत्र एक विशेष रेखाकृति होती है जिसमें मंत्रों के बीजाक्षर भी लिखे जाते हैं। इसकी अर्चना से और पूजन से उपास्य की पूजा का फल प्राप्त होता है। अपनी अभिलाषा की तृप्ति के लिए और अरिष्ट के नाश के लिये इन यन्त्रों का उपयोग कई ढङ्ग से किया जाता है।

तंत्र—तंत्र में मंत्र सिद्ध करने के लिए किया जाने वाला विधि-विधान और तत्संबंधी अन्य क्रियाएँ आती हैं। तन्त्र संप्रदाय में प्रमुखतः आगम्, शाबर, गारुड़, कापालिक, महाकापालिक ये पाँच संप्रदाय विशेष प्रसिद्ध हैं।[1]

वैदिक साहित्य के युग से ही उपासना काण्ड मिलता है। यह तन्त्रकारों का ही विषय है। इनके प्रयोगों को 'अभिचार' कहा जाता है। ये अभिचार छः प्रकार के होते हैं—(१) जारण, (२) मारण, (३) वशीकरण, (४) सम्मोहन, (५) स्तंभन और (६) उच्चाटन। इनको अभिचार कहा जाता है। तन्त्रकार इन अभिचार-कर्मों का उपयोग करते हैं। कभी-कभी इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भी देखने के लिए मिलता है। इस कर्म से लोगों को कष्ट होता है एवम् पीड़ा होती है इसलिए भागवत-धर्म में और स्मार्त-धर्म में इन बातों का निषेध है। साधु सन्त हमेशा इनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु तांत्रिक संप्रदाय में जो सात्विक उपासना-मार्ग है उसकी छाप भागवत संप्रदाय पर अवश्य पड़ी है। जैसे-स्नान के बाद किये जाने वाले नित्य नैमित्तिक विशुद्ध कर्म, तांत्रिकों का भागवत धर्म पर पड़ा हुआ

---

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

प्रभाव ही है। साधु संतों के जीवन में ये नित्यकर्म प्रत्यक्ष देखने के लिये मिलते है। इन्हें बरतते हुए वैष्णव संतों ने भागवत धर्म के अनुसार भजन, नाम-संकीर्तन आदि किया है जिसका इतिहास साक्षी है। वैसे तन्त्र संप्रदाय वालों की निंदा संत-वाङ्मय में पर्याप्त रूप से की गयी है। उपासना का विषय मूलतः वैदिक ही है अतएव उसका श्रेय तन्त्रकार को नहीं दिया जाता। वस्तुतः यह ठीक ही है पर वेदों के युग से चला आता हुआ यह विषय होने पर भी तन्त्रकार की छाप लग जाने से वह आज भी विद्यमान है इतना तो मानना ही पड़ेगा।

भागवत धर्म और राधा—

वैष्णव भक्ति एवम् भागवत धर्म में 'राधा' का प्रमुख स्थान होने से 'राधा' भक्ति का साकार सगुण रूप एवम् आदर्श बन गयी। अतः राधा के बारे में यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया जा रहा है।

पद्म पुराण, वाराह पुराण और ब्रह्म-वैवर्त-पुराण में राधा का विशद एवम् व्यापक वर्णन मिलता है। वैष्णव साधना का प्रमुख ग्रन्थ भागवत है पर उसमें राधा नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पर भागवत से ही गौड़ीय-गोस्वामियों ने राधा का आविष्कार कर लिया है। भागवत के दशम स्कंध में रासलीला के प्रकरण प्रसंग में कृष्ण की एक अत्यंत प्रिय गोपी का वर्णन आता है। रास मंडल में कृष्ण अपनी इस प्रियतमा गोपी को लेकर अदृश्य हो गए। तब विरहातुरा गोपियों ने उस गोपी का पदचिन्ह देखकर कहा[1] —

अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो याम नयद्रह ॥

यहाँ पर 'अनयाराधितो' पद की व्याख्या करते हुए श्री सनातन गोस्वामी ने 'वैष्णव तोषिणी' टीका में राधा का सकेत किया है। अन्यों ने अनयैव आराधितः, आराध्यः, वशीकृतः, न तु अस्माभिः। 'राधयति—आराधयतीति राधेति नाम कारणं च दर्शितं'। इस तरह राधा का व्यक्तित्व स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'नूनं हरिरयं राधितः राधां इतः प्राप्तः' इस तरह राधा से उसका सम्बन्ध जोड़ा है।

परमेश्वर की शक्तिके अर्थ में 'राधस' शब्द भागवत में आया है—

निरस्त साम्यातिशयेन 'राधसा'।
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥

राध=संसिद्धौ। यह धातुपाठ में मिलता है। इस धातु का अर्थ मनोरथ या

1. भागवत—दशमस्कंध।

भगवद्-प्राप्ति की इच्छा होना है। 'राघस' का ही आगे चलकर 'राधा' यह स्वरूप बना। वैष्णव शास्त्र में और साहित्य में ल्हादिनी नामक अंतरंग शक्ति में उसका समावेश किया जाता है—

ल्हादिनी संधिनी संवित् अभिधाना अन्तरङ्गिका।
बहिरङ्ग तटास्थाश्च जयन्ति प्रभु-शक्तयः ॥

भांडारकर राधा को आभीरों की इष्ट देवी बतलाते हैं जो सीरिया से आकर भारत में वस गए थे। उनके बाल गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण से सम्मिलित हो गये बाद में राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई।[1] डा० मुन्शीराम शर्मा के अनुसार आभीर भारतीय ही थे। उनकी उपासना पद्धति की मौलिकता के कारण वे आर्यों से पृथक माने गए।[2] डा० हजारीप्रसादजी के मतानुसार राधा या तो आभीर जाति की प्रेम देवी रही होंगी जिनका सम्वन्ध वाल-कृष्ण से रहा होगा। वालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण होने पर प्रारम्भ में राधा का उल्लेख नहीं हो सकता था। वालकृष्ण की प्रधानता हो जाने पर राधा भी प्रधान बन गई होंगी। दूसरी कल्पना उनकी इस प्रकार है 'राधा इसी देश की आर्य जाति की प्रेम देवी रही होंगी।[3] डा० मुन्शीराम की दृष्टि में राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही हैं।[4] वेदों में कृष्ण की तरह 'राधा' नाम भी अनेक स्थानों पर आया है। रैवाराधस् अर्थात् धन अथवा अन्न के अर्थ में वर्णित है। अग्नि को 'सुराधा' कहा गया है। अग्नि सुराधा है अर्थात् अच्छे रैव अथवा धन से ओतप्रोत है। ऋग्वेद में इन्द्र को राधा नां पते' अर्थात् धनों का पति कहा गया है।

ईसा की वारहवीं शताब्दी में वङ्गाल में जो वैष्णव साहित्य निर्माण हुआ उसमें 'राधावाद' की प्रमुखता है। जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' में प्रेमलीला का विषय श्रीकृष्ण को चुना और आश्रय 'राधा' को बनाया। बङ्गीय और भारतवर्ष के अन्य भाषीय साहित्य में राधा की जो मूर्ति हमारे सामने अंकित की गई है उसके दो स्वरूप सामने आते हैं। प्रथम तो दार्शनिक है और दूसरा धार्मिक है। इन दोनों से वनी साकार प्रतिमा राधा है। सामान्य रूप से राधावाद का वीज भारतीय

---

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत—भांडारकर, पृ० ३८।
२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १६४।
३. सूर साहित्य संशोधित संस्करण—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६–१७।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १७५।
५. ऋग्वेद—३–५१–१०।

शक्तिवाद में है। वैष्णव धर्म और दर्शन में भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर, भिन्न-भिन्न रूपों और अवस्थाओं में परिणत होकर शुद्ध शक्तिरूपिणी राधा परम प्रेमरूपिणी बन गई। मूल प्रकृति आद्यशक्ति है। सांख्य के पुरुष और प्रकृति दार्शनिक की दृष्टि में चाहे जो कुछ भी क्यों न हो किन्तु जनता के मन के पुरुष प्रकृति शिव शक्ति का रूपान्तर हैं। पुराणों में विष्णु की शक्ति श्री–लक्ष्मी अनेक प्रकार से विष्णु माया के तौर पर कीर्तित हैं। कूर्म पुराण के द्वितीय अध्याय में नारदादि महर्षियों से विष्णु ने लक्ष्मी का परिचय इस प्रकार दिया[1]—

इयंसा परमाशक्तिर्मन्ययी ब्रह्म रूपिणी।
माया मम प्रियानन्ता ययेदं धार्यं ते जगत्॥
अनयैव जगत् सर्वं सदेवासुर मानुषम्।
मोहयामि द्विज श्रेष्ठा ग्रसामि विसृजामिच॥

'ये वही परमाशक्ति हैं, ये मन्मयी ब्रह्म रूपिणी हैं, ये मेरी माया हैं। मेरी प्रिया हैं—अनन्ता हैं—इन्हीं के द्वारा यह संसार विधृत है। हे द्विज श्रेष्ठ! इन्हीं के द्वारा मैं सदेवासुर-मनुष्यादि सारे संसार को मोह से घेर लेता हूँ। उनको ग्रसता हूँ, फिर सृजन करता हूँ।'

पुराणों में विष्णु-माया के दो प्रधान भेद वर्णित हैं। (१) विष्णु की आत्ममाया, और (२) त्रिगुणात्मिका बाह्य माया। इस त्रिगुणात्मिका माया से विष्णु का कोई सीधा संबंध नहीं हैं। यह विष्णु की आश्रिता माया है। विष्णु की आत्ममाया ही वैष्णवों माया कहलाती है। यह लक्ष्मी नहीं है। अनंत शयन में जब विष्णु सो रहे थे तब उस समय की निद्रा उनकी वास्तविक निद्रा न थी। वह विष्णु की योग-निद्रा थी। विष्णु पुराण का यह उल्लेख देखिए[2]—

योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहितं मया।
अधिद्यया जगत् सर्व तामाह भगवान हरिः॥

'खिलहरिवंश' का यह उल्लेख भी दृष्टव्य है[3]—

विष्णोः शरीरजो निद्रां विष्णु निर्देश कारिणीम्।

गीता में भी भगवान् इस वैष्णवी माया की चर्चा करते हैं। यही योगमाया है। यह योगमाया भगवान् की स्वरूपभूता 'दुर्घटघटनी चित्‌शक्तिः' हैं। सारी क्रीड़ा और लीलाएँ इसी योग माया के आश्रय से होती हैं। गौड़ीय वैष्णव इसे मान्य करते हैं। शक्तिमान भगवान् ने रमणेच्छा से अपनी शक्ति को दो भागों में

---

१. कूर्म पुराण (पूर्व भाग)–१–३४–३६।
२. विष्णु पुराण–५–१–७०।
३. खिल हरिवंश–४–१०।

विभक्त किया। इस तरह भगवान् स्वयम् अपने निकट 'आस्वाद्य' और 'आस्वादक' बन गये हैं। डा० शशिभूषणदास गुप्ता के मतानुसार राधावाद का बीज शक्तिवाद में है।[1] हो सकता है कि राधा की कल्पना पर शाक्तमत का प्रभाव हो पर इसे कल्पनाश्रित ही माना जावेगा।

विष्णु की दो शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं (१) परा (२) अपरा। देवताओं की युगल मूर्तियाँ जनता में मान्य हैं। जैसे ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति आदि। इसी प्रचलित विश्वास ने राधाकृष्ण युगल को भी मान्यता प्रदान कर दी। तंत्रादि में पराशक्ति को ललिता देवी कहा गया है। पद्म पुराण में कृष्ण ही स्वयं ललिता देवी हैं, जिनको 'राधिका' कहकर गाया जाता है ऐसा उल्लेख है[2]—

> **अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते।**
> **अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः॥**
> **सत्यं योपित् स्वरूपोहं योषिच्चाहं सनातनी।**
> **अहं च ललिता देवी पुंरुपा कृष्णविग्रहा॥**
> **आपयोरन्तरंनास्ति सत्यं-सत्यं हि नारद।**

पुराणों में ऐसे कई समीकरण ढूँढ़ने पर अनेक रूपों से बने हुए मिल जाते हैं। चतुर्वैष्णव संप्रदायों में, रुद्र और सनक संप्रदाय में लक्ष्मी की जगह श्री राधिका का आविर्भाव मिलता है। गौड़ीय वैष्णवों में राधा-तत्व का सम्यक विकास दिखाई देता है। मूलतः साहित्यिक उज्ज्वल के माध्यम से राधा का धर्म मत में प्रवेश हुआ। बारहवीं शताब्दी के पूर्व विष्णुशक्ति के बारे में जो भी मत प्रचलित थे उसी में राधा-तत्व आकर मिल गया।

किसी ज्योतिषी पंडित का मत है कि राधा-कृष्ण तत्व में मूलतः ज्योतिष का सम्बन्ध है। विष्णु ही सूर्य हैं ऐसा उल्लेख वेद में मिलता है। कृष्ण सूर्य का प्रतिबिम्ब है और गोपी-तारका का। गो अर्थात् रश्मि। अतएव सूर्य ही गोप और तारका गोपी है। योगेशचन्द्र के मतानुसार राधा नाम पुराना था और विशाखा का वह नामान्तर था।[3] कृष्णयजुर्वेद में विशाखा, अनुराधा आदि नक्षत्रों के नाम हैं। 'राधो विशाखे' ऐसा उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि विशाखा का नाम राधा है। राधा=सिद्धि। महाभारत में कर्ण की धातृमाता राधा नाम की है और कर्ण 'राधेय' कहलाता है। राधा का दूसरा नाम तारा था। रूप-गोस्वामी के द्वारा लिखित 'ललित माधव' नामक नाटक में यह उल्लेख है—

---

१. **श्री राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषण दास गुप्ता, पृ० ३।**
२. **पद्म पुराण—पाताल खण्ड—४४, ४५, ४६।**
३. **भारतवर्ष। पत्र। माघ–१३४०।**

दनुजदमनवक्षः पुष्करे चारुतारा।
जयति जगद पूर्वाः कापि राधाभिधाना ॥

दनुज-दमन श्रीकृष्ण के वक्षरूपी आकाश में राधा नामक एक जगद्पूर्णा चारु तारा है—उसी की जय हो। ज्योतिष शास्त्र विषयक आधार से राधा के स्वरूप पर कोई यथार्थ प्रकाश नहीं पड़ सकता। डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कथन ठीक ही है कि विगत डेढ़ सहस्र वर्षो से राधा तत्व भक्ति क्षेत्र का आराध्य तत्व रहा है, अतः उसे नक्षत्र-विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए।[1]

कृष्णदास कविराज चरितामृत में कहते है[2]

कृष्ण वांछा पूर्तिरूपकरे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे वाखाने ॥

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण प्रियतमा प्रधाना गोपी का इशारे से राधा नाम का आभास दिया है। पद्मपुराण में 'राधा' नाम की एक प्रकार से वहुतायत है। रूप गोस्वामी से 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थमें और कृष्णदास कविराजने 'चैतन्य-चरितामृत' में पद्म पुराण से राधा नाम का उल्लेख किया है[3]—

यथा राधा प्रिया विष्णो स्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्व गोपीषु सेवैका विष्णो रत्यान्तवल्लभा ॥

वैसे अनुमानतः पद्म पुराण छठी या आठवीं शती का वतलाया जाता है। ऊपर दिया गया श्लोक सोलहवीं शती में या उसके पूर्व पद्मपुराण में आकर मिल गया है ऐसा डा० शशिभूषणदास गुप्ता का अनुमान है।[4]

मत्स्यपुराण में राधा का उल्लेख है[5] —

श्रीकृष्णो रसिया राधा यद्वामांशेन संभवा।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे साच नारायणो रसि ॥

'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में राधा कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्रिय वतलाई गयी है। और वे कृष्ण की शक्ति भी वतलायी गयी हैं।[6]

---

१. राधावल्लभ संप्रदायः सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १८१।
२. आदि ४—चरितामृत—कृष्णदास कविराज।
३. पद्मपुराण।
४. राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०८।
५. मत्स्यपुराण—२६–१४–१५।
६. ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्ण जन्म खंड—१५।

प्राणाधिके राधिके त्वं श्रूयतां प्राणवल्लभे ।
प्राणाधि देवि प्राणेश प्राणाधारे मनोहरे ।।

'गोपालोत्तर-तापनी' में राधा गांधर्वी नाम से विश्रुता है । 'द्रविड गीत प्रवन्धम्' राधा की नाईं गजगामिनी गौरी एवम् सौन्दर्य की प्रतिमा सब गोपियों में प्रधान और श्रीकृष्ण की निकट आत्मीया एवम् कृष्ण की प्रियतमा गोपी 'नाप्पिन्नाई' का वर्णन है । अनुमान किया जाता है कि यह 'नाप्पिन्नाई' राधा ही है । आठवीं शताब्दी में पहाड़पुर में पायी गयी युगल मूर्ति में राधाकृष्ण का स्वरूप है । कहा जा सकता है कि राधावाद का प्रचलन आठवीं शती से पूर्व रहा होगा ।

'गीत गोविन्द' बारहवीं शती का ग्रन्थ है । जयदेव के इस ग्रन्थ का महाप्रभु चैतन्य ने कृष्णा-वेणा नदी के तीर पर स्थित तीर्थों में, विशेषत: वैष्णव ब्राह्मणों में बहुत प्रचार देखा था । इससे कहा जा सकता है कि बारहवीं सदी के आसपास राधावाद का आश्रय लेकर वैष्णव धर्म दक्षिण में पर्याप्त रूप से फैल गया था । 'कृष्ण कर्णामृत' दसवीं से लेकर १५ वीं शताब्दी तक रचा गया ग्रन्थ है । दक्षिण में गोदावरी नदी के तीर पर ही चैतन्य महाप्रभु ने रामानंदरॉय से राधा प्रेम के गूढ़ तत्वों को सुना था ऐसा कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में प्रमाण मिलता है ।

लक्ष्मी के प्रेम की अपेक्षा गोपी-प्रेम श्रेष्ठ है । अतएव प्रेम के धन में सबसे अधिक धनी श्रीमती राधा ही हैं । प्रेममयी राधिका का सौन्दर्य लक्ष्मी के सौन्दर्य से अधिक माधुर्य युक्त है । निष्कर्ष यही है कि कृष्ण की प्रेम कहानी से ही राधा का उद्भव हुआ है और वह भी मूलतः भारतवर्ष के साहित्य का ही अवलम्बन करके विकसित और प्रचारित हुआ है ।

प्रेम के साम्राज्य में स्त्री और पुरुष-संबंध के अनेक स्वरूप हुआ करते हैं । कृष्ण चरित्र में इन सब को उचित और सम्यक स्थान मिला है । व्यास ने विविधता युक्त इन सब का विशद वर्णन किया है । भगिनी के रूप में सुभद्रा, द्रौपदी, माता के रूप में यशोदा और सब प्रकार के प्रेमरस का साँचा बनाकर उसमें से ढाली गई प्रेमरस की साकार प्रतिमा राधा तथा गोपियाँ जब हम देखते हैं तो कहना पड़ता है कि इनकी तुलना किसी से भी नहीं हो सकती । राधा ने कभी माँ की तरह कृष्ण को भोजन खिलाया, कभी तुरन्त रमणी बनकर अपने प्रियतम कृष्ण का मन रिझाने के लिए उत्सुका बनकर सामने आयी है, तो पुनः प्रेयसी बनकर किसी भी व्यवहार में पीछे न रहते हुए कभी गाना गाकर आनन्द की दात्री बन गई है, तो कभी नाचकर कृष्ण को लुभाया है और कभी कृष्ण की विरहिणी बनकर चिन्तामग्न बन गयी हैं । सारांश यह कि एक राधा में स्त्री-प्रेम के सारे व्यापार

महर्षि व्यास ने अपनी आँखों के सामने रखे थे और उन सारे स्वरूपों के साथ तद्रूप होकर उनको एक रस और तन्मयता से कर दिखाने वाली—श्रीकृष्ण के प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली राधा का निर्माण किया है। राधा का समूचा जीवन कृष्णमय था इससे कृष्ण के जो भाव थे वे सब राधा में मिलते हैं। इसलिये इसमें नानात्व देखने के लिए मिलता है। प्रेम की उच्चतम अवस्था राधा और कृष्ण के बीच का भेद भाव नष्ट होकर अभेद भाव निर्माण होने पर प्राप्त होना ही संभव है अन्यथा नहीं।

भारतवर्ष में कहीं भी चले जाने पर भक्ति की पराकाष्ठा जिसमें प्रकट हो गई हो ऐसी मूर्ति सिवा राधा के और कौनसी हो सकती है? वैसे देव मन्दिर में देवमूर्ति के साथ उसकी विवाहित पत्नी अर्थात् शक्ति खड़ी रहती है। जैसे शङ्कर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता पर श्रीकृष्ण के साथ-गोपालकृष्ण के साथ उनकी शक्ति-भक्ति राधा सातत्य से खड़ी हम देखते हैं। राधा को हम भक्ति की मूर्तिमान प्रतिमा कह सकते हैं। वेद की 'योपाजारमिव प्रियम्' यह श्रुति प्रसिद्ध है। राधाकृष्ण के संबंध में भक्ति की साधना जब प्रशंसात्मक रूप में सर्वत्र प्रचलित हुई तब राधा-भक्ति शक्ति के रूप में पूजनीय बन गई। नारदमुनि भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक हैं। राधा-कृष्ण भक्ति की प्रतिमाएँ हैं। इसमें कृष्ण परमात्मा हैं तथा राधा उनकी शक्ति-भक्ति हैं। राधा का भक्तिशास्त्र के अनुसार यही स्थान है।

राधा में लीलावाद की प्रतिष्ठा बारहवीं सदी तक परिपूर्ण हो जाती है। गीतगोविन्द के अनुसार यह कथन है कि[1]—

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।

मधुररस आधार की प्रमुख सूत्र राधिका-राधा है। लीलावाद और मधुर-रस की प्रधानता ये दो लक्षण वैष्णव साहित्य में प्रधान हैं। चैतन्य के पूर्ववर्ती युग में विद्यापति और चंडीदास ने राधाकृष्ण पर काव्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी। निम्बार्क-संप्रदाय भी राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से उपास्य भाव में स्वीकार करता है। राधा भाव की भक्ति दाक्षिणात्य वैष्णवों की देन है और चैतन्य पर उसका सब से अधिक प्रभाव है। जीव गोस्वामी ने राधा को दार्शनिक प्रतिष्ठा का आधार दिया।

राधा-प्रेम में स्वकीया-परकीयातत्व—परकीया तत्व का प्रचार स्वयं चैतन्य ने किया था। प्रेम के विभिन्न स्तरों और भेदों में इसकी विशेषावस्था परकीया तत्व का रूप है[2]—

---

१. गीत गोविन्द—जयदेव (संपादक-आचार्य विनयमोहन शर्मा), पृ० ८५।
२. चैतन्य चरितामृत—आदि चतुर्थ।

'परकीया भावे अति रसेर उल्हास ।
व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास ॥
व्रज वधु गरोर एइ भाव निरवधि ।
तारमध्ये श्री राधार भावे अवधि ॥'

परकीया भाव में रस का उल्लास आत्यन्तिक रूप से हो जाता है। यह भाव लेकर सिवा व्रज के अन्यत्र कहीं निवास नहीं हो सकता। व्रज-वधु-गण में इसी भाव से जाया जा सकता है और उसमें भी राधा-भाव सर्वश्रेष्ठ है। कान्ता-भाव से की गई प्रीति में परकीया प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रेम का परिणति राधा-प्रेम में होती है। इस प्रेम में सर्वस्व का त्याग करना पड़ता है। लज्जा-भय-बाधा से मुक्त प्रेम परकीया प्रेम है। अनेक धर्म साधनाओं का और तंत्रों का प्रभाव सम्मिलित होकर वैष्णव सहजिया से परकीया तत्व को लेकर राधा में परकीया भाव दृढ़ किया गया है। भगवान् की प्रेम रूपा ल्हादिनी शक्ति का राधिका पूर्णतम आधार है। भक्ति की दृष्टि से भागवत-श्रेष्ठ-भक्तिन राधिका ही हैं। राधा भाव ही महाभाव है। राधा प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है। यह राधा के सिवा अन्यत्र संभव ही नहीं है।

वैष्णव साहित्य में राधाकृष्ण के वर्णन अनेक स्थलों पर किये गये मिलते हैं। मन्दिरों में राधाकृष्ण की युगल मूर्तियाँ भी प्रायः मिलती हैं। कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिणी ये पत्नियाँ कृष्ण के साथ नहीं दिखाई देती। कृष्ण के साथ राधा ही मन्दिरों में स्थापित की गयी है। इससे राधा श्रीकृष्ण की तरह एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है ऐसा निराधार विश्वास उत्पन्न हो गया है। राधा ऐति-हासिक पात्र नहीं है किन्तु इसके बारे में एक कथा इस प्रकार मिलती है—ब्रह्म-वैवर्त-पुराण में राधा कृष्ण की भक्ति का रहस्य इस प्रकार समझाया गया है, कि गोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण के अन्तःकरण से राधा उत्पन्न हुई। वैश्य वृषभानु की कलावती से राधा उत्पन्न हुई ऐसा भी उल्लेख मिलता है। यज्ञ के लिए भूमि जोतते समय वृषभानु को यह कन्या मिली ऐसा भी एक उल्लेख है। पद्मपुराण के अनुसार इसी का कन्यावत् पालन वृषभानु ने किया। सब गोपियों में कृष्ण की अत्यंत प्रिय गोपी राधा ही थी। देवी भागवत और नारद-पुराण में भी राधा का उल्लेख है।

विष्णु की पाँच सृष्टि–निर्माणात्मक शक्तियों में से राधा एक शक्ति है। राधा भक्ति के विकास के लिए 'श्री-राधिका-तापनीयोपनिषद्', 'श्री राधोपनिषद्' आदि ग्रन्थ निर्माण हुए। लीला के लिए ही राधा कृष्ण से भिन्न हुई हैं। राधा कृष्ण बनकर बाँसुरी बजाती है तो श्रीकृष्ण राधा बनकर फूलों की सहायता से

शृङ्गारचेष्टा करते हैं, ऐसा उल्लेख इन उपनिषदों में आया है। इन सब बातों का सार यह है कि श्रीकृष्ण की आल्हादिनी भक्ति राधा है, जो गंधर्वा कहलाती है। ये श्रीकृष्ण की सर्वेश्वरी संपूर्ण सनातनी विद्या है। राधा को छोड़कर श्रीकृष्ण पूजन व्यर्थ है। जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और नरसी मेहता ने राधा का गुणगान किया है। जयदेव की राधा विलासिनी, यौवनपूर्ण प्रेमाकुल है तो 'शैशव यौवन दुहुँ मिली गैल' कहने वाले विद्यापति ने राधा को शैशव और यौवन की दहलीज पर कदम रखने वाली किशोरी के रूप में वर्णित किया है। विद्यापति ने युवा राधा का वर्णन किया है। यह राधा विलासप्रिय है। चंडीदास की राधा प्रभु की अनंत-संगिनी है। विद्यापति की राधा चंचल, मधुर और नव-यौवना है, चंडीदास की प्रेम-गंभीरा, व्याकुल, लोकाचार से डरनेवाली है। सूर की राधा स्वकीया है—व्रजेश्वरी हैं। भक्ति का अनेक प्रकार का रूप इन मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने तन्मयता से वर्णन कर एक उत्कृष्ण कोटि का साहित्य सर्जन किया है।

नर-नारी के मीलित परस्पर भाव से धर्म-साधना की धारा भारतवर्ष में बहुत पुराने युग से चली आ रही है। अद्वयतत्व परमानन्द स्वरूप है और यही चरमतत्व भी। इसकी दो धाराएँ हैं एक शिव और दूसरी शक्ति। पुरुष शिव तत्व का प्रतीक और नारी शक्ति तत्व का प्रतीक है। यही सकज भावना वैष्णव धर्म में प्रविष्ट हो गई। मूलतः यह योग-साधना से आप्लावित थी पर बाद में उसने प्रेम साधना में अपना रूपान्तर कर लिया। राधाकृष्ण के मिलन-जनित-आनन्द को प्रेम के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। यह युगल तत्व ही परमतत्व है और इसी में महाभाव की दशा संभाव्य है अन्यत्र नहीं। नर-नारी का जागतिक प्रेम याने स्थूल दैहिक आकर्षण भी जाने अनजाने उसी एक सहज रस की धारा का उपभोग है जो प्रेम रस-धारा कहलाती है। वैष्णव सहजियों के अनुसार यह लीला स्वरूप-लीला और श्रीरूप लीला के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। प्राकृत जगत् में एक पुरुष का पुरुष बाह्य रूप है और इस रूप का आश्रय कर जो रूप भीतर रहता है वह कृष्णस्वरूप है और वहीं पर वह अवस्थान करता है। इसी प्रकार से प्रत्येक नारी के बाहरी रूप के अन्दर अवस्थान करने वाला रूप राधास्वरूप है। यह भीतरी स्वरूप ही महाभाव को ग्रहण कर सकता है जिसमें एक 'आस्वाद्य' और दूसरा 'आस्वादक' बन जाता है।

सौन्दर्य और माधुर्य की प्रतिमा-मूर्तिमती प्रेम रूपिणी नारी के भीतर से ही राधातत्व का आस्वादन हो सकता है। भारतीय साहित्यकारों ने नारी-सौन्दर्य और नारी-प्रेम माधुर्यके अवलंबनसे एक अपरूप मानसी प्रतिमा निर्माण की जो राधा

बनकर भारतीय मानसपटल पर अविच्छिन्न रूप से अङ्कित हो गई है। धमार और होली के पद सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने गाये है। इसमें विरह का करुण स्वर गूँज उठा है। राधा मानवीय प्रेम की मूर्ति के साथ-साथ ही अकृत्रिम प्रेम की मानवीय सहज स्नेह की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई साकार प्रतिमा है। श्रीकृष्ण-राधा की लीलाओं का आधार भागवत ही है, तथा वैष्णव कवियों का वर्ण्य और काव्य विषय राधाकृष्ण-प्रेम ही है। कान्तासक्ति और मधुरा-भक्ति को प्रकट करने वाले आलवारों की रंगनाथ की अन्दाल और मेड़तणी मीरां इसके अन्यतम उदाहरण है। इन दोनों की साधना राधा की भाँति की गई प्रेम-साधना ही है। कृष्ण कान्तशिरोमणि है, तो राधा कान्ता-शिरोमणि। भक्ति ने ही स्वयम् राधा बनकर उसकी माधुरी सबको चखाई है। ब्रज की ललनाओं ने गोपिकाओं के रूप में सर्वव्यापिनी मानवी प्रीति को भक्ति के उदात्तीकरण से श्री राधा को उसका प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया है। इस सर्व-व्यापिनी-नारी ने नट-नागर रस पुरुपोत्तम और सौन्दर्य सागर कन्हैया को अपना लिया है।

स्त्री और पुरुष में परस्पर सहज सुलभ प्राकृतिक आकर्षण रहता है। इसी आकर्पण को लेकर मधुरा भक्ति और कान्तासक्ति के माध्यम से परिणत करते हुए, भगवान् में अपने आपको सम्पूर्णतया लीन कर देने का एवम् प्रारम्भ से अन्त तक समस्त लौकिक मानवी भावनाओं का अलौकिक भगवान् के प्रति विन्यास (समर्पण) राधा-भाव है। इस महाभाव की स्त्री रूप में सगुण साकार प्रतिमा राधा के रूप में सामने आई है। इससे बढ़कर क्या राधा की अन्य परिभाषा बन सकती है ?

मराठी के प्रसिद्ध कवि श्री राम गणेश गडकरी जीवात्मा राधिका की परमात्मा-कृष्ण के प्रति बड़े ही अदभुत ढङ्ग से प्रीति एवम् भक्ति की सीमा रेखा पर राधा की स्थापना करते हैं। सच है प्रीति की परमोच्च अवस्था भक्त और भगवान् की एकता में ही विद्यमान है।

मी अगदी भोळी राधा ॥ तू माधवजी। नव साधा ॥
मोहिनी करी सुख बाधा ॥
तुज दासी विनवुनी भुरली। कन्हैया। बजाव-बजाव मुरली ॥[1]

मैं तो भोली-भाली राधा हूँ। पर तू सीदा-सादा माधव नहीं है। तेरी मोहिनी सब सुखों के लिये बाधा बन गई है। तुझ से यह दासी विनन्ति कर थक गई है, अब तो अपनी मुरली बजाओ। सर्वत्र चाँदनी छिटकती हुई है और सारे प्रस्तर भी फूले-फूले जान पड़ते हैं। सारा विश्व आनन्द से झूल रहा है। ऐसा

१. वाग्वैजयन्ती—श्री राम गणेश गडकरी, १०२–१०७।

जान पड़ता है कि उसमें तुम्हारी स्फूर्ति प्रविष्ट हो गई है। अणु-अणुओं में और शरीर के कण-कण में स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई है और मिलना अपना मूल्य भूलकर अभिन्न हो गई है। हे नन्दलाल ! अब अपनी कृपा भर दे दो। केवल प्रेम की दुनियाँ शेष बची है, बुद्धि का धैर्य छूट गया है। शरीर आत्ममय हो गया है, जल में जलधि का तीर डूब गया है। देखते-देखते सारी दृष्टि ही लुप्त हो गई है। मुझे क्या लग रहा है, उसे कह नहीं सकती। केवल मानस में आनन्द छा गया है। वृक्ष के शीर्ष पर उसकी जड़ें चढ़ गई हैं। शून्य में पदार्थों के कण भर गये हैं। फूलोंके बिना सुगंध आने लगा है। हवाके बिना सांस और प्रश्वास चल रहे हैं। बिना मृत्युके ही सब कुछ छूट गया है। कन्हैया एक बार मेरे साथ खेलें तो मैं अपने जीवन की बाजी लगा दूँगी। अन्यथा तुझे राधा को खो देना पड़ेगा। मेरे अस्तित्व को सम्हालकर यह विश्व-गोल घुमाइये। मेरे प्रेम से मुझे पकड़कर उसे शरीर से अलग कर लीजिये और देखिये तुम्हारी राधा तुम्हारे पीछे दौड़ी आ रही है। मैं इसे शरीर की लहर मानूँ या आनन्दावस्था की हलचल समझूँ अथवा इस जीवात्मा की चेतनावस्था जानूँ। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता? ये सब के सब मुझ में साकार होकर तुम से मिलते आये हैं। शृङ्गार रस से सुसज्जित हो यह राधा तुझे मनाने आ गई है। कई जन्म-जन्मान्तरों की पहिचान आज सजग हो गई है और कृष्ण में राधा रम गई है—समा गई है। अब बाँये अधरों पर तिरछे होकर, बाँकपन के कटाक्ष सहित मुरली बजाकर मेरी ओर देखिये। मैं इसी तरह तुम्हारा ध्यान करना चाहती हूँ। इसी खेल को हे वनमाली ! सदा खेलते रहो। अब ऐसी भावना बन गई है कि शीत और उष्ण शुभ्र और कृष्ण का कोई ज्ञान ही नहीं बचा है। अब तो राधा और कृष्ण एक रूप हो गये हैं ऐसी जयनाद यह मुरली ही घोषित करने लगी है। सर्वत्र सब कुछ शान्त हो गया है विश्व में शान्ति है, आत्मा में शान्ति है, कृष्ण और राधा भी शान्त हैं। मानो मुरली में ही शान्तता समा गई है। शीत और उष्ण तथा ताप और पीड़ा को सहन कर जिस साधना को अपनाकर यह मुरली अपने स्वन से गूँज रही है उस से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि राधा-कृष्ण प्रेम की अमर कहानी संसार सदा गाता रहेगा। श्री गडकरी का यह विवेचन राधा के भाव को सुस्पष्ट कर देता है।

चतुर्थ–अध्याय

मराठी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

चतुर्थ अध्याय

मराठी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

वैसे मराठी साहित्य के आदि कवि के रूप में मुकुन्दराज को उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक सिंधु' के कृतिकार के रूप में पहचानते हैं। हमें यहां पर मराठी साहित्य का आलोचन नहीं करना है, किन्तु हमने मराठी के जिन पांच वैष्णव कवियों को अध्ययनार्थ लिया है उनका विवेचन करना हमारा अभीष्ट होने से यहां पर वही विवेचन किया जाता है।

श्री ज्ञानेश्वर :

श्री ज्ञानदेव के पूर्वजों की जानकारी हमें उनके प्रपितामह के प्रपितामह से उपलब्ध होती है। इनके प्रपितामह के प्रपितामह का नाम हरिपंत था और वे सन् ११३८ के आसपास जीवित थे। इनके पोते श्री त्र्यंबकपंत सन् १२०७ के लगभग देवगिरी के यादव राजाओं के यहाँ नौकरी करते थे। जैत्रपाल यादव राजा ने सन् १२०७ में एक आज्ञा पत्र इनको दिया था जो आज भी उपलब्ध है। ये पैठण के पास गोदावरी तीर पर बसे हुए आपे गाँव में रहते थे। त्र्यंबकपंत के दो लड़के थे, हरिपंत और गोविन्द पंत। हरिपंत राजा सिंघण की ओर से लड़ते-लड़ते मारे गये। ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द पंत संत ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। उनकी पत्नी का नाम निराई था जो पैठण के कृष्णाजी पंत देवकुळे की भगिनी थी। गोविन्द पंत और निराई ने गाहिनीनाथ से उपदेश लिया था। ये यजुर्वेदी वत्सगोत्री वाजसनेयी शाखा के थे। गाहिनीनाथ के कृपापात्र और भगवद् भक्त होने से वैराग्य की साकार मूर्ति के रूप में इनको पुत्र लाभ हुआ। इस पुत्रका नाम विठ्ठलपंत रखा गया। विठ्ठलपंत संत ज्ञानेश्वर के पिता थे और ये बचपन में वेदपठन, काव्य, व्याकरण, शास्त्र आदि पढ़कर तीर्थ यात्रा करने निकले। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार से संबंधित सभी स्थलों की उन्होंने यात्रा की। इस प्रकार तीर्थाटन करते हुए वे आळंदी वापस लौट आये। आळंदी के सिद्धेश्वर पंत कुलकर्णी ने इनके ज्ञानमय और तेजः पुंज शरीर को देखा और स्वभावतः इनके प्रति आदर की भावना जागृत हो गई। वे उन्हें अपने घर लिवा ले गए। उनसे पूछताछ करने पर विठ्ठलपंत ने उनको अपनी पूरी जानकारी दे दी। विठ्ठलपंतके स्वभाव और गुणों पर रीझकर सिद्धेश्वर कुलकर्णीने

अपनी एकमात्र कन्या उनको समर्पित कर उन्हें अपना जामाता बना लिया। विवाहोपरांत विठ्ठलपंत अपनी अधूरी तीर्थयात्रा पूरी करने निकले और रामेश्वर तथा दक्षिण के अन्य तीर्थो की यात्रा पूर्णकर वे अपनी ससुराल आळंदी में लौट आए। इसके बाद वे अपने वृद्ध माता-पिता से मिलने के लिए अपनी पत्नी तथा श्वसुर के साथ आपे गाँव पधारे। वैराग्य-प्रवण विठ्ठलपंत का मन गृह-गृहस्थीमें रमना असंभव ही था। वे सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीनता बरतने लगे। वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने के कारण उनके माँ-बाप चल बसे। तब उनके श्वसुर ने उन्हें आळंदी लाकर रखा।

पारिवारिक जीवन—

यहाँ पर भी विठ्ठलपंत का मन नहीं रमा। वैराग्य-प्रवणता बनी ही रही। इसी प्रवृत्ति ने उनके मन में पितृऋण से मुक्त होकर सन्यास लेने की इच्छा उत्पन्न की। बहुत समय बीत जाने पर भी पुत्र न होने से सन्यास लेने की इच्छा इनमें बलवती होने लगी। इसी विषय को लेकर एक दिन पति-पत्नी में कुछ कहा-सुनी हो गई और घर को त्यागकर विठ्ठलपंत काशी चले गए। वहाँ श्रीपाद स्वामी से सन्यास दीक्षा ले ली। उनका नाम चैतन्याश्रम रखा गया। उनके गुरु उनको वहीं छोड़कर दक्षिण में तीर्थयात्रा के लिए निकले। सौभाग्यवश आळंदी भी गए। अश्वत्थ वृक्ष की नित्य परिक्रमा करने वाली रुक्मिणी को उन्होंने देखा। उसने श्रीपादस्वामी को नमस्कार किया। तब 'पुत्रवती भव' यह आशीर्वाद उसे मिला। इस आशीर्वाद को सुनकर वह सिटपिटाई। यह देखकर उन्होंने विशेष पूछताछ की और पता लगाया कि उनका शिष्य चैतन्याश्रम ही उसका पति है। तब वे तुरन्त काशी लौट आये और विठ्ठलपत को पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी। गुर्वाज्ञा से विठ्ठलपत पुनः लौटे और उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। इनकी चार संतानें हुई। शक ११९५ में निवृत्ति, शक ११९७ में ज्ञानदेव, शक ११९९ में सोपानदेव और शक १२०१ में मुक्ताबाई का जन्म हुआ।[1] इन भाई-बहनों के जन्म-शकों के बारे में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के समर्थकों में श्री भिंगारकर, पांगारकर, प्रा. वा. अ. भिडे, और डा० रा. द. रानडे तथा डा. शं. गो. तुळपुळे हैं, तथा दूसरे मत के समर्थकों में श्री वि. ल. भावे, प्रा. शं. वा. दांडेकर हैं। द्वितीय मत का आधार संत जनाबाई का एक अभङ्ग है। यहाँ पर दोनों मतों की तालिका दी जाती है।

---

१. पांच संतकवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ४।

	प्रथम मत	द्वितीय मत
निवृत्तिनाथ जन्म	११९५	११९०
ज्ञानदेव ,,	११९७	११९३
सोपानदेव ,,	११९९	११९६
मुक्ताबाई ,,	१२०१	११९९

दूसरे मत का आधार :[1]

शालिवाहन शके अकराशे नव्वद। निवृत्ति आनंद प्रकटले।
त्राण्णावचे शकीं ज्ञानदेव प्रगटले। सोपानदेखिलें। शाहाण्णवांत।
नव्याण्णव सालीं मुक्ताई देखिली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

प्रथम मत के अनुसार चारों भाई-बहनों में दो-दो साल का अन्तर पड़ जाता दूसरे मत के अनुसार तीन-तीन साल का। जनाबाई के अभङ्ग का एक और भिन्न पाठ मिलता है जो इस प्रकार है—

शके अकराशे पंचाण्णव संवत्सरीं निवृत्ति उदरीं प्रकटले।
सत्याण्णव सालीं ज्ञानदेव जाले। नव्याण्णवीं देखलें सोपान देवा।
बाराशतें एकीं मुक्ताबाई जन्मली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

यह भिन्न पाठ देखकर ऐसा लगता है कि जनाबाई का मूल अभङ्ग ही प्रक्षिप्त होगा। जो कुछ भी हो डा० शं. गो. तुळपुळे का मत ग्राह्य और सर्वमान्य है।[2]

सन्यासी की संतान होने से समाज में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं था। सन्यासी के पुत्रों को यज्ञोपवीत संस्कार का भी अधिकार नहीं है। अतः उनसे कहा गया कि पैठण जाकर वहाँ के पण्डितों से आज्ञापत्र और प्रायश्चित ले लो। वहाँ जाते ही ज्ञानेश्वर ने देखा कि एक भैंसे को उसका स्वामी पीट रहा था। इस करुणाजनक दृश्य को देखकर ज्ञानेश्वर के अन्तःकरण में करुणा उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर सब की आत्मा को समान मानते थे। उन्हें चिढ़ाने के निमित्त से पैठण के ब्राह्मणों ने ज्ञानेश्वर से पूछा, 'क्या यह भैंसा वेद पढ़ सकता है?' इस पर ज्ञानेश्वर ने उस भैंसे से वेद पाठ करवाया। इस करामात से हेमाद्रि पण्डित और बोपदेव आदि ने उन्हें शक १२०९ में शुद्धिपत्र प्रदान किया। फिर ये चारों भाई नेवासे नामक स्थान पर पधारे।

ज्ञानेश्वर की कृतियाँ—

नेवासे में ही ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानेश्वरी' प्रस्तुत की।

१. जनाबाई कृत अभंग—सकल संत गाथा, पृ० ५४९।
२. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे—पृ० ५।

इसका नाम उन्होंने 'भावार्थ दीपिका' रखा। यह टीका गीता पर आधारित है। इसकी शैली, उपमाएँ तथा कल्पना द्वारा प्रकट किये गये शब्दचित्र आदि सब कुछ अत्यन्त मनोरम और सुन्दर हैं। पाठक के मन में कवि के विचार प्रत्यक्ष साकार हो उठते हैं। उपमाओं की भरमार वे नहीं करते। स्वाभाविक रूप से अर्थ प्रतीति हो जाय यही उनका प्रयत्न है। जहाँ अर्थ प्रतीति नहीं होती वहीं पर वे एक से अधिक उपमाओं द्वारा अपना आशय प्रकट करते हैं। उनका निवेदन है कि 'मैंने यह सारस्वत का पेड़ बोया है इसके मधुर फल आप चख सकते हैं। 'ब्रह्म-विद्या की वर्षा करने के लिये वे मराठी और संस्कृत को एक ही सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है।[1]

'माझा मराठाचि बोल कौतुके।
परि अमृता ते ही पैंजेसि जिके।
ऐसी अक्षरेचि रसीके मेळवीन।'
जेथ संपूर्ण पद उभारे। तेथ मनचि धावे बाहिरे।
बोलु भुजाहि आशा भरे। आलिंगावया॥
तैसे या शब्दांचे व्यापक पण। देखिजे असाधारण।
पाठियाँ भावज्ञा पावति गुण। चिंतामणि चे॥[2]

मेरी यह मराठी वाणी अमृत की मिठास से बढ़कर है ऐसा सिद्ध कर सकती है ऐसी मैं होड़ बदता हूँ। इसमें शब्दों की व्यापकता असाधारण कोटि की है। इसके पढ़ने वाले भावज्ञों को इसमें गुण ही गुण दिखाई देंगे। उन्हें ऐसा लगेगा जैसे उनके हाथ में चिन्तामणि ही पड़ गयी हो।

ज्ञानेश्वर की यह कृति ज्ञानेश्वरी के साथ वागीश्वरी भी है। ज्ञान के सुवर्ण के द्वारा बुद्धि के नग में काव्य का जड़ा हुआ हीरा ही चमक रहा हो ऐसा उसका महत्व है। इसमें शृङ्गार के मस्तक पर शान्ति रसने अपने चरण रख दिये हों ऐसा जान पड़ता हैं। वे प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि मैं इस प्रकार से अपने बोल बोलूंगा जिससे अरूप को रूप प्राप्त हो जावेगा और अतीन्द्रिय ज्ञान भी इन्द्रियों से उपलब्ध करा दूँगा। देखिये—

मी बोलेन। बोली अरूपचि दावीन।
अतिन्द्रिय परि भोगवीन। इन्द्रियाकरवी।[3]

१. ज्ञानेश्वरी ६–१४, १६।
२. ज्ञानेश्वरी ६–२१।
३. ज्ञानेश्वरी ६–३६।

मराठी भाषा को अमृत से भी अधिक मिठास श्री ज्ञानेश्वर ने प्रदान कर दी है। गीता के अठारह अध्याय हैं और ज्ञानेश्वरी की ९००० ओवियाँ हैं। आज उसकी ८८९६ ओवियाँ उपलब्ध हैं। ज्ञानेश्वर ने अपनी पंद्रह वर्ष की आयु में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया। महाराष्ट्रीय विद्वानों का यह अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसमें भी नवाँ अध्याय सबको अधिक अच्छा लगता है। उनकी यह विशेषता है कि वे अपने सामने बैठे हुए श्रोताओं को बड़ा और श्रेष्ठ मानकर उन्हें वैसा सम्बोधित करते हुए अपनी लघुता और क्षुद्रता को स्वीकार कर अत्यन्त विनम्रता से और प्रेम से अपने वक्तव्य को उनके अन्तःकरण-पटल पर अङ्कित करते चलते हैं। समता, बंधुता और विश्वात्मकऐक्य की भावना से सराबोर होकर वे विश्वात्मक देवताके प्रति विनम्रता और ऋजुता से प्रार्थना करते हुए यह 'पसायदान' (प्रसाददान) माँगते हैं[1]—

> आतां विश्वात्मके देवें। येणे वाग्यज्ञे तोषावें।
> तोषोनि मज द्यावे पासायदान हे॥
>
> × × ×
>
> किंबहुना सर्वसुखीं। पूर्ण होऊनि तिहीं लोकीं।
> भजि जो आदि पुरुषीं। अखंडित॥[2]

इस वाग्यज्ञ से तुष्ट होकर विश्वात्मक भगवान् मुझे इतना प्रसाद-दान दीजिये। इस कृपा से खल अपनी दुष्टता छोड़ दें और वे सत्कर्म में रति रखने लग जायँ। परस्पर प्राणिमात्र सौहार्द्र भावना को अपनाये। पापी लोग अपने पापों से मुक्त होकर पवित्र बन जायँ। विश्व में स्वधर्म का सूर्य प्रकाशित होने लगे जिससे प्रत्येक प्राणिमात्र की वांछाएँ तृप्त हो जायँगी। इस भूतल पर अनवरत रूप से ईश्वर कृपा की वृष्टि हो तथा सब में आस्तिकता और आस्था का प्रादुर्भाव हो जाय। जो आदि पुरुष नारायण का अखंड भजन करेंगे वे कल्पवृक्षों की तलहटी में बैठेंगे। चेतना-चिन्तामणि के गाँव में बसेंगे। जो लोग सबके हितू हैं, तथा सज्जन हैं और अपने व्यवहार में निष्कलंक चन्द्रमा की तरह और तापहीन मार्तण्ड की तरह लाभ पहुँचाने वाले हैं, वे सब ईश्वर कृपा के पात्र हैं। अर्थात् संसार के सब लोग ऐसे बन जाय यही बात भगवान् से ज्ञानेश्वर माँगते हैं। ज्ञानेश्वरी की कुछ प्रतियों में निम्नलिखित ओवी मिलती है[3]—

---

२. ज्ञानेश्वरी १८-१७९३।

१. ज्ञानेश्वरी १८-१७९४, १७९९।

३. ज्ञानेश्वरी १८-१८१०।

'शके बाराशेतबारोत्तरे । तैं टीकाकेली ज्ञानेश्वरे ।
सच्चिदानंद बाबा आदरे । लेखकू जाहला ।'

इससे पता चलता है कि ज्ञानेश्वर-ज्ञानेश्वरी कहते थे और सच्चिदानंद बाबा लेखक के रूप में उसे लिखते थे । शक १२१२ में यह ग्रन्थ लिखा गया । इस ओवी के रचयिता ज्ञानेश्वर नही है वरन् सच्चिदानंद बाबा हैं । नाथपंथियों की इन भाइयों ने दीक्षा क्यों ली ? ज्ञानेश्वरी लिखने का क्या प्रयोजन है ? आदि प्रश्न हमारे सम्मुख महत्व के हैं । श्रीपाद स्वामी का जब इन पर आग्रह था तो फिर नाथपंथ की ओर ये क्यों मुड़े ? यहाँ पर संक्षेप में इसी का अब विवेचन किया जावेगा ।

ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन—

विठ्ठलपंत के सन्यासाश्रम से पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर उन्हें चातुर्वर्ण्य में कोई स्थान न मिलने से तथा सन्यासियों के इन पुत्रों को समाज में विशेष आदर न दिये जाने से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि ये नाथ पंथ की ओर झुके हों । इसके अतिरिक्त इनकी दो पूर्व पीढ़ियों में नाथ संप्रदाय के पुरुषों से अच्छा सम्पर्क था, यह भी इसका एक कारण हो सकता है । सबसे बड़े भाई निवृत्तिनाथ ने गाहिनीनाथ से गुरुमंत्र लिया । निवृत्तिनाथ से वह अन्य भाइयों को प्राप्त हो गया । किन्तु इनके उपदेश लेने के पहले से ही ज्ञानेश्वर को मोक्ष, ज्ञान तथा वैराग्य की जानकारी प्राप्त थी । ज्ञानेश्वरी में नाथ पंथ के शैवाद्वैत दर्शन का तथा शांकर मत के सिद्धान्तों का समन्वय दिखाई देता है । ज्ञानेश्वर का यह कार्य महान् माना जावेगा ।

वेदमार्गी शंकराचार्य को मोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान का दरवाजा समाज के चारों वर्णों के लिये तथा स्त्री शूद्रादि को मुक्त करना स्वीकार न था । ज्ञानेश्वर ने व्यवहार में मर्यादा का पालन उचित है, ऐसा कहकर अध्यात्म के क्षेत्र में स्त्री शूद्रादि के लिए समानता का द्वार मुक्त कर दिया । मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस मर्यादावाद की पाबंदी को वे नहीं मानते थे । रामानुज के पांचरात्र-सिद्धांत की ओर भी उनकी दृष्टि गयी है । सव्यूह और निर्व्यूह मार्गो में से ज्ञानेश्वर को निर्व्यूह मार्ग पसन्द था । श्री ज्ञानेश्वर ने अलवार संतों के भी भावों का आश्रय लिया है । स्वयम् ज्ञानेश्वर का कथन है कि—

तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु । भाष्य कारातें वाट पुसतु ॥[1]

कुछ विद्वान ये भाष्यकार शंकराचार्य होंगे ऐसा मानते हैं, तो कुछ रामानुजाचार्य । सूक्ष्म रूप से देखने पर उपनिषद्, गीता, गौड़पादकारिका, योगवासिष्ठ,

१. ज्ञानेश्वरी १८-१७२२ ।

शांकराद्वैत मत, काश्मीरी-शैव-संप्रदाय और गुरु-परम्परा से प्राप्त नाथ-संप्रदाय का शैवाद्वैत तत्वज्ञान सम्मिलित रूप से ज्ञानेश्वरी के अद्वैत सागर में आकर मिल गये हैं। ज्ञानेश्वरी एक सर्वोत्कृष्ट गीता-टीका है। वे केवल अनुवादकर्ता नहीं है अपितु स्वतन्त्र भाष्यकार भी हैं। उनकी स्वतंत्र प्रज्ञा स्फूर्तिवाद के रूपसे 'ज्ञानेश्वरी' में तथा अमृतानुभव में देखने के लिए मिलती है। यह विश्व ईश्वर का चिद्विलास है ऐसा सिद्धांत ज्ञानेश्वर प्रस्थापित करते हैं।

श्री ज्ञानेश्वर का दूसरा ग्रन्थ 'अमृतानुभव' है। यह शुद्ध रसायन ग्रन्थ है। वह लोकप्रिय इसलिए नहीं हो सका क्योंकि वह अत्यन्त तर्कप्रधान और कठिन है। यद्यपि यह मराठी में लिखा हुआ ग्रन्थ है फिर भी उसका अध्ययन केवल दर्शन शास्त्र के विशेष अध्येता ही कर सकते हैं। इसमें कुल ८०४ ओवियाँ हैं। शिवशक्ति का ऐक्य, शब्द खंडन, शब्द मंडन, अज्ञान का निरसन और अन्त में ज्ञान का भी निरसन किया गया है। परमात्मा केवल स्फूर्तिमात्र' है अतः वहाँ द्रष्टा और दृश्य ये दोनों दशाएँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं। इस वाक्यज्ञ का प्रयोजन केवल पारमार्थिक सुख प्राप्त्यर्थ किया गया है। इसमें शब्द-योजना की मितव्ययिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। अत्युच्च तत्वज्ञान तर्क-पद्धति से और दृष्टांतों की सहायता से कैसे अभिव्यंजित किया जाय इसका आदर्श 'अमृतानुभव' से ज्ञानेश्वर ने प्रस्तुत किया है। अमृतानुभव का क्लिष्टत्व और नीरसत्व भी प्रसिद्ध है। यह पूर्णतः स्वतंत्र एवम् प्रज्ञायुक्त दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी रचना का काल संभवतः शक १२१४ एवम् सन् १२९२ है।

इसके अतिरिक्त 'चांगदेव पासष्टी' ज्ञानेश्वर की तृतीय कृति है। इसकी रचना शक १२१६ अर्थात् सन् १२९४ की है। इसे एक प्रासंगिक प्रकरण ही माना जाता है। यह आलंदी में लिखा गया। विख्यात हठयोगी चांगदेव ने ज्ञानेश्वर की कीर्ति सुनकर उन्हें एक कोरा पत्र भेज दिया। वे इस द्विविधा में पड़े थे, कि ज्ञानेश्वर को कैसे संबोधित किया जाय। क्योंकि ज्ञानेश्वर आयु में छोटे थे पर कीर्ति में और योग्यता में बड़े थे। अपने गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ६५ ओवियों का प्रश्नोत्तर लिखकर चांगदेव को पूर्ण बोध का उपदेश दिया। अपने गुरु की कृपा से स्वानुभव का रसीला आम्रफल चांगदेव के बहाने से मुझे प्राप्त हो गया ऐसा वे कहते हैं। आरम्भ देखिये[1] —

स्वस्ति श्री वटेशु। जो लपोनि जगदाभासु।
दावी मग ग्रासु। प्रकटला करी॥
प्रकटे तंव न दिसे। लपे तंवतंव आभासे।
प्रकट ना लपला असे। न क्षोमता जो॥

१. चांगदेव पासष्टी, १–२।

इसमें स्वस्ति श्री वटेशु लिखकर आत्मा, अनात्मा का विवेचन सुन्दर दृष्टांतों से करते हुए अध्यात्म-विचार बड़ी कुशलता से प्रस्तुत कर दिये गये हैं। 'अमृतानुभव' ज्ञानेश्वरी का सार माना जाता है और चांगदेव पासष्टी अमृतानुभव का सार माना जाता है। अध्यात्म का साररूप चांगदेव के निमित्त से सबके लिए ज्ञानेश्वर ने उपलब्ध कर दिया है।

योगवासिष्ठ तथा कुछ और अन्य ग्रन्थ ज्ञानदेव के नाम पर गिनाये जाते हैं। योगवासिष्ट को लेकर विद्वानों में काफी चर्चा चली थी। निष्कर्ष रूप में माना गया कि 'योगवासिष्ट' ज्ञानदेवकृत नहीं है। श्री यं. खु. देशपान्डे और अ. का. प्रियोलकर ने पुनः यह मत प्रतिपादन किया है कि योगवासिष्ठ ज्ञानदेव कृत है। पर डा० शं. दा. पेंडसे ने इसका उत्तर समाधानपूर्वक देकर यह बतलाया है कि शैली, विषय दर्शन आदि सभी अङ्गों को देखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योग-वासिष्ठ ज्ञानदेव कृत नहीं है।[1]

ज्ञानदेव ने स्फुट अभङ्गों की रचना भी की है। कुछ लोगों के मत में अभङ्ग का कर्ता ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी कार ज्ञानेश्वर दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसी बात को लेकर महाराष्ट्र के विद्वानों में काफी वाद-विवाद भी चला था। अभङ्गों की हस्तलिखित पोथियाँ उतनी पुरानी उपलब्ध नहीं होती, जितनी ज्ञानेश्वरी की हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि प्रायः मराठी संत कवियों की अभङ्ग रचनाएँ मौखिक परम्परा से ही अधिक मात्रा में उपलब्ध होती रही हैं। वारकरी और कीर्तनकारों की कृपा से आज भी सुरक्षित रूप में अभङ्ग रचनाएँ मिल जाती हैं। अतएव हर पीढ़ी में भाषा और वाक्प्रयोग की दृष्टि से इन रचनाओं में परिवर्तन तथा क्षेपकों का मिलना आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी आज तक वे अभङ्ग भोली-भाली जनता के पास एवम् वारकरियों की जिह्वा से हम सुनते आये हैं। ज्ञानेश्वरी और अभङ्गों की शब्दावली में कई स्थलों पर विलक्षण साम्य मिलता है। दोनों कृतियाँ एक ही कृतिकार की हैं, इसे सिद्ध करने का यह ठोस प्रमाण माना जावेगा। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) आत्मरूपी नाही पाठी ओणि पोट एकचि निघोट जाणार या।
देवासी पाठी पोट आधी कीं नाहीं।[2]

(२) रत्नाचिया आशा घात झाला तया राजहंसा॥
जैसा नक्षत्राचिया आभासा। साठी घात झाला तया हंसा॥[3]

---

१. म. सा. पत्रिका-पूना वर्ष १६ अङ्क ३।
२. अभङ्ग—८६८ सकल संत गाथा और ज्ञानेश्वरी अ ११–५३०।
३. अभङ्ग ५१८ ,, ,, अ ९–१४६।

(३) राजयाचि कांता काय भीक मागे ।
काय समर्थाची कांता कोरान्न मागे ॥[1]

इस तरह शब्द साम्य, विचार साम्य और उपमाओं की शैली तथा कृष्ण भक्ति दोनों में पूर्ण रूप से एक सी ही अभिव्यक्त है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि अभङ्गकर्ता ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरीकार ज्ञानेश्वर एक ही व्यक्ति है।[2]

ज्ञानेश्वरकृत अभङ्गों में चार स्थानों पर बाप रखुमा देवीवर 'विठ्ठला' की छाप मिलती है। कीर्तन-भक्ति, हरिहर-ऐक्य, सन्तों को गौरव प्रदान करना, निर्गुण और सगुण का अभेदत्व आदि कई बातें ऐसी हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि दोनों कृतियाँ एक ही कृतिकार की हैं। ज्ञानेश्वर कृत शुद्ध अभङ्गों की छानबीन कर उनका सम्पादन बहुत आवश्यक है। इस दिशा में प्रा. गजेन्द्रगडकर जी का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है।[3]

ज्ञानेश्वर के भाई बहन -

ज्ञानदेव के बड़े भाई और गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा लिखी गयी निवृत्तेश्वरी, उत्तरटीका आदि ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। निवृत्तेश्वरी उनकी ही है इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। तीन चार सौ अभङ्ग अवश्य उनके मिलते हैं जिनसे उनकी काव्यशक्ति का पता चल जाता है। ज्ञानदेव के लिए वे पितृवत् हैं। इनका भी 'हरिपाठ' उल्लेखनीय और उत्तम ग्रन्थ है। निवृत्तिनाथ के द्वारा रचे गये अभङ्गों की पंक्तियाँ सुन्दर और बोधगम्य शैलीपूर्ण है यथा—

नाहीं आम्हा काळ, नाहीं आम्हा वेळ
अखण्ड सोज्वळ हरि दिसे ॥
ध्यानेवीण मन विश्रांति विण स्थान
सूर्येविण गगन शून्य दिसे ॥[4]

स्मरण रहे कि निवृत्तिनाथ के अभङ्ग ज्ञानमय है, वे ज्ञानेश्वर की तरह काव्यमय नहीं है। सोपानदेव के द्वारा रचित पचास अभङ्ग मिलते हैं। वैसे इनके रचे गये 'सोपानदेवी', पंचीकरण, प्राकृतगीता आदि ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। सोपानदेव कृत यह अभंग अन्तःकरण में करुणा की ऊर्मियाँ पैदा कर देता है—

१. अभङ्ग २५२ सकल संत गाथा और ज्ञानेश्वरी अ १२–८५।
२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खं. १, पृ० ५६८, ६०१।
३. ज्ञानेश्वरदर्शन भाग २ साहित्य खण्ड, पृ० ३०६ ते ३१५।
४. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ८६६।

'चलारे वैष्णव हो जाऊँ पंढरीसी। प्रेमामृत खूण मागो
त्या विठ्ठलासी ॥'[१]

मुक्ताबाई काव्य और अध्यात्म इन दोनों विषयों की दृष्टि से ज्ञानेश्वर के स्तर पर आजाती हैं। इनके अभङ्गों में मिठास बड़ी सरसतासे भरी हुई मिलती है। उसमें स्वाभाविक रूप से पाई जा सकनेवाली स्त्रियों की कोमल हृदयवृत्ति का प्रकाशन सुकुमार ढङ्ग से हुआ है। इनके अभङ्गों में ताटी के अभंग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। प्रसंग इस प्रकार का था। किसी निन्दक ने इन सन्यासियों के पुत्रों को देखकर कहा कि ये भाई-बहन बड़े अपशकुनी हैं। तब ज्ञानेश्वर खिन्न मन से अपनी झोंपड़ी का दरवाजा बंद कर बैठे। तब कमरे की ताटी अर्थात् दरवाजा खोलने के लिए मुक्ताबाई ने प्रार्थना की तभी इन अभंगों की सृष्टि हुई।

मजवरी दया करा ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वरा।
संत जेणे व्हावे। जग बोलणे सोसावे॥

× × ×

लडिवाळ मुक्ताबाई। बीज मुद्दल ठायी-ठायी।
तुम्ही तरोन विश्व तारा ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वरा॥[२]

'हे बंधू ज्ञानेश्वर! मुझ पर दया कीजिए और शीघ्र द्वार खोल दीजिए। संत बनने वाले को इस दुनियाँ में रहने वाले लोगों की टीका टिप्पणियाँ सहनी ही चाहिए। बड़प्पन तभी प्राप्त होता है जब अहंकार, गर्व, तथा अभिमान चला जाता है। जहाँ बड़े लोग रहते है वहीं भूतदया एवम् करुणा का निवास रहता है। जब ब्रह्म सर्वत्र रहता है तब क्रोध भी किस पर किया जाय? इसलिए समदृष्टियुक्त होकर मुझे दरवाजा खोल दीजिए। पवित्र मनवाला योगी लोगों के द्वारा किये गये अपराधों को सहता है। यदि विश्व अग्निवत बन जाय तो प्राणियों को संत-मुखों की ओर ही ताकना पड़ता है। विश्व तो परब्रह्म का एक सूत्र है, जिसे वे जैसा चाहे खींचते रहते हैं। आपकी बहन मुक्ताबाई आपकी लाड़ली है अतः मैं और आपसे क्या कहूँ। बीज और उसका पूर्ण विकास कहाँ और किस ठौर नहीं है? आप खुद तर जाइये और दूसरों को भी तार दीजिए। कृपा करके दरवाजा खोलिए।'

चौदह पंद्रह वर्ष की अवस्था वाली इस लड़की में इतनी उच्च कोटि का

---

१. सकल संत गाथा सोपानदेव अभंग ७६६३, पृ० ५२८।

२. महाराष्ट्र सारस्वत : वि. ल. भावे और डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १५६।

वैराग्य देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। मुक्ताबाई को काव्य और अध्यात्म इन दोनों बातों में ज्ञानेश्वर के स्तर पर रखा जा सकता है। हिन्दी उलटबांसियों की तरह चमत्कृतिपूर्ण शैली में मुक्ताबाई वर्णन करने में पटु है। इसकी एक बानगी देखिये—

मुंगी उड़ाली आकाशी। तिने गिळिले सूर्यासी॥
थोर नवलाव भाला। वांझे पुत्र प्रसवला।
माझी वियाली घार झाली। देखोनि मुक्ताई हासली॥[1]

चींटी आकाश में उड़ी और उसने सूर्य को निगला। अर्थात् सन्त जीवात्मा अनन्त परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान सूर्य का प्रकाश उसे उपलब्ध हो जाता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वंध्या को पुत्र पैदा हुआ और मक्खी से चील पैदा हुई। इसे देखकर मुक्ताई हँसने लगी।

इसी शैली में एक ओवी भी देखिए कितनी ज्ञानमय और काव्यमय है।

'पहिली माझी ओवी। परतुनि पाहिले।
दृष्टि ने देखिले। निजरूपी॥'[2]

अपने आत्मस्वरूप को मैंने देख लिया और जब मैं उसका अनुभव लेकर पुनः वापस आई तो वही दृश्य देखा।

पते की बात तो यह है कि इस तरह की ओवियाँ समान अधिकार और समान आयु की जनाबाई और मुक्ताबाई ने एक साथ बैठकर गाई हैं।

तीर्थ यात्रा और समाधि—

ज्ञानेश्वर ने अपने समकालीन नामदेव आदि अन्य सन्तों को साथ लेकर भारतवर्ष के तीर्थों की यात्राएँ भी की थीं। पंढरपुर में कार्तिक शक १२१८ में एकान्त सुखलाभ प्राप्त करने के लिए समाधि लेने का उन्होंने निश्चय किया। कार्तिक बदी त्रयोदशी के दिन इन्द्रायणी के तीर पर दोपहर को उन्होंने समाधि ले ली। इसके बाद ही शके १२१८ में मार्गशीर्ष बदी त्रयोदशी को सोपानदेव ने सासवड़ में समाधि ले ली। दो भाइयों के विरह के बाद अपनी जन्मभूमि देखने के लिये निवृत्ति और मुक्ताबाई आपे गाँव गए। वहाँ बचपन की सारी स्मृतियाँ सजग हो आईं। इसी से विशेषतः मुक्ताबाई अधिक खिन्न और उद्विग्न-मना होकर शक १२१९ के वैशाख शुक्ल द्वादशी के दिन एदलाबाद के पास के माणगाँव में समाधिस्थ हो गई। इस प्रकार एक के बाद एक अपने भाई बहन के चल बसने से निवृत्तिनाथ

१. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, पृ० ६००—डा० शं. गो. तुळपुळे।
२. " " पृ० ६०० "

को बड़ा दुख हुआ। उन्हें नारायण के द्वारा उनके साथ यह किया गया व्यवहार विपरीत लगा और उन्होंने कहा[1]—

ज्येष्ठाच्या आधी कनिष्ठाने जाणे।
केले नारायणे उफराटे ॥
उपराटे फार वाटे माझे मनीं।
वळचणीचे पाणि आढ्या गेलें ॥

'ज्येष्ठ के पहले कनिष्ठ चल बसे। नारायण ने यह क्या विपरीत क्रम चलाया। मेरे मन में इसका बड़ा शोक है। ओलती का पानी मंगरे पर कभी नहीं चढ़ता पर इस प्रसंग में उलटा हो गया अर्थात् मंगरे का पानी ओरी पर चला गया।'

इसी उद्विग्न मनस्थिति ने शक १२१९ की ज्येष्ठ वदी द्वादशी को अपनी देह त्र्यंबकेश्वर में गोदावरी नदी में विसर्जित कर दी। इस तरह इन प्रसिद्ध चार संतों का एवम् भाई-बहन का चरित्र पूर्ण हो गया।

प्रा. न. र. फाटक के मतानुसार ज्ञानेश्वर का अन्तरंग मुख्यतः सामाजिक था। इस्लाम के राक्षसी आक्रमण से आभ्यंतर रूप में महाराष्ट्र झुलस गया था, तथा समाज देवधर्म के बारे में अधःपतित हो गया था। ऐसे समय में सामाजिक और धार्मिक संघटना करते हुए ज्ञानदेव ने उसे नवधर्म का रसायन पिलाकर जीवित किया।[2] परन्तु प्रा. शं. गो. वाळिंबे और डा० शं. गो. तुळपुळे के मत में यह ऐतिहासिक असत्य मात्र है।[3] वस्तुतः ज्ञानेश्वरी का प्रमुख सूत्र आत्म साक्षात्कार है। आत्मानुभव के बलपर सबके लिए भक्तिज्ञान का मन्दिर खड़ा करके कुल, जाति आदि का भेद न मानते हुए सबके लिए उसे मुक्त करना तथा अध्यात्म-क्षेत्र की राह दिखलाकर उन्हें समत्व की भूमि पर अर्थात् मानव्य की भूमि पर ले आना ही उनका प्रमुख कार्य जान पड़ता है।[4]

ज्ञानेश्वर और उनके बंधु सोपानदेव तथा भगिनी मुक्ताबाई निवृत्तिनाथ के द्वारा नाथ पंथ में समाविष्ट हो गये थे। इनके पिता विठ्ठल पंत को आळंदी के ब्राह्मणों ने देहांत प्रायश्चित लेने के लिए कहा तो ब्रह्मवृन्दों का शास्त्राधार शिरोधार्य मानकर प्रयागराज के त्रिवेणी संगम में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया।

१. निवृत्तनाथ अभंग।
२. ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी, पृ० १०५–७–१०, प्रा. न. र. फाटक।
३. ज्ञानेश्वर चरित्र आणि ज्ञानेश्वरी चर्चा, पृ० ५८–६३, प्रा. शं. गो. वाळिंबे।
४. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे ५।

सन्यासी के पुत्र होने से जो कष्ट उठाने पड़े उन सबको उठाकर एकमात्र भगवद् भक्ति का प्रचार इन लोगों ने किया। इनकी कर्मभूमि व संचार भूमि आळंदी, प्रतिष्ठान, नेवासे, आदि रही। ग्रन्थ रचना समाप्त हो जाने पर इन चारों ने नामदेव और अन्य लोगों के साथ तीर्थयात्रा की। इस यात्रा में नामदेव और ज्ञानदेव ने भक्ति प्रेम का अपूर्व सुख लूटा था। कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द के नाम से कीर्तन, स्मरण, भजन आदि करते हुए पंढरपुर में ये लोग लौटे। यात्रा के बाद आळंदी में आकर समाधि लेने का जब ज्ञानेश्वर ने निश्चय किया तो नामदेव भी साथ थे। यह संजीवन-समाधि इस परिवार के जीवन की सबसे बड़ी दुखद घटना है। नामदेव के इस प्रसंग पर लिखे गये अभंग करुण रस से ओतप्रोत हैं। ज्ञानेश्वर के रचे गये अभंग इसी यात्राकाल के जान पड़ते हैं।

ज्ञानेश्वर में नाथ और भागवत संप्रदाय का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना है किन्तु उसका उद्देश्य आत्मानुभूति है। भक्ति बाह्यसाधन के रूप में न होकर आंतर स्वरूप की है। अर्थात् वह नाम स्मरणादि भाव-साधना की है। योगमार्ग श्रेष्ठ अवश्य है पर वह सर्वसुलभ नहीं है। उसमें सदा यह भय बना रहता है कि योग साधना की परिणति आत्मानुभूति में न होकर शरीर संपदा बनने में हो सकती है। उसी प्रकार से भागवत संप्रदाय की भक्ति सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन होने पर भी उसकी मर्यादा सगुण और मूर्तिपूजा तक ही सीमित रह सकती है। इसलिए नाथ सप्रदाय के योग मार्ग को भक्ति का आधार देकर भागवतों की भक्ति को ज्ञान की आँखें उन्होंने प्रदान कीं। योग और भक्ति के ऐक्य से परमार्थ की प्राप्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य है।

नामदेव—

संत नामदेव का चरित्र प्रामाणिक रूप से उपलब्ध न होने के कारण नामदेव के चरित्र में जन्मस्थान, समाधिस्थान जन्म शक तथा चरित्र की चमत्कारपूर्ण घटनाओं से भरी बातें, किंवदंतियाँ, जनश्रुतियाँ आदि सामग्री होने से प्रामाणिक चरित्र प्रस्तुत कर सकना एक अत्यंत जटिल कार्य बन गया है। फिर भी जो सामग्री मिल सकी है उसका यहाँ पर विवेचन में उपयोग कर लिया गया है।

नामदेव का जन्म स्थान—

नामदेव के जन्म स्थान के बारे में निम्नलिखित मत प्रचलित है। नामदेव के जन्मस्थान का नाम नरसीबामणी बतलाया जाता है। निश्चित रूप से इस स्थान के बारे में भी एक मत नहीं है। डा० तुळपुळे, कोरटकर, आजगांवकर,

वि. ल. भावे आदि प्रभृति के मत में यह स्थान परमणी जिले में है।[1] अन्य लोग और श्री यो. ना. पाटसकर यह स्थान कराड जिले के पास के नरसिंगपुर अर्थात् नरसीबामणी को नामदेव का जन्मस्थान मानते हैं। परम्परा नामदेव पंढरपुर में ही पैदा हुए ऐसा मानती है। एकनाथ का एक अभङ्ग इस बारे में यह जानकारी देता है[2]—

द्वारकेहुनि विठ्ठ पंढरिये आला।
नामयाचा पूर्वज दामाशेटी वाहिला॥
दामा आणि गोणाई नवसी विठ्ठसी।
पुत्रदेई आम्हा देवभक्त करिशी॥

श्री ल. रा. पांगारकर आदि लोग नामदेव के पूर्वज नरसीबामणी में थे, तथा जन्म वहीं हुआ पर बचपन में ही सारा परिवार पंढरपुर में विठोबा की भक्ति के लोभ से आकर के बस गये ऐसा कहते है।[3] परम्परा के अनुसार नामदेव के पूर्वज उनके जन्म से पहले ही पंढरपुर में आकर वस गये थे। नामदेव का जन्म सन् १२७० तथा शक ११९२ में हुआ। कम से कम यह निष्कर्ष तो सब को मान्य है।

नामदेव अपने पूर्व चरित्र में डाकू थे और बाद में पश्चाताप हो जाने से वे भक्तिमार्ग में आ गए।[4] इसके लिए वे जिस ५६ चरणों के अभंग का आधार लेते है वह अभंग नामदेव का नहीं है। तथा अपनी बात की पुष्टि के लिए वे नामदेव का जन्मशक बदलते हैं जिससे नामदेव के जीवन की अन्य बातें और डाकूगिरी का व्यवसाय आदि की संगति बैठ जाती है। परन्तु ये सब बातें सिद्ध नहीं होती है।[5] मुक्ताबाई जिस नामदेव के विषय में यह कहती है, 'अखंड जयाला दे वाचा शृंगार' वे उनके इस पूर्व व्यवसाय के बारे में कुछ भी नहीं कहती हैं। इसके अतिरिक्त आजगाँवकर के मत का सप्रमाण खंडन श्री मो. ना. हाटसकर ने एक पुस्तिका लिखकर किया है जो द्रष्टव्य है।[6]

---

१. पाँच संत कवि—पृ० १३३–१३४–१३६, डा० शं. गो. तुळपुळे।
२. एकनाथकृत अभङ्ग, १९२९, सकल संत गाथा, पृ० २६७।
३. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खं. १–पृ० ५५७, ल. रा. पांगारकर।
४. नामदेव चरित्र–आजगाँवकर, पृ० ९५।
५ पाँच संतकवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १३६।
६. बालभक्त नामदेव दरोडेखोर होते काय ?
(पूना इ. स. १९३५), ले. मो. ना. पाटसकर।

नामदेव के जन्म शक के बारे में विवेचन करने वाला निम्नलिखित अभंग पंढरपुर के नामदेव घराने की एक पुरानी हस्तलिखित पोथी में से यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—माझे जन्मपत्र बावाजी ब्राह्मणे। लिहिले त्याची खूण सारु ऐका अधिक व्याण्णव गणित अकराशते। उगवता आदित्य तेजोराशी शुक्ल एकादशी-कार्तिकी रविवार। प्रमोद संवत्सर शालीवाहन शक ऐशी वर्षे आयुष्य पत्रिका प्रमाण। नाम संकीर्तन नामया वृद्धि।[1] इस अभंग में दी गई जानकारी की गणना करने पर शालीवाहन शक ११९२ कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन रविवार आता है। इसी की अंग्रेजी गणना से दिनांक २६ अक्टूबर १२७० ई. म. आता है। इस तरह नामदेव, ज्ञानदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण शक १२१६ में दक्षिण में प्रथम बार हुआ था। यह वह समय था जब ज्ञानदेव को समाधि लेकर कुछ ही वर्ष बीते थे। नामदेव कम से कम ५० साल तक इस घटना के बाद जीवित थे। ज्ञानदेव और नामदेव को किसी भी तरह अलग कर सकना संभव नहीं है।

नामदेव की जीवनी सम्बन्धी सामग्री के सूत्र—

नामदेव परिवार के अन्तर्गत आने वाली नामदेव की दास जनाबाई के रचित अभंग भी नामदेव के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। देखिये[2]—गोणाई ने मानता ली थी और विठ्ठल से ऐसे पुत्र की याचना की कि जो उसका भक्त हो। उसके शुद्ध भाव को देखकर पांडुरंग प्रसन्न हुए और नामदेव पैदा हुए। दामाशेटी को आनन्द हुआ। नामदेव की पत्नी का नाम राजाई था। नामदेव के नारा, विठा, गोंदा और महादा ये चार पुत्र और लिंबाई नाम की पुत्री थी। बहन का नाम आऊबाई था। इन चारों पुत्रों की पत्नियों के नाम क्रमशः लाड़ाई, गोड़ाई, येसाई, और साखराई थे। जनाबाई कहती है, 'मैं नामदेव की अज्ञानी और गँवार दासी हूं।' भक्ति की अपूर्वता से पंढरिनाथ ने उसके यहाँ मजदूर बनकर उसके घर का छप्पर छवाया। बचपन से ही विठ्ठल के कृपा पात्र नामदेव के जीवन से संबंधित अन्य चमत्कारपूर्ण बातों का उल्लेख इन अभंगों में मिलता है। वे उसके हाथ का नैवेद्य ग्रहण करते हैं और दूध पीते हैं। भक्ति और नाम संकीर्तन करने वाले नामदेव का यह यथातथ्य वर्णन जनाबाई ने इस तरह किया है[3]—

---

१. पंढरपुर की हस्तलिखित पोथी से उद्धृत।

२. नामदेव गाथा. चित्रशाळा प्रेस—जनाबाईचे अभंग २७१, ८०, ८५, ९१, ९२, ९३ पृ० ५९७–९८।

३. नामदेवगाथा—अभंग २८१, पृ० ५९७।

सुंभाचा करदोडा रकट्याची लंगोटी । नामा वाळवंटी कथा करी ॥
ब्रह्मादिक देव येओनि पाहाती । आनंदे गर्जती जयजयकार ॥
जनी म्हणे त्याचे काम वर्णू सूख पाहाती जे । मुख विठोबा चे ॥

'मुंज की वटी हुई रस्सी का करदोड़ा पहनकर उसमें चीथड़े की लंगोटी लगाकर चंद्रभागा नदी की रेती में नामदेव विठ्ठल का नाम स्मरण, हरिसंकीर्तन करते हैं इसे देखने ब्रह्मादि देवता आते और भगवान् के जयजयकार में सम्मिलित होते हैं। विठोबा इससे प्रसन्न हो जाते हैं। उनके मुख की शोभा और अपूर्व सुख को जो देखते हैं उनका मैं भोली-भाली जनाबाई क्या वर्णन करूँ?'

(२) मराठी में नामदेव के चरित्र के साधनों में महिपति का 'भक्त-विजय' नामक ग्रन्थ है। 'भक्तमाल' के आधार पर यह लिखा गया है। 'भक्तमाल' की नामदेव वाली जीवनी में जो विलक्षण बातें दी गई हैं उसमें कुछ सुधार महिपति ने किया है। महिपति के अनुसार नामदेव अयोनिज थे और भीमानदी की एक सीपी में मिले थे। नामदेव के पंजाब निवास का वृत्तान्त देने वाली एक पुस्तिका बाबा पूरणदास द्वारा लिखित 'श्री स्वामी नामदेवजी की जनम साखी' यह प्रसिद्ध है। इसमें नामदेव लक्ष्मावती नामक एक बाल विधवा से ईश्वर कृपा से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए ऐसा वर्णित है। ज्ञानदेव, नामदेव के गुरु बतलाये गये हैं। जन्मकाल शक-१२८५ बतलाया गया है। महिपति नामदेव की पजाब यात्रा पर कुछ भी नहीं कहते।

(३) नामदेव ने अपना आत्मचरित्र पूरा तो नहीं लिखा परन्तु अपने जीवन के कुछ महत्वपूर्ण प्रसंगों की जानकारी वे उसमें देते हैं। नामदेव मराठी के आद्य आत्मचरित्रकार हैं। यह आत्मचरित्र नामदेव कृत है या उनके किसी अज्ञात शिष्य या भक्त द्वारा लिखा गया है ऐसा माना जाता है। इसमें मिलावट कितनी है और उनका निजी कितना है इसका निर्णय नहीं हो सका है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि यह नामदेव कृत है ही नहीं। उनके आध्यात्मिक जीवन के तीन प्रसंग इसमें महत्वपूर्ण हैं जो उनके पारमार्थिक आंतरंग को प्रकाशित कर सकने में पूरे सक्षम हैं। वे तीन प्रसंग ये हैं—(१) नामदेव को भगवान् की भक्ति करने में कौटुम्बिक विरोध पर्याप्त रूप में हुआ। (२) ज्ञानदेवादि भाइयों से इनकी प्रथमबार भेंट हुई और (३) विसोबा खेचर से उनको गुरूपदेश मिला। नामदेव अपने चरित्र की स्वयं इस प्रकार समालोचना करते हैं[1]—

१. नामदेवाचा गाथा (चित्रशाला प्रेस)—पृ० २७५, अभङ्ग १।

शिंपियाचे कुळीं जन्म मज जाला। परि हेतु गुंतला सदाशिवीं।
रात्री माजीं शिवीं दिवसामाजी शिवीं। आराणुक जीवीं नाही माझ्या।
सुई आणि सातुळी, कात्री गज दोरा। मांडिला पसारा सदाशिवीं।
नामा म्हणे शिवीं विठोबाचे अङ्गीं। त्यावेनि मी जगीं धन्य जालो॥

दर्जी के कुल में मेरा जन्म हुआ। परन्तु मेरा ध्येय परमात्मा की प्राप्ति है। वैसे दिनरात में कपड़े सीते रहता हूँ। मुझे जरा भी चैन लेने की फुरसत नहीं। सुई, धागा, कैंची, कपड़े नापने का गज यह सारा प्रपंच उसी सदाशिव के द्वारा फैलाया गया है। पर मैं तो विठोबा को ही अपने शरीर में सी लेता हूँ जिसे मेरा जन्म सार्थक और सफल हो गया है।

(४) आजगाँवकर, पांगारकर, और शं. पा. जोशी की पंजाबातील नामदेव' आदि नामदेव पर लिखी गयीं पुस्तकें भी विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त और भी पुस्तकें और लेख डा० ट्रम्प, मकॉलिफ, प्रियोळकर, भिंगारकर, पांडुरङ्ग शर्मा आदि ने लिखे हैं जो विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

(५) हिन्दी साधनों में 'भक्त-माल' भक्तों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। 'भक्तमाल' में नामदेव के जीवन की विलक्षण बातें मिलती हैं। इससे भी पूर्व लिखी गयी अनन्तदास कृत 'नामदेव परिचयी' मिलती है।[1] अनन्तदास के अनुसार नामदेव कलियुग में प्रथम भक्त हैं। केशव को दूध पिलाना, मन्दिर का द्वार फेरना, बादशाह से झगड़ा, मृत बैल को जीवित करना तथा हरि का अपने हाथ से छप्पर छवाना आदि घटनाएँ हैं।

(६) 'उत्तर भारत की संत परम्परा' में सर्वप्रथम हिन्दी में नामदेव के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है। विद्वान लेखक का कहना है[2]—'ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई, पूर्णतः विश्वसनीय समझी जाने वाली जीवनियों का नितांत अभाव है और जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओं की पूरी छानबीन नहीं हो जाती, तब तक उनमें दी गई बहुत सी बातों को भी हम असंदिग्ध नहीं कह सकते। इनके अनुसार नामदेव नरसीबामनी नाम के कराड़ के निकटस्थ ग्राम में दामाशेट दर्जी के यहाँ पुत्र रूप में पैदा हुए। छीपी कहलाने वाली जाति दर्जी और कपड़े छापनेका कार्य महाराष्ट्रमें करती थी। अन्य सब जीवनी-संबंधी बातें कुछ हेर-फेर के साथ वे ही हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। श्री परशुराम

१. नामदेव की परिचयी—हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक २७८, पूना विश्व विद्यालय, (जयकर ग्रंथालय), अनंतदास।

२. उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०६।

चतुर्वेदी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि, 'नामदेव के परिचय में आगे चलकर किंचित् परिवर्तन भी करना पड़े तो आश्चर्य की बात नहीं होगी ।'[१]

(७) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में नामदेव की कुछ विशेष जानकारी दी गई है । संत-मंडली में नामदेव की परीक्षा तथा उन्हें कच्चा घड़ा कहा जाना, बाद में ज्ञानेश्वर के प्रयत्नों से नाथपंथी योगमार्गी विसोबा खेचर को गुरु बनाना आदि का उल्लेख है तथा 'भक्तमाल' में वर्णित चमत्कारों का विवेचन किया गया है ।[२] आचार्य शुक्लजी के नामदेव विषयक ये वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—'महाराष्ट्र में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है । मराठी अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ प्रचुर परिमाणमें मिलती हैं । इन हिन्दी रचनाओं में विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती है और कुछ निर्गुणोपासना से ।'[३] 'नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो व्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है, पर निर्गुन बानी की भाषा नाथ पंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा है ।'[४] 'नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'निर्गुन पंथ' के लिये मार्ग निकालने वाले नाथ-पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे ।'[५] 'सब सगुण मार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूपके साथ-साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आये हैं जो बोधगम्य नहीं । वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते ।[६] नामदेव इधर इसलिये प्रवृत्त हुए थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु विसोबा से ज्ञानोपदेश लिया था और शिष्य के नाते उसकी उद्धरणी आवश्यक थी ।

(८) 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' के लेखक आचार्य विनय मोहन शर्मा नामदेव की हिन्दी रचनाओं के बारे में अपने विचार यों प्रकट करते हैं—'यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती, परन्तु जो कुछ प्राप्त है उनमें उत्तर भारत की संत परम्परा का पूर्व आभास मिलता

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०७ ।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास दशम संस्करण—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४, ६६, ६७ ।
३. ,, ,, ,, पृ० ६६ ।
४. ,, ,, ,, पृ० ७० ।
५. ,, ,, ,, पृ० ७० ।
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास (दशम संस्करण) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६९ ।

है और उनके परवर्ती संतों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है जिसे उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिये।[1]

नामदेव के जीवन की महत्वपूर्ण बातें और रचनाएँ—

अब तक नामदेव की जीवनी के विभिन्न आधार और सूत्रों को हमने देखा। अब निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नामदेव पंढरपुर में सन् १२७० शक-११९२ में पैदा हुए। बचपन से ही वे विठ्ठल भक्त थे। विठ्ठल की मूर्ति, विठ्ठल का नाम, विठ्ठल का जयघोष, पंढरपुर का निदिध्यास इन बातों से वे सौ फीसदी विठ्ठल भक्त बन गये। विठ्ठल मूर्ति सचेतन है और यही एकमात्र उपास्य है ऐसी उनकी दृढ़ श्रद्धा थी यह ल. रा. पांगारकरजी का मत सही जान पड़ता है।[2] लौकिक जीवन की ओर उनकी दृष्टि उदासीन थी अतः उनकी गृहस्थी सुचारु रूप से चलने के बदले विरोध पूर्ण वातावरण से युक्त ही सदा रही। 'मैं भक्त हूँ' यह अहंकार उनमें उत्पन्न हो गया था। उनकी इस स्थिति का तिरोभाव होकर विशुद्ध भक्ति की स्थापना उनके अन्तःकरण में होने का प्रसंग शक १२१३ में आया। यह वह प्रसंग था जब नामदेव ने आळंदी में जाकर ज्ञानेश्वर से भेंट की। इस मिलन में उन्हें अपना आत्म-निरीक्षण करने का सुअवसर मिला और वे अंतर्मुख बन गए। ज्ञानदेव के आदेशानुसार 'आवंढ्या-नागनाथ' में जाकर विसोबा खेचर से गुरूपदेश लिया। इसके पूर्व का प्रसंग बड़ा मार्मिक है। नामदेव जब नागनाथ के मन्दिर में पहुँचे तो शिवलिंग पर टांगे फैलाये विसोबा खेचर को उन्होंने सोया हुआ देखा। नामदेव को यह देखकर विस्मय हुआ। उन्होंने विसोबा खेचर के पैरों को वहाँ से हटाया तो एक आश्चर्य नामदेव ने देखा। वे जिधर पैर हटाते उधर शिवलिंग ही दिखाई देता। इससे उन्हें भगवान् सर्वत्र हैं यह ज्ञात हुआ। विसोबा के अनुग्रह से वे ज्ञानी बन गए। इस गुरु कृपा का वे स्वयम् वर्णन करते हैं—

> श्रवणी सांगितली मात। मस्तकी ठेवियला पद पिंडा।
> विवर्जित केला नामा। खेचरु विसा। प्रेमाचा पिसा।
> तेणे नामा कैसा उपदेशिला तया सांगितले गुज। दाखविले निज।
> पाल्हाळी हो तूज। काय चाडा। खेचरु म्हणे मज।
> ज्ञानराज हे गुरु तेणे अगोचरु नाम्या केला।[3]

---

१. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० १३६।

२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खण्ड १—ल. रा. पांगारकर।

३. नामदेवाची गाथा—चित्रशाला प्रेस, अभङ्ग १३८, पृ० ३१३ भाग २।

विसोवा ने नामदेव को नाम-मंत्र देकर कृतार्थ कर दिया। विसोवा भक्ति-प्रेम में पागल वन गये थे। उसका रहस्य वतलाकर उन्होंने नामदेव को विदेही बना दिया। यही ज्ञान वास्तव में गुरु-मंत्र है। ईश्वर प्राप्ति का नाम ही एक अमोघ साधन है यह वतलाकर उसे नामदेव को सौंप दिया। 'पंढरिनाथ की नगरी में मोक्ष और अध्यात्म के क्षेत्र में सव लोग एक ही धरातल पर हैं इस तथ्य को नामदेव ने आत्मसात कर लिया और अपने आचरण से भागवत-धर्मीय कैसा होता है उसे प्रत्यक्ष दिखा दिया। गृहस्थाश्रम तो उन्होंने न छोड़ा परन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए भगवद् भक्ति में इतने लीन हो गए कि वे वारकरी संप्रदाय के एक आदर्श भक्त और एक वड़े सन्त का स्वयम् आदर्श वन गये। नामदेव ने इसी भक्ति के आवेश में शत कोटी अभंग रचने की प्रतिज्ञा की ऐसा कहा जाता है। वे स्वयम् कहते हैं—'शतकोटी तुझे करीन अभंग।' इतनी वड़ी संख्या में न तो उनके अभंग मिलते हैं न उन्होंने इतने रचे होंगे। इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य ऐसा है कि वहुत अभङ्ग नामदेव ने रचे। वैसे कुल २५०० अभङ्ग उपलब्ध हैं। इनमें भी लगभग ५०० या ६०० अभङ्ग मूल नामदेव के होंगे। 'विष्णुदास नामा' के भी अभंग नामदेव की गाथा में मिल गये हैं। और भी अन्य नामदेव हुए होंगे जिनकी रचनाएँ इसमें मिल गयी होंगी। महाराष्ट्र सरकार की ओर से नामदेव की प्रामाणिक अभंगों की गाथा प्रकाशित करने के लिए एक समिति स्थापित की गई है। असली अभंगों में नामदेव और ज्ञानेश्वर का अभिन्नत्व वरावर देखने को मिल जाता है।

चरित्रकार नामदेव—

ज्ञानेश्वर के साथ और अन्य संतों के सहित नामदेव ने तीर्थ यात्रा की थी। उस प्रसंग को लेकर रचे गये अभंग 'तीर्थावली के अभंग' नाम से प्रसिद्ध हैं, जो ज्ञानेश्वर के चरित्र का ही एक भाग है। नामदेव मराठी के आद्य चरित्रकार भले ही न हो पर उनका ज्ञानेश्वर चरित्र रसपूर्ण है। 'आदि', 'समाधि' और 'तीर्थावली' नाम के तीन प्रकरणों में पूरा ज्ञानेश्वर चरित्र नामदेव ने करीव-करीव साढ़े तीन सौ अभंगों में गाया है। 'आदि' में ज्ञानेश्वर, उनके भाई और वहन का पूरा जीवन वर्णित है। तीर्थावली' में ज्ञानदेव के साथ की गयी यात्रा और मिली हुई आत्मानुभूति का सरसता पूर्ण वर्णन है। ज्ञानेश्वर के विसोवा शिष्य थे और विसोवा के शिष्य नामदेव थे। अतः अपने परात्पर गुरु के प्रति नामदेव का अन्तःकरण श्रद्धा पूर्ण भावों से भरा हुआ होगा इसमें क्या आश्चर्य हो सकता है? इसमें ज्ञान और भक्तिका पूर्ण समन्वय दिखाई देता है। 'समाधि' प्रकरण में ज्ञानेश्वर के वियोग का परम दुख करुण रस को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर नामदेव ने प्रकट कर दिया। अपना

आर्त हृदय ही मानों इस वहाने अभंगों में नामदेव ने अभिव्यक्त कर दिया है। ज्ञानदेव को समाधि लेते हुए प्रत्यक्ष नामदेव ने देखा था। अतः उनका वियोग नामदेव को असह्य होना स्वाभाविक ही था। इसके वाद वे उत्तर भारत में सुदूर पंजाव में गये और भागवत धर्म का प्रचार वीस-पच्चीस साल तक करते रहे। पंजाव में वे धोमान नामक स्थान पर रहते थे। उनकी हिन्दी रचना तभी रची गयी होगी। शं. पा. जोशी की 'पंजावातील नामदेव' यह पुस्तक इस विषय में विशेष द्रष्टव्य है।

नामदेव की हिन्दी रचना या पद—

सिखों के ग्रन्थ साहव में 'भक्त नामदेवजी की मुखवानी' नाम से ६१ पद मिलते हैं। इधर विभिन्न स्थानों में पाई जाने वाली हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कुल हिन्दी पदों की संख्या २२२ हो जाती है तथा साखियों की संख्या १३ है। इन प्रतियों में पंढरपुर, काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा वाराणसी, धोमान, पटियाला और पूना विश्वविद्यालय की हस्तलिखित प्रतियाँ आती हैं। पूना-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से अव नामदेव के हिन्दी पदों की पदावली और साखियाँ संपादित होकर प्रकाशित हो गयी है। एक पद देखिये[1] —

मन मेरे गजु जिव्हा मेरी काती। मपि-मपि काटऊ जमकी फांसी ॥
कहा करऊं जाती कहा करऊ पांती। राम को नाम जपऊँ दिन राती ॥
रांगनी रागऊँ सीवनी सीवऊँ। रामनाम विनु घरिअन जीवऊँ ॥
सुहने की सूई रुपे का धागा। नामे का चीतु हरि संगलागा ॥

'मन रूपी गज और जिह्वा रूपी कैंची की सहायता से यम का फंदा में काट रहा हूँ। मैं तो दिन-रात रामनाम जपता हूँ मुझे जाति-पाँति से क्या लेना देना है। कपड़े रँगना और कपड़े सीना मैं अपने हाथों से करता हूँ। परन्तु मेरा एक क्षण भी रामनाम के विना नहीं वीतता है। मैं तो अपनी सूई को स्वर्ण की समझता हूं और सूई के छेद से वाहर आने वाला डोरा चाँदी का है ऐसा मानता हूँ। मेरा सारा चित्त पूर्णतः भगवान् की ओर ही लगा है।' इन पदों में मराठी की छाप प्रत्यक्ष दिखाई देती है संवंध कारक का 'च' और भूतकाल का 'ल' प्रत्यय क्वचित् प्रयुक्त हुए हैं। नामदेव के मराठी काव्य में मिलने वाली सगुण-भक्ति हृदय की आर्तता, रूपक चातुर्य और दृष्टांत योजना उनकी हिन्दी रचनाओं में भी यत्र-तत्र मिलती है पर इसमें जो एक विशेष वात देखने को मिलती है वह है सन्तों की 'निर्गुण-शैली।' कवीर उनके गुरु रामानन्द, पीपा, रज्जव आदि ने आगे चलकर

१. पंजावातील नामदेव पद ४—शं. पा. जोशी, पृ० ८४।

जिस शैली में लिखा वह यही शैली थी। इस तरह नामदेव ही हिन्दी निर्गुण शैली के आदि कवि हैं। पंजाब में नामदेव के वहोरदास जाल्लो, लव्धा आदि प्रमुख शिष्य थे। राष्ट्रभाषा की आज की समस्या एक तरह से नामदेव ने अपनी कृति से उसी समय हल कर दी थी। माघ शुद्ध द्वितीया को घोमान में (गुरुदास पुर जिले में) एक मेला लगता है। इस नामदेव स्मारक को 'गुरुद्वारा वावा नामदेव जी' कहते हैं। पंजाव में नामदेव संप्रदाय में 'छीपा' बुनकर, दर्जी जाति के लोग अधिक मिलते हैं। भागवत धर्म की पताका इस तरह पंढरपुर से पंजाव तक नामदेव ने फहराई। यह एक बहुत वड़ा कार्य है। उन दिनों यातायात के साधन नहीं थे। मुसलमानों के आक्रमणों से और शासन से राजनीतिक और सामाजिक जीवन क्षत-विक्षत और जर्जर हो गया था। इसलिए नामदेव के इस महान कार्य का वड़ा महत्व है। नामदेव का सारा परिवार भक्त होने से सब ने अभंग रचना की है। इन सब में जनावाई दासी के अभंग' विशेष प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि साक्षात भगवान् विठ्ठल जनावाई की एक निष्ठा से प्रसन्न होकर उसके हर काम जैसे पीसना, कूटना आदि में मदद किया करते थे। कम से कम इस भक्तिन का ऐसा विश्वास था यह तो हम अच्छी तरह कह सकते हैं। जनावाई का एक अभंग वानगी के रूप में दृष्टव्य है[1]—

'येई येई विठावाई। माझे पंढरीचे आई॥
भीमा आणि चंद्रभागा। तुझ्या चरणीच्या गंगा॥
इतुक्या सहित त्वा बा यावे। माझे रंगणी नाचावे॥
माझा रंग तुझीया गुणीं म्हणे नामयाची जनी॥'

काम काज करते-करते जनावाई की विठ्ठलमय भक्ति की धुन लग जाती थी और सर्वत्र उसे विठ्ठलमय ही सब कुछ दिखाई देता था। और भी एक अभंग देखिये[2]—

'झाड लोट करी जनी। केर भरी चक्रपाणी॥
पाळी सड्यास काढी। पुढे जाऊनि उखळ झाडी॥
सांडुनिया थोरपण। करी दळण कांडण॥
राना जाये शेणी साठी। वेचू लागे विठोवा पाठी।
जनी जाई पाणियासी। मागे धावे हृषीकेशी॥

शब्द कितने सीधे-सादे, मन का कितना कोमल भाव, अन्तःकरण की कितनी

१. सकल संत गाथा—जनाबाई अभंग १६२३, पृ० २२० भा. पा. वहिरट।
२. „ „ १४७३, पृ० २०१ „

सूक्ष्म तथा निष्पाप एकाग्रता जनाबाई के अभङ्गों में हमें मिलती है। इस भक्तिपूर्ण आर्द्र हृदय से उसने 'हरिश्चन्द्राख्यान', 'प्रल्हाद-चरित्र', 'कृष्ण-जन्म', 'बाल-क्रीड़ा' आदि विषयों पर बहुत रचना की है। विसोबा खेचर के भी रचे हुए अभंग मिलते हैं। नामदेव के साथी ज्ञानेश्वर मंडल के अन्य संत कवियों में 'परसा-भागवत', 'सांवतामाली', 'गोरा-कुम्हार' ये भी नामदेव के साथ गाते-नाचते व अभंग रचना करते थे। 'परसा-भागवत' और नामदेव का आपस में प्रगाढ़ स्नेह था। 'गोरा-कुम्हार' पर भी इनकी विशेष कृपा रही। सन्त मंडल के ये सबसे ज्येष्ठ थे। ये आयु से श्रेष्ठ तथा विरक्ति में भी ज्येष्ठ जान पड़ते है। अपना अनाव नपाने के लिये मिट्टी लाना, उसे भिगोकर तैयार करना, तपाना, रूँधना आदि सब क्रियाओं में बराबर उन्हें अपने इष्टदेव का ही ध्यान बना रहता। परिश्रम के मूल्य को समझने वाले श्रमदान का महत्व जानने वाले इन संतों ने कर्म की भी उपेक्षा नहीं की, यही इनकी विशेषता मानी जावेगी। एक और कुम्हार राका, पत्नी बाका तथा उसकी कन्या देऊबाई भी इस वैष्णव मंडल के सदस्य और भक्त थे। स्वर्णकार में नरहरि स्वर्णकार, मालियों में सावंता-माली ये सभी जातियों के उत्कृष्ट कोटि के सन्त ही माने जायेंगे। इनका एक ही धर्म था—मानव धर्म। यही उनका भागवत धर्म था। इनकी एक ही दीक्षा थी भक्ति और एक ही ध्येय था भगवत् चिंतन। चोखा महार का यह प्रसिद्ध पद इस बात को सिद्ध करता है[1]—

विठ्ठल-विठ्ठल गजरी। अवघी दुम दुमली पंढरी।
होतो नामाचा गजर। दिंड्या पताकांचे भार।
निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान। अपार वैष्णव ते ध्यान।
हरि कीर्तना ची दाटी। तेथे चोखा घाले मिटी।

ऐसा जान पड़ता है कि इन लोगों ने भूतल पर ही वैकुंठ लाकर प्रस्थापित कर दिया हो। सेना नाई की रचनाओं में से लिया हुआ एक पद ग्रन्थ साहब में है। दक्षिण के लोग इसे नहीं जानते। यह नामदेव का भक्त या तथा जबलपुर के पास बांदोगढ़ का रहने वाला था। आश्चर्य तो इस बात का है कि मातृ भाषा हिन्दी होने पर भी पंढरी का वारकरी होने के नाते मराठी भाषा की उसे उत्तम जानकारी थी। इसकी सब रचनाएँ मराठी में मिलती हैं। पंजाब से राजस्थान तक इस सेनानाई के अनुयायी मिलते हैं तथा मन्दिर भी पाये जाते हैं। (विशेष जानकारी के लिए पढ़िये—पंजाबातील नामदेव—श. पा. जोशी)। सन् १२५० में करीब-करीब ८०—८५ वर्ष के होकर नामदेव ने पंजाब से पंढरपुर में आकर

---

१. सकल संत गाथा—चाखोबा—अभंग २२१७, पृ० ३०७, भा. पां. बहिरट।

समाधि ली। वैसे धोमान में भी नामदेव की समाधि मिलती है। विठ्ठल के प्रेम भंडारी नामदेव एकान्तिक वृत्ति के सगुणोपासक भक्त के रूप में मराठी में प्रसिद्ध हैं परन्तु नाम संकीर्तन करने वाले निर्गुणी भक्त बनकर वे उत्तर भारत में भी प्रसिद्ध हुए यही उनकी विशेषता है। अतः वे मराठी और हिन्दी दोनों के वैष्णव सन्त कवि हैं।

श्री एकनाथ :

अन्य संतों की तरह श्री संत एकनाथ के चरित्र के बारे में सामग्री बहुत कम मिलती है। अतः बहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य के आधार पर एकनाथ के चरित्र की सामग्री अध्ययन के लिये लेनी पड़ेगी। भारत इतिहास संशोधन मंडल के एक प्रमुख संचालक और पूना विश्व-विद्यालय के कुलगुरु महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदारजी को एकनाथ के पौत्र के द्वारा लिखित एक हस्तलिखित पोथी उपलब्ध हो गई है। उसके आधार पर एकनाथ के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस हस्तलिखित पोथी में निम्नलिखित उल्लेख है—

। इत्याहिताग्नि मरण विधि ।[1]

शके १५६८ व्यय संवत्सरे आषाढ़ कृष्णैकादश्यां सोमवासरे प्रतिष्टान निवासिना एकनाथ पौत्रेण हरि पंडितानां पुत्रेण रघुनाथेन इदं अंत्येष्टि पुस्तकं स्वहस्तैनैव स्वार्थ परार्थच लिखित ॥ शुभमस्त ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

एकनाथ के पूर्वज—

इससे यह भली-भाँति प्रतीत होता है कि श्री एकनाथ के पौत्र रघुनाथ ने अपने हाथों से इस पोथी की नकल की है। इसके साथ अपने पिता हरि-पण्डित और अपने पितामह एकनाथ का भी नाम निर्देश किया है। शक १५६८ में यह पोथी लिखी गयी है। नाथ चरित्रकारों के द्वारा राघोबा नाम से जिसे पहचाना जाता है वह यही रघुनाथ है। हरि पंडित का यह सब से छोटा लड़का था। परम्परा के अनुसार बतलाया जाता है कि हरि पंडित एकनाथ से झगड़कर काशी चले गए। अपने साथ वे अपने दो बड़े पुत्रों को भी लेते गये। तीसरा लड़का एकनाथ के पीछे कीर्तन में खड़ा रहकर ध्रुपद गाया करता था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथ-निर्माण के समय राघोबा की आयु कम से कम पन्द्रह या बीस वर्ष की रही हो। अतःएव किसी भी अवस्था में श्री संत एकनाथ का जन्म शक १५४० के बाद समझना उचित न होगा। वैसे भावुकतावश लिखे गये

१. एकनाथ-दर्शन भाग १, पृ० ३४६—महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार 'एकनाथांचे अक्षर असेंच असेल काय ?'

तथा ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से लिखे गये कई चरित्र उपलब्ध हैं। स्वयम् एकनाथ अपने चरित्र के बारे में कहते हैं[1]—

मुळीच्या मुळीं एका जन्मला। मायबापे थोर धाक घेतला।१।
कैसे मूळ नक्षत्र आले कपाळा। स्वये लागलो दोहींच्या निर्मूळा।२।
शांति करिता अवध्याचि झाली शांती। मुळी लागोनिया लाविली ख्याती।३।
एका जनार्दनी मूळीच्या गोठी। माय सकट सगळा बापचि घोंटी॥

मूल नक्षत्र में एकनाथ पैदा हुये। तब उनके माँ-बाप को चिंता उत्पन्न हुई। यह मूल नक्षत्र मेरे भाग्य में क्या आया मैंने तो दोनों का विनाश कर दिया। मूल माया के मूल को अर्थात् परब्रह्म को ही एकनाथ ने आत्मसात कर लिया और आत्मस्वरूप को पहचान लिया।

एकनाथ चरित्र व जीवनी—

सुप्रसिद्ध संत भानुदास के वंश में एकनाथ उत्पन्न हुए। कृष्णदेवराय के समय भानुदास जीवित थे। सन् १४३० से १४५२ तक कृष्णदेवराय का काल माना जाता है। विजयनगर के राजा ने पंढरपुर की विठ्ठल मूर्ति अपनी राजधानी में ले जाकर रखी। पंढरपुर में विठ्ठल दर्शन का सुख लूटने वालों के लिए यह बड़े संकट का समय था। इसी विकट वेला में भानुदास विठ्ठल की मूर्ति को साहस पूर्वक पंढरपुर ले आये। मूर्ति चुराने का उन पर अभियोग लगाया गया पर वे ईश्वर कृपा से इस अभियोग से मुक्त हो गए। संत भानुदास के पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणि के पुत्र सूर्यनारायण और सूर्यनारायण के पुत्र एकनाथ हुए। प्रा. न. र. फाटक के मतानुसार और बहुमान्य मत से एकनाथ का जन्म सन् १५३२ में हुआ।[2] डा० शं. गो तुळपुळे के मत में यह शक १४५५ है। अर्थात् अन्य सब ऐतिहासिक आधारों को लेकर वे बतलाते हैं कि किसी भी तरह शक १४५० के बाद एकनाथ का जन्म मानना समीचीन न होगा।[3]

एकनाथ के माँ-बाप उनके जन्म के कुछ ही दिनों के बाद मर गए। तब उनका पालन-पोषण चक्रपाणि ने किया। बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि वाले बालक एकनाथ ने संस्कृत का अध्ययन कर डाला। भगवद् भक्ति में बचपन से ही इनका झुकाव था। अपनी वृद्धावस्था के कारण उस समय के प्रसिद्ध संत श्री जनार्दन

---

१. एकनाथ कृत अभंग—मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खंड २, पृ० २१७।
२. एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य, पृ० १—न. र. फाटक।
३. पाँच सन्त कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १६५, १६६।

स्वामी के उत्तर दायित्व में एकनाथ को सौंप दिया। इस विषय में श्रीकृष्णदास जगदानंदन अपने 'प्रतिष्ठान चरित्र' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार विवेचन करते हैं।[1]

'मग पाचारुनि येकनाथ। चक्रपाणि जाला सांगत। म्हणे आमुच्या वंशांत। तूं येकत्वे येकला ॥२५॥ म्हणे आमुचे भरले पूर्ण दिवस। आम्हां जाणे निज धामास। आतां तुझ्या संरक्षणांस तुज कोणास निखावे ॥२६॥ तरी आहे ऐक विचार। आमदावती नाम नगर जेथे जनार्दन साधु थोर। अति उदार सुखदाता ॥२७॥ श्री दत्तात्रेय आदि पुरुष। तोचि चंद्रशेखर प्रत्यक्ष। त्या चंद्र-शेखराचा निःशेष। पूर्ण शिष्य जनार्दन ॥२८॥......। जनार्दनाशरण जासी। सर्व सुखाचे सार लाभसी। हे सत्य मानले आम्हांमी निश्चयेसी निर्धार ॥३२॥'

'चक्रपाणि ने स्वयम् एकनाथ को बुलाकर कहा कि तुम हमारे वंश में केवल अकेले बचे हो। अब हमारे दिन पूरे हो गये हैं। अतः यही चिंता है कि तुम्हारा उत्तरदायित्व अब हम किसे सौंप दें। अमदावती (अहमदनगर) में जनार्दन स्वामी साधु पुरुष रहते हैं। वे अत्यंत उदार हैं। आदि पुरुष दत्तात्रेय और प्रत्यक्ष भगवान् चंद्रशेखर के पूर्ण रूप से शिष्य हैं। ऐसे जनार्दन पंत की शरण जाने से सब सुखों का सार तुम्हें मिल जावेगा। ऐसा हमने निश्चय कर लिया है अतः तुम जनार्दन स्वामी के पास शरण जाओ।'

अन्य चरित्रकार और डा० शं. गो. तुळपुळे के मत में अपने पितामह की आज्ञा के बिना स्वयम् एकनाथ ही भागकर जनार्दन पंत की शरण में गये।[2] जो कुछ भी हो यहाँ पर प्रचलित दोनों मत दे दिये गये हैं। दक्षिण में देवगिरी पर अल्लाउद्दीन खिलजी के द्वारा प्रथम चढ़ाई हुई थी। उसके बाद मुसलमानी सत्ता का उदय और उत्कर्ष बहमनी राज्यकाल से दक्षिण में आरम्भ हो जाता है। चौदहवीं सदी से मुस्लिम शासन दक्षिण में था, तथा हिन्दू जनता से ही कर्मचारी नियुक्त होते थे। अहमदनगर प्रमुख सूबे का स्थान था। प्रतिष्ठान भी एक महत्व-पूर्ण स्थान था। एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी चालीस गाँव में शक १४२६ के रक्ताक्षी नाम संवत्सर में पैदा हुए। ये देवगिरी किले के एक प्रमुख कर्मचारी थे। अपना व्यवसाय सम्हालते हुए वे ईश्वर भक्ति में लीन रहते थे और कहा जाता है कि ये बड़े साक्षात्कारी पुरुष थे। दत्त के उपासक होने से दत्त की स्तुति करने वाले पद और अभंग इन्होंने रचे। दत्त भगवान् की उन पर पूर्ण कृपा थी। एकनाथ का उत्तरदायित्व उन्होंने सम्हाला। अपने गुरु द्वारा प्रदत्त पाठभी एकनाथ शीघ्र याद कर

---

१. अध्याय १—प्रतिष्ठान चरित्र (एकनाथ दर्शन भाग १), पृ० २५८।

२. पांच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १६६।

लेते। पूरा अध्ययन अपने गुरु के मार्गदर्शन में एकनाथ ने कर लिया। सरस्वती गंगाधर ने नरसिंह-सरस्वती का चरित्र और गुरुचरित्र लिखा। उसमें तत्कालीन महाराष्ट्र का सामाजिक दर्शन हो जाता है। यह १५ वीं शती में लिखा गया है। 'महाराष्ट्र-धर्म' यह शब्द प्रथमबार इसमें प्रयुक्त हुआ है। इसी धर्म का प्रभाव अपने गुरु की कृपा से एकनाथ पर पड़ा था। प्रपंच करते हुए परमार्थ का लाभ किस प्रकार लिया जाय, इसका प्रात्यक्षिक जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को अपने जीवन से दिया और आचरण से सिखाया। ये गुरु शिष्य अभिन्न हृदय थे इसकी साक्ष्य 'एका जनार्दन' इस एकनाथ की छाप से उनकी कृतियों में देखने को मिलती हैं।

एकनाथ की ग्रन्थ कृतियाँ—

अपने गुरु के मुख से ज्ञानेश्वरी सुनकर गुरु भक्ति की महिमा एकनाथ के अन्तःकरण में समा गई। इसका वे बराबर अपने आचरण में सदुपयोग करते रहे। इसी गुरु भक्ति के फलस्वरूप भगवान् दत्त का सगुण-साक्षात्कार हो गया। इसके बाद अपने गुरु की आज्ञा से उनके साथ कई तीर्थ यात्राएँ कीं। चंद्रभट नाम के एक और शिष्य भी उनके साथ थे। चंद्रभट व्याख्यान देते और पुराण कथन किया करते। एक दिन उन्होंने चतुः श्लोकी भागवत पर व्याख्यान दिया जो जनार्दन स्वामी और एकनाथ को बड़ा प्रिय लगा। पंचवटी में त्रिवकेश्वर स्थान पर आने पर एकनाथ ने अपने गुरु की आज्ञा से चतुः श्लोकी भागवत की रचना की। वह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—

जनार्दन म्हणती एकनाथा। सांगतो वचन ऐक आता। श्रीदत्त वरद तुझिया माथा। साधला अवचिता निज भाग्यें॥ चतुः श्लोकी जे भागवत चंद्रभटे आणिले से सागांत। त्याजपरी टीका करावी प्राकृत प्रांजळ बहुत ये स्थानी।'[1]

'जनार्दन ने एकनाथ से कहा सौभाग्य से तुम पर भगवान् दत्त की पूर्ण कृपा है इसलिए मेरा यह वचन सुनकर चंद्रभट ने जिस चतुः श्लोकी भागवत को सुनाया है उस पर प्रांजल रूप में प्राकृत में इसी स्थान पर एक टीका लिखकर प्रस्तुत कर दो।' उनकी आज्ञानुसार एकनाथ ने उस पर टीका लिखना आरम्भ किया और उसे वहीं समाप्त कर दिया। विषय का विवेचन बड़ी सरसता के साथ एकनाथ करते हैं। ब्रह्मदेव चिन्तित थे कि सृष्टि कैसे निर्माण हो? तब एक अशरीरी वाणी ने उन्हें कुछ कहकर उसे दूर करना चाहा। पर उसे वह समझ में नहीं आया। तब चतुर्भुज मूर्ति रूपधारी भगवान् ने अपना गुह्य ज्ञान ब्रह्मदेव को प्रदान किया। ब्रह्मदेव से श्री नारद मुनि के द्वारा वह श्री महर्षि व्यास को प्राप्त हुआ। व्यास से

१. चतुः श्लोकी भागवत—एकनाथ।

वह शुकाचार्य को मिला। ये सभी स्वानन्द-साम्राज्य के चक्रवर्तीपद पर आसीन हो गये थे। शुकाचार्य ने अपने सुन्दर श्रीमद् भागवत के दूसरे स्कंध के नवें अध्याय में यह गुह्य ज्ञान केवल चार श्लोकों में संचितकर जग को प्रदान किया। पर वह संस्कृत में होने से केवल संस्कृतज्ञ ही उसका आस्वाद ले सकते थे। इसलिए एकनाथ ने उसे सार्वजनीन बनाने की दृष्टि से मराठी में अभिव्यक्त कर दिया। यों भागवत ग्रन्थ अपने आप में ही लोकप्रिय है। पर अपने आख्यान से उन्होंने उसे और भी अधिक लोकप्रियता प्रदान कर दी। वे कहते हैं[1]—

माझे वेडे वाकुडे आरुष बोल। त्या माजि ब्रह्मज्ञान सखोल।
नित्य नव प्रेमाची बोल। हे कृपा संताची॥

'मेरे ये उलटे-सीधे आर्ष बोल हैं, परन्तु इनमें गहरा ब्रह्मज्ञान भरा हुआ है। मैं नित्य नये प्रेम की आर्द्रता उसमें ला सका यह सन्तों की कृपा का फल मानना चाहिए।' वे आगे और कहते हैं[2]—

भागवत मराठे। हे बोलणे नवल वाटे।
पूर्वी नाही ऐकले कोठे। अभिनव मोठे घिटावा केला॥

'मराठी में भागवत' रचने की यह कल्पना ही बड़ी अद्भुत लगेगी। आजतक ऐसा किसी ने सुना नहीं होगा। पर यह अभिनव कार्य करने की धृष्टता मैंने की है।

इस प्रकार चतुःश्लोकी भागवत का यह विवरण देखकर जनार्दन स्वामी ने उनको भागवत के एकादश स्कंध पर टीका करने के लिये कहा तब पैठण में एकनाथी भागवत की रचना आरम्भ कर उसे वाराणसी में जाकर पूर्ण कर दिया। इसके बारे में आगे विवेचन किया जावेगा।

एकनाथ ने अकेले भी कुछ तीर्थ यात्राएँ कीं और जब वे प्रतिष्ठान लौट आये तब तक करीब-करीब वे २५ वर्ष के हो गये थे। यहीं पर अपने गुरु की कृपा से दौलताबाद के त्रिविक्रम शास्त्री की कन्या गिरिजाबाई के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। उनको यशोदा, हरिपंडित और गंगा ये संतानें हुईं। मराठी के प्रसिद्ध कवि मुक्तेश्वर उनकी लड़की के एक सुपुत्र थे। एकनाथ की गृहस्थी को हम प्रपंच और परमार्थ, प्रेम और भक्ति, तथा जीव और ब्रह्म का समन्वय मान सकते हैं।

अपने सब से बड़े महाग्रन्थ के बारे में वे कहते हैं—

---

१. चतुश्लोकी भागवत—एकनाथ, ६८४—६८६।

२. ,, ,, ,,

'ग्रंथारंभ प्रतिष्ठानी। तेथ पंचाध्यायी संपादुनि।
इतर ग्रंथाची करणी। आनंदवनी विस्तारली॥'[1]

इस महाग्रन्थ का आरम्भ प्रतिष्ठान में ही हो गया था। प्रथम पाँच अध्याय यहीं पर लिखकर उन्होंने उसे वाराणसी में जाकर वहाँ पूरा किया। शक १४९२ से शक १४९५ तक उसका लेखन जारी था। इस ग्रन्थ को 'उद्धवगीता' भी कहा जाता है और भागवत धर्म का धर्म ग्रन्थ भी वह माना जाता है। इसमें काव्य और अध्यात्म, भागवत धर्म का विस्तारपूर्वक विवेचन, रूपकों की भरमार, भक्ति ही एकमात्र परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है इस सिद्धांत की प्रस्थापना उन्होंने की है। सब में भगवद्भाव देखते हुए भक्ति विरक्ति और ईशप्राप्ति को एकनाथ एक-रूप मानते हैं। कई कथाएँ, आख्यान, उपाख्यान, दृष्टांत आदि से भक्ति की महिमा बखानी है। इसमें कृष्ण-भक्ति, गुरु-भक्ति, भाषा-भक्ति और भागवत भक्ति के विवेचनों में कई स्थानों पर पुनरावृत्ति भी हुई है। पर अठारह हजार ओवियों के इस अतिप्रचण्ड ग्रन्थ में लौकिक जीवन में जो भाषा अपनाई जाती है उसी को अपनाकर सीधी-साधी शैली में कठिन पारमार्थिक सिद्धान्त संसारी जीवों को सरसता के साथ समझाते हैं। जनार्दन स्वामी भी उनकी इस कृति से परम संतुष्ट होकर उन्हें आनंद युक्त वाणी में यह आशीर्वाद देते हैं[2]—

'हे टीका तरी मराठी। परि ज्ञानदाने होईल लाठी॥'

मराठी में टीका होने पर भी इसके ज्ञानदान से वह श्रेष्ठ मानी जावेगी।

इसी समय वे 'रुक्मिणी स्वयंवर' भी रच रहे थे। शक १४९३ में इसे उन्होंने रचा। इसी वाराणसी के वास्तव्य में हिन्दी के वरेण्य वैष्णव संत तुलसीदासजी के बारे में उन्होंने अवश्य सुना होगा। संभवतः वे उनसे मिले भी हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वैसे इन दोनों के ऐतिहासिक मिलन का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस विषय पर श्री जगमोहन चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'एकनाथ और तुलसीदास' यह ग्रन्थ दृष्टव्य और उल्लेखनीय है। दोनों के चरित्र में अधिक साम्य है, दोनों में भावसाम्य है, दोनों का वाराणसी से सम्बन्ध था और दोनों ने रामकथा पर रचनाएँ की हैं। तुलसीदासजी एकनाथ से आयु में बड़े थे। दोनों ने जन-भाषा में ग्रन्थ रचना की है। एकनाथ के भागवत का प्रथम वाराणसी के मराठी भाषियों के द्वारा विरोध हुआ पर बाद में इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का काशी के कर्मठ विद्वानों के द्वारा स्वागत किया गया और उसे पालकी में रखकर उसका जुलूस

१. एकनाथी भागवत।

२. एकनाथ भागवत पर जनार्दन स्वामी का अभिप्राय।

निकाला गया था। वैसे स्मरणीय बात यह है कि काशी के कर्मठ विद्वानों को प्राकृत मराठी भाषा में रचना की यह बात आरम्भ में जँची नहीं थी।

एकनाथ की स्फुट अन्य रचनाएँ—

एकनाथ ने हस्तामलक, शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनन्द लहरी, गीतासार, चिरंजीव पद, गीता-महिमा आदि छोटी स्फुट रचनाएँ लिखी हैं। शंकराचार्य के चौदह श्लोकों से युक्त स्तोत्र पर ६७४ ओवियों में 'हस्तामलक' नाम की मराठी सरस टीका एकनाथ ने लिखी है। 'शुकाष्टक' में ४४७ ओवियों में शुकमुनि के अद्वैतावस्था में संप्राप्त आनन्दरूप स्थिति का वर्णन है। यह अद्वैतावस्था त्रैगुण्य और विधि-निषेध के परे रहती है। यही भावार्थ के द्वारा इसमें एकनाथ ने प्रकट किया है। 'स्वात्मसुख' ५१० ओवियों में गुरुस्तवन, अद्वैतभक्ति आदि विषयों का विवेचन करने वाली छोटी रचना है। 'आनन्द लहरी' में एकनाथ की अपनी स्वात्मानुभूति, एकनिष्ठ गुरु-भक्ति की महिमा आदि वर्णित है। 'चिरंजीव पद' में केवल ४२ ओवियों में देह-सुखों के प्रति उदासीनता बरतकर अनुताप युक्त वैराग्य से और मृत्यु का स्मरण रखकर परमार्थ-क्षेत्र में चिरंजीव पद की प्राप्ति कैसे की जाय इसे बतलाया है। अन्य दोनों रचनाएँ छोटे स्फुट प्रकरण है। रुक्मिणी-स्वयम्वर शक १४९३ में अपने वाराणसी निवास के समय में एकनाथ ने रचा, यह उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। यह एक खंड काव्य है। भागवत के दशम स्कंध के कुल १४४ श्लोकों पर आधारित १७१२ ओवियों में एकनाथ ने इसको अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से रचा है। एकनाथ की यह एक अमर कृति है। इसमें काव्य, अध्यात्मज्ञान और भक्ति, कल्पना और भावना, परमार्थ और प्रपंच ये सबके सब कृष्ण कथा के ताने-बाने में एकरूप हो गये हैं।[1]

अन्य कृतियाँ और अभंग—

संत एकनाथ के पद और अभंगों की गाथा प्रसिद्ध है। सङ्कीर्तन करते-करते समय-समय पर इनकी रचना वे करते थे। निर्गुण का बोध और सगुण की भक्ति दोनों की अनुभूति इन अभङ्गों से व्यक्त की गई है। कृष्ण की सगुण भक्ति तो उनके हृदय में सदा विद्यमान रहा करती थी। बालक्रीड़ा के अभंग, ग्वालिनें और अनेक वेदांतपरक अध्यात्म के रूपकों को इन अभङ्गों का और पदों का वर्ण्य विषय बनाया गया है। विपुल मात्रा में हिन्दी पदों की भी रचना एकनाथ ने की है। उनके अभङ्गों का रस मूलतः भक्ति है, यों विषयानुसार शृङ्गार, अद्भुत और

---

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० २११, २१४, २१८,

वात्सल्य रसों में वे पद रचते हैं, पर सब में भक्ति रस प्रधान हो जाता है उनके अभङ्गों की प्रशंसा उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने भी की है। अपने अनुपम सौंदर्य सहित चंचल नेत्र मटकाती हुई, वायु के झोंकों से कर्ण कुंडल हिलाती हुई जाने वाली राधा का शब्द चित्र देखिये[1]—

वारियाने कुण्डल हाले। डोळे मोडित राधा चाले ॥ध्रु०॥
राधा पाहूनि भुलले हरि। बैल दुभे नंदा घरीं ॥
हरि पाहूनि भुलली चित्ता। राधा घुसळी डेरा रिता ॥
मन मिनलेसे मना। एका भुलला जनार्दना ॥

'राधा के कर्ण कुंडल हवा के झोंके से हिलते हैं, सांवले सलोने की ओर आंखें मटकाती हुई चलती है। राधा के अनुपम सौन्दर्य को देखकर हरि लुब्ध हो गये हैं और नंद के घर गाय के बदले बैल दुहने लगे हैं। राधा की भी यही अवस्था है। वह हरि को देखकर अपने चित्त में चकित हो गई है और परिणामतः रिक्त मटुकी ही मथानी से मथ रही है। दोनों के मन परस्पर आकर्षित हो गये हैं। इसी तरह अपने गुरु जनार्दन के प्रति एकनाथ भी श्रद्धा से लुब्ध हैं। 'इन अभङ्गों की शब्द योजना, कल्पना प्रवणता, भावना की आर्दता सभी अध्ययन करने योग्य हैं। एकनाथ के वाङ्मय का एक और प्रकार 'भारूड' नाम का है। 'भारूड' शब्द 'बहुरूढ' से बना है। अंग्रेजी में जिसे (Folk-Lore) कहा जाता है उसी तरह एकनाथ ने अपने तद्युगीन महाराष्ट्रीय सामाजिक जीवन से संबंधित लोकगीत ही इन भारूडों के माध्यम से रचे हैं। इनमें अद्भुतता के साथ प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों पर फब्तियां कसी गई हैं। व्यंग्यात्मक चुटकियां ली गई हैं। हिन्दी पदों में 'हिन्दु-तुर्क संवाद', विशेष प्रसिद्ध है। इन सब में वेदांत युक्त अध्यात्म के रूपकों का प्रयोग एकनाथ ने मुक्त हस्त से किया है।

श्री एकनाथ के बड़े लड़के हरि पंडित बहुत बड़े शास्त्री थे। श्री एकनाथ से उनकी न निभने के कारण वे उनसे रूठकर वाराणसी में जाकर रहने लगे थे। बाद में श्री एकनाथ के समझाने बुझाने पर हरिपंडित वापस पैठण को लौट आये। एक बार वे दासोपंत नाम के एक और अपने समकालीन सत्पुरुष से मिलने गए और अपने साधुत्व और संतत्व से उनके अहंकार को दूर कर आए। शक १५०६ में एकनाथ ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। ज्ञानेश्वर ने एकनाथ को स्वप्न में आदेश दिया। एकनाथ अपने एक अभंग में उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

१. एकनाथ कृत पद—एकनाथ गाथा।

श्री ज्ञानदेवे येऊनि स्वप्नांत। सांगितली मात मजलागी ॥
दिव्य तेजःपुंज मदनाचा पुतळा। परब्रह्म केवळ बोलतसे ॥
अजानवृक्षाची मुळी कंठासी लागली। येऊनि आळंदी काढीं वेगी ॥
ऐसे स्वप्न होतां आलो अलंकापुरीं। तंवनदी माभारी देखिले द्वार ॥
एका जनार्दनी पूर्व पुण्य फळलें। श्रीगुरु भेटले ज्ञानेश्वर ॥[1]

मुसलमानों के आक्रमणों में आलंदी का ज्ञानदेव का समाधिस्थान नष्ट हो गया था। इसका जीर्णोद्धार एकनाथ ने किया। स्वप्न में आकर तेजःपुंज ज्ञानेश्वर ने उनसे कहा कि अजान वृक्ष की जड़ों ने उनके गले को जकड़ दिया है। अतः शीघ्र आकर मुझे उनसे मुक्त करो। वे आळंदी गए समाधि को देखा और उन जड़ों को साफ किया। गुरु जनार्दन स्वामी की कृपा के पुण्य फलस्वरूप श्री ज्ञानेश्वर गुरु से प्रत्यक्ष मुलाकात हो गई। ज्ञानेश्वरी के प्रचार में एवं अध्ययन में पाये जाने वाले तद्युगीन में अज्ञान जन्य और दुराग्रहमूलक संकटों का एकनाथ ने निराकरण किया। उसके अपपाठों को दूर कर उसका पाठानुसंधान किया इसका वे यों निरूपण करते हैं।

शके पंचराशते सखोत्तरी तारण नाम संवत्सरी।
येका जनार्दने अत्यादरीं। गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध केली ॥
ग्रन्थ पूर्वीच अति शुद्ध। परिपाठांतरे शुद्धाबद्ध।
ते शोधुनि एवंविध। प्रति शुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी ॥[2]

'शक १५०६ में, तारण नाम के संवत्सर में जनार्दन स्वामी के एकनाथ ने अत्यन्त आदरपूर्वक गीता-ज्ञानेश्वरी की प्रति को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया। वैसे अपने से ग्रन्थ शुद्ध था। पर अनेक पाठ भेदों ने उसके मूल स्वरूप को विकृत कर दिया था। अतः उनका अनुशीलन कर पुनः ज्ञानेश्वरी का पाठानुसंधानयुक्त संपादन कर उसे शुद्ध रूप से सिद्ध किया है।' इस तरह एकनाथ को हम मराठी के प्रथम पाठानुसंधापक और संपादक मान सकते हैं। उनके इस कार्य के बाद ज्ञानेश्वरी में जो मराठी में अपनी ओवी क्षेपक रूप में मिला देने का कार्य करेगा वह अमृत से भरी थाली में फूटा ठीकरा रखने जैसा कार्य करेगा ऐसी चेतावनी भी एकनाथ ने दे रखी है।

भावार्थ रामायण एकनाथ की अन्तिम कृति—

अपनी तद्युगीन राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक परिस्थिति से उत्पन्न

---

१. एकनाथ गाथा–अभंग ३५२४, पृ० ३३७।

२. ज्ञानेश्वरी शं. वा. दांडेकर कृत—एकनाथकृत ओवियाँ, पृ० ८२६।

दुर्दशा को देखकर और तुलसीदास की रामोपासना से प्रेरित होकर आदर्श रामराज्य की कल्पना से भावार्थ रामायण का एकनाथ ने प्रणयन किया। इस सप्तकांडात्मक रामायण के प्रथम पांच कांड और छठवे कांड के प्रथम ४४ अध्याय एकनाथ पूरा कर सके और उसको पूरा करने का कार्य अपने शिष्य गावबा पर छोड़कर वे स्वर्ग सिधारे। पूरी पुस्तक के २९७ अध्यायों में से १७२ नाथ रचित और अन्त के १२५ अध्याय गावबा के रचित हैं। गावबा ने अपना नाम कहीं भी नहीं दिया है। अंत तक 'एका जनार्दन' यही छाप और शैली रखी है। भावार्थ रामायण में गृह, संसार, लौकिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का सूक्ष्म और यथातथ्य वर्णन मिलता है। इस रामायण के लिये वाल्मीकि, अध्यात्म, क्रौंच, शिव-रामायण से तथा वासिष्ठ योग तथा कालिकाखंड आदि से एकनाथ ने आधार लिये हैं। यहां पर भी उनकी ज्ञान, भक्ति और वेदान्तपरक आध्यात्मिकता की दृष्टि बराबर बनी हुई है। तत्कालीन अत्याचारी शासन नष्ट होकर रामराज्य की स्थापना हो जाय, स्वधर्म प्रतिष्ठित हो जाय इसकी चिन्ता एकनाथ को इस ग्रन्थ में लगी दिखाई देती है। यह उनका ओजस्वी महाकाव्य है। एकनाथ की समाजोन्मुखता अद्वितीय और अपूर्व है। भागवत के धर्म मन्दिर को दृढ़ लोकाभिमुखता का एवं लोकजागृति का स्तंभ एकनाथ ने दिया था यह बात निर्विवाद सत्य है। एकनाथ स्वयम् गृहस्थाश्रमी जीव थे। अपने आचरण से शूद्रादि को भी उनका प्रेम प्राप्त हुआ था। वे उनके यहाँ भोजन तक कर आये थे। रामेश्वर को अर्पण करने वे गंगाजल ले जा रहे थे। पर राह में एक तृषार्त गधे को देखकर वह गंगाजल उसे प्राशन करा दिया। उनमें समत्व बुद्धि थी। वे परम कारुणिक थे। एक यवन के बार-बार उन पर थूकने पर भी उन्होंने अपनी शांति कायम रखी और बार-बार स्नान करते रहे। इस घटना से उनकी सहिष्णुता और समतानता दिखाई देती है। वे सचमुच लोकोत्तर पुरुष थे। एकनाथ ने अपनी लेखनी से रसयुक्त, प्रसादयुक्त, कवित्व से स्फुरित सद्भाव से आर्द्र और प्रांजळ भाषा में अध्यात्मिक विवेचन अपनी समस्त कृतियों में प्रस्तुत कर दिया है। ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग एकनाथ ने अपने तद्युगीन समाज के सामने आचरण, अनुभूति और अभिव्यक्ति से महाराष्ट्रीय जनता को दिखाया। शक १५२१ में फाल्गुन वदी षष्ठी को पैठण में अपना जीवित कार्य एकनाथ ने समाप्त किया। अपने गुरु के वे सचमुच पात्रतम शिष्य थे।

तुकाराम :

स्व० पु० म० लाड के मतानुसार तुकाराम किसी ऊसर एवम् बंजर जमीन में खाद देकर उत्पन्न किये गये अनाज की तरह नहीं उत्पन्न हुए, वरन् अनेक

अनेक पीढ़ियों से उपजाऊ जमीन में बोये गये हरि भक्ति के पुण्य बीज से अंकुरित सरस मधुर वृक्ष के रसीले पक्व फल की तरह उत्पन्न हुए हैं।[1] इनके पूर्वज विश्वंभर ने भगवान् से विठ्ठल भक्ति को वंशपरंपरागत वरदान के रूप में मांग लिया था। विठ्ठल ने ही उनको देहू में बसाया। तुकाराम मोरे कुल के आंवळे उपनाम वाले बनिया (कुणबी) थे। वे देहू के महाजन थे। तुकाराम अपनी हीनता के बारे में बतलाते हैं[2]—

'बरा कुणबी केलो। नाही तरि दभेचि असतो मेलो।'

और

आळस न करी या लाभाचा। तुका विनवि कुणवियाचा ॥'

अच्छा हुआ मैं कुनबी जाति में उत्पन्न हुआ अन्यथा व्यर्थ अभिमान और झूठे दंभ से ही मर जाता। अतएव यह जो लाभ हुआ इसमें बिना आलस्य के अपना भला कर लेना चाहिए ऐसा विनम्रतापूर्वक तुकाराम बनियेका निवेदन है। पंढरी की यात्रा इनके कुल में पुश्तैनी रूप में थी। इनके पिता का नाम बोल्होबा और माता का नाम कनकाई था। शक १५२० अर्थात् सन् १५९८ में तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम के दो भाई सावजी और कान्होबा नाम के थे। सावजी बचपन से ही विरक्त थे। शंकर की कृपा से ये जन्मे थे। तुकाराम की दो शादियाँ हुई थीं। प्रथम पत्नी का नाम रखमाई था जो खाँसी और तपेदिक से नित्य बीमार रहती थी। दूसरी पत्नी पुणे के धनवान साहूकार आप्पाजी गुळवे की लड़की अवलो उपाख्य जिजाबाई थी। तुकाराम का दूसरा विवाह अपनी तेरहवीं वर्ष की आयु में हुआ। बचपन बड़े सुख में बीता। सुखोपभोग की सारी सामग्री और अनन्त सम्पदा उनके पास में थी। महिपती अपने भक्ति-विजय में कहते है[3]—

माता-पिता बंधू सज्जन। परी उदण्ड धन्य।
शरीरी आरोग्य लोकांत मग्न। एक हि उणे असेना ॥

दुखों का आक्रमण—

सत्रह वर्ष की उम्र में माँ-बाप चल बसे। बड़े भाई की स्त्री मर गई। इसी दुख से विरक्त होकर सावजी तीर्थाटन करने के लिये घर छोड़कर निकल गए। तुकाराम अपनी दो स्त्रियों के साथ सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। पर अब धीरे-धीरे वह सुख नष्ट होने लगा। अकाल पड़ने से व्यवसाय में घाटा होने लगा

---

१. तुकाराम चरित्र पूर्वाध—पु. म. लाड, पृ० १।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ३२०, पृ० ५३।
३. भक्तिविजय—महिपती।

और प्रतिष्ठा नष्ट होने लगी। अन्त में दिवाला निकल गया। दुष्ट और नीच साहूकारों ने काल की तरह घेर लिया। इसी अकाल में उनकी प्रथम पत्नी अन्न-अन्न कहते हुए ही मर गई। अनाज वहुत महंगा हो गया। इस तरह वे सब तरह से क्षत विक्षत हो गये। उनको निराशा ने पूरी तरह से व्याप लिया। इसी में उनका बेटा संतू भी चल बसा और गाय बैल भी मर गए। वे अपनी इस विपन्नावस्था से पूर्ण विरक्त और उद्विग्न हो गये।

'प्रिया पुत्र बंधु। याचा तोडिला सम्बन्धु।
सहज झालो मंदू। फाग्यहीन करंटा।
तोंडून दाखवे जनी। शिरे सांदी, भरेराना।
एकांत तो जाणा तया साठी लागला॥'[1]

प्रिया, पुत्र और बंधु का चिर विछोह हो जाने से मैं मंदभाग्य और रंक बन गया हूँ। लोगों को अपना काला मुंह नहीं दिखा सकता इसलिये जंगल में कहीं किसी कोने में छिपकर एकान्त में बैठा रहता हूँ। नियति के क्रूर प्रहारों ने उन्हें ऐसा फल चखाया कि व्यवसाय और गृहस्थी ने ही उनका परित्याग कर दिया। तुकाराम इनको दुखमय मानने लगे। दूसरी पत्नी धनवान की बेटी थी। परिस्थिति जब तक अच्छी रही तब तक वह प्रसन्न थी। परन्तु ऐसे संकट कालीन प्रसंग तथा अवस्था में वह उनको टोकने लगी। संसार के प्रति वे पूर्ण उदासीन बन गए। अविद्या की रात्रि नष्ट होकर भक्ति के अंकुर उनके अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हुए। माया मोह के पाश-आसक्ति के बंधन जलभुनकर नष्ट हो गये। भक्तों की बड़ी कठिन परीक्षा होती है। इस विषय पर तुकारामोक्ति प्रसिद्ध है—

देव भक्तालागी करु नेदी संसार। अङ्गी वारावार करुनिया॥
भाग्य ध्यावे तरी अंगीं भरे ताठा। म्हणोनि करंटा करोनि ठेवी॥
स्त्री ध्यावी गुणवंती नाती गुंते आशा। या लागी कर्कशा पाठी लागी।
तुका म्हणे मज प्रचित आलो। देखा आणिक या लोका काय सांगो॥[2]

'भगवान् भक्तों को गृहस्थी भी चलाने नहीं देता। अहंकार पूर्ण होकर सौभाग्यशाली बनने की अपेक्षा निरहंकारी बन दरिद्री बनना अच्छा है। गुणवंती स्त्री के रहने पर उसी में आसक्ति बढ़ जाती है। शायद इसीलिये मेरी स्त्री कर्कशा याने झगड़ालू प्रवृत्ति की है। हे भगवान् मुझे इसका पूरा अनुभव आया है और इन लोगों को मैं क्या कहूँ?' इस तरह पूर्ण रूप से परमार्थी बन गए। विठ्ठल भक्तिको

१. भक्ति विजय—महिपती।
२. तुकाराम अभङ्ग गाथा—अभङ्ग ३०५१, पृ० ५११।

वे अपनी बपौती मानते हैं। वे भामनाथ नाम के देहू के पास की पहाड़ी पर या पास के ही भंडारा नाम की पहाड़ी पर एकान्त में तपस्या साधन करने लगे। अपने गाँव के एक टूटे हुए जीर्ण विठ्ठल मन्दिर का गाँव के चार लोगों की सहायता से उन्होंने जीर्णोद्धार किया। उस मन्दिर में दिनरात नामस्मरण, सङ्कीर्तन, भजन अभंग रचना करते हुए उसी में मग्न रहने लगे। एकनाथी भागवत को सहस्रवार पढ़कर उसका पुनः पुनः पारायण करते रहे। नामदेव के अभङ्गों को पढ़ा। अन्य साधु सन्तों के ग्रन्थों को भी पढ़ते रहे। परिणामतः उन्हें पर-द्रव्य और परनारी विषवत लगने लगे। अपने व्यावसायिक सारे कागजों को इन्द्रायणी में डुवोकर वे पूर्णतः निस्संग वनने की साधना करने लगे। रोज प्रातःकाल उठकर भगवद्-साधना में लीन रहना उनका ध्येय वन गया। अध्ययन, मनन, चिंतन यही जीवन क्रम-सा बन गया।

पारमार्थिक पात्रता प्राप्त करने की साधना—

अपनी अनवरत साधना में कहीं निद्रा न आजाय इसलिए वे अपनी चोटी को रस्सी से बाँधकर खूँटी में टांगते जिससे झपकी आजाने पर निद्रा भंग हो जाती और वे एकाग्रता से मनन, चिंतन, निदिध्यासन करने में रत रहा करते। बुद्धि कुशाग्र और स्मरण शक्ति तीव्र होने से ग्रन्थों के अध्ययन ने उन्हें पूर्ण विद्वान वना दिया। संत-समागम भी वढ़ता गया। सभी सगे संबंधियों ने उनका द्वेष करना आंरम्भ कर दिया फिर भी वे अपना कार्य करते ही रहे। एकान्तवास में उनका मन रमने लगा। अरण्य के पेड़, लताएँ, पशुपक्षी उनके लिये सगे कुटुम्बी जनों की तरह भासित होने लगे :[1]

'हमारे लिये वृक्ष-लताएँ और वनचर ये हमारे सगे-हितू हैं। सुस्वर ध्वनि में पक्षी गाते हैं। इसलिये एकान्त सेवन वड़ा अच्छा लगता है। कोई गुण अथवा दोष भी शरीर से नहीं चिपकते। देह की शोभा के लिए कंथा कमंडल आदि की आवश्यकता हवा से ही परिपूर्ण हो जाती है। हरिकथा विस्तारपूर्वक करना यही भोजन बन गया है। इसके विविध प्रकार ढूँढ़-ढूँढ़कर रुचि सहित हरिकथा सेवन करना उचित है। यहाँ रहकर अपने मन से ही संवाद किया जा सकता है और चर्चा और प्रतिवाद भी अपने आप से ही संभव है।' इस तरह तुकाराम का मन विठ्ठल-चरण में मग्न हो गया। पत्नी जिजाबाई उनसे सदा झगड़ती-गालियाँ, देती, परन्तु फिर भी उनका ध्यान रखती। जंगल में अपनी एकान्त साधना में अपनी साधना में मग्न इस साधक को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाना खिलाती, इधर तुकाराम

---

१. तुकाराम अभङ्ग गाथा, पृ० ४२२—अभङ्ग २४८१।

दानी बनकर अपना घर लुटवाते। एक बार तो स्नान करने बैठी हुई अपनी पत्नी का वस्त्र भी एक गरीब महारिन को उठाकर दे दिया। उनकी इस दान-शूरता और निर्लज्जता पर वह तुकाराम को बहुत कोसती। इस तरह तुकाराम का घरेलू जीवन था। एकबार स्वप्न में नामदेव ने आकर अपने शतकोटी अभङ्ग रचने के अधूरे कार्य को पूरा करने का आदेश दिया। नामदेव की तरह विठ्ठल ने भी उनको स्वप्न में यही आदेश दिया।

कवित्त स्फुरण और गुरु कृपा—

नामदेव का स्वप्न में आदेश वे अपने एक अभङ्ग में वर्णन करते हैं[1]—

नामदेव केले स्वप्नामाजि जागे। सवे पांडुरंगे घेऊनिया ॥१॥
सांगितले:काम करावे कवित्व। वाऊगे निमित्त बोलो नको ॥
माप टाकी सळ धारिली विठ्ठले। थापटोनि केले सावधान ॥२॥
प्रमाणाची संख्या सांगे शत कोटी। उरले शेवटी लावी तुका ॥

'नामदेव पांडुरंग सहित स्वप्न में आये और आदेश दिया कि तुम कविता करो। किसी तरह की कोई अड़चन इस कार्य में उसे न करने के लिये मत दिखाना। मुझे अपने हाथ से स्पर्श कर विठ्ठल ने सावधान किया और आदेश दिया कि तुम नामदेव के शतकोटि अभङ्ग रचने के बचे हुये कार्य को पूरा कर डालो। मैं स्वयम् विठ्ठल अभिमानपूर्वक तुम्हें आदेश दे रहा हूँ। अतः इस कार्य को कर डालो।' परिणामतः उनमें कवित्त का स्फुरण हुआ और वे अभङ्ग रचना में लग गये। इसी तरह फक्कड़ और निरीह बनकर वे पहुँचे हुये सत-महात्मा बन गये। अपने मन से भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुये एक दिन अचानक उन पर गुरु कृपा हुई।

'सदगुरु राये कृपा मज केली। परी नाही घडली सेवा कांहीं ॥
सांपडविले वाटे जाता गंगास्नाना। मस्तकी तो जाणा ठेविला कर ॥
भोजना मागती तूप पावशेर। पडिला विसर स्वप्नामाजीं ॥
कांहीं कळे उपजला अन्तराय। म्हणोनियां काय त्वरा जाली ॥
जाणत्या नेणत्या ज्या जैसी आवडी। उतार सांगडी तापे पेटी ॥
तुका म्हणे मज दावियेला तारु। कृपेचा सागरु पांडुरंग ॥[2]

सदगुरु बाबाजी चैतन्य ने मुझ पर कृपा की परन्तु कोई सेवा मुझसे नहीं ली। गंगास्नान अर्थात् इन्द्रायणी स्नानार्थ जाते हुये सदगुरु ने उनके मस्तक पर

---

१. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग १३२०, पृ० २३१।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ३६८–३६९, पृ० ६०।

वरदहस्त रखा और अपनी गुरु परम्परा वतलाई। राघव चैतन्य, केशव चैतन्य और वावाजी चैतन्य की परम्परा में वावाजी चैतन्य ही उनके गुरु थे। उपासना के लिए तुकाराम को उन्होंने 'रामकृष्ण हरि' यह मंत्र दिया। यह घटना माघ शुद्ध दशमी, गुरुवार के दिन घटी। तुकाराम कहते हैं मेरे मन के भाव को ठीक तरह जानकर मेरी रुचि और चाव का सरल मंत्र मुझे उपदेश के रूप में दिया। अतएव साधना में किसी तरह का व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ। भवसागर के उसपार जाने के लिये यह नाम रूपी नौका मिल जाने से मैं कृतकृत्य हो गया। स्वप्न में सदगुरु ने भोजनार्थ एक पाव घी माँगा था परन्तु तुकाराम को इसका विस्मय हुआ। इसीलिए उनको ऐसा लगा कि गुरु-सेवा में गलती हो जाने से वे शीघ्र ही अन्तर्धान हो गए। यह गुरुपदेश शक १५४१ में हुआ।[1]

इसके वाद कीर्तन रंग में तुकाराम के मुख से अभंग-काव्यगंगा अवाध गति से प्रवाहित होने लगी। उनका यह काव्योत्कर्ष रामेश्वर भट्ट नाम के एक ब्राह्मण को सहन नहीं हुआ। वह तथा अन्य लोग उनका द्वेष करने लगे। कुनवी जाति का एक व्यक्ति महान् आदमी बनकर कवित्व करता है यह देखकर वे उनके कार्य को पाखंड समझने लगे। उनका गाँव में रहना भी मुश्किल कर दिया। तुकाराम कहने लगे[2]—

काय खावे आतां ? कोणीकडे जावें ? गावांत रहावे कोण्यावळें ?
कोपला पाटिल गांविचे हे लोक आतां घाली भीक कोण मज ?

अव मैं क्या खाऊँ और कहाँ जाऊँ और गाँव में किस के वल पर या आधार पर खड़ा रहूं ? गाँव का पाटिल नाराज है और ये अन्य ग्रामवासी लोग और उनका यह व्यवहार ! अव मुझे भीख भी कौन देगा ? लोगों का संपर्क न उत्पन्न हो तथा कोई लांछन न लगे और वे खुश रहें इसी आत्मसहिष्णु वृत्ति से उनकी दी इच्छानुसार अपनी अभंग की पोथियाँ इन्द्रायणी में डुवो दीं। पहले व्यावहारिक दृष्टि से अपनी चोपड़ियाँ डुवो दी थीं अव पारमार्थिक साधन की पोथियाँ भी गँवानी पड़ी। लोग भी कहने लगे वेचारे पूरे लुट गये। तेरह दिन प्रायोपवेशन करते रहे। न अन्न ग्रहण किया न जल। एक शिला पर ध्यानस्थ होकर वैठे रहे। अन्त में अभंग की पोथियाँ फूलकर ऊपर आ गईं। अव उन्हें सगुण साकार का दर्शन हो गया। रामेश्वर भट्ट और अन्य विरोधक मंवाजी जैसे भी उनके शिष्य वनकर नाम सङ्कीर्तन में झाँझ वजाने वालों में स्वयम् सहकार्य देने लगे। अव वे निश्चित होकर गाने लगे।

---

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३०० ।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ६७६, ३८८१, पृ० १३० ।

गाईन तुझे नाम । ध्याईन तुझे नाम । आणिक न करीं काम जिव्हा मुखें ।
पाहिन तुझे पाये ठेवीन तेथे डोये । पृथक ते काय । न करी वाणी ।
तुझे चि गुण वाद । आई के न कानीं । आणि कायी वाणी । पुरे आतां ।
करीन सेवा करी । चालेन पाई । आणिक नव जेठाई तुजवीण ।
तुका म्हणे जीव । ठेविला तुझ्या पाई । आणिक ती काई । येऊ कवण ।[1]

मैं तेरा नाम गाऊँगा । तेरे नाम का ध्यान करूँगा और कोई भी कार्य नहीं करूँगा । तुम्हारे चरण देखकर उन पर अपने मस्तक को झुका दूंगा । जीभ और मुख तेरा नाम लेने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करेंगे । कानों से तेरा गुणानुवाद ही मात्र सुनूंगा और कोई शब्द नहीं सुन सकता । हाथों से तेरी सेवा करूँगा । अपने पैरों से चलकर तेरे पास ही आऊँगा । मैंने अपने प्राण तुझे सौंप दिये हैं, अब अन्य किसी की शरण नहीं जा सकता ।

अनेक लोग उनके कीर्तन में आने लगे । कीर्तन के लिये केवल वीणा तथा मंजीरे का एक जोड़ इतनी सामग्री पर्याप्त थी । पंढरपुर का माहात्म्य तुकाराम के अभंग संकीर्तन से पत्थर में भी निर्झर वहने लग जाय ऐसी भक्ति की धूम-धाम मचा देना यही उनका ध्येय वन गया । वे कहते हैं कि यह भगवान् भाविकों के हाथ की चीज है । इसकी प्राप्ति चित्त में चैतन्य को रङ्ग लेने के विना नहीं हो सकती । मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि हरिकथा गाने से सर्वथा सव का उद्धार हो जावेगा । उनका कहना है[2]—

नाम संकीर्तन साधन पैं सोपे । जळतील पापे जन्मांतरें ।
न लगे सायास जावे वनांतरा । सुखे येतो घरा नारायण ॥
रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशवा । मंत्र हा जपावा सर्वकाळ ॥

'नाम संकीर्तन यह वहुत सरल और सुलभ साधन है । इस साधन से जन्म जन्मांतर के पाप नष्ट हो जायेंगे । इसलिये आरम्भ से ही दत्तचित्त होकर उस अनंत को मनाना चाहिये । उसके लिये कहीं भी जंगल में जाने की कतई आवश्यकता नहीं है । वड़े चाव से रामकृष्ण हरि-विठ्ठल-केशव यह नाममंत्र सर्वदा जपना चाहिये । ऐसा अन्य कोई सुलभ साधन नहीं है यह मैं विठोवा की शपथ लेकर कहता हूँ ।

तुकाराम और रामदास तथा शिवाजी के पारस्परिक सम्वन्ध—

तुकाराम और रामदास के जन्मकाल में दस वर्षों का अन्तर है । पर इससे वे

---

१. तुकाराम अभंग— तुकारामची सभंग गाथा ।
२. तुकाराम अभंग—अभङ्ग २४५८, पृ० ४१८ ।

दोनों आपस में मिले ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। तुकाराम और शिवाजी की भेंट हुई थी और उसके ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। रामदास तुकाराम भेंट का हनुमंत स्वामी कृत रामदास की खबर, आत्मारामकृत दास विश्राम धाम, और उद्धव सुत कृत 'समर्थ चरित्र' इन तीनों ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। डा० शं. गो. तुळपुळे के मतानुसार यह भेंट शक १५७१ में पंढरपुर में हुई होगी।[१] इस भेंट के समय दोनों ने दो अभंग रचे थे जो इस प्रकार हैं[२]—

(१) कधि बा रिकामा होसी। कधि संतापासी जाशी ॥
काधी नाम वाचे स्मरसी। काधी सद्गुरूते वंदिसी ॥
ऐसे म्हणता जन्म गेला। माझे माझे म्हणता मेला ॥
रामी भजावे भजावे। रामदासीं रामचि व्हावे ॥
—रामदास।

(२) जधि भी निवारी कामा। तधि होईन बा रिकामा ॥
जाऊँ म्हणतो संतापासीं। पोरे आणिती संतापासी ॥
कथा ऐकूँ जरि भवतारणी। जाऊँ नेदी बाइल तरणी।
जालो शास्त्री वैय्याकरणी। बोला सारखी नाही करणी ॥
विठ्ठल भजन न ये कदापि। करिता खळ जन येकदापी।
तुका म्हणे ऐशा नरा। न चुकती येरझारा ॥ —तुकाराम।

ऐसा लगता है कि जब ये दोनों संत आपस में मिले तब किसी संसारी गृहस्थ से रामदास ने कुछ प्रश्न पूछे तब उस गृहस्थ की ओर से तुकाराम ने उत्तर दिये हैं। 'बताओ कि तुम कब रिक्त रहते हो? कब क्रोध छोड़ते हो? और कब मुख से नाम-स्मरण करते हो, और कब सद्गुरु की शरण जाते हो? मतलब यह कि कुछ भी ठीक से नहीं कर पाते हो। सारा जन्म 'यह मेरा है', 'यह मेरा है' यही कहते हुए बीत गया और एक दिन इसी तरह मर जाओगे। अतः रामदास कहते हैं कि भक्त बनने के लिये नित्य राम को भजना चाहिए और राम होकर राम का भजन करना चाहिये। इस पर तुकाराम ने कहा कि इसका उत्तर इस प्रकार है—'जब मैं अपनी काम वासना का निवारण कर लूँगा तब रिक्त हो जाऊँगा। क्रोध को भगाने की चेष्टा करता हूँ तब लड़के क्रोध करने पर मजबूर करते हैं। यदि मैं भवसागर से तारने वाली हरिकथा सुनने लगता हूँ तो मेरी युवा पत्नी इस कार्य में भाग लेने से रोकती है। यदि शास्त्री और वैय्याकरणी पंडित बनता हूं, तो

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३१३।
२. भारत इतिहास संशोधक मंडळ वार्षिक इतिवृत्त शक १८३५।

उक्ति की तरह मेरी कृति नहीं वन पाती है। इस तरह खलजनों के वीच रहकर विठ्ठल-भजन कदापि नहीं हो सकता। तुकाराम कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिये जन्म-मरण का चक्र अनिवार्य है।'

तुकाराम और शिवाजी की भेंट तुकाराम–रामदास भेंट के पूर्व हुई होगी। प्रथम भेट पुनवडी में कीर्तन के अवसर पर हुई थी। तुकाराम कीर्तन कर रहे थे और शिवाजी उसमें उपस्थित थे। तभी मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब अभङ्गों की पुकार सुनकर भगवान् ने शिवाजी का रूप धारण कर परस्पर उसका निवारण कर दिया। जनपरम्परा और प्रचलित विश्वास इस वात को स्वीकार करते हैं। शिवाकालीन पत्र व्यवहार से यह प्रतीत होता है कि प्रथम भेंट शक १५६७ से शक १५७१ के वीच कभी हुई होगी। इसके वाद शिवाजी ने तुकाराम को सम्मान-पूर्वक वुला भेजा। तव जो अभंगात्मक उत्तर उन्होंने शिवाजी को भेजा वह वहुत प्रसिद्ध है। उस पत्र में शिवाजी को वे 'गुरुभक्त', 'चातुर्य सागर', 'सर्वज्ञ राजा' आदि विशेषणों से भूषित करते हैं। यह मुलाकात तुकाराम के जीवन के अन्तिम काल में ही हुई होगी ऐसा अनुमान है। इसका आधार यह अभङ्ग है—

'घेओनिया भेटी कोण हा सन्तोष। आयुष्याचे दिस गेले गेले'[१]

इस प्रसंग के समय शिवाजी की आयु १९ और तुकाराम की आयु ५१ थी। तुकाराम को काव्य स्फूर्ति शक १५४६ में हुई थी। अतः अनुमान से कहा जा सकता है कि इनकी काव्य-गङ्गा अवाध गति से २५ वर्षों तक वहती रही। तुकाराम के अभंगों की संख्या पाँच हजार है क्यों कि इतने अभंग उपलब्ध हैं। वैसे पाँच कोटी एक लक्ष, चौदह सहस्र अभंग उन्होंने रचे ऐसा वतलाया जाता है। संभवतः अन्य कवियों की तरह इनकी भी रचना काल के उदर में समा गई हो। नये अनुशीलन में तुकाराम कृत भानुदास-चरित्र, और सुदाम चरित्र, मिले हैं।[२] तुकाराम के अभङ्गों की गाथा महाराष्ट्र सरकार ने प्रसिद्ध की है। अभङ्गों में आरम्भ में वालक्रीड़ापरक अभङ्ग हैं। अन्य अभङ्गों में उनकी अपनी आत्मानुभूति और स्वसंवेद्य अनुभवों की अभिव्यंजना है। ये गीती-काव्य के अन्तर्गत रखे जायेंगे। कुछ अभङ्ग विशिष्ट प्रसङ्गों और घटनाओं पर आधारित हैं। समाज का उद्धार, सदाचार की स्थापना, भगवद् भक्ति की प्रतिष्ठा इन अभङ्गों का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषद, एकनाथ, ज्ञानेश्वर और नामदेव की कृतियों की छाया तुकाराम के अभंगों में दिखाई देती है।

---

१. तुकाराम—डा० रा. ग. हर्षे, पृ० ९७।

२. भारत इतिहास मंडल त्रैमासिक वर्ष २३ अङ्क ४, संपादक रा. म. आठवे, दा. के. ओक।

तुकाराम कृत श्रीमद् भगवद् गीता का अभंगात्मक अनुवाद 'मंत्र-गीता' के नाम से श्री वा. सी. वेन्द्रे ने अनुसंधानकर प्रकाशित करवाया है। विद्वानों ने निर्णयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष संकेत रूप में नहीं दिया है। तुकाराम के साथियों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक भी वेन्द्रेजी ने 'तुकारामाचे संत सांगाती' प्रसिद्ध की है। 'तुकारामाची गुरु परम्परा' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। तुकाराम के अध्ययनार्थ वेन्द्रेजी की पुस्तकें द्रष्टव्य हैं। अभङ्ग गाथा में तुकाराम रचित हिन्दी अभङ्ग और पद भी मिलते हैं। तुकाराम के भाई कान्होबा के अभङ्ग भी मिलते हैं।

तुकाराम-शिष्या-बहिणाबाई—

बहिणाबाई द्वारा रचित आत्मचरित्र के ५३ और निर्माण के ८८ अभंग मिलते हैं। कुल चार सौ और अभंग भक्ति भावना के भी मिलते हैं। ये अपने पिछले बारह जन्मों का ब्योरेवार विवरण भी देती हैं। तुकाराम के बारे में बहिणाबाई का यह अभंग विशेष प्रसिद्ध है[1]—

संत कृपा झाली। इमारत फळा आली।।
ज्ञानदेवे रचिला पाया। उभारिले देवालया।।
नामा तयाचा किंकर। तेणे केला हा विस्तार।।
जनार्दन एकनाथ। खांब दिला भागवत।।
तुका झालासे कळस। भजन करा सावकाश।।
बहेणी फड़कती ध्वजा। निरूपण केले बोजा।।

'वारकरी सन्त सम्प्रदाय अर्थात् भागवत धर्म की इमारत सन्त कृपा से बनकर तैयार हुई ज्ञानदेव ने इसकी नींव डाली और देवालय बना। उसका किंकर नामदेव बना जिसने भागवत धर्म का प्रसार किया। जनार्दन के एकनाथ ने उसे सुदृढ़ स्तम्भ देकर प्रतिष्ठित किया और उसका कलश तुकाराम बन गये। उस पर फहराने वाली ध्वजा की तरह बहिणाबाई है जिसने यह निरूपण किया है।' बहिणाबाई को तुकाराम ने स्वप्न में गुरुपदेश दिया था। अपने जीवन के उत्तर-काल में वे समर्थ रामदास के आश्रम में थीं।

तुकाराम का व्यक्तित्व उनके अभंगों में मूर्तिमान हो उठा है। बिना किसी माध्यम के प्रासादिक वाणी में अपनी प्रांजल अनुभूतियाँ वे जब कहने लगते हैं, तो वे सबके हृदय में समाविष्ट हो जाती हैं। अंगूठी में जड़े हुए नग की तरह उनके शब्द उनकी रचना में अपनी चमक-दमक दिखाया करते हैं। कबीर की तरह

---

1. सकल संत गाथा—अभङ्ग ३८२१, बहिणाबाई, पृ० ५४७।

मुँहफट शैली में अटपटी वाणि से धक्का-मार-भाषा में दम्भ और पाखंड का वे स्फोट करते हैं। इनके हिन्दी पदों की भाषा ब्रज है। अभंग में दो से लेकर सौ-सौ तक कड़ियाँ हो सकती हैं। उसकी कोई बंधी-बंधाई परम्परा नहीं है। अभंग में चार चरण से एक चौक बन जाता है। इन चार चरणों में मात्राओं अक्षरों, गणों का कोई नियम लागू नहीं होता। तुकाराम का सदेह वैकुंठागमन सारस्वतकार वि. ल. भावे के अनुसार शक १५७२ में है। देहूकरों की पोथी में शक १५७१ दिया हुआ है। वि. का. राजवाडेजी भी इसी मत के हैं। तुकाराम ने अपनी पत्नी को ग्यारह अभंगों में अपने निर्याण काल के पूर्व 'पूर्ण बोध' नाम का उपदेश दिया था। यह उपदेश फाल्गुन शुद्ध द्वादशी सोमवार को दिया था। फलतः उनका सदेह वैकुण्ठागमन शक १५७१ मानना उचित है।

तुकाराम परम्परा के अन्तिम सन्त वैष्णव कवि निळोबो पिंपळनेरकर :

वारकरी सम्प्रदाय के ये अन्तिम वैष्णव सन्त कवि हैं। नगर जिले के पिंपळनेर ग्राम में ये रहते थे। बचपन से ही इनकी प्रकृति विष्णुभक्ति में रमती थी। अतः राजसेवा अपने से नहीं होगी ऐसा निश्चयकर उन्होंने अपनी लेखनी को ईश्वर के चरणों पर अर्पण कर दिया। तीर्थ यात्रा करते-करते वे पंढरपुर आगए। तुकाराम की दिगंत कीर्ति सुनकर उनके मन में तुकाराम के प्रति अत्यंत प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। तुकाराम के निर्याण हो जाने पर बीस-पच्चीस वर्ष बीत गए थे। तब निळोबा का जन्म हुआ। वे देहू आए और वहाँ तुकाराम के दर्शन किये। ज्ञानेश्वरी, नाथ भागवत और तुकाराम की गाथा का अखंड पठन वे कर आए थे। इन तीनों की वाणी का प्रभाव निळोबा की रचना पर अनिवार्य रूप से पड़ा है जो अत्यंत स्वाभाविक ही था। वे कहते हैं—

'निला म्हणे आम्ही भोळापूचि देवा। तुकयाचाधांवा करितसे ।।'
'मार्गदावुनि गेले आधी। दयानिधि संत ते।
येणेंचि पंथे चालो जाता। न पड़े गुंता कोठे काही ।।'

वारकरी संप्रदाय में तुकाराम के बाद के किसी संत वचन को लेकर कीर्तन-प्रवचन नहीं किया जाता। पर अपवाद रूप में निळोबा के अभंग लेकर कीर्तन प्रवचन होते रहे हैं। तुकाराम की रचना समाजनिष्ठ है उनका चरित्र उनके किसी वंशज ने साढ़े तीन हजार ओवियों में लिखा है।

रामदास :

चैत्र शुद्ध नवमी अर्थात् रामनवमी के दिन जांब नामक ग्राम में सूर्याजी पंत ठोसर के यहाँ उनकी पत्नी राणूबाई ने रामदास को जन्म दिया। बचपन में इनका

नाम नारायण था। वड़े भाई का नाम गङ्गाधर था, जो आगे चलकर रामी रामदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। रामदाससे ये तीन साल उम्रमें वड़े थे। वड़े भाई का विवाह हो गया और उसके बड़े हो जाने पर सूर्याली पंत ने उसे मन्त्रोपदेश और अनुग्रह दिया। छोटे भाई रामदास भी यही चाहने लगे। तव पिता ने कहा अभी तुम्हें अधिकार और पात्रता प्राप्त नहीं हुई है। इस पर चिढ़कर वे बाढ़ आई हुई नदी में कूद पड़े। वड़े वेग का प्रवाह नदी में होने से वे तीन गाँवों तक नदी में वहते हुए गये। इसके वाद वे तैरकर नदी के पार लगे। तव एक ब्राह्मण ने करुणा करके उनको एक यज्ञोपवीत और एक वस्त्र दे दिया। नदी के किनारे चलकर वे पंचवटी पहुँचे। वहाँ के राम मन्दिर में रहकर उसकी पूजा, सेवा करने लगे तथा उसी राम से मंत्र और अनुग्रह लेने का निश्चय कर लिया। बारह वर्ष तक गोदावरी नदी के तट पर टाकळी नामक स्थान में गायत्री पुरश्चरण करते रहे। एक रात को भगवान् रामचन्द्रजी के द्वारा उनको अनुग्रह प्राप्त हो गया। सारे देश का उन्होंने पर्यटन कर समूचे देश की राजनीतिक और सामाजिक दुर्दशा का अवलोकन किया था। अत: उन्हें सारे वातावरण का पूरा ज्ञान था। अनुग्रह प्राप्ति के वाद आसेतु हिमाचल पुन: घूमकर परिस्थिति को देखा उस पर चिंतन और मनन कर एक सर्वंकश स्वतंत्र सिद्धान्त और साधन तथा तन्त्र सुनिश्चित कर जिस प्रकार कार्यन्वित किया उसे उनके ग्रन्थों में अभिव्यंजित विचारों से देखा जा सकता है।

वचपन से ही उनको चिंताग्रस्त देखकर उनकी माँ ने उन्हें उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, 'माँ मैं सारे विश्व की चिन्ता करता हूँ। विदेशियों के विद्यार्थियों के राज्य से देश भर में जो दैन्य फैला था उससे लोग हताश एवम् निराश हो गये थे। वे उसका वर्णन करते हैं[1]—

बहु साल कल्पांत लोकासि आला।
महर्षे बहू घाडि केली जनाला॥
किती येक ते देश त्यागोनि गेले।
किती एक ग्रामेचि ते वोस जाली॥
पिके सर्वे धान्ये चि नाना बुडाली।
किती गुज्रिणी ब्राह्मणी भ्रष्टविल्या॥
किती शांमुखी जाहर्जो पाठविल्या।
किती येक देशांत ही पाठवील्या॥

---

१. श्री समर्थ चरित्र–ज. स. करन्दीकर, समर्थस्फुट प्रकरण, पृ० २१–२२।

कितीं सुन्दरा हाल होऊनि मेल्या।
कांही मिळेना, मिळेना खावयाला ॥
ठाव नाही रे, नाही रे जायाला ॥ —स्फुट प्रकरण।

'कई वर्षों तक जनता में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी जैसे कल्पान्त का समय आ गया हो। लोग हताश होकर मर गए, या मारे गए। कुछ देश को छोड़कर भाग गये। कई ग्राम उजड़ गये इससे अनाज आदि सब नाना प्रकार से नष्ट और महंगा हो गया। कई गूजर स्त्रियों को एवम् ब्राह्मणियों को भ्रष्ट किया गया। कई सुन्दर कुलवन्तियों को जहाज में भरकर बादशाहों के पास भेजा गया। कइयों को अन्य विदेशों में भेजकर बेचा गया। कई सुन्दरियाँ अत्याचारों से मर गईं। ऐसी दुस्थिति उत्पन्न हो गई कि लोगों को खाने के लिये कुछ न बचा। रहने के लिए ठौर तक न रही।' देश की ऐसी भयङ्कर दुर्दशा तथा सामाजिक परिस्थिति बड़ी भयानक हो गई थी। इससे रामदास को बड़ा दुख हुआ। वे इस बात का उन्मूलन करने का उपाय खोजने लगे। सन्तों के निवृत्तिपरक मार्ग का उपदेश महाराष्ट्र ने पढ़ा। पर कृति से वे आलसी बन गए थे। रामदास को यह अच्छा नहीं लगा। महंत, गुरु और संत केवल नाम-महिमा का उपदेश करते रहते। पर समाज की विपन्नावस्था इससे कदापि सुधरने वाली न थी। अतः सम्प्रदाय बनाने की दृष्टि से मठ स्थापना करने का उन्होंने निश्चय किया। उसके अनुसार यह निष्कर्ष कितना मार्मिक है—

'जितुका भोळा भाव। तितका अज्ञानाचा स्वभाव ॥
अज्ञानेतरी देवाधि देव। पाविजेलकैसा ॥'[१]

जितना भोला भाव होगा उतना ही वह अज्ञान का सूचक होता है। इससे भगवान् की प्राप्ति कठिन हो जाती है। अपने धुवांधार प्रयत्नों से उन्होंने अनेक शिष्य-प्रशिष्य तैयार किये। कई मठ निर्माण किये। सब मठों का केन्द्रिय मठ जाफल में स्थापित किया। यहाँ पर स्वयम् श्री समर्थ रामदास रहा करते थे। उनके पट्ट शिष्य कल्याण स्वामी डोमगाँव मठ में रहते थे। उनके प्रथम शिष्य उद्धव दो मठों के मठाधीश थे। एक मठ टाकळी में और दूसरा इन्दूर-बोधन में था। इसके अतिरिक्त औरङ्गाबाद, काशी, रामेश्वर, सूरत, बद्रीकेदार आदि समूचे भारत में उनके मठ थे। इन मठों में रामदास के चुने हुए महंत थे। इनका कार्य सर्वत्र संचरण करना, परिस्थिति का निरीक्षण करना, समर्थ रामदास का कार्य करना, रामनाम का जप करना, तथा राम और हनुमान के मन्दिर बनवाना और

१. दासबोध–समर्थ रामदास, २०–१–६६।

सतर्क रहने के लिए शिक्षा देना था। रामदास स्वयम् देखते कि ये सब शिष्य इन बातों में पटु और निपुण हो जाय। ललितकलाओं की शिक्षा भी इनको दी जाती थी। विद्यादान का कार्य दिनरात चला करता था। उनके मत में ये बातें अच्छी थीं[1]—

'आवडी सगळे लोका। प्रीति ने भजती जनी।
इच्छिले पुरविती सर्व। धन्य ते गायनी कळा।।
ये काकी महंती येते। उदंड किती वाढते।।
विख्यात सकळे लोकीं। धन्य ते गायनी कला।।
राहती लोक ते रानी। आवडी उपजे मनी।।
वर्णिता कीर्ति देवाची। धन्य ते पावती फळा।।

'गायनसे सब लोक रीझकर महंतका सम्मान करते है। प्रतिष्ठा रखकर उसकी बात मानते हैं। उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं। तात्पर्य यह है कि गायनकला धन्य है। इससे महंती बढती है। लोग परस्पर कहते हैं कि फलाना महन्त विद्वान है और बड़े अच्छे भजन गाता है, भगवान् का गुणानुवाद कर जंगल में रहता है सब कलाओं को देवताओं के कार्य में लगाना चाहिए, तभी उनका उद्धार होता है।' उनका अपना शिष्यों को यह उपदेश था, कि अपना शरीर परोपकारार्थ लगाना चाहिए। किसी को किसी चीज की कमी हो, कोई आवश्यकता हो तो उसकी पूर्ति कर तथा उसकी सहायता कर एवम् दूसरों को संतुष्ट कर स्वयम् सुखी हो जाना ही अच्छा कार्य है। खुद कष्ट सहनकर कीर्ति रूप में बचे रहना ही श्रेष्ठ लक्ष्य है। शरीर तो नष्ट होने वाला है ही। इस तरह के उपदेशों द्वारा समर्थ रामदास अपने शिष्यों द्वारा समाज का उद्धार करना चाहते थे।

एकनाथ के निर्याण काल और रामदास के जन्मकाल में दस वर्ष का अन्तर मिलता है। रामदास की माँ और एकनाथ की पत्नी ये दोनों सगी बहनें थीं। अतः समर्थ रामदास के एकनाथ सम्बन्धी ठहरते हैं। इस निष्कर्ष का आधार तंजावर में प्राप्त एक हस्तलिखित कागज है।[2] एकनाथ की रामोपासना का अधूरा कार्य समर्थ ने अपनी रामोपासना से सुसम्पन्न किया।

रामदास के पिता उनकी आयु के आठवें वर्ष में ही स्वर्गस्थ हुए। इसी साल अर्थात् शक १५३८ के श्रावण शुक्ल अष्टमी के दिन उन्हें रामदर्शन मिला और अनुग्रह भी प्राप्त हुआ। तब से वे अन्तर्मुख बन गए। पुनः वैराग्यपरक प्रवृत्ति के

१. रामदास-पद स्फुट प्रकरण-समर्थ चरित्र भाग २, श्री०शं०श्री० देव०, पृ० १५४।
२. तंजावर में उपलब्ध गोविंद बाळ स्वामी के मठ के कागज से।

प्रभाव से अपनी तेरहवीं वर्ष की अवस्था में विवाह के अवसर पर 'शुभ मंगल सावधान' सुनकर वे अपने गाँव जांव से भागकर सब की नजर बचाते हुए ग्यारह दिनों में नाशिक पंचवटी आये। यह घटना शक १५४२ में घटी। शक १५४२ से शक १५५४ तक का काल गायत्री-पुरश्चरण और त्रयोदशाक्षरी राम नाम जप यज्ञ में व्यतीत किया। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने तेरह कोटि जप किया था। इसी काल में वेदाध्ययन और अन्य ग्रन्थ निर्मिती की तैयारी कर ली। उनके लिखे करुणाष्टक इसी काल में रचे गये। कहा जा सकता है कि यह उनकी साधक दशा थी। उनकी जाज्वल्य और नैष्ठिक उपासना से प्रभु रामचन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हें पुनः दर्शन देकर अभय दिया और धर्म संस्थापना का कार्य भी करते रहने का आदेश दिया। रामदास की रामदास्य-भक्ति का मधुर फल उनको रामदर्शन से प्राप्त हो गया। प्रभु रामचन्द्र ने रामदास को हनुमानजी के हाथों सौंपकर उन्हें आश्वस्त किया। यह घटना शक १५५४ में घटी। इसके बाद वे देश पर्यटनार्थ और तीर्थ यात्रा करने निकले। अपनी तीर्थयात्रा का वर्णन तथा देश की दुस्थिति का विवेचन 'तीर्थावली', अस्मानी-सुल्तानी, परचक्र-निरूपण नामक स्फुट प्रकरणों में काव्य बद्ध किया है।[1] रामदास की यह विशेषता जान पड़ती है कि वे केवल अपने वैयक्तिक उत्कर्ष और उद्धार में ही नहीं लगे थे वरन् विश्वात्मक नारायण की उपासना कर जगदोद्धार तथा लोकमंगळ की चिन्ता उन्हें बराबर लगी हुई सी जान पड़ती है। इसके लिये उपासना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन में उनका विश्वास नहीं था। अनवरत उपासना ही उन्होंने की। 'उपासनेचा मोठा आश्रयो' उपासना का आश्रय सबसे बड़ी आधार-शिला है ऐसा वे मानते थे। इसीलिये यात्रा से लौटकर आने पर वे 'समर्थ रामदास' बन गए।

उनकी साधना में १२ साल बचपन के, १२ साल पुरश्चरणके और १२ साल तीर्थाटन के व्यय कर ३६ वर्ष तक पक्की साधना करने के अनन्तर वे कृष्णा तट पर आये और समर्थ सम्प्रदाय की स्थापना की। भगवान् का अधिष्ठान तथा आश्वासन मिलने से समर्थ सशरचापधारी प्रभु रामचन्द्रजी के सेवक रामदास की ओर वक्रता से देख सकने की भूमंडल पर किसी की हिम्मत तक नहीं थी। हनुमान मन्दिरों की स्थापना कर बलोपासना से शरीर समृद्ध कर अपने साम्प्रदायिकों के शरीर बलवान कर उनके मन भी प्रखर, तेजस्वी और ओजस्वी बनाये। चाफळ में रामनवमी का बड़ा महोत्सव राममन्दिर की स्थापना कर व्यापक रूप में शक १५७० से होने लगा। इसके पूर्व शक १५६७ में रामनवमी का प्रथम उत्सव मैसूर में हुआ था। चाफळ के राम मन्दिर को शिवाजी से सहायता प्राप्त हुई थी।

१. श्री सांप्रदायिक विविध विषय, खं. १, पृ० १–८।

शिवाजी-रामदास-भेंट—

डा० शं. गो. तुळपुळे के मतानुसार श्री समर्थ चरित्र भाग ६ (स. खं. आळतेकर) वाकेनिशी प्रकरण कलम १८, समर्थाची गाथा (अनन्तदास रामदासी), गिरधर स्वामी का 'समर्थ प्रताप', हनुमन्त स्वामी कृत हनुमन्त स्वामी की वखर और अन्य सांप्रदायिक कागज पत्रों के साधनों से शिव छत्रपति और समर्थ रामदास की भेंट कब हुई थी इसका पता लग सकता है। शिवाजी और समर्थ का साक्षात् सम्पर्क कब हुआ तथा उन्होंने अनुग्रह कब लिया इस विषय पर इतनी चर्चा चल पड़ी थी कि बहुत समय तक निष्कर्ष निकालना कठिन हो गया था पर आज उसका निर्णय हो चुका है। इन सब के आधार पर कहा जाता है कि चाफळ के निकट शिगणवाड़ी के बगीचे में शक १५७१ में शिवाजी ने समर्थ रामदास ने अनुग्रह लिया।[1] पुनः प्रा. न. र. फाटक अपने समर्थ चरित्र में यह प्रतिपादन करते हैं कि यह भेंट शक १५९४ में हुई।[2] परन्तु श्री ज. स. करंदीकर उसे १५७१ ही मानते हैं।[3] राजवाडे तथा समर्थ शिवाजी के केवल मोक्ष गुरु नहीं थे वरन् राष्ट्र गुरु भी थे। ऐसा मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। वैसे ऐतिहासिक तथ्य और प्रमाण दोनों पक्ष वाले प्रस्तुत कर देते हैं। तारतम्य रूप से विचार करने पर विरोधियों का स्वर ठण्डा पड़ जाता है। रामवरदायिनी, आनन्दवन भुवन जैसे समर्थ के ऐतिहासिक प्रकरण, शिवाजी की राजनीति से सम्बन्धित ही जान पड़ते हैं। समर्थ रामदास ने शिवाजी को सावधान रहने के लिये जो उपदेश दिये हैं उनका महत्व शक १५७२ से शक १५८० के कालखण्ड में परिलक्षित हो जाता है। शक १५८३ में प्रतापगढ़ पर तुळजा भवानी की प्रस्थापना की गई है। शक १६०० में समर्थ रामदास को जो सनद दी गई है, उसे अन्तिम प्रमाण माना जा सकता है।[4] चाफळ में समर्थ रामदास के द्वारा श्री रामचन्द्र की मूर्ति स्थापना से शिवाजी और समर्थ सम्बन्ध का प्रमाण ही कहा जावेगा। इस तरह करीब-करीब तीस वर्षो तक यह गुरुशिष्य सम्बन्ध रहा। धुलिया के प्रसिद्ध रामदास साहित्य अनुसंधायक श्री शंकरराव देव ने स्थानों-स्थानों से समर्थ साहित्य की

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३९१–९२–९४।
२. सह्याद्री, अगस्त १९५१।
३. समर्थ चरित्र—ज. स. करंदीकर।
४. श्री सदगुरुवर्य श्री सकल तीर्थ श्री कैवल्यधाम श्री महाराजांचे सेवे सी महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी—शं. गो. तुळपुळे, पृ० ६६८ तथा पाँच संत कवि, पृ० ३९५।

हस्तलिखित पोथियाँ एकत्र की हैं और उन्हें समर्थ वाग्देवता मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया है। अपना सारा जीवन, तन, मन, धन सभी इसी के अनुशीलन में व्यतीत किया है। रामदास की ग्रन्थ रचना के अतिरिक्त इस साहित्य संभार में अनेक संतों के द्वारा निर्मित हस्तलिखित पोथियाँ अनेक रामदासी मठों से लाकर यहाँ पर रख दी गई हैं। इनका अनुसंधान और अध्ययन किया जा सकता है। स्वयम् रामदास के हाथ का लिखा एक असली पत्र भी यहाँ सुरक्षित रूप से संग्रहीत है। समर्थ और समर्थ सम्प्रदाय की हिन्दी रचनाएं पर्याप्त मात्रा में यहाँ विद्यमान हैं।

समर्थ रामदास का व्यक्तित्व—

रामदास की शरीराकृति और परिवेष के बारे में उनकी शिष्या वेणाबाई की उक्ति इस प्रकार है।

'पाई पादुका हातांत तुम्बा। मर्जरी भगवी फांकली प्रभा।
कटबंध कौपीन मळसूत्र शोभा। नवा नवे मूर्ति साजिरी॥
तैसी मूर्ति दृष्टि पडो। तैशा पाई वृत्ति जडो॥
ब्रह्मचारी ही सूत्र शिखा। पाई शोभती पादुका॥
कटी अटबंद कौपीन। कंठी तुळसी मणि भूषण॥
दिव्य मुख दिव्य नेत्र भाळी। आवाळूं सुन्दर।
रामदास दिव्य नाम। सखा जयाचा आत्माराम॥'[१]

'पैरों में खड़ाऊँ हाथों में तुम्बा और भगवा वस्त्र परिधान किये हुए, कमर में कौपीन धारण कर नयी आभावाली उनकी मूर्ति थी। ब्रह्मचारी, यज्ञोपवीत और चोटी धारण करने वाले समर्थ रामदास का व्यक्तित्व बड़ा दिव्य था। वे गले में तुलसीमाला आभूषण की तरह धारण करते हैं। उनका मुख दिव्य है, नेत्र दिव्य हैं। भालप्रदेश पर एक सुन्दर गुमड़ा उठा है। उनका नाम रामदास है तथा जिसके सखा आत्माराम भगवान् रामचन्द्रजी हैं। ऐसे भव्य स्वरूप धारी समर्थ सदगुरु की मूर्ति सदा आँखों के सामने आती रहे यही वेणाबाई की मनोकामना है।

रामदास बहुत तेज चलते थे। उन्हें संगीत प्रिय था और वे बहुत अच्छा गाते भी थे। अपने प्रदत्त मंत्र का दुरुपयोग करने पर ऐसा करने वाले को वे बेंत से पीटते थे। उनका अपने इष्टदेव से यह कहना था[२]—

क्षण भर सुख नाही जन्मदारम्य कोठे।
कठिण ची बहुवाटे लोटते दुःख मोठे॥

---

१. वेणाबाई कृत अभंग।
२. रामदास—मनाचे श्लोक।

'वहुत विषयकाळ दाटणी थौर भाली।
म्हणऊनि चरणाब्जी वृत्ति गुंगोनि गेली ॥
वहुताचि सुकुमारा स्वस्त नाही शरीरा।
निशिदिनी जर्नाचता लागली से उदारा ॥
सकळजन सुखावे तो कसा काळ फावे।
भजन जन उकावे सर्व आनन्द पावे ॥'[1]

'जन्म के आरम्भ से ही पता चला कि कहीं भी एक क्षण का सुख उपलब्ध नहीं है। वड़ा कठिन लग रहा है यह वड़ा दुख कैसे निवारण होगा। काल ने अपना प्रभाव छोड़ा और विषयों के स्वरूप अनेक हैं इसीलिए भगवद् चरण कमलों में मेरी वृत्ति रंग गयी है। मुझे घोर जर्नाचता लगी हुई है। हे उदार रामचंद्रजी कुछ ऐसा कर दो कि जिससे सारे लोग सुख प्राप्त करें तथा भजन पूजन करते-करते सब काल व्यतीत करने लग जाँय, और सर्वत्र आनन्द फैल जाय। क्या ऐसा काल कभी आवेगा? तुळजापुर की भवानी से भी यही वरदान उन्होंने माँगा है कि—

'येकचि मागणे आतां द्यावे ते मजकारणें।
तुझा तू वाढवी राजा सीघ्र आम्हासी देखता ॥
दुष्ट संहारिले मागे ऐसे उदण्ड ऐकितों।
परन्तु रोकडे काही मूल सामर्थ्य दाखवी ॥
रामदास म्हणे माझे सर्व आतुर वोलणे।
क्षमावे तुळजे माते। इच्छा पूर्णचि ते करी ॥'[2]

'मेरी एक ही मांग है और उसे हे भवानी माता, तुम मेरे लिये मान्य कर दो। हमारे देखते-देखते राजा शिवाजी को उत्कर्षपथ पर ले चलो। ऐसा मैंने वहुत सुना है कि पहले तुमने दैत्यों का एवम् दुष्टों का संहार किया है परन्तु आज प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं इसलिए अपनी मूल शक्ति का प्रताप सचमुच कर दिखाओ। रामदास कहते हैं कि मेरा आतुरतायुक्त निवेदन और मेरी इच्छा पूर्ण करो और मुझे क्षमा कर दो। समर्थ रामदास ने विपुल मात्रा में साहित्य रचा है। ये सारी रचनाएँ अव प्रकाशित हो गई हैं।

रामदास के रचे ग्रन्थ—

दासवोधकार समर्थ रामदास वड़े व्यासंगी और अखंड अनवरत अध्ययनशील,

---

१. समर्थ मनाचे श्लोक।

२. रामवरदायिनी तुळजाभवानी देवी प्रार्थना—समर्थ चरित्र पृ० १७८,
श्री ज. स. करंदीकर।

महन्त और सद्गुरु थे। रामदास को स्वयम् भगवान् राम और हनुमानजी ने अनुग्रह उपासना और दीक्षा दी थी। इसलिए समर्थत्व उनमें सब प्रकार से था। अपने पूर्व सूरियों के सारे ग्रन्थ उन्होंने अध्ययन कर उसका पाचन कर डाला था उनकी आत्मानुभूति विवेकयुक्त और सारभूत होने से आत्म प्रतीति और शास्त्र प्रतीति का सामंजस्य उनके प्रवचनों में दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण की स्वयम् उन्होंने नकल की थी। भगवद्गीता, उपनिषद, वेद आदि का उनके इस ग्रन्थ पर प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है। इसमें गुरु शिष्य की संवाद-पद्धति अपनाई गई है। मुकुन्दराज और एकनाथ के ग्रन्थों का विशेष अध्ययन समर्थ ने किया था। यह ग्रन्थ तीन वार लिखा गया है। अपने पूर्ववय में अर्थात् शक १५५४ में एकवीस समासी अध्यात्मपरक निरूपण करने वाला दासबोध रचा। फिर समर्थ सम्प्रदाय की वृद्धि हो जाने पर कुछ पुराने समास लेकर कुछ नये जोड़कर शक १५८१ में शिवीथर नामक स्थान में सप्तदश की दासबोध सिद्ध किया। सप्तदश की दासबोध स्वयंपूर्ण ग्रन्थ है। केवल पारमार्थिक निरूपण ही उसमें मुख्य रूप से है। इसके बाद स्वतन्त्र रचे हुए और अन्य स्फुट समास को मिलाकर अपने प्रयाण काल पूर्व शक १६०३ में 'वीस दशकी दो सौ समासी दासबोध' पूर्ण किया। इसके दो भाग मुख्य हैं। पूर्वार्ध की ओवी संख्या ३८६६ और उत्तरार्ध की ३८८५ है। पूरे दासबोध की ओवी संख्या ७७५१ है। इसका विषय अध्यात्म है। पूर्वार्ध में अध्यात्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उत्तरार्द्ध में अध्यात्म के साथ राजकारण, समाजकारण, बुद्धिवाद, प्रयत्नवाद आदि विषय आये हैं। दासबोध में प्रथम एक ही क्रम से रचना की गई है। 'सरली शब्दाची खटपट। आला ग्रन्थाचा शेवट।' कहकर उसका अन्त सूचित किया गया है। इसके आगे के दशकों में परम्परागत वेदांत चर्चा नहीं है। ग्यारहवे दशक के पाँचवें और छठे समास में समर्थ राजनीति के विषय में प्रविष्ट हो गये हैं। हरि कथा की तरह राजकारण अर्थात राजनीति भी आवश्यक है ऐसा उनका प्रतिपादन है। बारहवें दशक में 'प्रपंच' और 'परमार्थ' का समन्वय किया गया है। भजन के स्थान पर यत्न' को वे परमेश्वर ही मानते हैं। चौदहवाँ तथा पन्द्रहवाँ व सोलहवाँ दशक रामदासी संप्रदाय की शिक्षा-दीक्षा बताता है। रामदास का निरीक्षण पैना, सूक्ष्म और बारीकी से युक्त था, ऐसा उनके इस ग्रन्थ से विदित हो जाता है। अन्य किसी भी संत ने रामदास की तरह प्रवृत्तिपरक वेदांत का उपदेश, प्रपंच, परमार्थ का समन्वय राजनीति का सामाजिक महत्व, हरिभजन आदि का इस तरह अपने ग्रन्थ में प्रयोग नहीं किया। अखण्ड सावधान रहने के लिए वे बोध करते हैं। अनेक दिनों से म्लेच्छों का विद्रोह चल रहा था उसको मिटाने के लिये वे तत्पर और जागरूक रहे हैं।

दूसरा ग्रन्थ 'करुणाष्टक' है, जिसमें भक्त रामदास का भगवान् के साथ अत्यन्त करुणापूर्वक किया गया आत्मनिवेदन अष्टकों में व्यक्त किया गया है। ऐसे दस बारह अष्टक समूचे समर्थ वाङ्मय में मिल जायेंगे। भक्त की आर्तता, अगतिकता, एकाकीपन, प्रभु को करुणापूर्ण वाणी से गुहारना–संबोधन करना आदि भावनाएँ साधक रामदास ने इसमें अभिव्यक्त की हैं। अन्तःकरण को गहराई तक पहुँचाने की तीव्रता तथा क्षमता उपलब्ध हो जाती है।

अनुष्टुप और ओवी छन्द में सोलह लघु काव्य रचे हैं। इनमें पाँच अनुष्टुप छन्द में और अन्य ग्यारह ओवी बद्ध हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) षड्रिपु (२) पंचीकरण योग, (३) चतुर्थमान, (४) मानपंचक, (५) पंचमान, (६) पूर्वारंभ, (७) जुनाट पुरुष[1], (८) अंतर्भाव, (९) आत्माराम, (१०) पंच समासी, (११) सप्त समासी (१२) सगुण ध्यान, (१३) निर्गुण ध्यान, (१४) मानस पूजा, (१५) एकवीस समासी और (१६) जनस्वभाव गोसावी है। प्रथम पाँच में अष्टाक्षरी ५५५ श्लोक हैं। अन्तिम ग्यारह ग्रन्थों की ओवी संख्या २५६४ है। ये सभी गुरु-शिष्य-संवाद रूप हैं। समर्थ ने इनमें परमार्थ के बारे में स्पष्ट विवेचन प्रांजल और अक्खड़तापूर्ण शैली में प्रकट किया है। मानस पूजा, जनस्वभाव और निर्गुण ध्यान विशेष महत्वपूर्ण हैं। अपने 'चाफळ' के शिष्यों के दैनंदिन कार्य व्यवस्था के लिये इनकी रचना हुई थी। श्रीराम के सगुण रूप का विस्तारपूर्वक रूपक के आश्रय से किया गया निर्गुण ध्यान में असमान्य कल्पना और अनुभव का संमिश्र स्वरूप मिलता है। यह शैली एकनाथ के प्रभाव को स्पष्ट करती है। एकवीस समासी को पुराना दासबोध मानते हैं। इसमें केवल अध्यात्म विषय विवेचित है। अपने सर्वस्व की आहुति देकर साधक रामदास की सिद्ध रामदास बनने की पूर्णावस्था इसमें मिलती है। भक्त और भगवान् की एकता, रामदास्य की साकार भावना इसमें ओतप्रोत है। राम की पूर्ण कृपा से कृतकृत्य रामदास इसमें दिखाई देंगे।

समर्थ रामदासकृत दो रामायण—

(१) लघुरामायण प्रमाणिका छन्द में लिखा है। इसमें १२५ श्लोक हैं। (२) दूसरा बड़ा रामायण है। यह 'भुजंगप्रयात' वृत्त में लिखा गया है। इसमें १४६२ श्लोक हैं। प्रथम में केवल युद्ध काण्ड है तो दूसरे में युद्धकाण्ड और सुन्दर काण्ड है। केवल ये दो कांड ही उन्होंने क्यों चुने ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाने पर उसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि समर्थ की दृष्टि में प्रभु रामचन्द्रजी

१. जुनाट—पुराणपुरुष।

देवताओं के बंध विमोचक हैं। वे रावण के कारागृह से उनको मुक्त करते हैं। एकनाथ के भावार्थ रामायण की दृष्टि रामदास ने आत्मसात कर ली है। रामराज्य की स्थापना रामदास का लक्ष्य था। तत्कालीन राजनीतिक दशा का प्रतिबिम्ब इन रामायणों के चरित्रों में उत्पन्न किया गया है। शिवाजी की स्वराज्य स्थापना से उनका लक्ष्य साकार हुआ था।

चौदह ओवी शतक—

वस्तुतः यह रचना अभंग में है। पर रामदास इसको ओवी-शतक ही मानते थे। हरएक में १०० के हिसाब से कुल १४०० ओवियाँ हैं। इसमें प्रयत्न-वाद का जोरदार विवेचन है। इसके संवादकर्ताओं में सगुणवादी, निर्गुणवादी, सर्व ब्रह्मवादी, विमल ब्रह्मवादी, मुमुक्षु, मुक्त प्रयत्नवादी और प्रारब्धवादी हैं। इसमें परस्पर प्रश्नोत्तर हैं। संत-संग महिमा का वखान भी इसमें है।

स्फुट कवितायें पद और अभंग—

रामदास अन्त समय तक लिखते ही रहे। इसमें कुछ विषय आत्मनिष्ठ और कुछ समाजनिष्ठ हैं। आत्मनिष्ठ पदों में वे अन्तर्मुख हैं तो समाजनिष्ठ पदों में वे बहिर्मुख हैं। इनमें अभिव्यक्त विषयों में राजनीति, आत्मोन्नति, प्रवृत्ति, निवृत्ति उपदेश, उपासना, तत्व और काव्यात्मक अन्य विषय भी हैं। इन सबको समर्थ गाथा में संग्रहीत किया गया हैं। कई श्लोक, ओवियां तीन चार सौ अभंग और हजार की संख्या में गेय पद विपुल रूप में समर्थ ने लिखे हैं। कई आरतियाँ और अन्य स्फुट रचनाएँ उन्होंने रची हैं। इनके रचित कई हिन्दी पद भी मिलते हैं।

'मनोबोध' या मनाचे श्लोक—

भुजंगप्रयात वृत्त में कुल २०५ श्लोक समर्थ ने रचे। इसे 'मनोबोध' नाम से भी जानते हैं। यह रचना अपने परिणत प्रज्ञ अवस्था में रची हुई और दासबोध के बाद की रचना हो सकती है। भक्तिपंथ को अपनाया जाय, अहर्निश राम भजन करना चाहिए, जो-जो निंद्य हो उसका परित्याग और जो-जो वंद्य हो उसका ग्रहण, रामनाम का आश्रय मुख से राम भजन आदि विविध विषय मन को बोध के रूप में सिखाये गये हैं। उसमें एक प्रवाह है एक उत्स्फूर्त प्रेरणा है इसलिये यह कृति बड़ी लोकप्रिय भी बन गयी है। रामवरदायनी और आनन्दवन-भुवन ये दो महत्वपूर्ण प्रकरण हैं।

समर्थ रामदास ५० वर्षों तक अखंड रूप से लिखते रहे। पदों में वे अपने को रामी रामदास और अन्य कई नामों से अभिहित करते हैं। शक १६०२ में शिवाजी स्वर्गस्थ हो गए। शक १६०३ में छत्रपति शिवाजी के द्वारा बनवाये गये

सज्जनगढ़ की एक भव्य इमारत में वे रहने गए। धीरे-धीरे वस्त्र अन्न आदि सव वर्ज्य करते गए। शिवाजी के वाद वे जीवित रहना नहीं चाहते थे। संभाजी को उन्होंने अनमोल उपदेश पत्र रूप से दिया था। माघ कृष्ण ६ मी के दिन सज्जनगढ़ में शक १६०३ में उन्होंने अपना अवतार कृत्य समाप्त किया।

रामदास सम्प्रदाय की शिष्यायें—

वेणावाई—समर्थ की विदूषी तथा ज्ञान सम्पन्न मानस कन्या और शिष्या है। यह वचपन में ही विधवा हो गई थी। इसका मायका मिरज में और इसकी ससुराल कोल्हापुर में थी। इसका जन्म शक १५५० के लगभग हुआ होगा। अपने वैधव्य-काल में 'एकनाथी-भागवत', गीता आदि ग्रन्थ वह पढ़ने लगी। अचानक रामदास भिक्षा माँगने आये और 'मुखी राम त्या काम बाधू शकेना' यह श्लोक पढ़ा। वेणूवाई भागवत पढ़ रही थी। रामदास ने उससे पूछा वेटी जो भागवत तुम पढ़ रही हो उसका अनुभव भी तुम्हें होता है या नहीं ? निरुत्तर हो जाने पर रामदासजी ने उसे उपदेश के चार शव्द सुनाये। अपने गुरु के प्रति उसकी आस्था वढ़ गई। 'देह माझे मन माझे। सर्व नेले गुरुराजे' अर्थात् देह और मन सभी सद्‌गुरु ही ले गए ऐसी उसकी भावावस्था वन गई। आँखों के सामने सद्‌गुरु रामदास की मूर्ति विराजने लगी। वे कहती हैं—

> **'पाई पादुका हातात तुम्वा। मर्जरी भगवी फांकली प्रभा।**
> **कटबन्ध, कौपीन, माळ, सूत्र, शोभा। न वानवे मूर्ति साजिरी॥'**

'पैरों में खड़ाऊँ हाथ में तुम्वा और जरीकाम किया हुआ भगवा वस्त्र, कौपीन परिवेश, माला, यज्ञोपवीत और शिखा की शोभायुक्त ओजस्वी मूर्ति सजी हुई है।' ऐसे व्यक्तित्व का उन पर प्रभाव पड़ा था।

वे मिरज में रामदास के कथाकीर्तनादि सुनने लगी। उसने रामदास का अनुग्रह और उपदेश ले लिया। लोगों को उसका यह कार्य अच्छा न लगा। वे उसकी निन्दा करने लगे। परन्तु उसने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। यथा—

> **कोणी वंदिती कोणी निंदिती। वास भी त्यांची पहिना।**
> **हृदयीं धरिले सदा गुरु चरणा। प्राणांती हि विसंवेना॥**

उसके माँ वाप ने निन्दकों के अत्याचार से उसे विष भी दे दिया पर गुरु की कृपा से विषवाधा भी नष्ट हो गई। समर्थ अपने सभी शिष्याओं को कन्या कहते हैं। उन सव में इसकी योग्यता महंत की है। उसके लिये मिरज में मठ-स्थापना कर दी गई है। लोग उसे वेणुस्वामी कहने लगे। उसके रचित पद, अभंग और अन्य इन तीन चार ग्रन्थ भी मिलते हैं। सव में 'सीता स्वयंवर' यह ग्रन्थ वहुत

सुन्दर है। ग्रन्थ निर्मिती करने वाली एक स्त्री होने के कारण यह ग्रन्थ अन्य लोगों के द्वारा रचे गए सीता स्वयंवर की अपेक्षा बहुत सुन्दर है। उनकी यह प्रार्थना द्रष्टव्य है[1]—

'समर्था कधी पाप बुद्धि न को रे। समर्था प्रभु भाग्ययेथेष्ट दे रे।
प्रिती ने प्रजा पाळी रे रामराया, नको दैन्यवाणी करु दिव्य काया।।'
दिनानाथ जी उदण्ड दे रे।।

'हे समर्थ ! मेरे मन में पापबुद्धि कभी भी न उत्पन्न हो तथा अच्छा भाग्य यथेष्ठ रूप में प्राप्त हो जाय। हे रामचन्द्र जी ! प्रेम से प्रजा का पालन करो और इस दिव्य शरीर में दैन्य युक्त वाणी के बदले दिव्य वाणी प्रकट हो जाय।

इनका स्वर्गवास शक १६०० में चैत्र वदी चतुर्दशी को हुआ। वयावाई, अम्बावाई आदि समर्थ शिष्याएँ प्रसिद्ध है। वयावाई की हिन्दी रचना मिलती है। जैसे—

बाग रंगेली महल बना है। महाल के बीच में झूलना खुला है।
इस झुलने पर झुलोरे भाई। जनम मरन की भूल न आई।
दास बया कहे गुरु मैयाने। मुझकु झुलाया सोहि झुलाने।।[2]

इस तरह देखने पर सार में कहा जा सकता है कि रामदास बचपन से ही विरक्त थे। अपने सङ्कटों के बारे में वे मौन रहते हैं। रामदास की चिन्ता महाराष्ट्र में स्वराज्य कैसे बनेगा यह है। वे आचार्य थे, और ज्ञान और विद्या की प्रतिष्ठा को मानने वाले थे। देश और राजनीतिशास्त्र रामदास के काव्य में प्रमुख रूप से विद्यमान है, यद्यपि वह परमार्थ से अलग नहीं है। रामदास महंत और राजयोगी थे। उनका कार्य काफी विशाल था। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कुल ११०० मठों की स्थापना उन्होंने की है। रामदास बुद्धिवादी हैं। नये मार्ग और नयी परम्परा को रामदास ने ढूँढ़ निकाला।

---

१. वेणाबाई कृत—प्रार्थना।
२ वयावाई कृत हिन्दी पर रचना।

पंचम-अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

पंचम–अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

कवीर :

हिन्दी के वैष्णव कवियों में सर्वप्रथम कवीर का नाम आता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ने पर तथा कवीर पर किये गये शोध ग्रन्थों के अध्ययन से यह वात भली-भाँति ज्ञात हो जाती है कि कवीरके जन्म समय की स्थिति अनीश्वरवाद के लिए वड़ी अनुकूल थी। अन्य सन्तों की तरह कवीर के जीवन काल के वारेमें तथा उससे सवद्ध प्रसंगोंके वारे में अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन सारे मतों में परस्पर अनुकूल मतोंकी अपेक्षा प्रतिकूल मत ही अधिक हैं। अतः इन सारे पचड़ों से दूर रहकर ही केवल प्रमुख मतों का उल्लेख कर हमको कवीर का सामान्य परिचय और उनकी कृतियों का विवेचन करना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से कवीर का जन्म जेठ सुदी पौर्णिमा सोमवार विक्रम संवत्-१४५६ है।[1] कवीर पंथी कवीर के वारे में यह वतलाते हैं—

> चौदह सौ पचपन साल नए. चंद्रवार एक ठाठ ठए।
> जेठ सुदी वरसायत को पुरनमासी तिथि प्रकट भए।
> घन गरजे दामिनी दमकै बूँदे वरसे झर लाग गए।
> लहर तालाव में कमल खिले हैं तहँ कवीर भानु प्रकट हुए॥

कवीर का मृत्युकाल भी इसी तरह चर्चा का विषय है। ये दो चार उद्धरण देखिए[2]—

> (१) संवत् पंद्रह सौ पछहत्तरा किया मगहर को गवन।
> माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥
> (२) पन्द्रह सौ औ पांच में मगहर कीन्हो गौन।
> अगहन सुद एकादसी, मिल्यो पौन में पौन॥
> (३) पंद्रह सौ उनचास में मगहर किन्हो गौन।
> अगहन सुदि एकादसी. मिलौ पौन में पौन॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (दशम संस्करण), पृ० ७५।
२. कवीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २१८।

(४) सुमंत प्रदासौ उनहत्तरा रहाई ।
सतगुरु चले उठि हंसा जाई ॥

इससे यह दिखाई देता है कि कुछ लोग कबीर के मृत्युकाल को संवत् १५७५ कुछ १५०५ तो कुछ १५०७ के आस-पास मानते हैं। कबीर को १२० साल तक की आयु मिली थी, ऐसी जनश्रुति है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार संवत् १५०५ कबीर का मृत्युकाल है। सिकंदर लोदी कबीर के समकालीन थे। सिकंदर लोदी संवत् १५५१ में बनारस आया था, इसलिए कबीर और सिकंदर लोदी की भेंट हुई होगी ऐसा विद्वानों का अनुमान है। पर इस अनुमान से उनकी भेंट विश्वसनीय या सिद्ध नहीं हो जाती। 'भक्तमाल' जैसी पोथियों में, 'ग्रन्थ साहब' में तथा अन्यत्र कहीं भी सिकंदर का नाम नहीं आया है। बस्ती जिले में कबीर के मुस्लिम शिष्य बिजली खाँ के रोजे का निर्माण उनकी कीर्ति का केवल स्मृतिचिह्न मात्र है। रामानन्द उनके गुरु थे ऐमा तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। अनन्तदास की 'कबीर परिचयी' के सहारे कबीर का प्रादुर्भाव 'तीस बरस ते चेतन भयो' अर्थात् संवत् १४५५—३०=संवत् १४२५ होता है। प० परशुराम चतुर्वेदी इसी के पक्ष में हैं। उनके अनुसार कबीर साहब का मृत्यु काल सं० १५०५ ही है। इससे वे स्वामी रामानन्द के समकालीन, उनके द्वारा प्रभावित संतमत की बुनियाद को दृढ़ करने वाले, सेना, धन्ना, पीपा आदि को अपने आदर्शों के प्रति आकृष्ट करने वाले आदि बातों के महत्वपूर्ण उन्नायक सिद्ध होते हैं।

कबीर एक विधवा ब्राह्मणी के पेट से पैदा हुए थे। अतएव उनको लहरतारा तालाब के किनारे पैदा होते ही उनकी माता ने छोड़ दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षणों के उपरान्त नीरू नामक एक जुलाहा वयनजीवी उधर आ निकला जिसने उस बालक को उठाकर अपनी पत्नी नीमा को सौंप दिया। मुसलमानगृह में पाले जाने के कारण उनको वयनजीवियों के संस्कार विरासत में ही मिले थे। वैसे कबीर अपने माता-पिता का उल्लेख कहीं भी नहीं करते। पर वे अपने को वाराणसी का रहने वाला और जुलाहा अवश्य कहते हैं—

जाति जुलाहा मति को धीर। हरषि-हरषि धुन रहे कबीर।
मेरे राम की अभैपद नगरी, कहे कबीर जुलाहा ॥
तू बाह्मन में कासीका जुलाहा।

पूर्व जन्म में अपना ब्राह्मण होना वे स्वीकार करते हैं। वे एक जगह कहते हैं[1]—

१. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४–१८५।

पूरब जनम हम ब्राह्मन होते वोछे करम तपहीना ।
रामदेव की सेवा चूका । पकरि जुलाहा कीना ।।

जनश्रुति के अनुसार कवीर का एक वाक्य प्रसिद्ध है—'काशी में हम प्रकट भए हैं रामानन्द चेताए ।' इसके बारे में यह कथा प्रचलित है कि कवीर भजन गा गाकर उपदेश देते थे । पर निगुरे होने से लोग उन्हें कहते कि जो किसी गुरु के द्वारा उपदिष्ट न हो उसे दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है ? तव वे गुरु के वारे में चिंतित हुए । काशी में उस समय स्वामी रामानन्द सवसे वड़े महात्मा प्रसिद्ध थे । कवीर के उनके पास जाने पर मुसलमान होने से रामानन्द ने उनको अपना शिष्य वनाना स्वीकार नहीं किया । तव एक युक्ति उन्होंने सोची । रामानंद पंचगङ्गा घाट पर नित्य वड़े तड़के ब्राह्ममुहूर्त में स्नान करने जाते तव कवीर वहाँ की सीढ़ियों पर लेटे रहे । स्वामीजी ने अँधेरे में उन्हें न देखा । उनके सिर पर स्वामीजी का पैर पड़ गया । मुख से तुरन्त राम-राम निकल पड़ा कवीर ने चट उठकर उनके चरण पकड़ लिए और कहा कि आज आपने रामनाम का मंत्र देकर मेरा गुरुपद स्वीकार किया है । रामानन्दजी मौन रह गए । कवीर ने तवसे ही अपने को रामानन्द का शिष्य प्रकट और प्रसिद्ध कर दिया ।

कवीर में आरम्भ से ही हिन्दू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति हम देखते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'कवीर' वहुत प्रसिद्ध है । कवीर का विशेष अध्ययन करने के लिये वह द्रष्टव्य है । कवीर के वारे में उनका यह कहना ठीक ही है कि—

'इस प्रकार सव वाहरी धर्माचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कवीरदास साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए । केवल अस्वीकार करना कोई महत्व की वात नहीं है । हर कोई हर किसी को अस्वीकार कर सकता है । पर किसी वड़े लक्ष्य के लिए वाधाओं को अस्वीकार करना सचमुच साहस का काम है । विना उद्देश्य का विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है । उन्होंने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया । रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे । प्रलोभन और आघात, काम और क्रोध भी उनके मार्ग में जरूर खड़े हुए होंगे, उन्होंने उनको असीम साहस के साथ जीता । ज्ञान की तलवार उनका एकमात्र साधन थी, इस अद्‌भुत शमशीर को उन्होंने क्षण भर के लिये भी रुकने नहीं दिया । वह निरन्तर इकसार वजती रही । पर शील के स्नेह को भी उन्होंने नहीं छोड़ा, यही उनका कवच था । इन कुसंस्कारों, रूढ़ियों और वाह्याचार के जंजालों को उन्होंने वेदर्दी के साथ काटा । वे सर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकले

थे। क्षणभर के लिए भी वे नहीं डगमगाये, माथे पर बल नहीं पड़ा वे सच्चे शूर की तरह लड़ते ही रहे। देखिये[1]—

एक समशीर इक सार बजती रहे
खेल कोई सूरमाँ सन्त झेले।
काम—दलजीति करि क्रोध पै माल करि
परमसुख—धाय तहँ सुरति मेले।
सील से नेह करि ज्ञान को खड़गले
आप चौगान में खेल खेले।
कथे कबीर, सोइ संतजन सूरमा
सीस को सौंपकरि करम ठेले॥'[2]

हरिऔधजी के अनुसार कबीर साहब का काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उच्च कोटि का है। कबीर ने 'मसि कागज छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ' ऐसा अपने बारे में कहा है तब वे अपनी रचनाओं को लिखते ऐसा तो कतई संभव नहीं था। कबीर के नाम पर बहुत से संग्रह निकल चुके हैं। अभी-अभी डा० पारसनाथ तिवारीजी ने कबीर के अनेक पदों को, साखियों को, रमैनियों को कई पांडुलिपियों के सहारे वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर तथा परख कर हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय से 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन कराया है। कबीर पर भविष्य में होने वाले अनुशीलनों में इसका अध्ययन महत्वपूर्ण होगा। यह पुस्तक द्रष्टव्य है।[3] वैसे तो नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी की कबीर ग्रन्थावली महत्वपूर्ण है ही। कबीर बहुश्रुत थे, सत्सङ्ग करने वाले थे। उनके गुरु रामानन्द भक्ति का एक उदार और सर्वसंग्राहक मार्ग निकाल रहे थे। इस मार्ग में जाँति-पाँति का भेद, तथा खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। कबीर ने रामनाम रामानन्द से लिया अवश्य पर उनके राम साकार धनुर्धारी राम न रहकर निर्गुण राम और उसके भी परे परब्रह्म के पर्याय बन गए। उनका यह कथन प्रसिद्ध ही है—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

---

१. कबीर—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

२. शब्दावली, पृ० १०६।

३. कबीर ग्रंथावली—पारसनाथ तिवारी हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

तथा

हमारे राम-रहीम-करीमा, कैसो अलह-राम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और दूजा न कोई ॥[1]

यहाँ पर व्यवहृत 'अल्लाह' शब्द मुसलमानी धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू संस्कृति का है ऐसा यदि हमारा मत हो तो कबीर दोनों को सलाम करते हैं, ऐसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का मत है, जो ठीक ही है ।[2] कबीर सूफी मुसलमानों का भी सत्संग करते थे । इसी से कुछ लोग शेख़तकी को कबीर का गुरु मानते है । पर गुरु को जिस आदर की भावना से अभिहित किया जाता है उस तरह तकी का नाम उन्होंने कहीं भी नहीं लिया है जैसे—'घट-घट है अविनासी, सुनहुँ तकी तुम शेख ।' यहाँ पर कबीर शेख तकी को उपदेश देते हुए से जान पड़ते है । सत्सङ्ग के द्वारा कबीर ने उपयुक्त बातों का अपने भीतर संग्रह कर लिया था । अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी बड़ा नहीं मानते थे । धक्कामार शैली में अक्खड़ता से वे सबकी खबर लिया करते और जो कुछ कहते उसे अपना वचन मानने को कहते थे ।

शेख अकरदी सकरदीं तुम मानहुँ वचन हमार ।
आदि अन्त औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार ॥[3]

कबीर ने ब्रह्ममार्गी निरूपण को अपने तक ही सीमित न रखकर उस ब्रह्म को सूफियों की तरह केवल उपासना का विषय न बनाकर उसे प्रेम का विषय बनाया । उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की काया-साधना को प्रश्रय दिया आचार्य शुक्लजी का यह कथन है कि[4]—'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक-रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया । उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट परिलक्षित होते हैं ।' कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिए डा० रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' यह ग्रन्थ दृष्टव्य है । रहस्यवादी के अनुभव स्वसंवेद्य होने से कबीर इस अनुभूति को 'गूँगे की शर्करा' कहते हैं । इस रहस्यानुभूति की दशा का वर्णन कबीर के शब्दों में इस प्रकार है[5]—

---

१. कबीर ग्रंथावली पद ५८—बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ० १०६ ।
२. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४ ।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ७६ ।
४. ,, ,, ,, पृ० ७७ ।
५. कबीर ग्रंथावली, ७, ६ पृ० १ ।

सतगुरु साँचा सुरिवां, सबद जुबाह्या एक ।
लागत ही में मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ।।
सतगुर लई कमांण करि, वाहण लागा तीर ।
एक जु वाह्या प्रीति सूँ भीतरि रह्या सरीर ।।

इस अनुभूति का परिणाम साधक पर जिस प्रकार से होता है उसका वर्णन कवीर के शब्दों में—

कबीर बादल प्रेम का हम परि बरस्या आई ।
अन्तर भीगी आतमा हरी भई बन गाई ।।[1]

इस अनुभूति में अतृप्ति बराबर बनी ही रहती है । वह साधक को अर्थात् उसके शरीर को एक दीपक जैसा बना देते हैं । इस दीपक में प्राणों की बत्ती जलती है । वह रक्त के स्नेह से भरा रहता है और उसके प्रकाश में वह अपने इष्ट की झाँकी देख लेता है । कबीर अपने को 'हेरे राम मैं तो राम की बहुरिया' कहते हैं तो कभी अन्यत्र अपने को 'कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ । गले राम की जेवड़ी जित देखो तित जाऊँ ।।' भी कहते हैं । विरह की तीव्रतम अवस्था, साधक की सिद्धावस्था, अव्यभिचारी पातिव्रत्य-पूर्णनिष्ठा, कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेने का प्रखर आत्मविश्वास, घर फूँक मस्ती और जीवात्मा तथा परमात्मा की ऐक्य अद्वैत भावना भी वे प्रदर्शित करते हैं । इस तरह की आत्म तत्ववेत्ता की दशा प्राप्त हो जाने पर कबीर का किसी से कोई वैर नहीं है । उनके इस प्रेम पंथ का स्वरूप आसान नहीं है । वह किसी खाला (मौसी) का घर नहीं है क्योंकि—

कबीर यह घर प्रेम का, खालाका घर नाहीं ।
सीस उतारे भुइँ धरै तब पैठे घर माहि ।।
कबीर निजघर प्रेम का, मारग अगम-अगाध ।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम कर स्वाद ।।[2]

अपने राम की प्राप्ति मुफ्त भला कैसे हो सकेगी ? इस साधकावस्था में सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए एक विरले ही शूरवान की तरह प्रतीत होते हैं । अपने ज्ञान को और गुरु को कभी भी संदेह की दृष्टि से नहीं देखते । यदि साधना में कोई कमी रह गई है तो इस कमी का कारण अपने को न मानकर वे इस कमीका कारण साधन में या उसकी प्रक्रिया में ही हो सकता है ऐसा उनका विश्वास था । कबीर का व्यक्तित्व समझने में इससे सहायता हो सकती है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली ३४, पृ० ४ ।
२. ,, ६६, १६–२० ।

कबीर का पालन जिस जुलाहे ने किया वह उस जुगी वयन जीवि व्यवसाय करने वाली जाति का था जिसका संस्कार ऐसे तत्वों से बना हुआ था जो समाज में मुसलमानों या हिन्दुओं दोनों के द्वारा आदर युक्त भावना से मान्य न था। ये वयनजीवी जाति के लोग नाम मात्र मुस्लिम होने से अपने पुराने योगमार्गीय विश्वासों को लिए हुए अपनी गरीबी में आटा गीला किया करते थे। ऐसे समाज में जाति व्यवस्था की शृङ्खला तर्क और चर्चा का विषय नहीं बन सकती। जिन्दगी और मौत का वह ज्वलन्त प्रश्न होने से ऐसे वयन जीवी सहनशीलता को मौनरूप से अपनाये हुए थे। कबीर का पालन ऐसे ही वयनजीवी जुलाहे दंपति नीरू और नीमा ने किया था। उन्हीं से अपनी वानियों में लापरवाही, फक्कड़ता कबीर ला सके हैं। पंडितों के लिए यह वाणी अटपटी है। कबीर के व्यंग्य कितने तीखे और मार्मिक होते हैं एक बानगी देखने लायक है[1]—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुआ कराइन बहुरि भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसमके मूँड़े दिहिन धराय।
बिछुआ पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसमके मारिन धाय।
गङ्गा न्हाइन, जमुना न्हाइन, नौमन मैल है लिहिन चढ़ाय।
पाँच पचीस के धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आइ गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसों, नाहिं तोर मुकुती जाइन साईं।

द्राविड़ देश से आई हुई भक्ति को रामानन्द उत्तर भारत में ले आये जिसको कबीर ने सातदीपों और नवखण्डों में प्रकट किया।

कबीर का गार्हस्थ्य जीवन—

प्रायः लोग कबीर के साथ लोई का नाम भी लिया जाता है। वह कबीर की शिष्या थी जो आजन्म उनके साथ रही ऐसा लोगों का मत है। कुछ लोई को उनकी परीणिता स्त्री बतलाते हैं और इससे उनको कमाल नामक पुत्र और कमाली नामक पुत्री हुई। एक जगह वे कहते हैं—

रे यामे क्या मेरा, क्या तेरा लाज न मरहिं कहत घर मेरा।

× × ×

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हमतुम बिनसि रहेगा सोई॥

इससे लोई उनकी स्त्री थी इतना तो संभव जान पड़ता है। लोई का नाम भी उनकी रचनाओं में कई जगह मिलता है परन्तु एक स्थल पर 'धनिया' भी नाम

१. कबीर वचनावली, पृ० १४४।

मिलता है जिसे लोगों ने 'रमजनिया' कहना आरम्भ कर दिया। एक छोटे से परिवार में रहकर जव अपने माता पिता का देहान्त हो गया तव अपने पैतृक व्यवसाय को वे सम्हाले रहे। इस कताई-बुनाई से आय इतनी नहीं हो पाती थी जिसमें वे सरलतापूर्वक गुजार सकते। पर उनकी संतोषी प्रवृत्ति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् वे पर्याप्त मात्रा में थान तैयार नहीं कर पाते थे। और न वचत ही संभव थी। वैसे उनके यहाँ सदा साधु संतों की भीड़ वनी ही रहती थी। अतः उनके स्वागत सत्कार के लिए कुछ न कुछ करना ही पड़ता था। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निरन्तर ऐसे अतिथियों के घर पर आने के कारण उन्हें कई वार कष्ट झेलना पड़ा था।

कवीर की रचनाएँ—

उनकी यह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध ही है—

'मसि विनु द्वात कलम विनु कागज,
विनु अच्छर सुधि होई।'[1]

उनकी दूसरी साखी तो सर्वश्रुत है[2]—

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ।
चरिऊ जुग को महातम, मुखहिं जनाई वात॥

उपदेश के लिए कवीर ने लिखित साधन की आवश्यकता नहीं समझी फलतः मौखिक रूप में ही उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण वातें सवसे प्रत्यक्ष ही कही। कवीर की मूल कृतियों का कोई प्रामाणित सग्रह नहीं मिलता। आदि ग्रन्थ में जिसे ग्रन्थ साहव कहते हैं उसमें कवीर रचित पद है। सदगुरु की वानियों का कहीं कोई पता नहीं है। इस विषय में हाल ही में जितनी भी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ कवीर की मिलीं तथा उनमें उनके जितने पद, रमैनियाँ और साखियाँ मिली हैं उनकी कुल संख्या सोलह मौ पद, साढ़े चार हजार साखियाँ और एक सौ चौतीस रमैनियाँ है। ऐसा इन सब का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन और संपादन तथा पाठ निर्धारण करने वाले डा० पारसनाथ तिवारी का निवेदन है।[3]

इसी सामग्री का वैज्ञानिक और कवीर कृत स्वरूप निर्धारण कर डा० पारसनाथ तिवारीजी ने इनकी प्रामाणिक संख्या निर्धारित की है जो इस प्रकार है—पद संख्या २००, रमैनी २१ तथा साखियाँ ७४४ हैं।[4]

---

१. कवीर वीजक, पृ० १५।
२. कवीर वीजक, कवीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, पृ० १६०। १८७।
३. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी-प्रस्तावना (अ)।
४. „ „ —परिशिष्ट, पृ० २४७–२७

अन्य लोगों के अनुसार कबीर की रचनाओं का ऐसा लेखा-जोखा मिलता है।

१—विलसन साहब कबीर की आठ रचनाओं का उल्लेख करते हैं।[१]

२—वेस्टकॉट महोदय के अनुसार यह संख्या बयासी तक पहुँच जाती है।

३—कबीर बीजक में कबीर की सारी रचनाएँ संग्रहीत हैं ऐसा मिश्र-बंधुओं का मत है। यही मत कबीर पंथियों का भी है।

४—डा० रामकुमार वर्मा अपनी 'संत कबीर' की प्रस्तावना में, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा में की गई संवत् १९४८ से संवत १९७९ तक की गई खोजों के आधार पर बतलाते हैं कि स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में यह संख्या अधिक से अधिक ५६ होगी। वे ग्रन्थ साहब का पाठ विश्वसनीय मानते हैं।[२]

५—की महोदय ने अपनी पुस्तक में महत्वपूर्ण उल्लेख किये हैं।[३]

६—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य में निर्गुण संप्रदाय' में इस विषय पर विचार किया गया है।

७—डा० क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित कबीर के पद मौखिक परम्परा से सुनकर संग्रहीत किये गये हैं।

डा० बड़थ्वाल आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रकाशित पदों का उल्लेख करते हैं तथा वेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित चार अन्य सग्रहों, वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित साखियों आदि ग्रन्थों, कबीर बीजक, कबीर ग्रन्थावली आदि संग्रहों की विस्तृत चर्चा करते हैं।

८—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी इन सभी पुस्तकों का विवेचन करते हैं।

९—डा० रामरतन भटनागर इनमें से कुछ को कबीर की निश्चित मानते हैं तथा अन्यको कबीरकृत नहीं मानते। उदाहरणके लिये वे क्रमशः बीजक, आदि ग्रन्थ और कबीर ग्रन्थावली के नाम लेकर उनका वर्णन करते हैं।

कबीर पंथियों के लिए कबीर-बीजक एक विश्वसनीय और पूज्य ग्रन्थ है। कबीर की एक साखी है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होइ॥

---

१. ए स्केच ऑफ दि रेलिजस सेक्ट्स एँण्ड दि हिन्दूज़—विलसन।

२. संत कबीर—रामकुमार वर्मा।

३. कबीर एँण्ड हिज फालोअर्स—की।

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थों और पोथियों इत्यादि को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्हें तो ग्रन्थ रचना के बदले मौखिक प्रवचनों का अधिक मूल्य है। वे इसे प्रचारकार्य का साधन स्वीकार कर चुके हैं। आज तो कबीर की रचनाएँ विभिन्न संग्रहों के रूप में ही हमें उपलब्ध हैं। इनमें पद, रमैनी, साखियाँ, दोहे आदि संग्रहीत हैं। वैसे ये पंचबानी सर्वङ्गी आदि ग्रन्थ जैसे पुराने बड़े संग्रहों में भी ये संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त 'कबीर बीजक' 'कबीर की बानी', 'सत्य कबीर की साखी' जैसे स्वतन्त्र संग्रह भी मिलते हैं। इन रचनाओं की भाषा पर पूरबी हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं राजस्थानी तो कहीं-कहीं पंजाबी का पुट और 'सकल सन्त गाथा' जैसी मराठी पुस्तकों में इनके पदों पर गुजराती एवम् मराठी भाषाओं का रंग चढ़ा हुआ सा जान पड़ता है।

१०—'कबीर ग्रन्थावली' के संपादक स्व० श्यामसुन्दरदास ने अपनी भूमिका में बतलाया है कि यह ग्रन्थ दो पुरानी प्रतियों पर आधारित है जिसमें एक का लिपि-काल संवत् १५६१ और दूसरी का संवत् १८८१ है। प्रथम में दूसरी से १३१ साखियाँ तथा ५ पद अधिक हैं। कबीर बीजक की रमैनियों के क्रम के सम्बन्ध में ऐसी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के दो शिष्य 'जग्गोदास' और 'भग्गोदास' थे। इनकी माँ को उन्होंने कबीर-बीजक की मूल प्रति अपने अन्तकाल-पूर्व दी थी। फिर दोनों में वाद-विवाद चला कि उक्त ग्रन्थ उसकी निजी सम्पत्ति है। कोई भी अपने हाथ से उसे दूसरे के हाथ में देना स्वीकार न करता था। तब माँ ने बीच बचाव करने की दृष्टि से दोनों को ही उसे दे दिया। किन्तु एक की प्रति की रमैनियों का आरम्भ 'जीवरूप' वाली रमैनी से तथा दूसरी प्रति का आरम्भ 'अन्तरज्योति' वाली रमैनी से होना स्पष्ट कर दिया।

कबीर-बीजक में संग्रहीत रचनाओं की विशेषता उनमें सृष्टि-रचना विषयक वर्णनों की प्रचुरता है। कबीर साहब किसी दार्शनिक की भाँति विश्व के मूल तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, उसके विकासक्रम का भी प्रश्न छेड़ते हैं। कबीर पंथी इसे बहुत महत्व देते हैं। पौराणिकता युक्त उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में भी इसमें कई बातें मिलती हैं। पर इससे हम उनके सुन्दरतम लौकिक जीवन के स्वरूप को देखने समझने से वंचित हो जाते हैं। कबीर जन-जीवन के सम्यक उत्थान के हेतु एक सुधारक, तार्किक प्रचारक, लोक चतुर व्यंग्यकर्ता व्यक्ति भी हैं।

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है, शैली धक्कामार है। उलट-बाँसियो जैसी नाथ पंथियों की अक्खड़ता-पूर्ण शैली उनको विरासत में मिली है। कहते हैं कि कबीर के पुत्र कमाल उनके बड़े विरोधी थे। कबीर की उक्ति प्रसिद्ध ही है—

डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरिका सुमिरन छांड़ि के, घर ले आया माल॥

कबीर का जीवन अन्धविश्वासों का घोर विरोध करने में ही बीता। वास्तव में जन्म से अन्त तक कबीर का जीवन समस्यामूलक है। उनका अपना जीवन तथा दैनंदिन आचरण और उनकी कृतियाँ ही इन समस्याओं के उत्तम हल हैं। मोक्षदापुरी-वाराणसी में रहकर जो मगहर में मरते हैं वे नरक में जाते हैं। इस अन्धविश्वास को दूर करने के हेतु कबीर मगहर जाकर मरे। उनका कथन है—

'जो कासी तन तजै कबीरा। तो रामहि कहा निहोरा रे॥'

कबीर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने वाले थे। पर उन्हें अपनी मुक्ति में चरम विश्वास था इसीलिए उन्होंने कहा 'मुश्रा कबीर रमै श्रीराम' रामनाम का जप करते-करते वे शरीर त्यागने जा रहे थे। कबीर की अंत्येष्टी क्रिया के बारे में भी विलक्षण लोक-प्रवाद प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मरने पर जब उनके शव पर से चादर हटाई गई तो वहाँ केवल कुछ फूल मिले। हिन्दुओं ने आधे फूलों का अग्नि संस्कार किया और मुसलमानों ने अपने हिस्सों के फूलों को लेकर मगहर में ही उन पर कब्र बनाई। हिन्दुओं ने फूलों की रक्षा को लेकर वाराणसी में समाधिस्थ किया। यह स्थान 'कबीर-चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

कबीर निर्गुण और सगुण के परे की सत्य सत्ता के परम भक्त थे। वैसे उनको निर्गुणियों में गिना जाता है। ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति होती है ऐसा उनका मत है[1]—

पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ॥

कबीर का कहना था 'मैं कहता आँखिन की देखी।' कबीर कोरे ज्ञानमार्गी शुष्क निर्गुणी नहीं हैं। अपनी प्रेम-भक्ति-मूला साधना का आरम्भ वे सब कुछ छोड़कर, उत्कृष्ट साहस के साथ ज्ञान के बोझ को न ढोते हुए भगवद् प्रेम पर दृष्टि रखकर हृदय से कर चुके थे। उनके लिए प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन। वे व्रत, रोजा, पूजा, नमाज आदि कुछ भी नहीं मानते। उनका यह कथन है—

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरुक दहूँ नहीं मेरा।
राखूँ व्रत न मुहरम जाना, तिसही सुमिरूँ जो रहे निदांनां॥
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमस्कारूँ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—कबीर साखी १७, पृ० १३।

नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तो क्या दूजा ।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा ॥

यह विवेचन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कवीर ग्रन्थावली', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, 'हिन्दी साहित्य', 'कवीर साहित्य की परख' आदि ग्रन्थों पर आधारित है, जो द्रष्टव्य है ।

कबीर का भाषा पर जबरदस्त अधिकार था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का यह कथन ठीक ही है कि, 'हिन्दी साहित्य के हजार वर्षो के इतिहास में कवीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं पैदा हुआ।'[1] कबीर वास्तव में भक्त ही थे। कबीर ने अपनी रचना से अपनी साफ और जोरदार भाषा में अपने तत्वों को ध्वनित किया है। उनकी भाषा में परम्परा से चली आती हुई विशेषताएँ वर्तमान है।

कबीर का युग ऐसा था जब कि उत्तर भारत में मुसलमानी शासन विद्यमान था। बहुजन समाज पर हठयोगियों के प्रभाव का प्रावल्य था। समाज की ऊँच नीच भावना उपहास और आक्रमण का विषय थी पर दूसरों के लिए वही मर्यादा और स्फूर्ति का विषय बन गई थी। वज्रयानी और नाथपंथी योगी डटकर जाति भेद पर आघात कर रहे थे। बाह्याचार और उन्मूलक-श्रेष्ठता को फटकारते हुए केवल चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते हुए माया के गुलाम गृहस्थों से अपने को वे श्रेष्ठ समझते थे। नाथ सम्प्रदाय से यह अक्खड़ता उन्हें प्राप्त हुई थी। देश-भ्रमण, तीर्थाटन आदि कबीर ने सत्सङ्ग और सन्तों के अनुभवों को सुनने के हेतु किये थे। वे दक्षिण में पंढरपुर भी गए थे। नामदेव कबीर से बड़े थे और कबीर ने उन का नाम सुना था। पंजाब में नामदेव का दीर्घकालीन निवास नामदेव के कबीर पर पड़े हुए प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान जाने अनजाने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरह से होता ही रहता है। कबीर के पदों में 'विठ्ठल' का उल्लेख, नामदेव के पदों का ग्रन्थसाहब में समावेश ये सब इस आदान प्रदान के उदाहरण या फल कहे जा सकते हैं। अनेक साधनाओं के विभिन्न मार्गो को जानकर कबीर ने अपने ढङ्ग से उनको ग्रहण कर लिया है। कबीर की भावात्मक और साधनामूलक रहस्यवादी अनुभूतियों को स्वसंवेद्य बनाने के लिये उस युग की इन सभी साधनाओं में बैठना पड़ेगा।

कबीर की हस्तलिखित पोथियाँ न होने से उनके नाम पर संग्रह की गई अनेक पुस्तकों में उनकी प्रामाणिक भाषा का और शैली का ज्ञान प्राप्त करना

१. कबीर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१७ ।

अत्यन्त कठिन है। 'आदिग्रन्थ' मुद्रित किया गया है। इस संग्रह की भाषा प्राचीनता की दृष्टि से विचारणीय है। वैसे प्रामाणिकता फिर भी विश्वसनीय नहीं है। बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' में कबीर का मूलरूप अधिक सुरक्षित है। इधर नयी 'कबीर ग्रन्थावली' डा० पारसनाथ तिवारीजी की और भी अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करती है। आगे के अनुसंधानों के लिए इस कृति का विशेष महत्व होगा।

'कबीर-बीजक' के भी कई संस्करण हैं तथा इस पुस्तक का कबीर-सम्प्रदाय में विशेष प्रतिष्ठायुक्त स्थान है। उसकी रमैनियाँ ही उसका प्रमुख अंश है। भाषा की आधुनिकता भी इसमें विद्यमान है और यह वर्तमान रूप संभवतः १८ वीं शती का होगा। कबीर के बाद चल पड़े हुए कबीर सम्प्रदाय की एक धार्मिक पुस्तक के नाते उसका महत्व मान्य करना ही पड़ेगा।

'कबीर अपने युग के सब से बड़े क्रान्तदर्शी हैं। सहज सत्य की पहचान उनको है। उनका प्रेम एक आदर्श नैष्ठिक भक्त का प्रेम है। साधु होकर भी वे अगृहस्थ नहीं, वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं, मुसलमान होकर भी मुसलमान नहीं, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं है। वे भगवान् नृसिंहावतार की प्रतिमूर्ति थे।'[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का उक्त मत समीचीन और यथार्थ ही है।

तुलसीदास :

तुलसीदास एक महापुरुष थे। ग्रियरसन उनको बुद्ध-देव के बाद सबसे बड़ा लोक नायक मानते हैं। उनकी 'रामचरित मानस उत्तर भारत में ही नहीं वरन् सारे भारत में इस तरह प्रचारित है जितनी बायबल भी नहीं है। वैसे कभी-कभी उसका प्रचार बायबल की तरह है ऐसी उक्तियाँ सुनाई पड़ जाती हैं। इतना होने पर भी गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्म-स्थान और उनकी जन्मतिथि का निश्चित पता नहीं चलता। तुलसीदास के साथ कोई न कोई सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपने गाँव का सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी बहुत बार उभरती हुई दिखाई देती है। तुलसी की कृतियों में अपने युग के समाज का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है।

लोक-मर्यादा से युक्त भक्ति का मार्ग लोग तिरस्कार की दृष्टि से गर्ह्य मानते थे और अपने मनमाने ढङ्ग से चलते थे। तुलसी की उक्ति में उसका स्वरूप झाँक उठा है[२]—

श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ, संयुत विरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहि पंथ अनेक॥

---

१. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२. दोहावली दो० ५५५।

मराठी में ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' को लेकर विद्वानों ने जितने ग्रन्थ लिखे उनकी संख्या सबसे अधिक है। ठीक उसी तरह हिन्दी में तुलसीदासजी पर वरेण्य एवम् मूर्धन्य चोटी के विद्वानों ने अपनी लौह लेखनी से अनेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रसूत की हैं। इनमें श्यामसुन्दरदासजी का गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचन्द्र शुक्लजी का तुलसीदास'. डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डा० बलदेव मिश्र का 'तुलसी-दर्शन', डा० भगीरथ मिश्र का 'तुलसी-रसायन', डा०राजपति दीक्षित का 'तुलसीदास और उनका युग' आचार्य विश्वनाथजी का 'तुलसीदास' जैसे ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हैं।

तुलसी के युग में लोग साधना के मनमाने मार्ग ढूँढ़ निकाल रहे थे। वेदों और पुराणों के निंदक बनकर भक्ति को अपनाने के बदले केवल उदरभरणार्थ धर्म सिखाने वाले लोगों को देखकर तुलसी की आत्मा रो उठती थी। इसीलिये वे कह उठे—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं वदति कलि, निंदहि वेद पुरान ॥[1]

और

वरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी ॥

तुलसीदासजी अपने आराध्य राम के प्रति एकनिष्ठापूर्ण भक्ति भावना रखते थे। वे सगुन और अगुन के भेद को देखने वाले न थे। पर समाज इतना अन्धा हो गया था कि पेट के लिए बेटा-बेटी तक को बेचना उन्हें अधर्म नहीं मालूम होता था। तुलसीदासजी नीलवर्ण के सांवले रामचन्द्रजी के नयन–मनोहारी रूप को देखकर गदगद हो जाते थे। मतलब यह कि तुलसीदासजी में विश्वास अखंड था, और अध्ययन भी उनका गहन और गम्भीर था।

तुलसीदास की जीवनी के सूत्र—

तुलसीदास ने अपने बारेमें यत्र तत्र अपने ग्रन्थों में कहीं कुछ लिख दिया है। वैसे अन्य बाहरी सामग्री में ये पुस्तकें हैं—(१) 'भक्तमाल' नाभादासकृत, (२) प्रियादास की भक्तमाल पर रची गई टीका, (३) गोसाईं गोकुलनाथकृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।' इसके अतिरिक्त दो और पुस्तकें हैं जिन्हें विशेष प्रामाणिक नहीं माना जाता। वे ग्रन्थ ये हैं—बेनी माधवदास रचित मूल गोसाईं चरित' और कोई बाबा रघुवरदास रचित 'तुलसी-चरित'।

---

१. दोहावली—दो, ५५४।

तुलसीदासजी नन्ददास के भाई थे, गुसाँई विठ्ठलनाथ से मिले थे, तथा राम के अनन्य भक्त थे और भाषा में रामायण लिखी थी। इस प्रकार की सूचना हमें वैष्णवन की वार्ता से प्राप्त होती है। तुलसीदासजी राजापुर के रहने वाले सरवरिया ब्राह्मण थे। वैसे सूकरखेत या सोरों उनकी जन्मभूमि मानी जाती रही है। तुलसीदासजी का जन्म सन् १५३२ में हुआ। वे सम्राट अकवर से केवल दस वर्ष वड़े थे। तुलसी के युग में दो मुगल सम्राट हो गये हैं एक अकवर और दूसरे जहाँगीर। तुलसी का जन्म संवत् १५५४ माना जाता है—

पन्द्रह से चौवन विषै, कालिन्दीके तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेऊ सरीर॥

अव्दुल रहीम खानखाना तुलसीदास के प्रेमियों में से थे। तुलसी ने एक वार एक दोहे का चरण वनाकर रहीम के पास भेजा—

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सव चाहत अस होय।'
गोद लिये हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि रहीम ने दूसरा चरण वनाकर दोहा पूर्ण कर भेजा था। इसमें 'हुलसी' शव्द इनकी माता के लिए आया है। 'रामचरित मानस' में एक जगह 'रामहि प्रिय पावन–तुलसी–सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी–सी।' यहाँ पर भी 'हुलसी' शव्द से तुलसी की माता का संकेत प्राप्त होता है। ये अभुक्त–मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे तथा अपनी माता के गर्भ में साल भर रहे। ऐसे अशुभ–लक्षणी वालक के पैदा होते ही उनके माँ वाप ने उनको छोड़ दिया। उनका अपना स्वयं कथन 'कवितावली' में मिलता है जो इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने वाला है—[1]

'मातुपिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।'

मुनिया नाम की दासी ने इनका पालन पोषण कुछ दिनों तक किया। वाद में वह भी मर गई। विनय पत्रिका में वे कहते हैं—'जनक जननी तज्ये जनमि करम विनु विधिहु सृज्यो अवडेरे,' 'यथा तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हू।' किसी तरह वालक तुलसी के वचपन के दिन वीते। अन्त में वावा नरहरिदास या नरहर्यानन्द नामी एक महात्मा ने इनको अपने यहाँ रख लिया। इन्हीं गुरु से उन्होंने रामकथा सुनी। काशी में एक विद्वान शेष सनातनजी रहते थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामी तुलसीदास अपनी जन्मभूमि राजापुर

१. कवितावली उत्तरकाण्ड—७३।

लौट आए। उनका वचपन का नाम रामवोला था। कवितावली में इसे वे एक स्थान पर स्पष्ट करते हैं[1]—'राम वोला नाम है गुलाम राम साहि को' इसी तरह विनय पत्रिका में वे कहते हैं—'राम को गुलाम नाम रामवोला राख्यौ राम'। वाद में वे तुलसीदासजी के नाम से ही पहचाने जाने लगे। अपने गुरु की वंदना वालकाण्ड में वे इस प्रकार करते हैं—

'वंदऊ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर–निकर॥'[2]

इसमें 'नर-रूप-हरि' के आधार पर कुछ विद्वानों ने नरहरिदास को इनका गुरु माना है। अपने गुरु से वार-वार उन्होंने रामकथा सुनी थी। इसके वारे में वे कहते हैं—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनीं कथा सो सूकर खेत। समुझि नहीं तस वालपन, तव अति रहेऊ अचेत॥ तदपि कही गुरु वारहि वाँरा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥' वे रामकथा सुनाने लगे। उनके गुणों पर मुग्ध होकर दीनवंधु पाठक ने अपनी कन्या रत्नावली का उनसे व्याह कर दिया। उन्होंने तुलसीदासजी का विनय और शील देखकर ही यह व्याह तय किया था। अपनी पत्नी पर वे वहुत अनुरक्त थे। एक वार वह अपने मायके गई हुई थी। तव वाढ़ आई हुई नदी को पारकर आधी रात को वे अपनी पत्नी से मिलने पहुँचे, तव उस स्त्री ने उनसे कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयेहु नाथ।
धिक–धिक ऐसे प्रेम को कहाँ कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भव भीति।

अपनी पत्नी से ये वचन सुनकर उनके अन्तःकरण की आँखें खुल गईं। वे विरक्त होकर काशी में रहने लगे। काशी से अयोध्या में जाकर रहे। फिर तीर्थ यात्रा करते-करते रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, द्वारका वदरिकाश्रम, कैलास और मानस-रोवर तक हो आये। अयोध्या में जाकर रामचरित मानस रचना आरम्भ कर दिया। उसे दो वर्ष सात मास में समाप्त किया। किष्किन्धा काण्ड काशी में रचा गया। रामायण पूरी करके वे वाराणसी में ही रहे। यह वात प्रसिद्ध है कि—

'संवत सोरह सौ इकतीसा। करहुँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम-जन्म श्रुति गावहिं।'

---

१. कवितावली उत्तरकाण्ड, १००।

२. रामचरित मानस वालकांड, ५।

तुलसीकृत कृतियों के नाम—

तुलसीदासजी की कुल बारह कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमें पाँच बड़े और सात छोटे ग्रन्थ हैं। दोहावली, कवित्त रामायण अर्थात कवितावली, गीतावली रामचरित मानस, विनय पत्रिका ये बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, वैराग्य-संदीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे ग्रन्थ हैं।

संस्कृत का पक्ष छोड़कर तुलसी ने भाषा का पक्ष प्रतिपादित किया क्योंकि वे कहते थे—

> का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साच।
> कामजु आवै कामरी काले करिअ कुमाच॥

उनका स्वतन्त्र स्वभाव ऐसा था कि वे बिलकुल निश्चिन्त थे।

> 'मेरे जाति-पाँती न चहौं काहू की जाति पाँति,
> मोरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
> साधु कै असाधु, कै भलो, कै पोच सोच कहा,
> का काहू के द्वार परो? जो हौं सो हौं राम को॥
> धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ, जुलहा कहो कोऊ।
> काहू की बेटी से बेटा न ब्याहवे, काहू की जाति बिगारो न कोऊ॥
> तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछु दोऊ।
> माँगिकै खैबो मसीत के सोइबो, लैबेको एक न देबे को दोऊ॥'[1]

रामचन्द्रजी की भक्ति में उनका हृदय दुराव छिपाव युक्त नहीं है। देखिये—

> 'सूधे मन, सूधे वचन सूधी सब करतूति।
> तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥'

उनके समय में गोरख पंथी साधु योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती सी दिखाई पड़ी तभी तो उनको कहना पड़ा—

> 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
> निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है॥'

वे ईश्वर को अपने भीतर देखने की अपेक्षा बाहर के लिए विवेचन करते हैं। 'अंतर्यामिहु ते बड़ बाहर जामी है राम जो नाम लिए ते। पैज परे प्रहलादहु को

१. कवितावली उ. ८४।

प्रकटे प्रभु पाहन ते न हिये ते ।। 'यदि परमात्मा को देखना है तो उनको व्यक्त जगत् के सम्बन्ध से देखना चाहिए। वे तो 'सियाराममय सब जगजानी। करहूँ प्रनाम जोरि जुग पानी' की भावना से सबको देखते हैं। उनकी विनम्रता ही उनसे इस प्रकार मुखर हो उठती है—

'कवि न होऊं नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउं लिखि कागद कोरे।
कवि न होऊं नहिं चतुर कहावऊं। मति अनुरूप रामगुन गावऊं ।।'[1]

तुलसीदासजी की कृतियों का संक्षिप्त परिचय—

रामचरितमानस एक प्रबन्ध काव्य है। उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के मधुर संयोग से यह कृति सरस और सुरस बन पड़ी है। अपने 'स्वान्तसुखाय' 'रघुनाथ गाथा' को भाषा में निबद्ध करते हुए बहुजन हिताय अपनी मंजुल मति से वे उसे प्रस्तुत करते हैं। यह ग्रन्थ तुलसी ने संवत् १६३१ में विक्रमी चैत्र शुक्ल ९ मंगलवार को आरम्भ किया है। इसके सात काण्ड हैं। दोहा, चौपाई के अतिरिक्त बीच-बीच में छंदों का प्रयोग भी हुआ है। ये छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनों हैं। चार-चार चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा रखा गया है। रामचरित मानस के अन्त में इस पर तुलसीदासजी ने इस शैली के बारे में लिखा है[2]—

रघुवंश भूषन चरित यह नर कहहि सुनहि जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं।।
सत पंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरैं।
दारुण अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुवर हरैं।।

५१०० चौपाई या १०२०० अर्धालियों की संख्या इस पूरे ग्रन्थ में है। इसके नायक रामचन्द्र एक मध्ययुगीन नायक के रूप में हमारे सामने नहीं आते वरन् वे सबसे बड़े देवताके रूपमें आते हैं जो 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्'। इस सूत्र के अनुसार राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित मुनियों को अभय देते हैं। उनकी यह प्रतिज्ञा है—'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाय पन कीन्ह' इस प्रतिज्ञा का वे बराबर पालन करते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस कथा को स्वयम् शिवजी ने रचा है। अपने गुरु से बचपन में इसे सुनकर स्मृति से वे उसे कहते हैं। शंकर ने इसे पार्वती को सुनाया था। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को यह

१. रामचरित मानस बालकाण्ड—८। ८ तथा ११। १।
२. ,, उत्तरकाण्ड—१३०।

कथा उनकी प्रार्थना किये जाने पर सुनाई है। काक भुसुंडी गरुड़ को इस कथा की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचारों की व्याख्या कर सुनाते हैं। महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण इसमें आ गए हैं। सुभाषित और काव्योक्तियाँ ऐसी हैं जो भारतीय जनता की सूक्तियाँ बनकर लोगों की जिह्वा पर सुअवसर पर विराजमान हो जाती हैं। सप्तकांडों के आरम्भ में संस्कृत श्लोक है, जिनमें देवताओं की स्तुति है और कविता की कथावस्तु का संकेत मिलता है। भाषा परिष्कृत अवधी है। तुलसी ने उसे माँजकर सुव्यवस्थित कर दिया है। उन्हें यह शैली जायसी से प्राप्त हुई थी। दार्शनिक के रूप में उनका रूप ऐसा है जो ज्ञान और तर्क के सहारे अद्वैत की स्थिति तक पहुँच जाता है। इस पारमार्थिक दृष्टि से केवल परब्रह्म की सत्ता के रूप में ब्रह्म स्थित है। यह 'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा' रूप के साथ ज्ञान-गिरा-गोतील भी है। राम की प्रभुताई विना रामकृपा के नहीं जानी जा सकती। उनकी रामकथा का यह स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', अध्यात्म रामायण', 'कवि जयदेव के प्रसन्न राघव', हनुमन्नाटक' और अन्य संस्कृत ग्रन्थों से उन्होंने लिये हैं। भागवत और गीता से भी उन्होंने आधारभूत सामग्री ली है। इसका प्रधान रस शान्त है। महाकाव्य के नाते और रामचरित नायक के लोकोत्तर और मर्यादा पुरुषोत्तम होने के नाते अन्य सभी रसों का यथास्थान यथोचित रूप में प्रयोग हुआ है। अनेक संवादों और कथानकों का गुंफन और गठन परिनिश्चित रूप से हुआ है। जीवन के विविध सांस्कृतिक दृश्य अपने आदर्श स्वरूपों के साथ इसमें विद्यमान है। आस्था के संबल से प्रत्यक्ष अनुभव और विश्वास के साथ ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है इसे रामचरितमानस के महान पात्रों द्वारा तुलसी ने दिखा दिया है।

दोहावली—यह मुक्तक काव्य है। इसमें तुलसीदासजी धर्मोपदेशक, नीतिकार और सूक्तिकार के रूप में सामने आते हैं। तुलसी की भक्ति को चातक के माध्यम से इसमें व्यक्त किया गया है। कूट और आलंकारिक चमत्कार विधान भी इसमें मिलता है। इसका कारण इसका समास-शैली में लिखा जाना है। सुदीर्घ काल में यह रचना लिखी गई है।[१] डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सतसई, दोहावली, हनुमान बाहुक आदि सं० १६६१ से १६८० तक लिखी गई रचनाएँ हैं। तुलसीकी अन्य रचनाओंमें से भी कुछ दोहे इसमें मिलते है। डा. भगीरथ मिश्रका यह कथन ठीक ही है कि रुद्रबीसी का उल्लेख उसे संवत् १६५६ से १६७६ तक की तक की रचना होने का संकेत करता है।[२] इसमें कई विषयों को वैविध्य विवेचन के लिए तुलसी ने अपनाया है।

---

१. **तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।**
२. **तुलसीरसायन – डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७६।**

कवितावली और हनुमान बाहुक—

इन दोनों की एक ही प्रति मिलती है तथा केवल कवितावली और केवल बाहुक की अलग-अलग प्रतियाँ मिलती हैं। बाहुक कवितावली के परिशिष्ट की भाँति अधिकतर मिलता है। बाहुक की रचना संवत् १६८० की है क्योंकि यह उनकी अन्तिम रचना है। बाहुक में ४४ कवित्त हैं। भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गये कवित्त सवैयों का काण्डों के अनुसार स्फुट संग्रह है। बालकाण्ड और अयोध्या-कांड की शैली साहित्यिक, ललित और मधुर है। लङ्का कांड ओजपूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त है। यह प्रौढ़ रचना है। उत्तर कांड में विभिन्न स्थानों का स्वच्छन्द रूप से स्वतन्त्र वर्णन है। सारे कांडों के विविध प्रसङ्गों पर और जीवन से संबंध रखने वाले विविध हक्कों की झाँकियाँ सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत की गई हैं। तुलसी की अपनी समकालीन दशा, दुर्दशा तथा अपने जीवन के कई संदर्भ कवितावली में मिलते हैं। कलियुग का यथातथ्य वर्णन है। अपनी वृद्धावस्था तथा मृत्यु के निकट सम्बन्ध का उल्लेख यथेष्ट रूप से मिलता है। लङ्कादहन तथा युद्ध के सजीव वर्णन और सभी रसों के दर्शन इस मुक्तक काव्य में हो जाते हैं।

रामललानहछू—सोहर छन्द में विवाह के अवसर पर गाने के लिये बनाया गया है। व्यावहारिक और सामाजिक प्रथाओं में भी भगवान् राम चरित्र विषयक सांस्कृतिक और भक्ति का स्वरूप संमिश्र हो जाय इसी बहाने यह रचना की गई है। एक साधारण दूल्हा के रूप में राम प्रस्तुत हैं। उसके फूहड़ और भद्दे गीतों के स्थान पर अच्छे गीत प्रचलित हो जाय यह हेतु तुलसीदासजी का जान पड़ता है। तुलसी की यह प्रारम्भिक रचना है। परन्तु लोकगीत-शैली में लिखी गई यह कृति फिर भी यथातथ्य रूढ़ियों का चित्रण करने वाली और रसिकतापूर्ण है। इसकी भाषा लोकगीतों की अवधी है। यह संवत् १६१६ में अनुमानतः रची गई।[1]

वैराग्य संदीपिनी—यह भी प्रारम्भिक रचना ही मानी जावेगी। चार प्रकरणों में सन्त-सङ्ग, सदाचार तथा वैराग्य आदि से भक्ति का भाव प्राप्त कैसे किया जाय इसका विवेचन किया गया है। ये चार प्रकरण (१) मंगलाचरण (२) संत स्वभाव वर्णन, (३) संत महिमा वर्णन और (४) शान्ति वर्णन हैं। यह कृति वैरागियों और साधुओं के लिये लिखी जान पड़ती है। कुछ लोग इसे तुलसीकृत नहीं मानते।

विनय पत्रिका—इसका नाम 'रामगीतावली' भी है। इसमें कलि के द्वारा सताये जाने पर भगवान् राम के पास हृदय कारुण्य भाव से भेजी गयी अत्यन्त

---

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।

विनम्रतापूर्ण शैली में विनम्र-पत्रिका है इसमें भक्त तुलसी साकार हो उठे हैं। इसे आत्म दैन्य, आत्मग्लानि, आत्मभर्त्सना, बोध, हर्ष, उपालंभ, चिन्ता, विषाद, प्रेम कृतकृत्यता आदि विविध आत्मनिष्ठ मनोभावों का गीति शैली में लिखा गया गीति काव्य कह सकते हैं। अपनी भावगीतियों का ऐसा सुन्दर प्रबंध रूप प्रस्तुत कर अड़िग आस्था से व भक्तिमार्ग पर क्यों चले इसका प्रमाण इसमें उपलब्ध हो जाता है। किसी भावुकता के आवेश में आकर इस राजसोपान पर वे नहीं चले हैं वरन् अनुभूति, तथा सदसदविवेकिनी बुद्धि और अन्तःकरण की सहज प्रेरणा से उन्होंने यह निर्णय लिया है। यह एक तपःपूत साधक का आस्थापूर्ण निश्चयात्मक अटूट और अचूक निर्णय है। तभी तो उन्होंने कहा है—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
× × ×
गुरु कह्यो राम भजन नीको।
मोहि लगत राज डगरो सो।'

विनय पत्रिका का यह पूरा पद ही महत्वपूर्ण है। यह स्वयम् निर्णय और गुरु का आदेश इन दोनों का ऐकमत्य ही तुलसी की सेव्य-सेवक एवं दास्य भक्ति-भावना है। तुलसी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के दर्शन हमें इसमें मिल जाते हैं। रामचरितमानस के बाद उनकी यह उत्तम और श्रेष्ठ कृति है। कोई भी सेवक सीधे अपने प्रमुख कर्मचारी के पास अर्जी नहीं भेजता। वह सब योग्य अधिकारियों के हाथों होती हुई मुख्य अधिकारी तक पहुँचती है। इस दरबारी प्रणाली को तुलसी जानते थे अतः सभी देवताओं की प्रार्थना करते हुए 'राम चरण रति देहु' माँगते हैं तथा अपनी सिफारिश करवाते हैं। जगत्-जननी-जानकीजी से भी वे प्रार्थना करते हैं[2]—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाई।
मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाई॥
जानकी जगजननि जनकी किए बचन सहाई॥'

इस तरह सब के माध्यम से पहुँची हुई अर्जी स्वीकृत होती है और राम कहते हैं[3]—

'बिहँसी रामकह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी सही है॥'

---

१. विनयपत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५७, प० १७३।
२. विनय पत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५४, प० ४७।
३. विनय पत्रिका तुलसीदासजी, पृ० ४२५।

भक्त और भगवान् के परस्पर सम्बन्ध और रघुनाथ विश्वास की यह कृति एक अमोघ प्रमाण है। इसे हम तुलसीदासजी का निजी मनोविश्लेषण कह सकते हैं।

बरवै रामायण—इसमें कुल ६९ छन्द हैं। अपने मित्र रहीम के आग्रह से तुलसीदासजी ने इसे लिखा था। यह सात काण्डों में विभक्त है। मुक्तक रूप में और कलात्मक सौन्दर्य के साथ यह कृति सामने आई है। डा० माताप्रसाद गुप्तजी इसको अन्तिम और अपूर्ण कृतियों में से एक मानते हैं।[1] अवधी का यह एक विशेष छन्द है और अवधी में यह बढ़िया बनता भी है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ संवत् १६६९ में लिखा गया था।

जानकी मंगल और पार्वती मंगल—

ये दोनों ग्रन्थ शैली की दृष्टि से एक से ही हैं। जानकी परिणय और पार्वती परिणय के प्रसङ्गों पर लिखे गये ये खड काव्य हैं। पार्वती-मंगल के एक सौ चौसठ छन्द हैं और जानकी मंगल के २१६ छन्द हैं। पार्वती-मंगल का रचना काल विक्रम संवत् १६४३ है। जानकी-मङ्गल भी इसी के आसपास बना होगा। वैसे डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार यह संवत् १६२६ की कृति है।[2] दोनों सफल खंड काव्य हैं।

गीतावली—यह ललित और गेय पदों का संग्रह है। इसमें भाव की गहराई और तीव्रता अवश्य विद्यमान है। रामचरितमानस के कथानक से इसमें भिन्न कथानक को अपनाया गया है। उत्तरकांड में लवकुश और सीता निष्कासन का भी उल्लेख है। रामराज्य की समृद्धि, राम की दिनचर्या का स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है। कृष्णकाव्य के सांस्कृतिक उत्सवों का भी इस पर पड़ा हुआ प्रभाव परिलक्षित हो जाता है—जैसे दीपावली, हिंडोलोत्सव का वर्णन आदि। शृङ्गार, हास्य, वीर, करुण आदि रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। यह कृति अनुमानतः संवत् १६५८ में रची गई।[3] यह भी तुलसी की प्रौढ़ रचना है और वह तुलसी की कृतियों में महत्वपूर्ण है।

कृष्णगीतावली—यह श्रीकृष्ण लीला के पदों का संग्रह है। इसमें ६१ पद हैं और कृष्ण का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इसमें मुहावरेदार ब्रजभाषा में कृष्ण बाललीला का सुन्दर अभिव्यंजन हुआ है, और सगुणोपासना का महत्व,

---

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७६।

२. ,, ,, पृ० २३८, २७६।

३. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २४८, २७६।

गोपियों के प्रेम की अनन्यता आदि बातें सरसता से निश्चित हैं। तुलसी के अवधी और व्रज भाषा के अधिकार को यह कृति स्पष्ट कर देती है। सूर की कृति के साथ यह तुलनीय भी है। इसकी रचना गीतावली के साथ या बाद में हुई जान पड़ती है।

रामाज्ञा प्रश्न—इसका रचनाकाल संवत् १६२१ है। इसमें सात-सात दोहों के सात सप्तकों वाले सात सर्ग हैं। स्वयम् कवि अपने रचनाकाल का संकेत देता है[1]—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

इसमें ससि=१ नयन=२ गुन=६ बान नय अधिकावधि (५-४=१) कवि प्रथा के अनुसार इस प्रकार की तिथियों का उल्टा क्रम पढ़ने पर १६२१ निकल आता है। यह पुस्तक तुलसी ने अपने एक मित्र गंगाराम ज्योतिषी के लिए सगुन प्रश्न पूछने के संदर्भ में लिखी थी। इसमें कुल ३४३ छन्द हैं। इस पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है।

तुलसीदास सगुण राम के बड़े जोरदार समर्थक हैं। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उनकी दास्य भक्ति विनीत मनोभावों की जन्मदात्री सिद्ध होती है। उनकी कृतियों में उत्तम कोटि के भक्त भगवान् से सदा यह वर माँगते हैं कि उनका सगुण रूप सदा उनके मन में अङ्कित हो जाय। अलग जगाने वाले को वे फटकारते हैं—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच॥[2]

राम को जब तक लोग मान्यता देते हैं तब तक जगत् के सम्बन्धों को मानने में औचित्य है। राम भजन में विरोध करने वाले, सुहृद, निकट सम्बन्धी भी हों तो उनका कहना है कि—'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये तिन्हे कोटि वैरी सम।'[3] जीवन में यदि राम से नाता नहीं तो जीवन का कोई मूल्य ही नहीं। उनके रामराज्य में लोग परस्पर बन्धुभाव और प्रीति करते हैं। अपने-अपने स्वधर्म से आचरण करते हैं। कोई किसी से वैर नहीं करता। किसान को खेती, वणिक को व्यवसाय मिलता है और सब को सारी चीजें यथास्थान उपलब्ध हो जाया करती हैं। व्यष्टि और समष्टि सभी अपना ऐहिक और पारमार्थिक ध्येय सिद्ध कर लेते हैं। लोकधर्म, युगधर्म, और स्वधर्म में निरत होकर सभी अभ्युदय कर लेते हैं।

---

१. रामाज्ञा प्रश्न ७-७-३।
२. दोहावली—तुलसीदास।
३. विनय पत्रिका—तुलसीदास, पृ० २६०, प० १७४।

ऐसा कहा जाता है कि यात्रा करने के वाद जव गोस्वामी तुलसीदासजी चित्रकूट में जाकर स्थित हो गये तथा वहाँ की नित्य चर्या के अनुसार वे रोज शौच निवृत्ति के लिए जाते और वचा हुआ लोटे का जल पीपल के पेड़ की जड़ पर डाल देते थे। इससे एक प्रेतात्मा संतुष्ट हो गई। उसने एक दिन प्रसन्न होकर तुलसीदास से कहा कि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिए, मैं उसे करने को प्रस्तुत हूँ। उन्होंने रामचन्द्रजी के दर्शन कराने के लिए कहा। तव प्रेतात्मा ने कहा—'मैं तो असमर्थ प्रेतात्मा हूँ। पर उपाय वतला सकता हूँ। चित्रकूट में आप रामकथा सुनाते हैं उसे सुनने के लिए कोढ़ी के रूप में सबसे पहले आने वाला और सबके अन्त में जाने वाला एक व्यक्ति है, वह हनुमान के अतिरिक्त और कोई नहीं है। गोस्वामी ने एक दिन अवसर पाकर उनके चरण पकड़ लिए और उन्हें न छोड़ा तब रामचन्द्रजी के दर्शन का आश्वासन देकर और चित्रकूट में रहने का आदेश देकर वे चले गए। तुलसीदासजी ने चित्रकूट में दो राजकुमारों को आखेट करते हुए देखा। पर वे रामलक्ष्मण हैं इसे वे पहचान न सके। हनुमानजी ने प्रकट होकर भेद खोला। तव पश्चाताप हुआ। हनुमानजी ने पुनः आश्वासन दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल राम भजन में मग्न होकर रामघाट पर वैठे राम-विरह से वे पीड़ित थे। इसी समय रामचन्द्रजी ने प्रकट होकर चंदन माँगा। तब संकेत से समझाने के लिए हनुमानजी ने तोते के रूप में यह दोहा पढ़ा—

'चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर।
तुलसीदास चंदन घिसे तिलक देत रघुवीर॥'

वे मुग्ध होकर उनका सौन्दर्य देखने लगे पर मूर्छित हो गए। रामचन्द्रजी के वार-वार कहने पर जव तुलसी ने नहीं सुना तव वे स्वयम् तिलक लेकर अन्तर्हित हो गये। यह निश्चित मानना पड़ेगा कि उनको कभी तो अवश्य रामदर्शन हुआ होगा।

'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण रसनाराम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥' —दोहावली।

गीतावली में वर्णित यह धनुर्धारी राम की मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अंकित हो गई थी।

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन वसती सो मूरति मन मोरे॥
जटा मुकुट सिर सारन नयननि,
गौहें तकत सु भौंह सकोरे।[1]

१. गीतावली—पृ० २६७, अरण्यकाण्ड प० २, तुलसीदास।

उनको सदा चित्रकूट अच्छा लगता था। तुलसी अयोध्या में रहे तथा वाराणसी में तो उनके जीवन का बहुतांश बीता था। अपने उत्तर काल में वे काशी में ही थे। संकट-मोचन हनुमान उनका ही बनाया हुआ है। विनय-पत्रिका तो काशी में ही लिखी गयी थी।

गोस्वामी तुलसीदास के कुछ मित्र—

काशी के एक टोडरमल नाम भुंई-हार जमीदार थे जो तुलसीदास के घने मित्र थे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने ये दोहे कहे—

'चार गाँव को ठाकुरो मनको महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडरदीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
× × ×
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥'

इनके पुत्रों के झगड़ों का निपटारा पंचनामा करके जायदाद का बँटवारा निर्णय रूप में किया था। उनके वंशज आज भी तुलसीदासजी की पुण्य तिथि के दिन सीधा दिया करते हैं।

रहीम और तुलसी भी परम मित्र थे। अकबर के दरबारी गवैये रामदास के सुपुत्र हितहरिवंश भी मथुरा में उनसे मिले थे। सूर और तुलसी का मिलन चित्रकूट के पास कामद-वन में संवत् १६१६ के आरम्भ में हुआ था और तब अपना 'सूरसागर' भी उनको दिखाया था, ऐसी किंवदंती है। कुछ लोग सूर और तुलसी ब्रज में मिले ऐसा मानते हैं। वहाँ किसी ने तुलसी से सूर की प्रशंसा की तब तुलसीदास ने कहा—

'कृष्णचन्द्र के सूर उपासी। ताते इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचन्द्र हमरे रखवारा। तिनहि छाँड़ि नहि कोऊ संसारा॥'

मीरा ने तुलसी से पत्र लिखकर सलाह माँगी थी ऐसी जनश्रुति है पर वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं ठहरता। वैसे जो बात प्रसिद्ध है वह यह है कि जब मीरा को परिवार के लोगों द्वारा सताया गया और विष दिया गया तब उन्होंने तुलसीदास से पूछा कि अब क्या करना चाहिए तब तुलसी ने यह लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए तिन्हे कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।'

—विनय पत्रिका–पद १७४।

तुलसीदास की निधन-तिथि परम्पराके अनुसार संवत् १६८० है। इसके वारे में एक दोहा प्रसिद्ध है—

सम्वत् सोरह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर ॥'

इसके वारे में एक और पाठ इस दोहे का मिलता है जो गणना की दृष्टि से सही है—

'संवत् सोलह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण स्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यौ सरीर ॥'

उनकी मृत्यु के वाद उनका शव गंगा में प्रवाहित किया गया और तुलसी का वह विरुआ—

'राम कृपा हुलसी जनित, तुलसी बिरवा सोय।
लै हलरावती सुरधुनी, जल श्रंचल में गोय ॥'

वे मरते दम तक रामनाम स्मरण करते रहे। अन्त समय क्षेमकरी गङ्गा का दर्शन कर उन्होंने कहा था—

'प्रेखु सप्रेम पयान समै सव सोच विमोचन छेमकरी है।'

उनका अन्तिम दोहा यह वतलाया जाता है—

'राम नाम जस वरनि के, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अब ही तुलसी सोन ॥'

वाहु पीड़ा से जर्जर और ग्रस्त होने पर हनुमानजी का उन्होंने आवाहन कर कहा था—

'आन हनुमान की दोहाई वलवान की।
सपथ महावीर की जो रहे पीर वाँह की ॥
साहस समीर के दुलारे रघुवीर जी के।
वाँह पीर महावीर वेग ही निवारिये।'

—हनुमान वाहुक।

तुलसी के मत में भक्ति अर्थात् ज्ञान, कर्म से समन्वित भक्ति ही है। केवल ज्ञान मार्ग को वे कृपान की धारा कहते थे। राघव की भक्ति करने में अत्यन्त कठिनाई है। वह कहने में सुगम है किन्तु करने में अत्यन्त कठिन है। वह विना राम कृपा के प्राप्त नहीं हो सकती।

'सकल पदारथ है जगमाहीं।
राम कृपा दुर्लभ कछु नाहीं ॥' **—रामचरित मानस।**

असल में रामकृपा ही परम दुर्लभ है। उसके प्राप्त हो जाने पर सब बा सुलभ हो जाती है। तुलसीदासजी का एक मात्र आधार, भरोसा प्रभु रामचन्द्र पर ही है—

'एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम कहँ चातक तुलसीदास॥' —दोहावली।

स्वाति नक्षत्र के समय बरसने वाले जल को ही चातक तुलसी पीते हैं। अन्य जलवृष्टि को ये मानी भक्त स्वीकार ही नहीं कर सकते। उनको अपने राम वैसे ही प्रिय हैं जैसे कामी को नारी प्रिय है, अथवा लोभी को दाम। जब जब धर्म की हानि होती है तब उसकी रक्षा करने के हेतु रामचन्द्र विविध शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरण करते हैं। तुलसी प्रभु के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर मुग्ध थे, और लोक कल्याण पर इस मत की सदा दृष्टि थी। वे भक्ति को श्रुति सम्मत तथा विरति, विवेक युक्त मानते हैं। वे साधुमत और लोकमत के मेल को अनिवार्य मानते है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। मनुष्य को केवल अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता बल्कि अपने इष्ट मित्र, साथी या कुटुम्बियों के भद्दे आचरण पर भी लज्जा या संकोच होता है। हमारा अपना ही निकट सम्बन्धी यदि बातचीत करते समय अभद्रता या अश्लीलता से पेश आता हो तो हमें लज्जा मालूम होती है। तुलसी ने इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र चुनकर उसका अभिव्यंजन किया जो सर्वथैव उपयुक्त है। कहीं भी रामचन्द्र का आचरण ऐसा नहीं है जिस पर आक्षेप किया जा सके। प्रभु रामचन्द्रजी के चरित्र में सबसे महत्वपूर्ण गुण है शरणागत की रक्षा करना। भारत वासियों का शरणागत की रक्षा करना एक बहुत बड़ा धर्म निरंतर रहा है। सारे संसार में इस बात की प्रसिद्धि है।

'सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पांवहि पाप भय तिनहि विलोकत हानि॥'

—रामचरित मानस।

तुलसीदासजी का आदर्श भक्त भरत है। भरत के हृदय में लोक भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म प्रवणता का समन्वित रूप देखने को मिलता है। तुलसी ने मानव अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को देखा था—निरीक्षण किया था इसका प्रमाण उनकी कृतियों में नाना रूपों में देखने को मिल जाता है। बहिरंग विधान और अंतरंग विधान की दृष्टि से काव्य के उपकरणों में तुलसी की परख इतनी अच्छी है कि वह सबको अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती।

जीवन की संपूर्ण दशाओं का मार्मिक चित्रण करने वाले सबसे बड़े कवि तुलसी भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। तुलसी केवल इने गिने रस विशेषों पर अधिकार नहीं रखते वरन् एक महाकवि की हैसियत से मानव की सारी भावनात्मक सत्ता पर तथा सभी रसों पर अधिकार रखते हैं। तुलसीदासजी से टक्कर ले सकने वाले एक मात्र महाकवि सूरदास ही हैं। तुलसीदास केवल हिन्दी के ही बड़े कवि नहीं वरन् भारत के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्हें विश्व साहित्य में स्थान दिया जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर इस बात का पूर्ण रूप से पता लग जाता है कि तुलसी ने रामचरित मानस में तथा अन्य कृतियों में तीन भाषाओं का प्रयोग किया है। अपने जन्मस्थान की भाषा अवधी (पूर्वी हिन्दी), अपने इष्टदेव प्रभु रामचन्द्रजी की राजधानी अयोध्या की भाषा, ब्रज तथा पश्चिमी हिन्दी का रूप, और संस्कृत इन तीनों भाषाओं का साहित्यिक, प्रौढ़, परिनिष्ठित रूप तुलसी ने अपनाया है। तुलसी की इन भाषाओं पर अपनी छाप है। इस तरह सब क्षेत्रों में सब तरह से वैष्णव भक्तों में गोस्वामी तुलसीदास वरेण्य और अग्रगण्य हैं।

सूरदास :

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार सूर के बारे में यह कहा जाता है कि वे गऊ घाट पर रहते थे। वे एक स्वामी या साधू थे तथा अपने शिष्य बनाया करते थे। गोवर्धन पर्वत पर जब श्रीनाथजी का मन्दिर बन गया तब एक बार वल्लभाचार्य गऊ घाट पर उतरे। सूरदास उनके दर्शनार्थ आए और उनको अपने दो पद गाकर सुनाये।' १. 'प्रभु हौं सब पतितन को टीको।' और २. 'हौं हरि सब पतितन को नायक।' 'तब महाप्रभुवल्लभाचार्य ने उन्हें डाँटकर कहा कि सूर होकर इस प्रकार क्यों घिघियाते हो ? कुछ भगवद् लीला वर्णन करो।' सूरदास ने उत्तर दिया कि उन्हें भगवद् लीला का कोई ज्ञान नहीं है। तब महाप्रभु ने उनको स्नान कर आने के लिए कहा। उसके बाद प्रभु ने उनको नाम सुनाया और समर्पण करवाया और भागवत के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका कहकर भगवत् लीला गान करने की आज्ञा दी। वे इस तरह वल्लभाचार्यजी के शिष्य बन गए। उनको श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्तन सेवा सोंपी गई थी।

'सूर सारावली' के पद के अनुसार यह जानकारी द्रष्टव्य है[1]—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव निधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

---

१. सूर सारावली—पद १००२, पृ० ८०, प्रभुदयाल मीतल।

यह मत विद्वानों में सर्वमान्य है कि दीक्षा के समय सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के मतानुसार सारावली की रचना के समय का यह पद हो सकता है[1]—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरि नन्द को लिखि सुवल संवल पेख॥
नंदनंदन मास छै तैं हीन तृतिया वार।
नंदन-नंदन जनमते हैं बान सुख आगार॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्दनन्दन दास हित साहित्य लहरी कीन॥

—साहित्य लहरी पद संख्या १०९।

इसमें 'रसन' शब्द पर बड़ी चर्चायें हुई हैं। 'रसन' का अर्थ शून्य या रस से हीन करते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण काल संवत् १६०७ निश्चित किया गया है। कुछ लोगों ने रसना का अर्थ जिह्वा करके, एक कार्यानुसार वाक् एक संख्या का वाची मानकर उसको संवत् १६१७ माना है। कुछ लोग स्वाद और वाक् मानकर उसको २ संख्या का वाची समझकर संवत् १६२७ के पक्ष में है। निष्कर्ष के रूप में साहित्य लहरी के पदानुसार वैसाख की अक्षय तृतीया रविवार, कृत्तिका नक्षत्र और सुकर्म-योग लिखा गया है तथा गणित करने पर संवत् १६१७ ही आता है। अतः यही मानना समीचीन है। श्री नलिनी मोहन सान्याल के अनुसार चैतन्य महाप्रभुजी का जन्म सन् १४८५ और संवत् १४५२ मानते हैं और कुछ प्रमाणों के आधार पर यह बतलाया जाता है कि सूरदास की जन्मतिथि संवत् १५४०–४१ के आसपास ठहरती है।[2]

पुष्टि-सम्प्रदाय में सूरदासजी आचार्य वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे माने जाते हैं।[3] आचार्यजी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था। अतः सूर की जन्मतिथि १५३५ वैशाख शुक्ल पंचमी को ठहरती है। पर यह उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

बड़ौदा कॉलिज के संस्कृत के प्रोफेसर श्री भट्टजी के अनुशीलनात्मक खोजों ने यह सिद्ध हुआ है कि आचार्य वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३० मानना उचित ही

---

१. महाकवि सूरदास–पृ० ६०–६१, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
२. भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास–श्री न. मो. सन्याल, पृ० ६।
३. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल व द्वा. ना. पारीख, पृ० ५२–५३।

है अतएव सूरका जन्म संवत् १५३० ही मानना पड़ेगा।[1] डा० हरवंशलाल शर्मा के अनुसार संवत् १५३५ सूर का जन्म संवत् है।[2] हम संवत् १५३० मानने के पक्ष में है।

सूरदास की जाति तथा वंश—

साहित्य लहरी का ११५ वाँ पद जिसका आरम्भ 'प्रथम ही प्रभु जाग ते भे प्रगट अद्भुत रूप' इस पंक्ति से होकर अन्त 'सूर है नँदनन्द जूको लयौ मोल गुलाम।' इस पंक्ति में होता है।[3]

इस पद के अनुसार प्रभु के यज्ञ से एक अद्भुत पुरुष ब्रह्मराव उत्पन्न हुए। उस ब्रह्मस्वरूप वंश में चंद वरदायी हुए। महाराज पृथ्वीराज ने ज्वाला (नागोर) देश उन्हें दान में दिया। चन्दके चार पुत्र हुए जिनमें द्वितीय गुणचन्द थे। उनके पुत्र सीलचन्द, सीलचन्द के वीरचंद हुए। ये राणा हमीरके यहाँ प्रतिष्ठित थे। इसी वंशमें हरिचन्द हुए। इनके पुत्र गोपाचल आए। उनके सात पुत्र हुए जिनके नाम क्रमशः ये थे—कृष्णचंद, उदारचन्द, रूपचन्द, बुद्धचन्द, देवचन्द, प्रबोधचन्द और सूरजचंद। ये सब वीर थे और युद्धक्षेत्र में परलोकगामी हुए। सातवें सूरजचन्द ही सूरदास हैं।[4]

नागोर निवासी नानूराम भाट के पास की वंशावली में और साहित्य लहरी के अनुसार बनाये गये वंश वृक्ष में पर्याप्त अन्तर मिलता है। नानूराम भट्ट अपने को चंदवरदाई का वंशज बतलाते हैं। यह वंशावली महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नानूराम से प्राप्त हुई। डा० ब्रजेश्वर वर्मा, मुन्शीराम शर्मा आदि विद्वान सूर को ब्राह्मण एवम् भट्ट ब्राह्मण बनाने के विविध पक्ष में हैं। सूर के समकालीन एक कवि प्राणनाथ सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखते हैं।[5]

श्री वल्लभ प्रभु लाड़िले, सीहौ सर जल जात।
सारसती दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात॥

वल्लभ द्विग्विजय के अनुसार—ततो ब्रज समागम ते सारस्वत सूरदासो अनुग्रहीतः।[6] वार्ता साहित्य के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण थे। वास्तव में

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, पृ० ६२–६३।
२. सूर और उनका साहित्य—पृ० ३७, डा० हरवंशलाल शर्मा।
३. साहित्य-लहरी पद ११५ सम्पादक डा० मनमोहन गौतम, पृ० १६५–१६६।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४५।
५. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ५०।
६. वल्लभ द्विग्विजय, पृ० ५०।

सूरदास न तो ब्रह्म भट्ट थे न भाट। अतएव उनको सारस्वत ब्राह्मण मानना ही उचित होगा।

सूरदासजी के पिता का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अकबर के 'आइने अकवरी' में अकबर के दरबारी कवियों और गायकों के नाम मिलते हैं। नामों में ग्वालियर निवासी रामदास और उनके पुत्र सूरदास का नाम आया है। अतः कुछ लोग इन्हीं को 'सूरसागर' रचने वाले सूरदास मान लेते हैं। अकबर संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। सूरदासजी आचार्य के शिष्य उसके ही कई वर्ष पूर्व ही बन चुके थे। ऐसी परिस्थिति में सूरदास दरबारी कवि कदापि नहीं हो सकते और न वे रामदास के पुत्र सिद्ध होते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उल्लिखित 'साहित्य-लहरी' की यह पंक्ति 'प्रबल दाच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्वै हैं नास।'[१] तथा उनके ग्रन्थ सूरदास में कथित विप्रकुल का अभिप्राय पेशवाओं की ओर संकेत करता है।[२] परन्तु यह अनुमान प्रामाणिक इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि 'साहित्य-लहरी' का उक्त पद भी सूर द्वारा रचा जाना असंभव है। सूर के जन्म स्थान के बारे में भी कई मत सामने आते हैं। आगरा में गोपाचल नामक स्थान सूर का जन्म स्थान है क्योंकि इनके पिता यहाँ आकर बस गए थे। यही गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम हैं। अतः कुछ लोगों के मतानुसार ग्वालियर सूर का जन्म स्थान है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने ग्वालियर का नाम गोपाचल सिद्ध किया है।[३] कुछ लोग मथुरा प्रान्त में कोई ग्राम जो अनाभिक है उसे ही सूरदास का जन्म स्थान मानते हैं। कवि मियासिंह कृत 'भक्त विनोद' में सूर के जन्म स्थान का इस प्रकार उल्लेख है—

'मथुरा प्रान्त विप्रकर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरिनेहा।।'[४]

इसमें स्थान का कोई उल्लेख नहीं है। 'रुनकता' भी सूर का जन्म स्थान माना जाता है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा सा गाँव है। यहाँ से दो मील के अंतर पर यमुना के किनारे 'रेणुकाजी' का स्थान और परशुरामजी का मन्दिर है। इसी से कुछ दूरी पर गौ घाट है। रुनकता को सूर का जन्म स्थान मानने का कारण संभवतः सूरदासजी का गऊघाट पर रहना हो

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ० १६१, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
२. सूरदास–पृ० १४३।
३. सूरदास—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, संपादक—डा० भगीरथ मिश्र।
४. भक्त विनोद—कवि मियासिंह कृत।

सकता है-। वार्ता-साहित्य के अनुसार सूर का जन्म स्थान सीही है।[1] दिल्ली के आस-पास इस सीही ग्राम का आज कहीं कोई पता नहीं है। वैसे दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभगढ़ के निकट सीही नाम का ग्राम है। जनश्रुति के अनुसार यही सीही सूरदास का जन्म स्थान है। डा० हरवंशलाल शर्मा भी सिही ग्राम को सूर का जन्म स्थान मानते हैं।[2]

सूर और उनका अन्धत्व—

क्या सूरदास जन्मान्ध थे ? या वाद में अन्धे हो गये थे। जनश्रुति उनको अन्धा वतलाती है। यत्र-तत्र सूरसागर में अपने अन्धत्व के वारे में सूर के उल्लेख मिलते हैं। जैसे[3] —

१. यहै जिय जानिकै अंध भाव त्रास ते।
सूर कामी कुटिल सरन आयो॥

× × ×

२. सूरदास सो कहा निहोरौ नैनन हूँ कि हानि।

× × ×

३. सूर कूर आँधरो मैं द्वार परे गाऊँ॥
४. रहौ जात एक पतित जनमको आँधरौ 'सूर' सदा करे॥
५. सूर की बिरीयाँ निठुर होइ वैठे, जन्म अंध करयो॥
६. रास रस रीति नहि वरनि आवै।
इहै निज मंत्र यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस दम्पति भजन सार गाऊँ॥
इहै माँगो वारवार प्रभु सूर के नयन द्वै रहौ नर देह पाऊँ॥

इस तरह देखने पर कुछ पद उनके जन्मान्धत्व को स्पष्ट करते हैं। दूसरे इन पदों से यह कल्पना भी की जा सकती है कि जव ये लिखे गये तव वे चक्षुविहीन हो गये हों, और जन्म से अन्धे न रहे हों। सूरदास के जीवन में कोई घटना ऐसी घटी होगी, जिससे संसार से उन्हें विरक्ति हो गई हो अथवा किसी विषय भोग के सीधे फलस्वरूप उनके नेत्रों की ज्योति चली गई हो। इस तरह के आधार इन पदों में मिल जाते हैं[4]—

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्ट सखान की वार्ता, पृ० २।
२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ३५।
३. सूरसागर, १०। १६२४।
४. सूरसागर १।१६८, १।१६५ तथा सूरदास—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० ६६।

सूरदास अन्ध अपराधी सो काहे बिसरायो ।
ऐसो अन्ध अधम अविवेकी खोटनि करत खरे ।

वार्ता-साहित्य के अनुसार सूरदास जन्मान्ध थे । जनश्रुति प्रसिद्ध है कि किसी तरुणी के सौन्दर्य युक्त रूप को देखकर वे उस पर आसक्त हो गये । बाद में पश्चाताप करते हुए उन्होंने अपनी आँखें फोड़ लीं ।

कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसी प्रसङ्ग को लेकर एक बंगला कविता लिखी है जो 'सूरदासेर प्रार्थना' नाम से प्रसिद्ध है । इसमें आत्मग्लानि से वे उस स्त्री को अपनी आँखें फोड़ने के लिए कहते हैं ऐसा प्रसङ्ग है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने सूर साहित्य में उक्त प्रसङ्ग को उद्धृत कर चुके हैं जो इस प्रकार है[1]—

'तो फिर यही हो देवि, विमुख न होओ, इसमें दोष ही क्या है ? हृदयाकाश में जगी रहने दो न, अपनी स्नेहहीन ज्योति । वासना-मलिन आँखों का कलंक उस पर छाया नहीं डालेगा, अन्ध हृदय चिर दिन तक नील-उत्पल पाता रहेगा ।

'तुममें देखूंगा अपने देवता को, देखूंगा अपने हरि को, तुम्हारे आलोक में जगा रहूँगा इस अनन्त निशावरी में (रात्रि में) ।' यह कथन रवीन्द्र की उक्त कविता की अन्तिम पंक्तियों में है । आगे चलकर सूर की इस उदात्तीकरण की ऊँची भावना और साधना को देखकर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

'सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि ?
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान,
विरहतापित ? हेरि काहार नयान ?'[2]

यह प्रेम की छवि हे वैष्णव कवि ! सच बताओ तुम्हें कहाँ उपलब्ध हो गई ? किसकी आँखें देखकर राधिका की आँसुओं से भरी आँखें याद आगईं । निर्जन वसंत रात्रि की मिलन शय्या पर किसने तुम्हें भुज-पाशों से बाँध रखा था, और अपने हृदय के अगाध समुद्र में मग्न कर रखा था । इतनी प्रेम-कथा, राधिका के चित्त को विदीर्ण कर देने वाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थी ? आज क्या इस संगीत पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है ? क्या तुम उसी के नारी हृदय की संचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे ? सूरदास ने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर दिया । क्योंकि—

---

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६ ।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव' कविता से ।

'देवतारे याहा दिते पारि, दिन ताइ
प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे, आर पावो कोथा ?
देवतारे प्रिय करि, प्रिय देवता।'[1]

'हम जो चीज देवता को दे सकते हैं वही अपने प्रिय को देते हैं—और प्रिय जन को जो दे सकते हैं वही देवता को देते हैं। और हम पायेंगे कहाँ ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं और प्रिय को देवता।'

रवीन्द्रनाथ की इस कविता से और आचार्य द्विवेदीजी के उद्गारों से सहमत होते हुए हम इस मार्मिक रहस्य को समझ सकते हैं, कि सूर चाहे जन्मांध रहे हों या प्रसंग वशात् बाद में अंधे बने हों, उन्होंने अपने लौकिक सर्वस्व का समर्पण भगवान् को कर उस दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर लिया, जिससे वे कह सके 'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अंधे को सब कछु दरसाई।' 'सूरदास के प्राकृतिक शोभा और रूप की बारीकियों का सूक्ष्मतम वर्णन देखकर विद्वानों को सूर के जन्मान्ध होने में संदेह होता है। सूर अपने को भगवान् का भक्त मानते थे और अपने पदों में भगवान् की अघटित घटना घटाने वाली शक्ति पर आस्था प्रकट करते थे।[2] सूर को दिव्यचक्षु से सब कुछ दिखाई देता था। श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है[3]— 'अतः हमें यह मानना होगा कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से तत्वज्ञानी और आत्मा में रति करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। वे स्वयं प्रकाश हो गए थे, अतएव बाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति के आधार पर किया है।'

वार्ता साहित्य के अनुसार सूर ने देशाधिपति अकबर को एक पद सुनाया जिसकी अन्तिम पंक्ति में यह उल्लेख आया है[4]—

हौं जो सूर ऐसे दास को मरत लोचन प्यास।'

तब अकबर ने पूछा—

**सूरदासजी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाही,
सो प्यासे कैसे मरत हैं ?**

---

१. श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव कविता' से।
२. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१।
३. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ६४ से ६७।
४. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, वार्ता क्रमाङ्क ३।

इस पर वे मौन रहे। अकबर को बिना उत्तर के ही समाधान प्राप्त हो गया। सूर के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने सूर को जन्मान्ध बतलाया है।[1]

'जन्मान्धौ सूरदासोऽभूत।'

प्राणनाथ कवि भी उन्हें जन्मान्ध कहता है—

बाहर नैन विहीन सो, भीतर नैन बिसाल।
जिन्हे न जन कछू देखिबो लखि हरि रूप निहाल॥

'भाव प्रकाश' में हरिरायजी ने सूर के बारे में यह कहा है कि 'सो सूरदास को जनम ही सो नेत्र नाही है।'

मीतनजी की पुस्तक 'सूरनिर्णय' इस विषय में द्रष्टव्य है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि सूरदास जन्मान्ध थे। इनके काव्य के वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर उन्हें जन्मान्ध न मानना उचित नहीं होगा।[2]

पुष्टिमार्ग की दीक्षा और गुरु कृपा—

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार आचार्यजी से दीक्षित होने के बाद का जीवन पढ़ने को मिल जाता है। वल्लभ-दिग्विजय के और वार्ता के अनुसार आचार्य वल्लभाचार्य दक्षिण देश में शास्त्रार्थ-विजय प्राप्त करके लौटे थे। यह उनकी तृतीय यात्रा थी। वे अड़ैल से व्रज को गये तब मार्ग में गऊघाट पर ठहरे थे। सूर की ख्याती सुनकर वे उनसे मिले और उनके पद सुने तथा उनको भगवान् की लीला का गान करने के लिए कहा। तब आचार्य से उन्होंने कहा कि मेरी उसमें पैठ नहीं है। जब आचार्य वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा दी और भगवान् को समर्पित किया। अपने गुरु से भागवत दशम स्कंध की कथा सुनकर भगवान् की लीला गान करने का स्फुरण उनको हुआ। आचार्य के सान्निध्य में यह पद बनाकर गाया—

'चकईरी चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होत नहिं कबहू सोइ सायर सुख जोग॥'[3]

सूरदास को आचार्य अपने साथ गोकुल ले गये। नवनीत प्रिया के दर्शन करने के बाद सूर ने गाया 'सोभित कर नवनीत लिए।' इसी स्थान पर वल्लभाचार्य ने सूर के अन्तःकरण में भागवत की सारी कृष्ण लीला स्थापित कर दी। वहाँ से व्रज जाकर गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथजी के दर्शन सूर को कराये। तब सूरने यह

---

१. संस्कृत मणिमाला।

२. महाकवि सूरदास—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ७२।

३. सूरसागर, १।२।३७।

पद गाया 'अब हौं नाचो बहुत गोपाल।' विनय के पदों को सुनकर आचार्य ने कहा कि अब तो तुम्हारे अन्तःकरण की सारी अविद्या दूर हो गई है। फलतः भगवान् के यश का वर्णन करो। सूर ने 'कौन सुकृत इन ब्रज वासिन को।' यह पद गाकर सुनाया। प्रसन्न होकर आचार्य ने मन्दिर का कीर्तनभार उनको सौंप दिया।

वल्लभाचार्य की दक्षिण-यात्रा संवत् १५६५ के बाद हुई थी। श्रीनाथजी की स्थापना के बाद और आचार्य के अड़ैल से ब्रज की यात्रा के समय गौ घाट पर वे आचार्य के शिष्य हुए। श्रीनाथजी की स्थापना डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार संवत् १५५८ की श्रावण सुदी ३ बुधवार को गोवर्धन पर्वत पर एक छोटे से मन्दिर में श्रीनाथजी की स्थापना हुई।[१] संवत् १५५६ की चैत्र सुदी २ को पूर्णमल खत्री ने बड़ा मन्दिर बनवाने का संकल्प किया। एक लाख खर्च करने के बाद भी वह अधूरा ही रहा। २० वर्ष बाद व्यापार में पूर्णमल को तीस लाख का लाभ हुआ तब संवत् १५७६ में यह मन्दिर पूरा हुआ। वल्लभाचार्य ने इसमें श्रीनाथजी की स्थापना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी मन्दिर की स्थापना तिथि संवत् १५७६ मानते हैं।[२] सूरदास का शरण आना संवत् १५८० के आस-पास हुआ होगा ऐसा शुक्लजी का मन्तव्य है।[३] वल्लभ दिग्विजय के अनुसार आचार्य जब ब्रज से अड़ैल गए तब गोपीनाथ का जन्म संवत् १५६७ में हुआ। इस यात्रा में पाँच छः महीने अवश्य लगे होंगे। अतएव सूर का शरण काल संवत् १५६७ ही निश्चित किया जा सकता है। मीतलजीने संवत् १५७६ का खंडन किया है। वे कहते हैं श्रीनाथजी की स्थापना १५५६ में हुई। अड़ैल में गृहस्थाश्रम संवत् १५६५ में करने के बाद श्रीनाथजी के मन्दिर की व्यवस्था के लिए ब्रज जाते हुए मार्गमें सूरका शिष्य होना वे बतलाते हैं। 'श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।' यह पद उनके अनुसार विठ्ठलनाथजी के जन्म के समय का है। विठ्ठलनाथ का जन्म संवत् १५७२ का है। अतः वे इसके पहले अवश्य शरण गए होंगे। इसीलिए यह पद उन्होंने गाया।[४]

सूर अकबर भेंट—

डा० दीनदयाल गुप्त के अनुमान से अकबर सूर से सन् १५७४ व १५८२ के

१. श्रीनाथजी का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा।
२. सूरदास तृतीय संस्करण—आचार्य रामचंद शुक्ल, पृ० ११७।
३. ,, ,, पृ० ११८।
४. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ८४।

वीच मिला होगा।[1] अकवर के द्वारा वल्लभ संप्रदाय वालों के लिए फर्मान जारी किए गये थे जो सन् १५७७ और सन् १५८१ के वीच के हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय सूरदासजी से अकवर मिला था। 'अष्ट सखान की वार्ता' में लिखा है अकवर को जव सूर से मिलने की इच्छा हुई तव उनकी खोज के लिए, गोवर्धन पर एक दूत भेजा तव पता चला कि सूरदासजी मथुरा गए हैं।[2] संवत् १६२३ में विठ्ठलनाथ गोवर्धन से वाहर गए हुए थे। तव उनके पुत्र गिरिधरजी मथुरा में श्रीनाथजी को ले आए, तभी साथ में सूरदासजी भी आए। तानसेन अकवर के दरवारी गायक थे। उनसे सूरदास का पद सुनकर अकवर ने सूर से मिलना चाहा। अकवर से भेंट होने पर सूर ने 'मना तू कर माधव सों प्रीति।' यह पद गाया। जव अकवर ने अपना यशोगान करने के लिए कहा तव उन्होंने 'नाहिन रह्यौ मन में ठौर।' यह पद गाया, और उनसे विदा लेकर मन्दिर आ गए। सूरदास का वैराग्य देखकर अकवर पर उसका प्रभाव जरूर पड़ा होगा। अपनी मस्ती में मगन और भाव विभोर रहने वाले सूरदास को भला देशाधिपति से क्या प्रयोजन हो सकता है?

सूर और तुलसी-मिलन—

'मूल गुसाँई चरित' में वतलाया गया है कि संवत् १६१६ में श्री गोकुलनाथजी की प्रेरणा से सूरदासजी तुलसीदासजी से चित्रकूट पर मिले।[3] प्राचीन-वार्ता-रहस्य में यह लिखा है कि तुलसीदासजी अपने भाई नंददास से मिलने व्रज में आये, उस समय परासोली ग्राम में सूरदासजी से भेंट हुई।[4] संवत् १६१६ में गोसाँई विठ्ठलनाथजी जगन्नाथ पुरी की यात्रा को गए, साथ में सूरदासजी थे। रास्ते में कामतानाथ पर्वत पर सूर ने तुलसी से भेंट की।

अष्टछाप की स्थापना और उसमें सूर का समावेश—

गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने जव पुष्टिमार्ग के सम्प्रदाय का आचार्यत्व ग्रहण किया तव संवत् १६०२ में अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवि भक्तों की एक अष्टछाप की स्थापना की। इनमें चार वल्लभाचार्य के और चार अपने शिष्य थे। इनका क्रम इस प्रकार है—१. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. कृष्णदास,

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २१७।
२. अष्टछाप (सूरदास की वार्ता) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा।
३. 'मूल गुसाँई चरित', पृ० २६–३०।
४. प्राचीन वार्ता रहस्य द्वि० भाग, पृ० ३७४।

४. परमानंददास, ५. गोविन्दस्वामी, ६. नन्ददास, ७. छीत स्वामी और ८. चतुर्भुजदास। हिन्दी राधाकृष्ण परक काव्य में 'अष्टछाप' का साहित्य सर्वश्रेष्ठ है, तथा उसमें सूर-साहित्य सर्वोपरि है। अष्टछापी कवियों की कृतियों में सूर सागर यह कृति सर्वोत्तम है।

सूर का निधन संवत्—

सूर के जन्म सवत् की तरह सूर के निधन संवत् के बारे में कई तरह के मत हैं। उनका निधन संवत् १६२० से १६४२ तक का माना जाता है। शुक्लजी 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् १६०७ मानकर उससे दो वर्ष पूर्व 'सारावली' का रचना काल मानते हैं अर्थात् कह सकते हैं कि संवत् १६०५ में सारावली रची गई होगी। उनके अनुसार मृत्यु समय सूर की आयु ८०–८२ वर्ष की रही होगी।[1]

गोसाँई विठ्ठलनाथजी का स्थायी व्रजवास संवत् १६२८ से गोकुल में हो गया था। नवनीत प्रिया के दर्शनों के लिये कभी-कभी सूरदासजी भी आया करते थे। सूरदासजी की मृत्यु के समय विठ्ठलनाथजी जीवित थे। विठ्ठलनाथजी का तिरोधान संवत् १६४२ में हुआ। अतः 'परासोली' में संवत् १६४० के आसपास सूरदासजी का देहावसान मानना समीचीन होगा। डा० दीनदयालु गुप्त इसका समर्थन करते हैं।[2] मीतलजी अपने 'सूर-निर्णय' में इसकी चर्चा करते हैं जो द्रष्टव्य है उनके अनुमान से भी संवत् १६४० का ही समर्थन हो जाता है।[3] गोसाँई विठ्ठलनाथ नित्य श्रीनाथजी का पूजन, शृङ्गार करते तब सूरदासजी पद गाकर सुनाते। एक दिन कीर्तन न करते हुए देखकर उन्होंने सूर के बारे में पूछताछ की। तब पता चला कि सूरदासजी नश्वर शरीर को छोड़कर नित्य शाश्वत् वृन्दावनधाम जा रहे हैं। वे उस समय परासोली में थे। आचार्यजी का स्मरण कर इस आशा से लेट गये थे कि अन्त समय में श्रीनाथजी के दर्शन होंगे। तब वहाँ उपस्थित समस्त भक्तों से विठ्ठलनाथजी ने कहा कि आज 'पुष्टिमार्ग का जहाज' जा रहा है जिसको जो कुछ लेना हो तो लेले। मैं स्वयम् राजभोग आरती आदि करके आ रहा हूँ। गोसाँईजी की आज्ञानुसार भक्त गए। सेवा सम्पन्न कर गोसाँईजी भी आ गए। खबर पूछी। सूरदास ने दंडवत किया और 'देखो देखो हरिजू को एक सुभाव।' यह पद गाया। तब गोसाँईजी प्रसन्न हुए। चतुर्भुजदासने पूछा जनम भर

---

१. सूरदास (तृतीय संस्करण) – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १२०।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० ७८।
३. सूर निर्णय—पृ० ९९–१०१।

भगवद् यश गान किया है पर महाप्रभु का वर्णन नहीं किया। इस पर सूर ने दोनों को अभिन्न बतलाया और कहा कि मैंने जो कुछ भगवद् यश गाया है वही आचार्यजी का यशोगान है, मैं दोनों में कोई फर्क नहीं समझता। पर गुरु स्मरण मात्र से विव्हल होकर सूरदास गा उठे।[1]

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नख-चंद्र-छटा विनु सब जग मझँधेरोंझ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहै दुविध आँधरो विना मोल को चेरो॥

सूरदासजी ने प्रथम वल्लभाचार्य और बाद में गुरुपीठ पर आसीन गुसाईं विठ्ठलनाथ के प्रति अत्यन्त ऊँची भावना से अपने इष्टदेव श्रीकृष्णजी की ही तरह पूज्य भाव रखे। यह पद सूर की प्राप्त प्रतियों में नहीं मिलता। पर यह प्रसङ्ग अत्यंत महत्व पूर्ण है। सूरदासजी से गुसाईंजी ने पूछा, 'सूरदासजी चित्त की वृत्ति कहाँ है?' तब उन्होंने यह पद गाया—

'बलि बलि हौं कुमरि राधिका नंद सुवन जासो रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है बानी॥
वे जु धरत मने कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति रानी॥
वे पुनि स्याम सहज वे सोभा अम्बर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अङ्ग अबहि ह्वै आयौ निरखि देखि निज देह सयानी।
सूर सुजान स्याम के बूझै प्रेम-प्रकाश भयो विहँसानीं॥

राधा और कृष्ण दो शरीर वाले होने पर भी मन से अभिन्न हैं। राधा में कृष्ण के स्मरण मात्र से ही सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते है। इस समय सूरदासजी का भाव यह है कि वे भी उसी तरह कृष्ण का ध्यान कर पुलकित हो गये हैं जैसे राधिकाजी हो जाती हैं। यह पद भी सूरसागर में नहीं मिलता। पर इस भाव को व्यक्त करने वाले अनेक पद हमें मिल जाते हैं। स्वयम् भगवान् श्रीकृष्ण भी सूर के भाव को देखकर सजल नेत्रयुक्त हो गये थे। गुसाँईजी ने इसे अन्तर्दृष्टि से पहचानकर फिर सूर से पूछा कि उनके नेत्रों की वृत्ति इस समय कहाँ लगी है? तब उन्होंने अपना प्रसिद्ध अन्तिम पद गाया—

'खंजन—नैन रूप—रस—माते।'
× × ×
सूरदास अंजन-गुन अटके नतरु कबं उड़ि जाते॥[2]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० २१०।
२. सूरसागर १०।३२८५।

राधा के मिलनोपरांत प्राप्त सुख के प्रसङ्ग में यह पद सूरसागर में मिलता है। सूरदासजी अपने इष्टदेव के प्रति राधा के महाभाव से एकाकार होने के लिए चंचल हो उठे थे। इस पद को गाते-गाते उनके प्राण पंछी उड़ गए और सदा प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण लीला-सुख में निमज्जित हो गए। प्रारम्भ में दैन्य, विनय, वैराग्य भाव से संयुक्त, सेव्य सेवक-भाव से उत्पन्न भक्ति उत्तरोत्तर सख्य, वात्सल्य एवम् माधुर्य-भाव की ओर अग्रसर होती गयी। इन भावों की तन्मयता भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

सूर के ग्रन्थ—

वार्ता साहित्य में सूर द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या एवम् सूचना प्राप्त नहीं होती। केवल सहस्रों पद रचे हैं यह उल्लेख या सवा लाख पदों की रचना का संकेत अवश्य मिलता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, इतिहास ग्रन्थ आदि में सूर द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या २५ तक पहुँच जाती है। वस्तुतः ये सब ग्रन्थ प्रायः सूरसागर के ही अंश हैं। केवल कुछ टेक के कारण उनको सूरकृत समझ लिया गया। डा० दीनदयालु गुप्त के मतानुसार सूर के केवल तीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।[१] १. सूरसागर, २. सूर-सारावली, ३. साहित्य-लहरी। वे प्राणप्यारी, नलदमयंती, रामजन्म, हरिवंश टीका और एकादशी महात्म्य, इनमें से प्रथम को संदिग्ध और अन्य को अप्रामाणिक मानते हैं। 'सूर-निर्णय' के विद्वान लेखक मीतलजी सूर की ये सात प्रमाणिक रचनाएँ मानते हैं[२]—१. सूर-सारावली, २. सूरसागर, ३. सूर साठी, ४. सूरपचीसी, ५. सेवाफल, ६ साहित्य-लहरी और ७. सूर के विनयादि स्फुट पद। कुछ रचनाएँ अप्रमाणिक हैं तथा दूसरी सूरसागर की ही अंश मानी गयी हैं।

१. सूरसागर—

वार्ता में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है—'सो तब सूरदासजी मनमें विचारे, जो मैं तो सवालाख कीर्तन करिवे को संकल्प कियो है। सो तामें ते लाख कीर्तन प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा से पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने हैं।'[३]

सवालाख पद तो आज उपलब्ध नहीं हैं। 'वार्ता साहित्य' से यह निर्णय

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० २६८।
२. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० १०५–१०७।
३: सूरदास की वार्ता—(अग्रवाल प्रेस मथुरा), प्रसङ्ग १०, पृ० ५५।

अवश्य लिया जा सकता है कि सूर ने सवालाख पद रचे थे, पर अब वे काल के गर्भ में विलीन हो गये हैं। मतलब यह है कि सूर ने अनगिनत पदों की रचना अपने पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व, आचार्य वल्लभाचार्यजी के द्वारा पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद तथा अष्टछाप में सम्मिलित हो जाने के बाद तक वे पदों को रचते रहे, गाते रहे। इन पदों का संग्रह 'सूरसागर' कहलाता है। अपने जीवन-काल में ही इसका किसी न किसी रूप में संकलन हो गया हो ऐसा संभव है। सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इनका उल्लेख है। इनके बारे में विशेष अध्ययन के लिये डा० हरिवंशलाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य' द्रष्टव्य है। मुद्रित प्रतियों में सबसे प्रामाणिक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' की है। यह दो भागों में प्रकाशित हुई है। यह प्रति द्वादश स्कंधात्मक है। सूरदास कीर्तनिया थे, इसलिए इन पदों की रचना दैनंदिन और सामयिक तथा विशेष उत्सवों और नित्य कार्यक्रमों के अवसरों पर होती गयी। सूरसागर की संग्रहात्मक और स्कंधात्मक ऐसी दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती है।

द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर में वर्णित विषयों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—प्रथम स्कंध में विनय के पद, मंगलाचरण, भागवत प्रसङ्ग आदि हैं। द्वितीय स्कंध में नाम-महिमा, शुक नारद-संवाद, चौबीस अवतार वर्णन आदि है। तृतीय स्कंध में शुकवचन, उद्धव-पश्चाताप, भक्ति माहात्म्य, भक्त महिमा और अन्य पौराणिक प्रसङ्ग हैं। चतुर्थ स्कंध में दत्तावतार, पार्वती विवाह, ध्रुव कथा, आदि हैं। पांचवें में ऋषभ-अवतार, जड़भरत, रहूगण संवाद है। षष्ठ में परिक्षित प्रश्न, गुरु महिमा, शुक उत्तर, नहुष अहिल्या कथा आदि हैं। सप्तम स्कंध में नारद जन्म, नृसिंहावतार, भगवान् की शिव को सहायता आदि हैं। अष्टम में गजमोचन, कूर्म, वामन, मत्स्त, अवतारों की कथाएँ हैं। नवम् में रामायण तथा अन्य पौराणिक कथाएँ हैं। दशम् पूर्वार्ध में श्रीकृष्ण बाललीला तथा असुरों का वध, कंस-वध, गोपीप्रेम प्रसङ्ग, रासलीला, दानलीला, मानलीला, राधा का मान, संयोग तथा विरह वर्णन, ऊधो का ब्रज आगमन, भ्रमरगीत, अक्रूर के साथ गमन, ऊधो का प्रत्यागमन आदि बातें विस्तार के साथ है। दशम स्कंध उत्तरार्ध में कालयवन दहन, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणी-विवाह, पाण्डव, तथा अन्य कृष्ण जीवन की घटनाएँ, असुरों का वध, अर्जुन को निजरूपदर्शन आदि का विस्तार में वर्णन है। एकादश स्कंध में नारायण और हंसावतार वर्णन है। द्वादश स्कंध में बुद्ध, कल्कि अवतार वर्णन, परिक्षित हरिपद प्राप्ति, जनमेजय कथा परिशिष्ट एक और दो है। कुल पदों की संख्या ४९३६ है। परिशिष्टों में २०३+२७०=४७३ पद हैं। इस तरह

कुल पद ५४०९ है। इस तरह द्वादश स्कंधात्मक प्रतियों की स्थिति और सकलन संग्रहात्मक प्रतियों के बाद की चीज है।

सूरदास ने अपने सूरसागर में श्रीमद्भागवत तथा कई पुराणों का आधार लेकर अपने पद रचे हैं। विशेषतः भागवत पुराण को प्रश्रय दिया है। गोपियों के प्रेम का और गोपालों की प्रेम चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन इसमें है। कृष्ण परम पुरुष हैं इसे सिद्ध किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं[1]—'सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है। 'सूरदास का एक लम्बा पद है—चौपरिजगत् मड़े जुग बीते।' इस पद में बालक के माता के गर्भ से लेकर मृत्यु तक का वर्णन है जो मानव-जीवन के विफलता की कहानी ही है। इस मनोरंजक विफलता का कारण भजन का मानव-जीवन में अभाव ही है। यह बाजी हाथ आ सकती है यदि मानव भजन करने लग जाय। सूर के भक्ति सिद्धान्त पुष्टि मार्ग पर आधारित है। इसका सीधा सम्बन्ध आचार्य वल्लभाचार्य के प्रतिपादित प्रपत्ति मार्ग से है। सूर की राधा स्वकीया है। बचपन से ही स्नेह का सहज स्वाभाविक विकास युवावस्था तक कृष्ण और राधा में होता दिखाया गया है। इसकी अन्तिम परिणति विवाह में हुई है। श्याम ने श्यामा को बचपन में ही देखा था इसलिए उसमें झिझक या संकोच नहीं है कृष्ण उससे यह पूछते हैं—

'तुम्हारो कहा चोरि हम ले है।
खेलन चलो संग मिलि जोरी॥'

उनकी गुप्त प्रीति बचपन से ही प्रकट हुई थी। प्रातः और सांझ एक फेरा लगाने के लिए बाबा वृषभानु की शपथ कृष्ण ने राधा को दी है। बचपन में राधाकृष्ण मिलन में अनूठापन है। भय अथवा आशंका नहीं है। मुरली की चोरी माखन का हिस्सा, आँखों की लड़ाई दिन भर चलती है। कृष्ण के साथ राधिका के बाल भी सँवारकर स्वयम् यशोदा उन दोनों को अपने हाथों भेजती है। सूरकी राधा प्रेममयी है केवल विलासिनी या निपट ग्वालिन नहीं है। मानिनी अवश्य है पर उसका मान कृष्ण के प्रति अगाध आस्था के आश्वासन पर निर्भर है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद राधा अपनी दशा का निवेदन करती है[2]—

आजु रैनि नहीं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६५।
२. सूरसागर १०।३६२२।

वह चितवन वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवत रही ठगी सी ठाढ़ी कह न सकति कछु काम दही॥
इतने मन व्याकुल भयो सजनी आरज पथहु ते बिहरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी॥

उद्धव प्रसङ्ग में सगुण की सुन्दर स्थापना करके गोपियों ने उद्धव की-ऊधो की उपालंभ एवम् परिहास के बहाने भौंरे की दुर्गति कर डाली है। पर राधा मौन रहती है कुछ भी नहीं कहती। 'सूर-सागर' में प्रेमिका का, माता का, परस्त्री का, कामिनी का, लड़की का, रानी का तथा स्त्री के मातृरूप का सूर ने अपूर्वता से वर्णन किया है। बाल लीला के जौहरी सूरदास अद्वितीय हैं। यशोदा और राधा सूर की दो विलक्षण मूर्तियाँ है। एक माता है और दूसरी प्रेमिका। एक में वात्सल्य और दूसरी में प्रेम का अथ से इति तक सर्वस्व निहित है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरसागरका केन्द्रीय वक्तव्य' 'छबीले मुरली नेंकु बनाऊ', है।[1] सूर ने लौकिक कृष्ण की अलौकिक रूप छटा तथा महिमा वर्णन की है। इसका कारण—सूर जैसे साधक का अत्यन्त ऊँचे स्तर पर रह कर एक अलौकिक मनःस्थिति से भावनाओं के क्षेत्र में विचरण करना ही है। सूर ने कृष्ण की उपासना उन्हें सब कुछ मानकर की है। ब्रज भूमि के गोपाल गोपी-वल्लभ कृष्ण है। सूर के संयोग और वियोग पक्ष में कृष्ण उपास्य हैं उनकी लीलाओंका यशोगान वे सदा करते रहे हैं। सूरसागर केवल काव्य नहीं वह तो धार्मिक,काव्य है। राधा और कृष्ण आत्मा और परमात्मा हैं यह जब मानकर सूरसागर में अवगाहन करेंगे तो उसमें डुबकियाँ लगा सकेंगे अन्यथा नहीं। उसकी तन्मयता, सङ्गीत की माधुरी, भावों की मिठास आदि सब रत्न इकट्ठे हाथ लग जायेंगे। रस-विशेष की प्रतीति और अनुभूति काव्य का लक्ष्य होती है। सूर इसमें सफल हुए हैं। सूर की कला उदात्त मानसिक भूमि पर खड़ी है। अपने परम रहस्यमयी सत्ता के परम उपास्य कृष्ण की आराधना करने के लिए सूर की एक ही प्रतिज्ञा है[2]—

'अविगति गति कछु कहत न आवे।
× × ×
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावे॥'

आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी के शब्दों में यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरदासजी अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय पद

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२९।
२. सूरसागर ६।६१७।

सुनाते हैं,[1] 'सम्पूर्ण भागवती भक्ति का यह बेजोड़ आधारस्तंभ अद्वितीय एवम् अनुपम है। क्योंकि प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्, उपास्य और उपासक की अनन्यता अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है जो केवल सूर की साधना में दृष्टि गोचर हो सकती है।

(२) **सूर सारावली**—इसे सूरसागर की भूमिका भी माना जाता है। पर वास्तव रूप में ऐसा नहीं है। इसमें कुल ११०७ पद हैं। संसार को होली के खेल का रूपक मानकर लीला पुरुष की अद्भुत लीलायें निरन्तर चलती हैं, उनका वर्णन इसमें किया गया है। सूर इसमें एक जगह अन्त में कहते हैं, कि हरि लीला सर्वोपरि है।[2]

करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायौ ॥
श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायो, लीला भेद बतायो ॥
ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द ॥
ताको सार 'सूर-सारावलि', गावत अति विस्तार ॥

इसकी रचना संवत् १६०२ में हुई है। भाषा, कथावस्तु, शैली तथा रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप में सूर की प्रामाणिक रचना है। पुरुषोत्ताम सहस्रनाम 'सारावली' का आधार है। होरी खेल की कल्पना सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करती है। सारावली में साधारणतया वैष्णव भक्ति और विशेषतया पुष्टि-सम्प्रदायी सेवा-भावना का समर्थन किया है। इस सेवा-भावनाका सुन्दर और क्रमबद्ध विवेचन सूर-सारावली में किया गया है। पुष्टिमार्गीय सेवा में नित्योत्सव और वर्षोत्सव की भावनाओं का समावेश होता है। सारावली में दोनों का आयोजन किया गया है। ये सब लीलाएँ रसात्मक ब्रह्म की होने से 'सरस' होती हैं। अतः नित्य लीला और वर्षोत्सव लीला का विवेचन सरसता से इसमें किया गया है। दोनों मिलाकर संवत्सर की सरस लीलाओं का व्यवस्थित वर्णन है। इसके गायन से गर्भ रूप वंदी खाने में आने की आवश्यकता नहीं रहती। देखिये[3]—

सरस संवत्सर लीला गावै, जुगल चरन लावे।
गरभ-वास बन्दी खाने में 'सूर' बहुरि नहि आवै ॥

(३) **साहित्य लहरी**—इसमें दृष्टिकूट जैसे पदों का संग्रह है। रस, अलंकार और नायिका भेद जैसी शैली से यह संबद्ध है। इसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १५६।
२. सूर सारावली–पृ० ११०२–३।
३. सूर सारावली–पद ११०७, पृ० ८८, संपादक प्रभुदयाल मीतल।

प्रति नहीं मिलती। इसकी सटीक संस्करण प्रतियाँ कई निकली हैं। कुछ लोग इसे स्वतन्त्र रचना मानते हैं, तो कुछ सूरसागर में ही आये हुए दृष्टिकूट पदों का संग्रह मानते हैं। कहा जाता है कि सूरदास ने इसे नन्ददास के लिए लिखा था। अपनी ६७ वर्ष की आयु में सूर ने इसे लिखा था। इसमें कुल ११८ पद हैं। साहित्य-लहरी का यह पद देखिये[1]—

> मुनि पुनि रसन के रस लेख।
> दसन गौरी नंद कौ लिखि सुबल संवत पेख॥
> नंद नंदनदास हैते वाल सुख आगार॥
> त्रितिय रीछ सुकर्म जोग विचारी 'सूर' नवीन।
> नन्द-नन्दनदास हित साहित्य-लहरी कीन॥

नंदनंदनदास का अर्थ कृष्ण भक्त लिया जाना चाहिये। जिनमें कृष्ण लीला के साहित्य पक्ष को सिद्ध करने के लिए साहित्य-लहरी की रचना की गई है। सूरदासजी आरम्भ से ही साहित्यिक प्रवृत्ति के थे। पुष्टि मार्गीय भक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप आनन्द रसरूप है और भागवत के मतानुसार उन्होंने काव्य शास्त्रोक्त प्रकारों से ही लीला की। जिस तरह सारावली की रचना दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए की है, उसी तरह सांकेतिक कृष्ण लीला के साहित्यिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए 'साहित्य-लहरी' को रचा। डा० मुन्शीराम के मत से नन्द-नन्दनदास का अर्थ नंदनदास है और इसे सूरदासजी ने नंददास को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त करने के लिए तथा उनकी उद्दाम वासना श्रीकृष्णार्पण करने के हेतु 'साहित्य-लहरी' रची।[2] इसकी रचना विभिन्न मतों के अनुसार संवत् १६०७, १६१७ या संवत् १६२७ बतलाई जाती है। इस विषय में 'सूर निर्णय' यह पुस्तक विशेष द्रष्टव्य है।

साहित्य-लहरी के पद में उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षय तृतीया, रविवार, कृत्तिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा है। यह दिन गणित करने से संवत् १६१७ में ही आता है। अतः संवत् १६१७ 'साहित्य-लहरी' का रचनाकाल मानना उचित होगा।[3] टीकाकारों का सरल अर्थ इस प्रकार है—संवत् १६०७ वैशाख मास, अक्षय तृतीया तिथि रविवार को कृत्तिका नक्षत्र में सुकर्म योग विचार कर सूरदास ने कृष्ण भक्तों के लिए 'साहित्य-लहरी' बनाई।[4] सबसे पुरानी टीका सरदार कवि की है।

---

१. साहित्य लहरी—पद ११३, पृ० १६१, डा० मनमोहन गौतम।
२. सूर सौरभ भाग १—डा० मुन्शीराम 'सोम'।
३. सम्मेलन पत्रिका, पौष २००६।
४. साहित्य लहरी—डा० मनमोहन गौतम, पृ० १२–१३।

सूर साहित्य में सूरदासजी के नाम—

सूर के पदों में सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, और सूरश्याम ये पाँच नाम आते हैं। डा० मुन्शीराम शर्मा ने सूर के इन सभी नामों को प्रामाणिक स्वीकार किया है।[1] मीतलजी 'अष्ट सखामृत' के आधार पर 'सूरजदास' मानते हैं।[2] वार्ता साहित्य उनको 'सूर' और 'सूरदास' मानता है। यह नाम जन्मान्धत्व का परिचायक भी है। नामों की विविधता से सूर के साहित्य को प्रामाणिक रूप से जानने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। साहित्य लहरी के पदों की अन्तिम पंक्ति में 'सूर', 'सूरजश्याम', 'सूरज', 'सूरजदास', 'सूर प्रभु' की छाप मिलती है। सूर सागर के विभिन्न पदों में ये सभी नाम छाप के रूप में मिलते हैं। सारावली में भी 'सूरश्याम' को छोड़कर, अन्य सभी नाम उपलब्ध हो जाते हैं। मीतलजी ने सूर सारावली की भूमिका में इसे सिद्ध कर दिया है कि ये सभी नाम अष्टछापी सूर के ही हैं।[3] वैसे इस विषय में डा० मुन्शीराम का विस्तृत विवेचन भी द्रष्टव्य है जो इन नामों की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है।[4]

अष्टछाप के अन्य वैष्णव कवि

१. परमानंददास :

सूरदास के बारे में इतना सामान्य परिचय कर लेने के पश्चात् यह परमावश्यक हो जाता है कि अष्टछाप के अन्य सन्त कविगणों के बारे में भी कुछ विवेचन किया जाय। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार परमानन्ददास का जन्म कन्नोज जि० फरुखाबाद में हुआ। वार्ता के अतिरिक्त अन्यत्र उनके बारे में कहीं भी कोई वृत्तांत हमें उपलब्ध नहीं होता। एक बैठक वल्लभाचार्य की अब तक यहाँ मिलती है। परमानन्ददास का जन्म एक निर्धन कान्य कुब्ज के घर में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। कवि के माता-पिता निर्धन थे। जब एक सेठ ने उन्हें बहुत द्रव्य दान में दिया, तब परमानंद पैदा हुए। बचपन बड़े सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। बड़ी धूप धाम से यज्ञोपवीत आदि हुआ। अकाल पड़ने पर सारा द्रव्य लुटेरों ने लूट लिया। तब अपने बेटे का विवाह भी वे नहीं कर पाये। उसके पहले ही धन लूटा गया। इस पर उन्होंने दुख प्रकट किया।

---

१. सूर सौरभ भाग ३—डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम', पृ० ५० ।
२. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल ।
३. सूर सारावली—भूमिका—प्रभुदयाल मीतल, पृ० २५–३० ।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा ।

परमानंददास बचपन से ही वैराग्य प्रवृत्ति के थे। अतः विवाह और द्रव्य-संचय के प्रति उन्होंने अस्वीकृति प्रकट कर दी। पर पिता को धन की लालसा थी। अतः वे प्रथम पूर्व में गये, किन्तु परमानंददास कन्नौज में ही रहे। जब धन वहाँ न मिला तो वे दक्षिण में गए। वल्लभ संप्रदायी कीर्तन करने वालों के समाज में परमानन्ददास 'स्वामी' कहलाते थे। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। अतः गृहस्थी के बन्धन से भी विरक्त और मुक्त रहे। कन्नौज में ही इनकी शिक्षा आदि हुई थी। बचपन से ही कविता करने गाने बजाने का शौक था। अतः वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही ये एक योग्य कवि, गायक और कीर्तनिया इस रूप में मशहूर हो गए थे। ये एक बार मकर स्नान के अवसर पर प्रयाग गये। वल्लभाचार्य निकट ही अड़ैल में रहते थे। अड़ैल में इनके कीर्तनों की प्रसिद्धि पहुँची। लोग भी वहाँ गये। एकादशी की सम्पूर्ण रात्रि में कीर्तन करने पर स्वप्न में प्रेरणा पाकर वे अड़ैल चले आए। आचार्य ने भगवद् लीला गान करने को कहा तब परमानन्ददास ने विरह के पद गाये। बाल-लीला वर्णन करने के लिए कहा तो अपना अज्ञान बतलाया। तब आचार्य ने परमानन्ददास को स्नान कराकर शरण में लिया और लीला के दर्शन करवाये। इस प्रकार सम्प्रदाय में आने पर अड़ैल में नवनीत प्रियाजी के सामने कीर्तन करते रहें। यह बात लगभग संवत् १५७६ की है। फिर उन्हीं के साथ व्रज गए। रास्ते में कन्नौज में वे सबको अपने घर ले गये और सबका अतिथि सत्कार किया। एक विरह का पद गाया जिससे आचार्य तीन दिन ध्यानावस्थित रहे। वह पद इस प्रकार है[1]—

हरि तेरी लीला की सुधि आवे।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन-मन चित्र बनावै।
एक बार जाहि मिलन मया करि सो कैसे बिसरावै।
मुख मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावै।
कबहुँक निबड़ तिमर आलिंगित कबहुँक पिक सर गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि संग ही न उठि धावै।
कबहुँक नैन मूंदि अन्तरगति मनिमाला पहिरावै।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान धरि करि ऐसे विरह गमावै।

चौथे दिन सावधान हो जाने पर दूसरा पद गाया[2]—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय–भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २२३।
२. ,, ,, ,,

विमल जस वृन्दावन के चन्द को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविंद को।
कहत जसोदा सखियन आगे वैभव आनँदकंद को।
खेलत फिरत गोप वालक सँग ठाकुर परमानंद को।

अपने शिष्यों को भी उन्होंने आचार्य को सौंप दिया। सभी उनकी शरण में आ गए। स्वामीपना जाकर वे परमानन्ददास वन गए। आचार्य के साथ गोकुल गए। वाललीला के पद वनाए तथा वाद में उन्हीं के साथ गोवर्द्धन गए और गोवर्धननाथ के दर्शन किए। इसी मन्दिर में अनेक पद गाये। वहीं पर उनको कीर्तन सेवा मिली जिसको अन्त तक वे निभाते रहे। इनके सखा भाव के पदों में उच्छृङ्खलता नहीं है। उच्च कोटी के कीर्तनकार होने से अन्य अष्टछाप कवियों में इनका वड़ा मान था, तथा ये प्रभावशाली कीर्तन-काव्य और कीर्तन भक्ति करते थे। गोस्वामीजी अष्ट सखाओं में सूर और परमानन्ददास को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इन दोनों को उन्होंने सागर कहा है। कृष्ण की संपूर्ण लीलाओं का मार्मिक शब्दों में दोनों ने गान किया है। अन्त समय में उनका मन युगल-लीला में लगा था। गोस्वामीजी के पूछने पर उन्होंने गाया[1]—

राधे वैठी तिलक सँभारति।

इनकी मृत्यु सुरभिकुंड पर हुई। यह स्थान उनके नाम से प्रसिद्ध है। ये वल्लभाचार्य से १५ वर्ष छोटे थे। अत: इनका जन्म संवत् १५५० आता है। उन्होंने विठ्ठलनाथ के सातों वालकों की प्रशंसा की है। अनुमानत: सं० १६४० में इनकी मृत्यु हुई।

२. कुम्भनदास :

इनका जन्म जमुनावतौ गाँव में गोरखा क्षत्रिय कुल में हुआ था। परासौली चन्द्र सरोवर के पास इनके पूर्वजों के खेत थे। जमुनावतो में रहकर वे यहाँ की खेती कराते थे। श्रीनाथजी के मन्दिर में समय-समय पर कीर्तन करने के लिए सेवा पर जाते थे। जिस समय गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ तव ये दस वर्ष के थे। यह प्राकट्य सं० १५३५ वैसाख सुदी १३ को हुआ। अतः हिसाव से इनका जन्म संवत् १५२५ ठहरता है। संवत् १५४९ में वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के छोटे मन्दिर में पाठ वैठाया उसी समय ये अपनी स्त्री सहित इनके शरण में आए। कुम्भनदास ने गोस्वामी विठ्ठलनाथ के सातों वालकों की वधाई गाई है। तथा सं० १६१५ में प्रथम सांप्रदायिक छप्पन भोग का उत्सव किया तव

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १, पृ० ३३८, डा० दीनदयालु गुप्त।

अष्टछापी भक्त जीवित थे ऐसा विश्वास है। आठों कवियों के छप्पन भोगों के पद भी गाये जाते हैं। गोस्वामी विठ्ठलनाथ के साथ ये गुजरात यात्रा में भी गये थे। श्रीनाथजी के विरहका वर्णन कुम्भनदासने किया है। यह घटना सं० १६३१ की है। वे संवत् १६३९ के लगभग गोलोकवासी हुए। अकबर ने फतहपुर सीकरी का राज भवन और नगर बनवाया। यही उसकी राजधानी सन् १५८० से सन १५८७ तक रही। अकबर ने कुम्भनदास को सन् १५७० से १५८५ तक किसी समय में बुलवाया। उसकी उदार सहिष्णु मनोवृत्ति यहीं पर रमी थी इसीलिए धार्मिक प्रवृत्तियों पर बहसें यहीं पर हुई थीं। इसी अवसर पर कुम्भनदासकी भक्तिकी प्रशंसा सुनकर उनको दरबार में बुलाया तब उनको हठात् जाना पड़ा। वे पैदल ही गए। वहाँ सीधे-साधे फटेहाल वेश में जा पहुँचे। देशाधिपति को देखकर उनको बड़ा दुख हुआ। अकबर ने गाने के लिए कहा तब यह पद गाया[1]—

सन्तन को कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखै डर लागत ताको करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम।

अकबर के पूछने पर इन्होंने कहा कि मुझे फिर कभी मत बुलाना। इसी तरह राजा मानसिंह भी इनकी त्यागी प्रवृत्ति देखकर बड़े प्रभावित हुए थे। राजा मानसिंह से उनकी भेंट संवत् १५७६ में हुई थी। इसी समय श्रीनाथजी का पाटोत्सव हुआ था। तब उन्होंने यह पद गाया[2]—

रूप देखि पल लागै नाहीं।
गोवर्द्धनधर के अङ्ग-अङ्ग प्रति निरखि नैन मन रहत तहीं।
कहा कहौं कछु कहत न आवै, चित्त चोखो माँगि पे वैसे ही ॥
कुम्भनदास प्रभु के मिलन की सुन्दर बात सखियन कही ॥

मानसिंह ने इनको कुछ देना चाहा। पर इन्होंने सब वापस फेर दिया। एक बार उनके अन्य भक्त सखाओं ने उनसे पूछा आपने युगल-स्वरूप का कीर्तन तो बहुत किया है पर स्वामिनीजी के कीर्तन हमने आपसे नहीं सुने। तब एक पद गाकर उन्होंने सुनाया।

कुंवरि राधिके तुव सकल सौभाग्य सीमा।
या बदन पर कोटि सत चन्द्र वारि डारौं।'

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, डा०—दीनदयालु गुप्त, पृ० २३६।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३७।

स्वामी हरिदास और हित-हरिवंश ने उनका पद सुनकर भूरी-भूरी प्रशंसा की। इनका काव्य उत्कृष्ट कोटि का था यह तो सिद्ध होता है। कुम्भनदासजी को विठ्ठलनाथ के साथ गुजरात और द्वारिका जाना पड़ा। प्रथम दिन अप्सरा कुंड पर ठहरना पड़ा। श्रीनाथजी में इनकी बड़ी आसक्ति थी। उस विरह में दुखी होकर उनकी आँखों से अश्रुधारा उमड़ पड़ी और वे गा उठे[1]—

किते दिन ह्‌वै जु गए बिनु देखे।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन कछुक उठति मुख देखे।
वह सोभा वह कान्ति बदन की कोटिक चन्द विसेषे।
वह चितवनि वह हास मनोहर वह नटवर वपु वेषे।
स्याम सुन्दर सङ्ग मिलि खेलन की आवत जीय उपेषे।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन ज़ीवन जनम अलेषे।

यह दशा देखकर गोस्वामीजी ने कहा इस दशा से तुम परदेश नहीं चल सकोगे। जाओ, गोवर्धननाथजी के दर्शन करो। वे बड़े प्रसन्न हुए और श्रीनाथजी के दर्शन कर गा उठे[2]—

जो पै चोप मिलन की होय।
तो क्यों रहै ताहि बिनु देखे, लाख करे किन कोय।
जो यह विरह परस्पर व्यापै तो कुछ जीय बनै।
लोक लाज कुल की मर्यादा एकौ चित न गनै।
कुम्भनदास प्रभु जाय तन लागी और न कछु सहाय।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखे छिन-छिन कलप बिहाय।

उनके त्याग की और विनम्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा गोस्वामीजी किया करते थे। कुंभनदासजी सादे जीवन और उच्च विचार को अपनाये हुए थे। कभी भी द्रव्य प्राप्ति के विचार से भगवद् आश्रय को उन्होंने नहीं छोड़ा। देह अशक्त हो जाने से एकबार आन्यौरके पास संकर्षण कुण्ड पर जा बैठे। पुत्र चतुर्भुजदास उनको गोदमें उठाकर जमुनावतो ले जाना चाहते थे। तब कुंभनदास ने कहा अब तो दो चार घड़ी में देह छूटेगी। गोस्वामीजी उनके पास पहुँचकर उनसे पूछने लगे, 'तुम्हारा मन किस लीला में लगा है। वे गा उठे[3]—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २३९।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३९।
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—दीनदयालु गुप्त, पृ० २४२

लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै ।
नन्दग्राम वृषथान पुरा विच मारग चलन न पावै ।
हौं मरिहौं डरिहौं नहि काहू ललिता दृगन चलावै ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धरे धर्‌यो सो क्यों न बतावै ।

फिर पूछा अन्तःकरण कहाँ रमा है तब उन्होंने गाया[1]—

रसिकनी रसमें रहत गड़ी ।
कनक वेलि वृषभानु नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी ।
विहरत श्री गिरधरनलाल संग को ने पाठ चढ़ी ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर रति रस केलि वढ़ी ।

यह कहकर अपनी देह छोड़ दी । युगल स्वरूप का ही वर्णन अन्त समय में किया और उसी के ध्यान में प्राण समर्पण किये । चतुर्भुजदास ने उनका क्रिया-कर्म किया । उनका गो-लोकवास डा० दीनदयालु गुप्त के मतानुसार संवत् १६३९ के लगभग हुआ । अष्ट सखाओं में कुम्भनदास बहुत बड़ी उम्र पाये थे । वे ११३ वर्ष की आयु पाकर गोलोकवासी हुए । उनके निधन पर रामदास चौहान कह उठे—'जो ऐसे भवदीय अन्तर्धान भये, अब भूमि में भक्तन को तिरोधान भयो ।'

३. कृष्णदास अधिकारी :

ये शूद्र थे, पर अपनी योग्यता के बल पर श्रीनाथजी के मन्दिर में अधिकारी नियुक्त हुए थे । गुरु और सम्प्रदाय की रक्षा के लिए वे अच्छा बुरा सब करने को प्रस्तुत थे । उनकी भक्ति का बाह्यरूप अनेक प्रकार से अवांछित और विसदृश रूपों में सामने आया है । इनका जन्म गुजरात में राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के एक चिलोतरा नामक गाँव में हुआ । ये कुनबी जाति के शूद्र थे । इनका जन्म संवत् १५५२ के लगभग अनुमाना गया है । विठ्ठलनाथ के सात पुत्रों की बधाईयाँ बनाई हैं । इनका निधन एक कुएँ में गिरकर हुआ तथा निधन सं० १६३१ से संवत् १६३८ के बीच में हुआ । बचपन में अपने पिता को राजा के सामने उनका अपराध प्रकट करके उनके मुखियापद से उनको हटवाया । वे बड़े व्यवहार कशल जीव थे । बचपन में पिता ने उनको घर से निकाल दिया । तब ये तीर्थाटन करते रहे और बाद में वल्लभाचार्य के शरण में आये । उन्होंने विवाह नहीं किया । व्यवहार कुशलता देखकर वल्लभाचार्य ने उनको मन्दिर का अधिकारी बनाया । गोवर्धननाथ के दर्शन से उनका मन भगवान् के स्वरूप में जा लगा । वल्लभाचार्यजी ने उनको रुद्रकुण्ड पर स्नान करने के बाद नाम दिया । पहले वे

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग–१—दीन दयाल गुप्त, पृ० २४२ ।

भेंटिया नियुक्त हुए और बाद में मन्दिर के अधिकारी दोनों कार्य बड़ी योग्यता से सपन्न किए। सूरदास जैसे परम भक्तों के संसर्ग से गान और काव्य कलाएँ उन्होंने सीख लीं। इनका शासन कड़ा था। बङ्गाली सेवकों को उन्होंने बड़ी कूट नितिज्ञता से निकलवाया। स्वयम् विठ्ठलनाथजी को भी इन्होंने ड्योढ़ी पर आना बंद करवाया था। सूरदासजी को परासोली जाना पड़ा था। श्रीनाथजी भी साशंक रहते थे। राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृङ्गार रस के पद मिले हैं—देखिये[1]—

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजत गोपी।
मनहुँ विधाता गिरधर पिय हित सुरत-धुजा सुखरोपी।
वदनकांति कै सुनुरी भामिनी। सघनचंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी वस कीन्हे, प्रेम पुन्ज की चोपी।

अधिकार के कारण कुछ अहंकार प्रवृत्ति भी उनमें जगी थी। एक नर्तकी का इन्होंने उद्धार किया। सांप्रदायिक दृष्टि से यह कार्य परोपकार पूर्ण था पर लौकिक दृष्टि से इन्द्रिय-लोलुपता पूर्ण ही माना गया है। वीरवल ने इनको कैद कर रखा था। विठ्ठलनाथ ने कृपा कर उनको छुड़वाया और पुनः अधिकार सौंप दिया। एक क्षत्राणी गङ्गाबाई इनकी मित्र थी। इसी बात को लेकर उनके चरित्र पर सन्देह प्रकट किया जाता है। अन्तकाल की एक घटना है। किसी वैष्णव ने ३०७ रुपये श्रीनाथजी का कुआँ वनवाने के लिये इनको दिये थे। इसमें से सौ रुपये छिपाकर दो सौ में कुआँ वनवाया, वहीं उनका पैर फिसल गया और कुएँ में गिरकर मर गए और प्रेत योनि को प्राप्त हुए। गोपीनाथ ग्वाल से प्रेत रूप में उन्होंने वतलाया कि अमुक स्थान पर सौ रुपये गढ़े हैं। अधूरा कुआँ वनवा दीजिए तो मेरी प्रेत-योनि छूट जायगी। इनकी अन्तिम पद यह गाथा—

मोमन गिरधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग-चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठरक्यो॥
सजल स्याम-घन वरन लीन ह्वै फिरिचित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान बिछावर यह तन जग सिर पटक्यो।

इनकी कविता साधारण कोटि की है।

४. नन्ददास :

गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्यों में से ये सब से प्रमुख हैं। सूर के

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त।

समकालीन हैं। तुलसीदास के भाई भी बतलाए गए हैं। शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। तुलसीदास उनके सगे भाई थे या चचेरे यह बात वार्ता में स्पष्ट नहीं हो पाई है। इनका अध्ययन गंभीर था, तथा विद्वत्ता के लिए इनका बड़ा मान था। संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और इनको हिन्दी भाषा से बड़ा प्रेम था। सर्व साधारण की आवश्यकताओं को सामने रखकर भाषा में भागवत के सम्पूर्ण दशम स्कंध का अनुवाद किया। इन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं। रास-पंचाध्यायी, रूप-मंजरी, रस-मंजरी अनेकार्थ-मंजरी, विरह-मंजरी, मान-मंजरी, नाममाला, स्यामसगाई, सुदामा चरित, भँवर-गीत आदि। प्रसिद्ध पुस्तकें दो ही हैं। (१) रासपंचाध्यायी और (२) भँवर-गीत। कहीं भी इन्होंने अपनी रचना का रचनाकाल नहीं दिया है। मथुरा जाते समय एक खत्री साहूकार दंपति का साथ पड़ गया। क्षत्राणी बड़ी रूपवती थी। उस पर मोहित होकर वे बार-बार उसको देखते रहे। उसके विरह में नाविक के द्वारा इनको पार न उतारने पर इन्होंने जमुना स्तुति की। वह खत्री विठ्ठलनाथ का शिष्य था।

जीवन की यह लौकिक घटना थी। पर वियोगजन्य अनुभूति ने इनके कवित्व शक्ति को जगा दिया। रूपवती क्षत्राणी के दर्शन में सौन्दर्य को देखा। प्रेम की भावना को आँका। वासना को तोला। विरहातुरता को समझा। सम्मिलन की सुखद कल्पना की। अन्त में संसार में लिप्त मनुष्य के हृदय की विफलता को भी समझा। रास पंचाध्यायी इसीलिये सजीव हो गई है। निरुपाय नंददास को विठ्ठलनाथ ने बुला लिया। उनके दर्शन से ही नंददास का मन सांसारिकता से छूटकर भगवान कृष्ण के चरणों में जा लगा। गुरु वंदना और बालकृष्ण के पद गाने लगे। 'रहौं सदा चरनन के आगे।' यह इन की कामना है। बीच में मन गृहस्थी में रमा था पर फिर वे वापस लौट आए।

ये अपनी आँखों के सामने कृष्ण की लावण्यमयी मूर्ति को रास में थिरकते हुए देखा करते थे—

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पटकी।

—रास पंचाध्यायी।

नन्ददास सहृदय, सौन्दर्य प्रेमी और रसिक व्यक्ति थे। दृढ़ चरित्र वाले, चपल और धर्म-भीरु थे। सूरदास ने साहित्य लहरी को नंददास का मन एकाग्र करने की दृष्टि से रचा था। नंददास की शरणागति संवत् १६१६ के लगभग हुई थी। इनका जन्म संवत् १५९० के लगभग माना गया है। २५२ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार अकबर बादशाह के समक्ष नन्ददास की मृत्यु हुई। नन्ददास की

मृत्यु का समय संवत् १६३९ अनुमानतः हो सकता है । अकबर जब गोवर्द्धन पर्वत पर गया था तब बीरबल के साथ अकबर ने नंददास से भेंट की है । इनकी कविता के बारे में प्रसिद्ध है 'नन्ददास जड़िया । और कवि गढ़िया ।' इनका 'देखो-देखो री नागर नट निर्तत कालिन्दी तट ।' यह पद तानसेन से सुनकर नन्ददास एक भक्त थे, यह अकबर ने समझा था ।

५. चतुर्भुजदास :

ये कुम्भनदास के सुपुत्र थे और गोरखा क्षत्री थे । अपने पिता के ये सबसे छोटे और सातवें पुत्र थे । प्रथम विवाह के कुछ ही दिन उपरान्त इनकी पत्नी मर गई । तब दूसरा विवाह एक विधवा स्त्री से हुआ । अपने पिता की तरह गृहस्थ होने पर इन्हें गृहस्थी का मोह नहीं था । सदैव श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में ही रहते थे । कुंभनदासजी ने अपने बालक चतुर्भुजदास को विठ्ठलनाथजी के पास ले जाकर कहा—महाराज कृपा करके इसे नाम सुनाइये । तब यह सुनकर बालक चतुर्भुजदास हँसे । उसी दिन राज-भोग के समय गुसाँईजी ने उसे अपने शरण में लिया । इनकी शिक्षा पिता कुम्भनदास तथा विठ्ठलनाथजी की देखरेख में हुई । ये श्रीनाथजी के समक्ष कीर्तन किया करते । इनके पद बाल-लीला, विनय और विरह के भावों को लेकर बनाये गये हैं । इनकी जन्मतिथि और शरणागति का संवत् १५९७ है । इसका गोलोकवास संवत् १६४२ में हुआ । इनकी पहली कविता का एक चरण कुम्भनदासजी ने इस प्रकार बनाया—

बह देखो बरत झरोकन दीपक हरि पौढेऊँची चित्रसारी ।

दूसरा चरण चतुर्भुज ने बनाकर प्रस्तुत किया ।

सुन्दर बदन निहारन कारन राखे है बहुत जतन कर प्यारी ।

अष्टसखान की वार्ता के अनुसार जब श्री विठ्ठलनाथजी ने श्री गिरिराज की कन्दरा में प्रवेश किया और नित्य लीला में सम्मिलित हुए । उस समय चतुर्भुजदास अपने गाँव से इस समाचार को सुनकर गिरिराज पर आये और कन्दरा के आगे गिरकर विलाप करने लगे । कहने लगे महाराज पधारते समय मुझें आपके दर्शन भी नहीं हुए । मैं अब इस पृथ्वी पर किसको देखूँगा । मुझे अब जीवित मत रखो । विरह में ये दो पद गाये[1]—

१. फिर ब्रज बसहु श्री विठ्ठलेश ।

तथा

२. विठ्ठल सो प्रभु भये न ह्वै हैं ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २६५ ।

इस प्रकार विरह के कीर्तन करते-करते चतुर्भुजदास ने भी अपनी देह छोड़ दी।

६. गोविन्द स्वामी :

इनका जन्म आँतरी-ग्राम में हुआ। जीवन की किसी विषम परिस्थिति से ठेस पाकर तथा साधु महात्माओं के उपदेशों से उनके मन की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर झुक गई थी। वे श्रीनाथजी की सख्यभाव से भक्ति करते थे। इनकी प्रकृति बड़ी विनोदशीला थी। गान-विद्या में निपुण होने से वल्लभ संप्रदाय में आने के पूर्व ही इनके कई शिष्य हो गये थे। आँतरी से ये महावन में रहने लगे थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद ये गोवर्धन चले गये। इसके पूर्व वे गोकुल और महावनके टीलों पर बैठकर कीर्तन करते थे। अन्त समय तक गोवर्धन पर ही रहे। उनकी गिरिराज की कदम-खण्डी उनका स्थायी निवास स्थान है। उनकी यह जगह गोविन्द स्वामी की 'कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है।

इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में लगभग संवत् १५६२ में हुआ। संवत् १५९२ में ये वल्लभ-सम्प्रदाय में आये। शरणागति के पूर्व ये कवीश्वर और प्रसिद्ध गवैये थे। गायन विद्या को सीखने के लिए अनेक शिष्य इनके बन गए। इसलिए लोग इनको 'स्वामी' कहने लगे। इस समय इनका विवाह भी हो गया था। तथा सन्तान भी थी। अतः कुछ समय गृहस्थी का भोग करने के बाद ही इनके चित्त में भगवद्-भक्ति प्राप्ति की इच्छा प्रबल हुई होगी। इनके फुटकल पद ही प्राप्त होते हैं। इनके गान की मनोहारिता की ख्याति सुनकर श्री तानसेन स्वयम् इनके गाने सुनने आये थे ऐसा कहा जाता है। इनके दो पद बहुत प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी विठ्ठलनाथजी जब नित्य लीला में प्रवेश कर गये, तब इन्होंने भी देह सहित कन्दरा में प्रवेश किया और नित्य लीला में पहुँचे। गोविन्द स्वामी की गोलोकवास तिथि संवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण सप्तमी है। इनका एक पद इस प्रकार है—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर-सुत को उबटि न्हावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति ॥
छूटे बंद बागे अति सोभित, बिच-बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु की छबि कछु कहति न आवति।
बिविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली बेंत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख कों, गोविन्द प्रभु चरननि सिर नावति ॥

७. छीतस्वामी :

ये मथुरा के एक सम्पन्न पंडा थे। महाराज वीरवल इनके यजमान थे। पहले अत्यन्त उद्दण्ड प्रकृति के थे और वड़े अक्खड़ थे। पर गोसाँईजी की शरण में आने पर विनम्र और मृदु स्वभाव के वन गए। इनके कुछ फुटकल पद मिलते हैं। ये गान-विद्या-निपुण थे। इनका जन्म लगभग संवत् १५६७ में हुआ। तथा संवत् १५६२ में वल्लभ-सम्प्रदाय की शरणागति स्वीकार की। इस सम्प्रदाय में आने के पूर्व छीतस्वामी पाँच प्रसिद्ध गुण्डे चौवों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इनके चार चौवे मित्रों ने इनके सहित विठ्ठलनाथजी की परीक्षा करनी चाही। अतः एक खोटा रुपया और राख से भरा नारियल लेकर गोकुल में विठ्ठलनाथजी की ममखरी करने आये। छीतस्वामी के चार मित्र वाहर बैठे रहे। वे स्वयम् भीतर चले गए। गोस्वामीजी के स्वरूप की मोहिनी इन पर पड़ते ही मसखरी गायव हो गई, और पश्चाताप का भाव इनके मन में प्रादुर्भूत हुआ। हाथ वाँधकर कहने लगे—महाराज मेरा अपराध क्षमा करो और मुझे शरण दो। स्वामित्व छूट जाय। मन की कुटिलता आपके दर्शन से ही भाग गई। मुझे अव अपना लीजिए। गोस्वामीजी ने उनको नाम सुनाया और शरण में ले लिया। तव यह पद उन्होंने गाया[1]—

भई अब गिरधर सों पहचान।
कपट रूप धरि छलि-वे आयो, पुरुषोत्तम नहिं जान।
छोटो बड़ो कछु नहि जान्यो, छाय रह्यो अज्ञान।
छीत-स्वामी देखत अपनायो श्री विठ्ठल कृपा-निधान।

फिर शरण मिलने से प्रसन्न होकर हर्ष से गा उठे—'हौं चरणात पत्र की छैयाँ।' 'फिर नवनीत प्रिया और गोवर्द्धननाथके दर्शन कर और भी निर्मल हो गए। फिर अपना आत्म-समर्पण कर गुसाँईजी से आज्ञा माँगकर मथुरा वापस आ गए। गुसाँईजी की कृपा से छीत-स्वामी भवदीय-कवीश्वर और कीर्तनकार वने। फिर जीवन भर श्रीनाथजी की सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया। गोस्वामी विठ्ठलनाथजी का गोलोकवास सुनकर उस शोक-संवाद से ये मूर्छित हो गये। इस मूर्छा में उनको श्रीनाथजी के दर्शन हुए। उनको सांत्वना देते हुए कहा कि अव तकमें आचार्य और गुसाँईजी के रूपों द्वारा अनुभव कराता था। पर अव में सात रूपों से अनुभव कराऊँगा। अनुभव करते ही चेतना जगी। विठ्ठलनाथजी के सात पुत्रों की वधाई गाकर उन्होंने देह त्याग दी। संवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण ८ के दिन इनका गोलोक-वास हुआ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २७५।

इन अष्टछाप के सभी कवियों में लीला-गान और भगवान् का रूप माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है। नंददास ने इन विषयों के बाहर जाकर भी रचनाएं की हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन कवियों की रचनाओं में प्रौढ़ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार देखकर उनकी एक सुनिश्चित परम्परा ही रही हो। अपने परवर्ती काल की व्रज भाषा को लीला-निकेतन भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकांत भाव से बांध देने का श्रेय इन कवियों को दिया जा सकता है।

मीराबाई :

मीराबाई के बारे में एक छप्पय प्रसिद्ध है जो नाभादास का रचयित है वह इस प्रकार है[1]—

> **लोकलाज कुल शृङ्खला तजि मीरां गिरधर भजी।**
> **सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलियुगहि दिखायो।**
> **निर अंकुश अति निडर रसिके जस रसना गायो।**
> **दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।**
> **वार न वाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।**
> **भक्ति निसान वजाय कै, काहू ते नाहिन तजी।**
> **लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीरां गिरधर भजी॥**

पंचमुखी भक्ति के सिद्धांत के अनुसार भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने उपास्य का रूप अपने लिए स्वयम् स्थापित करता है और तभी उसके प्रति साधक अपनी एकान्तिक भक्ति की स्थापना कर सकता है। मीरा पूर्ण रूप से निरंकुश होकर निडरता के साथ परम रसिक कृष्ण के यश की रसना द्वारा रसिकता से ओतप्रोत गायन करती रही। मीराँ ने क्या प्राप्त किया? माधुर्य भाव की यह चेतना हृदय की सहज अनिवार्य प्रवृत्ति है। तथा भक्ति-मार्ग के साधक या साधिका के लिए भी एक सीमा तक पहुंच जाने पर निश्चित रूपेण आवश्यक सी हो जाती है। मीराँ ने वरावर इसी साधन को अपनाया और अपने 'जनम-जनम रो साथी।' की पुरानी प्रीत को और अपने को 'जणम-जणम री क्वांरी' रहकर की हुई साधना को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया। डाकोर की प्रति का यह पद इस प्रकार है[2]—

कांई म्हारो जणम वारम्बार।

इसमें जो कुछ विवेचित है उससे यह प्रतीत होता है कि पूर्व जन्म की पुण्य-दशा समाप्त हो जाने के कारण मानवी-रूप में पुनः उनका अवतार हुआ। भक्ति की

---

१. भक्तमाल नाभादासकृत—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पृ० २४०।
२. डाकोर प्रति पद संख्या ६७ क।

पराकाष्ठा जितनी स्त्री-हृदय में मिलती है उतनी पुरुष-हृदय में नहीं। डा० जगदीश-गुप्त के मतानुसार मीराँ १६ वीं शताब्दी की हैं।[1] गुजराती तथा हिन्दी की विद्वान-मण्डली का यही मत है। 'वृहद काव्य दोहन' के भाग १, २, ५, ६ और ७ में मीराँ के १६० गुजराती पद मिलते हैं। डाकोरवाली प्रति की भाषा शुद्ध राजस्थानी है। मीराँ के कुछ पद मिश्रित भाषा के भी मिलते हैं। किसी भी परिस्थिति में मीराँ को हम गुजराती नहीं कह सकते। डा० कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी के मतानुसार मीराँ के पदों द्वारा शुद्ध भक्ति का प्रचार जितना गुजरात में हुआ उतना नरसी मेहता के पदों द्वारा नहीं हुआ। मीराँ न तो गुजराती थी न उनके पद गुजराती में लिखे गए थे। यह निष्कर्ष मुन्शीजी ने गुजरात से प्राप्त मीराँ के पदों से युक्त एक हस्तलिखित प्रति को देखकर निकाला है। यह प्रति संग्रहालय, गुजरात-विद्या-सभा अहमदावाद में द्रष्टव्य है।[2]

मीराँ की जीवनी —

मीराँ की जन्म भूमि राजस्थान है अतः उनकी मातृ भाषा राजस्थानी है। उनका पतिकुल मेवाड़ का है और पितृकुल मेड़ता का है। इसीलिए वे अपने आपको 'मेड़तणी' कहती हैं। जोधपुर के संस्थापक राठोड़राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजीने मेड़ता नगर वसाया। इन्हीं राव दूदा का ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव संवत् १५३४ से संवत् १६०२ तक जीवित रहा। इनके पुत्र का नाम जयमल था। चतुर्थ पुत्र का नाम रतनसी रत्नसिंह था। इनका जन्म संवत् १५३० में हुआ और मृत्यु संवत् १५८० में हुई। मीराँ का जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। अनुमानतः मीराँ का जन्म संवत् १५६० माना जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल मीराँ का जन्म १५५६ से संवैत् १५६० के वीच किसी समय मानते हैं।[3] मीराँ रत्नसिंह की एकमात्र पुत्री थी। ये कुड़की गाँव में पैदा हुई। वचपन में ही माता चल वसी। दूदाजी ने इनको अपने यहाँ वुला लिया। वहीं इनका पालन-पोषण हुआ। जव ये विवाह योग्य हो गईं तव राणा संग्रामसिंह के द्वितीय पुत्र भोजराज से इनका विवाह हुआ। वे चित्तौड़ गईं। पर भोजराज १५७३ से १५८३ के वीच स्वर्गस्थ हुए। अतः मीराँ विधवा हो गईं। अपने वालपन के मीत गिरिधारीलाल की मूर्ति को वे अपने पतिगृह में ले गईं। मीराँवाई के पूर्वज वैष्णव और

---

१. गुजराती और व्रज भाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १६।

२. ह० प्र० नं० ५, ४७७ क० सं० १६६५।

३. मीराँवाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० ५७।

भागवत थे। इन पूर्वजों में कई भागवत् भक्त कहलाते थे। बचपन से ही चतुर्भुज विष्णु मूर्ति से मीराँ ने अपना नाता जोड़ लिया था। इसी मूर्ति से खेलते-खेलते दिल लगा बैठी थीं। विधवा हो जाने पर रात दिन उस मूर्ति की सेवा और पूजा जी जान से करने लगी। राणाजी के खानदान में मीराँ की भक्ति-भावना और उपासना एक अभिशाप रूप में देखे गए। विक्रमाजित ने मीराँबाई को बहुत कष्ट दिया। उनका संत-समागम रोक दिया गया तथा जहर का प्याला भी भेजा गया। उसे वे चरणामृत समझकर पी गई। राजनीति के बवंडरों से उकताकर मीराँ फिर मेड़ते में रही। यहाँ पर भी साधु सन्तों की देखभाल उसी तरह होती थी जैसी चित्तौड़ में होती थी। संवत् १६०३ में मीराँ का देहान्त हुआ। वे द्वारका में रणछोड़जी के दर्शनार्थ गयी। एक ब्राह्मण ने यहाँ धरना दिया था, जिसे राणा ने उन्हें लौटाने के लिए भेजा था। पर मीराँबाई ने जाना स्वीकार नहीं किया। परन्तु वे रणछोड़ के मूर्ति में समा गईं। यह मूर्ति डाकोर के इलाके में गुजरात में है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनकी मृत्यु द्वारका में हुई। मीराँबाई वृन्दावन भी गयीं थीं। वहाँ पर वे जीव-गोस्वामी से मिलीं थीं। पहले तो उन्होंने मीराँबाई से मिलने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होंने कहा—'कृष्ण के अतिरिक्त परम-पुरुष और कोई नहीं है।' यह सुनकर वे फौरन उनसे मिलने दौड़े चले आए। ये चैतन्य के शिष्यों में से थे। चैतन्य महाप्रभु राधाकृष्ण की भक्ति और कीर्तन के अनन्य उपासक और प्रबल प्रचारक भी थे। ये गुजरात और राजस्थान भी गए थे। मीराँबाई का कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव था। मीराँ चैतन्य से दीक्षित नहीं थी। परन्तु यह कहा जा सकता है कि वे चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति से अनुप्राणित एवम् प्रभावित अवश्य कही जा सकती है। चैतन्य द्वारा की गई सङ्कीर्तन भक्ति के अनुसार मीराँबाई के अनेक पद मिलते हैं। पर वे चैतन्य से मिली होंगी ऐसा अनुमान भ्रमात्मक ही है। उसी प्रकार तुलसीदास को उन्होंने पत्र लिखा था, यह अनुश्रुति भी प्रमाणिक नहीं मानी जा सकती।

कुछ किंवदन्तियाँ—

कृष्णदास अधिकारी की वार्ता से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित करने की चेष्टा की गई थी। पर मीराँ ने उसे स्वीकार नहीं किया। द्वारका से रणछोड़ के दर्शन कर लौटते समय वे मीराँबाई के गाँव गये। वहाँ हरिवंश आदि वैष्णवों को बैठा देखकर वे वहाँ पर नहीं ठहरे। मीराँ द्वारा दी गई मोहरों को भी अस्वीकार कर दिया और कहा कि तुम महाप्रभू की सेविका नहीं हो अतः हम तुम्हारे हाथ की भेंट नहीं छुवेंगे। चौरासी-वैष्णवन की वार्ता में

एक प्रसङ्ग रामदास को लेकर मिलता है। मीराँ वल्लभाचार्य के समकालीन थीं। इसका इस बातसे पता चलता है। मीराँने रामदासके साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार किया यद्यपि वे बिगड़े और उठ खड़े हुए थे। हरि भक्तों की सेवा में उन्होंने काफी खर्च किया। साम्प्रदायिकता और सकीर्णता का मनमें लेशमात्र अंश भी न था। बाल्य-काल की अनुचरी के रूप में उनकी एक प्रिय दासी ललिता उनकी सखी थी। यह जीवन पर्यन्त उनके साथ छाया की तरह रही थी। उसे 'माई' कहकर वे संबोधन करती थीं। कहा जाता है कि जिस दिन मीराँ रणछोड़जी की मूर्ति में समा गईं तब नवविवाहिता की तरह शृङ्गार कर मीराँ के सामने उपस्थित हो गयी और उनको प्रणाम कर समुद्र की लहरों में समा गई। यही ललिता मीराँ के पदों को लेख-बद्ध किया करती थी।

मीराँ की रचनाएँ—

मीराँ के नाम पर चार रचनाएँ मिलती हैं। (१) गीत-गोविन्द की टीका (गीत-गोविन्द की भाषा टीका) (२) नरसीजी रो माहेरो—नानीबाई की पहरावनी का वर्णन, (३) फुटकल पद—दस भक्तों का पद-संग्रह और (४) राग सोरठ पद-संग्रह। (कबीर, नामदेव और मीराँ के पद।) (१) इनमें से पहले के बारे में यह निश्चित है कि वह मीराँ कृत नहीं है। मुन्शी देवीप्रसाद ने इस रचना के कुछ अंश प्रकाशित किए हैं। रचना की भाषा शिथिल है। पूरी पुस्तक प्रकाशित हुए बिना कोई निर्णय कर सकना कठिन है। (२) गीत-गोविन्द की टीका वास्तव में महाराणा कुम्भा द्वारा रचित है। मीराँ को तो लोगों ने राणा कुम्भा की पत्नी तक बना दिया था। अतः यह भी मीराँ कृत नहीं हो सकता। (३) फुटकर पद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। पर इसमें मीराँ के पदों का संग्रह है जिसमें अन्य भक्तों के भी पद सम्मिलित हैं। अन्य रचनाएँ भी इसी तरह यही निर्णय देती हैं कि या तो वे संग्रहीत पद हैं अथवा सङ्कलन है। मीराँ रचित गर्बा-गीत तथा मीराँ की मल्हार भी उनके नाम पर बतलाई जाती है। पर इन गीतों में भाषा का नयापन होने से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि वे मीराँ कृत नहीं हो सकते। मीराँ ने किसी ग्रन्थ विशेष की रचना नहीं की थी। वे पद मात्र बनाया करती थीं जिन्हें सुनकर लोगों ने लिख लिया होगा। 'मीराँ पदावली' ही एक मात्र उनकी रचना मानी जावेगी। वैसे मीराँ ने स्वयं इस पदावली का कोई नामकरण नहीं किया था। मीराँ में वैराग्य प्रवणता और भक्ति भावना बचपन से ही दृढ़ थी। उन्हें जोगिन का वेश बहुत प्रिय था। एक पद से इस भाव को देखा जा सकता है—

हार सिंगार सभी ल्यो आपणों चूड़ी करली पटकी।
मेरा सुहाग अब मोकूँ दरसाँ और न जाने घटकी।

जोगिन होइ मैं बन-बन डोलूँ तेरा पाया भेद।
तेरी मूरत के कारणै, घर लिया भगवा भेस।[1]

मीराँ के आविर्भाव काल का वातावरण भक्तिमय था। मीराँ की माधुरी भावना प्रेम-मूला थी। साँवरे रंग में रंग कर उसका सब कुछ उज्ज्वल हो गया था। कृष्ण प्रेम के पारस स्पर्श ने उसके हृदय को कंचन बना दिया था। उसका प्रेम अपने जनम-जनम के साथी से है। इसीलिए इस प्रेम में एक निष्ठता और सघनता है। नारी एक ही बार अपना वर चुनती है। लौकिक वर प्राप्त होने के पूर्व ही उसने अलौकिक वर को चुन लिया था। वे कहती हैं[2]—

राणाजी मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरधारी म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ।
पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहीं जात निवारी॥
तुमतजि और भतार को मनमें नहिं आवतो हो।
बालापन तो मीराँ किन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत क्यों हूँ नहिं लगन लगी वारी जाऊँ।

मीराँ के पद आत्मनिष्ठ दिव्य प्रेम के व्यंजक हैं। शैली उत्तम पुरुष में अभिव्यंजित है। मीराँ ने राधा की ही तरह अपने प्रियतम के साथ नित्य-लीला-विहार किया है। नाना प्रकार की प्रेम की बातें और क्रीड़ाएँ की हैं अतः अपनी स्वानुभूति की प्रेम मिठास को वे अपने पदों में भर देती हैं। विद्यापति, सूरदास, नंददास, हितहरिवंश आदि सन्तों ने राधाकृष्ण के प्रेम का गान किया। मीराँ ने अपने भावों को संगीत के माधुर्य के साथ अपने पदों में व्यक्त किया।

उनके गुरु रैदास थे, ऐसा एक मत प्रचलित है पर यह असंभव सा जान पड़ता है। ये मीराँ के बहुत पहले हुए थे। अतः संभवतः किसी रैदासी सन्त के लिए उन्होंने अपने एक पद में यह कहा है—

रैदास संत मिले मोहि सतगुर दीन्ही सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी॥

मीराँ के गीत उन्मुक्त आकाश में विचरण करने वाले स्वच्छन्द पक्षी के गीत हैं। ये भारत भर में प्रसिद्ध हैं। अतः इनके नाम का प्रामाणिक संग्रह मिलना कठिन कार्य है। मीराँ किसी भी सम्प्रदाय विशिष्ट में नही आती है। डाकोर और

---

१. मीराँ पदावली।
२. मीरा माधुरी—४६८ पद, ब्रज रत्नदास।

काशी की प्रतियाँ मीराँ की पदावली के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। डाकोर वाली प्रति गोवर्धनप्रसाद भट्ट के संग्रहालय से श्री आचार्य ललिताप्रसाद शुक्लजी को प्राप्त हुई थी। भट्टजी की यह पोथी रणछोड़दास के मन्दिर में रखी हुई ललिता द्वारा लिखित प्रति के आधार पर संवत् १६४२ में नकल की गई थी। इस प्रति का अवलोकन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था। इसके अतिरिक्त लगभग सोलह और हस्तलिखित संग्रह मिल चुके हैं जिनमें चार काशी में, दो कानपुर में, दो रायबरेली में, तीन मथुरा में और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर में आचार्य ललिताप्रसादजी ने देखे थे। इस तरह कुल १०३ पद संग्रहीत किये गये हैं। इतना निश्चित है कि ये मीराँ कृत हैं। इनके पाठ-भेदों के विषय में मतभेद हो सकता है। मीराँ के पद कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भावों के अर्थात् सन्त मत के, सहजिया मत के, और योग पंथ के भी पद मिलते हैं। उनमें से वास्तव मीराँकृत कितने हैं और प्रक्षिप्त कितने हैं यह जानना कठिन है।

वैसे मीराबाई के पदों को लेकर कई पदावलियाँ और संग्रह निकल चुके हैं। और अधिक से अधिक पद मीराँ के हैं यह बतलाने की होड़ सी लगी जान पड़ती है। इस तरह कई संग्रह निकल चुके हैं।

मीराँबाई की ख्याति वैष्णव भक्ति साहित्याकाश में ध्रुव तारे की तरह अडिग और अटल रूप से विद्यमान है। मीराँ ने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया किसी ने ठीक ही कहा है—

नाम रहेगो नाम से सुनो सयाने लोय।
मीराँ सुत जायो नहीं, शिष्य न मूँड्यो कोय।।

माधुरी भक्ति, दाम्पत्य-भावना से की गई भक्ति-भावना विरह की प्रेम-पीड़ा और एकान्तिक-निष्ठा के कारण मीराँ अजर अमर है।

षष्ठ—अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक-पक्ष

षष्ठ–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

ज्ञानेश्वर के द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप :

परब्रह्म का स्वरूप—

ज्ञानेश्वर के अनुसार परमात्मा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता क्योंकि ज्ञेयत्व के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। वस्तुतः ब्रह्म नेत्रों का नेत्र है, कानों का कान है, मनों का मन है, तथा वाचा-शक्ति की वाचाशक्ति है अर्थात् उपनिषद्कालीन ऋषि जिसे 'यदवाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।[1]' ऐसा वर्णन करते हैं। देखिए ज्ञानेश्वर भी उसी तरह कहते हैं—

'तेवीं जेणें तेजें। वाचेसि वाच्य सुजे।
ते वाचा प्रकाशिजे। हे के आहे ॥'[2]

परमात्मा के तेज से अर्थात् ज्ञान से वाणी के द्वारा सारे वाच्य घटों का प्रकाशन हो जाता है, किन्तु वही वाणी प्रकाश रूप परमात्मा का प्रकाशन या ज्ञान कैसे दे सकती है? परब्रह्म किसी का विषय नहीं बन सकता। नाथसंप्रदाय का दर्शन उनको गुरुपरम्परा से मिला है, इसलिए अद्वैतमत प्रणाली उनको मान्य है। नाथ-परम्परागत अद्वैतवाद और शांकर (वैष्णव परम्परागत) अद्वैतवाद दोनों ही ज्ञानेश्वर में दिखाई देते हैं। ज्ञानेश्वर अपनी व्यक्तिगत-साधना में निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत दर्शन को अपनाते हैं। समाज के लिए सगुण साधना का अवलंब किया जाय, ऐसा उनका मत है। पर यहाँ उस पर चर्चा हमें नहीं करनी है। अपने निर्गुण तत्व का प्रतिपादन ज्ञानेश्वर अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से करते हुए प्रतीत होते हैं। वे स्वयम् साक्षात्कारी योगी थे, इसलिए उनके अद्वैत तत्व प्रतिपादन शैली में हम नवीनता और अपूर्वता पाते हैं। अतः वे वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौड़ पादाचार्य, शंकराचार्य आदि की कोटि में गिने जाते हैं। ये सारे अद्वैत सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं।

---

१. केनोपनिषद्, १–५।
२. अमृतानुभव—प्र० ५–१५।

ज्ञानेश्वरी में सगुण निर्गुण के परे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञानेश्वर वतलाते हैं—

सकळु ना निष्कळु। अक्रियु ना क्रियाशीळु।
कृश वा स्थळु। निर्गुण परो ॥ ७ ॥
आनन्दु ना निरानन्दु। एक ना विविधु।
मोकळा ना वद्धु। आत्मपरो ॥१११०॥[1]

यह ब्रह्म निर्गुण होने से इसके कोई भाग या हिस्से अथवा अंश नहीं है। उसे कर्म सहित या कर्म रहित नहीं मान सकते। वह कृश नहीं है और हृष्ट-पुष्ट भी नहीं है। अरूप होने से अदृश्य है ऐसा कहने पर वह अदृश्य भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट-व्यक्त एवम् साकार नहीं है और अप्रकट एवम् निराकार भी नहीं है। परमात्मा होने से वह आनन्द रहित व दुःख रहित नहीं है। वह सुख दुःख आनन्द विषाद के परे है। वह न तो मुक्त है अथवा वद्ध है। वह इन सवसे परे है।

परब्रह्म का ज्ञान सुख प्रदान करता है—

परब्रह्म को जान लेने से सुख प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधक अमरत्व को पा लेता है। ज्ञानेश्वर का त्रिवेचन इस विषय में इस प्रकार है—

तरि ज्ञेय ऐसे म्हणणे। वस्तुतें येणेचि कारणें।
जे ज्ञागेवांचूनि कवणे। उपाये नये ॥ ६४ ॥[2]
रूप वर्ण व्यक्ति। नाहीं दृश्य द्रष्टा स्थिती।
तरि कोणे कैसे आधी। म्हणावे पां ॥ ६६ ॥[3]

ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए मानते हैं क्योंकि उसे ज्ञान के अतिरिक्त और अन्य उपायों से नहीं जान सकते। ब्रह्म को जान लेने के वाद कुछ भी करना शेप नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान उसे ज्ञेय स्वरूप वना देता है। उस ज्ञेय स्वरूप को जानकर संसार की चहार दीवारी को निकालकर अर्थात् उसका त्यागकर नित्यानन्द रूप हो सकते हैं। इसी ज्ञेय का नाम परब्रह्म है। यदि वह नहीं है, ऐसा हम कहें तो सारा विश्व हमें उसके आकार सहित प्रतीत होता है। यदि ब्रह्म को ही विश्व मानें तो विश्व मिथ्याभास है, ऐसा कहना पड़ेगा। ब्रह्म का कोई रूप, रङ्ग और आकार नहीं है। ब्रह्म देखने का विपय और स्वयं द्रष्टा भी है ऐसी कोई स्थिति नहीं है। अतः उसे—वह है—ऐसा कौन और कैसे कह सकता है? यदि वह नहीं

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–११०७, १११०।
२. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–८६४।
३. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३।८६५–८६६।

है—ऐसा कहा जाय, तो महत्तत्वादि तत्त्व किससे अपना स्फुरण प्राप्त करते हैं ? वस्तुतः यह सब कुछ ब्रह्ममय है। अतः जिस ब्रह्म को देखकर उसके 'अस्ति नास्ति' के बारे में वाणी मौन हो जाती है, उसका हम कोई विचार नहीं कर सकते।

ब्रह्म को सर्वत्र अनुभव करना चाहिए—

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर बतलाते हैं कि[1]—

गगन भरी धारा। परिवाणी एक चिवीरा।
तैसा या भूता कारा। सर्वांगी तो॥
एवं जीव धर्म ही नु। जो जीवासी अभिन्नु।
देखे तो सुनयनु। ज्ञानिया मांजि॥

पानी जब बरसता है तब उसकी जलधाराएँ सारे आकाश में व्याप्त रहती हैं, परन्तु उन सब धाराओं में से बरसने वाला जल एकही रहता है उसी प्रकार से प्राणि मात्र में एक ही परमात्मा विद्यमान है। गागर में और घर में एक ही आकाश तत्व रहता है, वैसे ही जीव-समुदाय अलग-अलग प्रतीत होते हैं परन्तु उन सब के भीतर एक ही परमात्मा विद्यमान है। अनेक आभूषणों में स्वर्ण एक ही तत्व रूप रहता है भले ही अलंकारों के रूप में उनके भिन्न-भिन्न आकार दिखाई पड़ते हों। परमात्मा जीव धर्म रहित है और सारे जीवों में वह व्याप्त है। परमात्मा को जो इस तरह जानता है, उसे ही द्रष्टा और ज्ञानी कहते हैं।

परमात्मा प्रकृति के गुणों से बद्ध नहीं है—

ज्ञानेश्वरी में उस निर्गुणता का इस प्रकार बखान किया गया है[2]—

म्हणे परमात्मा म्हणिपे। तो ऐसा जाण स्वरूपें।
जळी जळ न लिंपे। सुर्य जैसा॥
आरिसां मुख जैसे। बिंबलिया नाम असे।
देही वसणे तैसे। आत्मतत्त्वा॥

जिस प्रकार पानी में सूर्य प्रतिबिम्बित रूप में दिखाई दिया, किन्तु इससे वह गीला नहीं हो जाता, ठीक वैसेही प्रकृति में रहने पर भी परमात्मा प्रकृतिके गुणों से लिप्त नहीं रहता, वरन् वह अपने शुद्ध स्वरूप में ही रहता है। परमात्मा देह में स्थित है, ऐसा प्रायः कहा जाता है; परन्तु वह यथार्थ नहीं है। परमात्मा तो जहाँ है वहीं विद्यमान है। दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब सामने आ जाने पर हम उसे

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०६६।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०६६।

प्रतिबिम्ब ही कहते हैं। परमात्मा भी शरीर में उसी तरह प्रतिबिम्बित है। यह परमात्मा मूलतः अरूप होने से दृश्य और अदृश्य दोनों नहीं है। वह प्रकाशयुक्त या अप्रकाशयुक्त भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट साकार या अप्रकट निराकार भी नहीं है वरन् वह सगुण निर्गुण के परे है।

जगत् का स्वरूप—

अमृतानुभव में ज्ञानेश्वर बतलाते हैं—

> प्रकाश तो प्रकाश कीं। यासि नवंचे घेई चुकी।
> म्हणोनि जग असिकी। वस्तु प्रभा ॥
> यालागी वस्तु प्रभा। वस्तुचि पावे शोभा।
> जात असे लाभा। वस्तुसिचि ॥[1]

प्रकाश को आकाश कहना ही उचित है अतः सारा संसार वस्तुप्रभा ही है, ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। ज्ञानेश्वर परमात्मा को ही जगत् कहते हैं। क्योंकि यह जगत् जिस परमात्मा के प्रकाश से अर्थात् ज्ञान से भासित होता है ऐसा श्रुति वचन है। वह असत्य कैसे माना जाय? अतएव वस्तु की प्रभा वस्तु को ही मिलती है, तथा प्रभा की शोभा भी वस्तु को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेश्वर जगत् को परमात्मा से अभिन्न मानते हैं। इसलिए जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। वह भी अभिन्न ही है स्पष्ट है शिव ही विश्व रूप में अभिन्न हैं।

जीव-रूप—

ज्ञानेश्वर जीव को 'परमाणु' वत मानते हैं। देखिए[2]—

> पैं परमाणु भूतळीं। हिमकणु हिमाचळीं।
> मजमाजि न्याहाळीं। अहं तैसे ॥
> हो कां तरंगु लहानु। परि सिंधुसी नाही भिन्नु।
> तैसा ईश्वरीं मी आनु। नोहेचि मा ॥
>
> × × ×
>
> म्हणोनि बन्धचि तंव वावो। मा मोक्षा के प्रसवो ॥

---

१. अमृतानुभव प्र. ८–२८९–२९१।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १४, ओवियाँ ३८५–३८६ तथा

—अमृतानुभवप्रकरण ३१–५।

पृथ्वी पर स्थित अल्प परमाणु पृथ्वी रूप ही माना जाता है। बर्फ से भरा हुआ हिमालय और हिम का एक कण जैसे हिमालय पर्वत रूप समझा जाता है वैसे ही परमात्मा और जीव एक ही हैं। ये सारे दृष्टान्त उस जीव के लिए हैं, जो 'अहम्' से अस्मिता युक्त होकर आत्म साक्षात्कार में तत्पर हो जाता है। आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं, अतः बन्धन और मोक्ष के बारे में चिन्ता करने की भी आवश्यकता नहीं होती। बन्धन ही मिथ्या है, इसलिए सच्चा मोक्ष कैसे उपलब्ध होगा? अविद्या से स्वयम् मरकर मोक्ष का हमने स्थान बना दिया है, अर्थात् मोक्ष का स्वरूप बतला दिया है।

सगुण–परब्रह्म–स्थिति–वर्णन—

ब्रह्म-स्थिति अक्षरों से एवम् शब्दों से अकथनीय है। अतः जिसे सौभाग्य से वह स्थिति संप्राप्त हो जाती है, वह ब्रह्ममय ही बन जाता है, इसे ही तद्रूपता मानते हैं। श्रीकृष्ण स्वयम् अपना सगुण स्वरूप वर्णन करते हैं जो दृष्टव्य है। यथा[१]—

जे उन्मनिये चे लावण्य। जे तुर्येचे तारुण्य।
अनादि जे अगण्य। परमतत्व॥
ते हे चतुर्भुज कोंभेली। जयाची शोभा रूपा आली।
देखोनि नास्तिकीं नोकिली। ब्रह्मवृन्दें॥

जिस परब्रह्म की तात्विक स्थिति ऐसी है जिसे मन रहित अवस्था का सौन्दर्य कहा जाता है, तथा जो नित्य-सिद्ध और असीम है, जहाँ पर आकार का अन्त हो जाता है, जहाँ निश्चय पूर्वक मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है, तथा जहाँ आदि और अन्त का भी विलयन हो गया है, त्रैलोक्य का जो आदि कारण माना गया है और जिसे अष्टांग-योग वृक्ष का फल मानते हैं एवम् जो आनन्द की एकमात्र जीवन कला है, तथा जो पंच-महाभूतों का बीज है और सूर्य का तेज है अर्थात् जिससे सूर्य को तेज प्राप्त होता है वही मेरा विशिष्ट स्वरूप है। नास्तिकों के द्वारा भक्तों के समुदाय का पराभव किया गया, इसलिए निर्गुण स्वरूप की शोभा अभिव्यक्त हो गयी। यही अभिव्यक्त मूर्ति मेरी चतुर्भुज मूर्ति है। भगवान् कृष्ण अपनी सगुण ब्रह्म स्थिति का वर्णन अर्जुन से इस प्रकार करते हैं। इस उत्कृष्ट सुखानुभूति को वे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं, जो निश्चय पूर्वक भगवद् प्राप्ति तक अटूट आस्था युक्त रहते हैं। वे स्वयम् इस प्रकार का सुख स्वरूप धारण कर तद्रूप बन जाते हैं।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६, ओवियाँ ३१९–३२४।

साधन :

ज्ञानेश्वर के द्वारा विवेचित मानव के लिए प्रतिपादित कर्मयोग—

कर्मयोग को ज्ञानेश्वर प्रश्रय देने वाले व्यक्ति थे। गीता में वर्णित 'कर्म' शब्द की व्याख्या अपने ढङ्ग से ज्ञानेश्वर ने प्रस्थापित कर दी है। मानव के लिए कर्मवाद का सिद्धांत अत्यन्त उपकारक है ऐसा ज्ञानेश्वर मानते थे। उनके मतानुसार निर्लिप्त-कर्मशून्यता मानवजीवन में सम्भवनीय ही नहीं है। यह समूचा विश्व एक प्रचण्ड कर्म है। अतएव इसी विश्व का एक अंश अर्थात् मानव कर्मशून्य भला कैसे रह सकता ? कर्म देह का सहज स्वभाव है। तब यह प्रश्न हमारे सामने आ सकता है, कि जन्म और मृत्यु इन दो कर्मों की राह कौन सी है ? 'अकर्म' शब्द का गीतोक्त अर्थ निषिद्ध कर्म प्रायः माना गया है। अपनी कुल परंपरा, समाज का अधिकार, विशिष्ट प्रसङ्ग एवम् शास्त्र आदि के संदर्भ और सम्पर्क में प्राप्त कर्तव्य का यथोचित पालन इस तरह से करना चाहिए जिससे कि भगवान की भक्ति करने की पात्रता साधक में आ जाय। इस तरह किया गया कार्य ही धर्म एवम् यज्ञ है। ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। यथा—

> **तरी कर्म म्हणजे स्वभावें। जेणे विश्वाकारु संभवे।**
> **ते सम्यक आधी जाणावें। लागे एथ ॥[1]**
> **देखे रथीं आरुढिजे। मग जरी निश्चळा वैसिजे।**
> **तरी चढ़ा होऊनि हिंडिजे। परतंत्रा ॥[2]**
> **तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेथ स्वतन्त्रते वस्ती न घडे ॥**
> **म्हणऊनि निजवृत्ति हे न संडावी। इन्द्रिये वरळों नेदावीं।**
> **ऐसे प्रजांते शिकवीं। चतुराननु ॥[3]**

स्वभावतः विश्व स्वयं एक महान कर्म है। जिस प्रकार रथारूढ़ व्यक्ति स्थिर बैठा हुआ है। परन्तु रथ उसको जिधर ले जाय उधर वह जाता रहता है और उसका प्रवास जारी रहता है। अर्थात् वह पराधीन होने पर भी चलायमान होकर दौड़ता रहता है। जहाँ पर अपना आचार-धर्म छूट जाता है, वहाँ पर आत्म स्वातन्त्र्य नहीं रह पाता। इसलिये जो भी प्राणि अपने स्वधर्म से च्युत होगा, उसे काल कड़ी से कड़ी सजा देगा। उसे चोर समझकर उसकी सारी संपत्ति वह छीन लेगा। रात्रि के समय भूत पिशाच जिस प्रकार श्मशान को घेर लेते हैं,

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ४–८६।

२. ,, ३–६०।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३–११२–११७।

वैसे ही सारे पाप, दैन्य, विघ्न, दुःख और दारिद्र्य आकर उसको घेर लेते हैं। इन सबका निवास-स्थान ही उसके पास हो जाता है। उन्मत्त मनुष्य की तरह उसकी अवस्था हो जाती है और उनके जोर-जोर से आक्रन्दन करने पर भी, कल्पांत पर्यन्त उसकी मुक्ति संभव नहीं है। इसीलिए स्वधर्माचरण नहीं छोड़ना चाहिए। इन्द्रियों को स्वैराचार करने से रोका जाय ऐसा ब्रह्मदेव ने सबको उपदेश दिया। 'शैवाद्वैती विचारों का प्रभाव यहाँ पर भी परिलक्षित होता है।

ज्ञानेश्वर की इस विचार धारा में कहीं भी समाजहित-विरोधी कोई बात नहीं है। आस्था युक्त प्रवृत्ति को जगाने वाली विचार धारा ही इसमें मुख्यतः है। भक्ति मार्ग पर चलने वाले पथिक के लिए समाज कल्याण ही आद्य कर्तव्य हो जाता है। उसके लिये गृह त्याग की आवश्यकता नहीं है। उसका कोई कर्म नहीं छूटता क्योंकि ज्ञानेश्वर का कहना है कि कर्म तो उसे करना ही पड़ता है—

आता गृहाधिक आघवे। ते काही न लगे त्यजावें।
चे घेते जाहले स्वभावें। निस्संग म्हणऊनि ॥[1]

'ऐसी स्थिति में गृह आदि सर्वस्व का त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आसक्ति की ओर झुकने वाला मन निस्संग बन जाने से उनकी ओर स्वभावतः नहीं जाता।'

ज्ञानेश्वरी में जिस विषय का प्रतिपादन है उसी विषय का खंडन अमृतानुभव में दिखाई पड़ता है। ज्ञानेश्वरी में वेद को महत्व दिया है। अमृतानुभव में उसके विरुद्ध शब्द-खंडन है। ज्ञानेश्वरी में निर्गुण तत्व प्रतिपादन, योग और शिवोपासना प्रधान रूप से है, तथा अभङ्गों में वे सगुण तत्व प्रतिपादन करते हैं। और विष्णु की उपासना उसमें प्रधान रूप से वर्णित है। ऐसा भारदेबुवा का मत है। ज्ञानेश्वरी सर्व साधारण के लिये लिखी और अमृतानुभव दार्शनिकों के लिये ज्ञानेश्वर ने लिखी। अधिकार और पात्रता की दृष्टि से सगुणोपासना उपयुक्त है। परन्तु मूलत. ज्ञानेश्वर निर्गुणोपासक थे, ऐसा भी कुछ लोगों का मत है। ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय से पंद्रहवें अध्याय तक अज्ञान का वर्णन है. तथा ज्ञान के महत्व का प्रतिपादन है। अमृतानुभव में 'अज्ञान खंडन' नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है। किसी भी सिद्धान्त की प्रस्थापना में एक पूर्व पक्ष रहता है। जिसमें मंडन होता है, बाद में उत्तर पक्ष आता है जिसमें खंडन होता है। ज्ञानेश्वर ने ऐसा ही किया है। ज्ञानेश्वरी प्रथम लिखी और बाद में अमृतानुभव लिखा जिसमें इस नियम का पालन हुआ है। वारकरी सम्प्रदाय के लोगों का यही विश्वास है।

---

१. ज्ञानेश्वरी, ५ वां अध्याय—ओवी २२।

ज्ञानेश्वरी का दर्शन—

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर के विवेचन में जो बातें आई हैं, उनको देखना और मत बना लेना आसान कार्य नहीं है। ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर एक स्वतन्त्र टीकाकार हैं। व्यास के आशय को स्पष्ट करते हुए वे अपनी भूमिका विशद करते हैं। उनका स्वतन्त्र दर्शन है। उनके दार्शनिक प्रतिपादन का स्वरूप वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के विधायक दर्शन के अधिक निकट है। अनेक भाष्यकारों के मार्गों के प्रतिपादित सिद्धांतों को देखते हुए तथा उनकी छानवीन करते हुए शंकराचार्य के मार्ग का वे अनुसरण करते थे ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैसे अपने स्वतन्त्र मत एवम् सिद्धांत को वे 'अमृतानुभव' में अभिव्यक्त करते हैं। उनके पिता विठ्ठल पन्त समाज की दृष्टि से पतित थे, अर्थात् सन्यासी बनने के बाद पुनः गृहस्थाश्रमी बने थे, इसीलिए रामानुजीय पंथ की ओर वे मुड़े। श्रीपाद यति के वे शिष्य थे। इसलिए प्रारम्भ में रामानुज के मत का संस्कार ज्ञानेश्वर पर पड़ा। ऐसा कुछ लोगों का मत है। 'यावानर्थ उदपाने' इस श्लोक का अर्थ रामानुज की तरह ज्ञानेश्वर करते हैं। अनेक स्थलों में ज्ञानेश्वर ने शंकराचार्य का अनुसरण नहीं किया है। परन्तु गीता के स्वतन्त्र विभाग भी किए हैं। अमृतानुभव शांकर मत का प्रतिपादक नहीं है। प्रत्युत शैवागमवादियों के अधिक निकट है। द्विचन्द्रज्ञान ही सतख्याति है, अज्ञान नहीं है ऐसा रामानुज का प्रतिपादन, और 'नाना चांदु एक असे' इस कोटि का अमृतानुभव में किया गया प्रतिपादन इस प्रकार का है जिसमें अर्थ सादृश्य और शब्द सादृश्य भी है।

रामानुज की तरह आठ प्रकार के अज्ञान की अनुपपत्ति ज्ञानेश्वर ने बतलाई है। फिर भी अमृतानुभव में शंकराचार्य या रामानुज का अनुवाद नहीं है। प्रत्युत वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। अमृतानुभव में प्रदर्शित विचार नए मौलिक और संमिश्र नहीं हैं। शंकराचार्य का 'पुरुष' सोपाधिक है और 'प्रकृति' उपाधि है। किन्तु ज्ञानेश्वर के 'वोहरे' (जंगल की आग) अर्थात् माया का दावानल निरुपाधिक है। शङ्कराचार्य ने इन दोनों तत्वों को अलग-अलग माना है। ज्ञानेश्वर दोनों में ऐक्य मानते हैं। शङ्कर पुरुष को विषयी और प्रकृति को विषय मानते हैं। यह संसार ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। इसे ज्ञानेश्वर ने अज्ञानवाद का निषेध कर स्पष्ट रूप से समझा दिया है। उनका यह मत पांचरात्र-सिद्धांत से अधिक मिलता है। पांचरात्र और रामानुज इन दोनों का वल्लभाचार्य के साथ उपकार्योपकारक भाव है। ज्ञानामृत-सार-संहिता, वल्लभ का 'अणुभाष्य' और 'अमृतानुभव' में साम्य है। डा० लोंढे ज्ञानेश्वर को द्वैताद्वैती मत का मानते थे। प्रो० वनहट्टी

शङ्कराचार्य के अद्वैत और ज्ञानेश्वर के अद्वैत को तुलना की दृष्टि से विचारार्थ लेना चाहिए ऐसा मानते हैं।

ज्ञानेश्वर की दृष्टि में कौन से भाष्यकार थे ?

ज्ञानेश्वर का निवेदन है :[1] 'तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु। भाष्यकारातें वाट पुसतु ॥ अयोग्य ही मी न पवंनु। के जाईन ॥' व्यास का अनुसरण करते हुए शङ्कराचार्य और अन्य भाष्यकारों से मार्ग पूछते हुए तथा अयोग्य को छोड़ते हुए मैं चलूँगा। ज्ञानेश्वर का यही अभिप्राय जान पड़ता है। 'भाष्यकारातें' यह पद बहुवचन में है, किन्तु यदि उसको बहुवचनी भी मान लिया जाय तब भी जब तक ज्ञानेश्वरी का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शांकर मत की अपेक्षा अन्य अन्य मतों के अधिक निकटतम है, ऐसा सप्रमाण कोई सिद्ध नहीं करता तब तक मुख्य रूप से शंकराचार्य का ही इसमें उल्लेख है ऐसा मानना पड़ता है। नागपुर के डा० शं. दा. पेंडसे का 'ज्ञानेश्वराचें तत्वज्ञान' यह ग्रन्थ इस विषय में द्रष्टव्य है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है[2]—

'कुल २१८ स्थलों की तुलना करने पर ऐसा दिखाई दिया कि १४६ स्थानों पर शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर ने तत्वज्ञान के और अर्थ की दृष्टि से सादृश्ययुक्त टीका की है। उनमें से ४२ स्थानों पर शङ्कर के शब्दों को ज्ञानेश्वर प्रयुक्त करते हैं। दस स्थानों पर शङ्कर और ज्ञानदेव के समान दृष्टान्त हैं, और सत्तावन स्थानों पर शङ्कराचार्य का अर्थ ग्रहण कर रामानुज का अर्थ छोड़ दिया है। ६८ स्थानों पर शङ्कर वा रामानुज इनमें से किसी का भी अर्थ ग्रहण न करते हुए स्वतन्त्र रूप से ज्ञानेश्वर अर्थ करते हैं। ३८ स्थानों पर निर्गुण और मायावाद को लेकर शङ्कराचार्य से आगे बढ़कर ज्ञानेश्वर अर्थ स्पष्ट करते हैं। एक स्थान पर शङ्कर और रामानुज इन दोनों के अर्थों का समुच्चय किया गया है, तथा पाँच स्थानों पर शङ्कर को छोड़कर रामानुजीय अर्थ स्वीकारा है। दार्शनिक दृष्टि से शांकर विरोधी एक भी स्थल नहीं मिलता जहाँ पर रामानुज का अनुसरण किया गया है, वे स्थल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। रामानुजीय पद्धति से जिन ६ स्थानों पर अर्थ किया है वहाँ पाँच स्थानों पर ज्ञानेश्वर स्वतन्त्र रूप से अर्थ करते हैं। उदाहरणार्थ, 'आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेनम्।'[3] इस श्लोक की टीका ज्ञानेश्वर इस प्रकार करते हैं[4]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१७२२।
२. ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान – डा० शं. दा. पेंडसे।
३. श्रीमद् भगवदगीता अध्याय २–२९।
४. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–७१।

दृष्टि सूनि जयातें। ब्रह्मचर्यादि व्रतें। मुनीश्वर तपातें।
आचरति ।।

चैतन्य की प्राप्ति के लिए उसी पर दृष्टि रखकर बड़े-बड़े ऋषि मुनि ब्रह्मचर्यादिक व्रतों और तपों का आचरण करते हैं। 'यहाँ पर तपाचरण की कल्पना 'सर्वे वेदा यत्पदमा मनन्ति तपांसि सर्वाणिच यद्वदन्ति या दिच्छन्तो ब्रह्मचर्यश्चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेणप्रवक्ष्ये।'[1] इस कठोपनिषद के मन्त्र से ली हैं, ऐसा ब्रह्मचर्य के उल्लेख से समझ में आ जाता है। रामानुज और ज्ञानेश्वर दोनों को तपाचरण की कल्पना कठोपनिषद से स्वतन्त्र रूप में मिली है। शांकर-भाष्य में तप का उल्लेख नहीं है।' भाष्यकार के नाते शङ्कराचार्य ही ज्ञानदेव को अभिप्रेत थे। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान पर औपनिषदीय-दर्शन, नाथ-पंथीय-दर्शन और शङ्कराचार्य-दर्शन का परिणाम अवश्य हुआ है। ज्ञानेश्वर विनयशील थे, इसीलिये आदरणीयों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से ही मराठी में गीता टीका लिखकर गुरु कृपा से अपने श्रोताओं के सम्मुख प्रदर्शित की है।

सुन्दर शरीर पर अलङ्कार जिस प्रकार विशेष फबते हैं, वैसे ही संस्कृत गीता की यह ज्ञानेश्वरी टीका एक सुन्दर अलंकरण है जो गीता का माहात्म्य अत्यधिक वृद्धिंगत करती है। नामदेव उसे ज्ञानदेवी और ज्ञानेश्वरी कहते हैं, तो एकनाथ उसे ज्ञानेश्वरी ही कहते हैं। वैसे उसका एक नाम 'भावार्थ दीपिका' भी प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर अपने नाम का उल्लेख बरावर करते है[2]—

१. जे सांनुकूल श्री गुरु। ज्ञानदेओ म्हणे ।।
२. गुरुकृपा काय नाहे। ज्ञानदेओ म्हणे ।।
३. ज्ञानदेओ म्हणे ठेंकुले। तैंसे हे नोहे ।।
४. केले ज्ञानदेवे गीते। देशीकार लेणे ।।

अपने गुरु निवृत्तिनाथ का नाम लेकर अपने आपको 'निवृत्तिदासू' अर्थात् निवृत्तिदास भी कभी-कभी कहते हैं। ज्ञानेश्वरी के विवेचन, निर्माण और कथन का सारा श्रेय वे अपने गुरु निवृत्तिनाथ को देते हैं। वे कहते हैं—देशी भाषा में संस्कृत गीता को सुन्दर भाव-भंगिमा, अलङ्कार आदि से मैंने सजाया है। ऐसा उनका विनम्र भाव है। जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी इस मराठी टीका को पढ़कर उसका सार ग्रहण कर लेंगे, ऐसा उनका विश्वास है।

---

१. कठोपनिषद (२–१५)।
२. ज्ञानेश्वरी—१–२०३, १८।१७१३, १८।१७६२ और १८।१७८४।

जिस प्रकार शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं, जिनमें अपने-अपने मतों का प्रतिपादन है, वैसे ही ज्ञानेश्वर ने किया है।

ज्ञानेश्वरी में मिलने वाले आध्यात्मिक विचारों का सार—

ज्ञानेश्वर के अध्यात्म विषयक विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है। १. परमतत्व सर्व शून्यों का निष्कर्ष महाशून्य है। २. वह वाणी का अथवा विचार का विषय नहीं बन सकता। क्योंकि वाच्य-वाचक-भाव, विषय-विषयी-भाव जहाँ-जहाँ पर आया है, वहाँ पर द्वैत आता ही है और परमतत्व इतना एक रूप है कि उसे द्वैत की कल्पना तक नहीं भाती है। अभाव, एक, दो, सगुण, निर्गुण या सापेक्ष और द्वैत मूलक वर्णन के परे है। ३. द्वैत के काल्पनिक प्रदेश में उतर कर उसका यदि वर्णन करना हो तो उसका वर्णन 'एकमेव अद्वितीय' ही किया जावेगा। ४. वह एक ही होने से उससे दूसरा कुछ भी नहीं उत्पन्न हुआ ५. भासमान होने वाला तथा होगया है ऐसा लगने वाला सारा अज्ञान एवम् माया है। ६. यह माया ही प्रकृति है। जीव और जगत् ऐसे दो स्वरूप अज्ञानमय प्रकृति के ही हैं। ७. जीव परमात्मा है। शरीरोपाधि के कारण वह अलग भासित होता है और प्रकृति के गुण व कर्म को अज्ञान के कारण अपने ऊपर लाद लेता है। इसीलिए उसके पीछे सांसारिक परम्परा एवम् झञ्झट लग जाती है। ८. यह नाम रूपात्मक जगत् भी भ्रान्तिमूलक है। ९. प्रकृति, जीव, जगत् और यह समूचा विश्व परमात्मा ही है। १०. नाम रूप असत् होने से परमतत्व का और उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परमवस्तु नाम रूपातीत होने से वहाँ पर दृष्टा-दृश्य-भाव और अहं-इदं-भाव नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य ज्ञानेश्वर ने सर्वशून्यवाद, अनिर्वचनीयवाद, अद्वैतवाद, अजातवाद और मायावाद को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विवेचन का अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से प्रतिपादन किया है।

ज्ञानेश्वर के मतानुसार मोक्ष के साधन कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान हैं।

कर्मयोग को वे प्राथमिक स्वरूप का समझते हैं[1]—

परिकर्म फली आश न करावी। आणि कुकर्मी सङ्गति न व्हावी।
हे सत्क्रियाचि आचरावी। हेतूविण॥

कर्म करते समय कर्म फल पर आसक्ति मत रखो तथा उसके साथ दुष्कर्म का सम्पर्क भी न होने दो। निर्हेतुक बनकर अपना स्वधर्म पालन करना चाहिए

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–२६६।

अर्थात् निष्काम मनसे स्वधर्म क्रिया का आचरण करना चाहिए। ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय करने के लिए ज्ञानेश्वर का निवेदन है[१]—

एक ज्ञानयोगु म्हणिजे। तो सांख्यी अनुष्ठिजे ॥
जेथ वौल रवी सर्वे पविजे। तद्रूपता ॥
एक कर्मयोगु जाण। जेथा साधक जन निपुण।
होऊनिया निर्वाण। पावति-वेळे ॥

इनमें से एक ज्ञानयोग कहलाता है और इसका आचरण सांख्यवादी लोग करते हैं। जब मनुष्य की समझ में यह ज्ञानयोग अच्छी तरह आ जाता है तब जीवात्मा उस परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरा कर्मयोग कहलाता है। जिन कर्म योगियों को यह सिद्ध हो जाता है वे उचित आचार करने वाले साधक बनकर उपयुक्त समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इनमें से यह प्रश्न सामने उत्पन्न हो जाता है कि कौन सा मार्ग स्वीकार किया जाय? इस पर उनका यह निर्णय है[२]—

म्हणोनि आइके पार्था। जे या निष्कर्म्य पदी आस्था।
तेया उचित कर्म सर्वथा। त्याज्य नोहे ॥
म्हणोनि जे जे उचित। आणि अवसरे करुनि प्राप्त।
ते कर्म हेतू रहित। आचरे तूं ॥

इसलिए हे पार्थ सुनो जिसे इस नैष्कर्म में आस्था है उसे अपना स्वधर्मयुक्त आचरण करना ही चाहिये। उचित कर्मो का त्याग उसके लिए सर्वथा त्याज्य नहीं है। इसलिए यथा समय जो-जो कार्य उचित हैं उनका आचरण हेतु रहित होकर तुम करो।

नैष्कर्म्ययुक्त व्यक्ति कौन हो सकता है? यथा[३]—

म्हणोनि सर्वापरी जो मुक्त। तो सकर्मुचि कर्म रहितु।
सगुण परि गुणातीतु। येथ भ्रांति नाही ॥
म्हणोनि ब्रह्म तेचि कर्म। ऐसे बोधा आले जेयासम।
तेया कर्तव्य तें नेष्कर्म्य। धनुर्धरा ॥

जो सब प्रकार से मुक्त है, वह कर्म रहित होकर भी स्वधर्म रत है। उस कर्म में साकार लग जाने पर और गुण युक्त होकर भी वह गुणातीत है। इसमें

---

२. ज्ञानेश्वरी अ. ३–३६–३७।
२. ज्ञानेश्वरी अ. ३–५०।७८।
३. ज्ञानेश्वरी अ. ४–११४।१२१।

भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए जिसे ब्रह्म और कर्म एक ही है, ऐसा बोध हो जायगा वह जो भी कार्य करेगा, वही कर्तव्य और नैष्कर्म्य हो जायगा। इसका कारण वह साम्य है।

लोगों के लिए किया गया कर्म[1]—

देखे प्राप्तार्थ जाले। जे निष्कामता पावले।
तेयाहि कर्तृत्व असे उरले। लोकांलागि॥
मार्गाधारें वर्तावे। विश्व मोहरे लावावे।
अलौकिका नोहावे। लोकाप्रति॥

जिन्हें कुछ प्राप्त करना था उसे उन्होंने प्राप्त कर लिया, इसलिये वे निरिच्छ वन गये फिर भी लोगों को व्यवहार सिखाने के लिए कर्म करना पड़ता है। इसलिये हे पार्थ ! लोगों के व्यवहार की प्रणाली सब तरह से कायम रखना योग्य है। इसलिए शास्त्र वचनों के अनुसार स्वयम् व्यवहार कर अपने आचरण से दुनियाँ को सीधा मार्ग दिखाना चाहिए तथा लोकबाह्य-वर्तन नहीं करना चाहिए।

कर्मयोग और सन्यास योग समान हैं इसके बारे में ज्ञानेश्वर के ये विचार हैं[2]—

जैसा असतेन उपाधी। ना फलिजे तो कर्मबंधी।
जेयाचिये बुद्धी। संकल्पु नाहीं॥
म्हणुनि कल्पना जँ सांडे। तैंचिगा सन्यासु घडे।
येया कारणे दोन्ही सापडे। सन्यास योग॥

जिसकी बुद्धि में संकल्प नहीं होता, वह व्यक्ति परिवार में रहकर भी कर्म बंधनों में नहीं फँसता, इसलिए जिस समय कल्पना से मुक्ति मिलती है, तभी वास्तविक रूप से सन्यास धर्म का पालन होता है। कल्पनाएँ आती रहती हैं तो सन्यास वास्तविक रूप में नहीं हो सकता। इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म सन्यास और कर्मयोग ये दोनों समान हैं। सांख्य और कर्मयोग भिन्न-भिन्न फल देते हैं, ऐसा अज्ञानी मानते हैं। ज्ञानी मौन रहते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि इन दोनों में से एक का भी योग्य आचरण मोक्ष की प्राप्ति करा देता है।

कर्मों को ईश्वरार्पण करना चाहिए ऐसी ज्ञानेश्वर की सीख है[3]—

तेया सर्वात्मका ईश्वरा। स्वकर्म कुसुमांची वीरा।
पूजा केली होय अपारा। तोखालागि॥

---

१. ज्ञानेश्वरी अ. ३–१५५।१७०।१७१।
२. ज्ञानेश्वरी अ. ५–२४–३५।
३. ज्ञानेश्वरी अ. १८—९१७। ९१८। ९२२

म्हणोनि तिये पूजे। रिझलेनि आत्मराज।
वैराग्य सिद्धी दीजे। पसाया तेया॥
म्हणौनि मोक्षा या लागि। जो व्रत वाहातजे अङ्गी।
तेणे स्वधर्मु चांगी। अधिष्ठावा॥

हे वीर अर्जुन! उस सर्वव्यापक सर्वात्मक ईश्वर को स्वकर्म रूपी सुमनों से पूजा करने पर वह पूजा उसके अपार सन्तोष का कारण बन जाती है। इसलिए इस प्रकार की पूजा से संतुष्ट बने हुए आत्मराज परमात्मा से उसे वैराग्य सिद्धि का प्रसाद मिल जाता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा से जो अपने अङ्गों से व्रतों का आचरण करता है उसे चाहिये कि वह स्वधर्म का पालन अच्छी आस्था के साथ अवश्य करे। अपना स्वधर्म आचरण में लाने के लिए कठिन भी क्यों न हो फिर भी उसे बराबर आचरण में लाना चाहिए। तथा जिन परिणामों से वह फलीभूत होगा उन परिणामों की ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

कर्म फल ईश्वरार्पण करने से ही ज्ञान प्राप्ति होती है[1]—

स्वकर्माच्या चोखौ कीं। मज पूजा करुनि भली।
तेणे प्रसाद आकळी। ज्ञान निष्ठेते।

हे अर्जुन! स्वकर्म रूपी पवित्र पुष्पों से मेरी अच्छी तरह पूजा कर क्योंकि उससे संप्राप्त मेरे प्रसाद से कर्मयोगी ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर लेता है। इसका फल यह होता है कि उसे ज्ञान प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानेश्वर के मत से और गीता के प्रतिपादन से यह प्रतीत होता है कि भक्ति-योग, कर्म-योग के आगे की सीढ़ी है। वे कहते हैं[2]—

म्हणौनि येर ते पार्था। नेणतीचि हे व्यथा। जेका भक्ति पंथा।
वोटंगले॥
ययापरी पाही। अर्जुना माझा ठाई।
सम्यासूनि नाहीं। करिती कर्मे॥

हे अर्जुन! जो भक्ति-मार्ग में लगे हैं वे इन दुःखों को जान ही नहीं पाते। भक्ति-मार्ग में जो व्यक्ति लग जाते है उनके कर्मेन्द्रिय अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सारे कर्म आनन्द से करते हैं। जो पुरुष शास्त्र में बतलाये गये आदेशों का पालन करते हैं, वे शास्त्र निषिद्ध कर्म नहीं करते और किये गये कर्मों के फल और वे कर्म मुझे अर्पण कर उनको जला देते हैं। इस तरह हे अर्जुन! मुझमें

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१२४७।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १२–७८।

कर्मों का त्याग नियोजित करके अर्थात् सारे कर्म मुझे अर्पण करके ऐसे लोग कर्मों का नाश कर लेते हैं। जितनी भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं होती हैं उन सबकी प्रवृत्ति मेरे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं रहती।

ज्ञानेश्वर 'कर्माणि संन्यस्य' का अर्थ, 'वर्ण-प्राप्त' कर्म करते हैं। इन कर्मों को ईश्वरार्पण करना चाहिए ऐसा कहकर ज्ञानेश्वर भक्ति के साधन का कर्मयोग के साथ सम्बन्ध जोड़ देते हैं। साधक को तथा जिज्ञासु भक्त को चाहिए कि वह विहित कर्मों का त्याग न करे। शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर दोनों इनसे सहमत हैं। ज्ञानेश्वर भक्त और योगी को इस प्रकार देखते हैं—

> येयापरि जे भक्त। आपण जे मज देत।
> ते भी योग युक्त। काम मानी॥
> तरी व्यक्त आणि अव्यक्त। तूंचि येक निभ्रान्त।
> भक्ति पावि जे व्यक्त। अव्यक्त योगे॥[1]

इस प्रकार जो भक्त अपना आत्मभाव मुझे प्रदान करते है, उन्हें ही मैं श्रेष्ठ कोटि के योग-युक्त व्यक्ति मानता हूँ। अर्थात् वे भक्त होकर भी श्रेष्ठ योगी है। क्योंकि व्यक्त रूप से या अव्यक्त रूप से एक ही ब्रह्म की उपासना होती है। अर्जुन कहते हैं कि हे भगवान्! व्यक्त रूप से अथवा अव्यक्त रूप से आप एक रूप हैं। यही ज्ञात होता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। भक्ति के साधन से व्यक्त स्वरूप की प्राप्ति और योग से अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान की श्रेष्ठता को ज्ञानेश्वर इस प्रकार प्रकट करते हैं—

> ऐके जया प्राणियाच्या ठायीं। इया ज्ञानाची आवडी नाहीं।
> तयाचे जियाले म्हणो काई। वरी मरण चांग॥[2]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! सुनो। जिन प्राणियों में ज्ञान की निष्ठा और चाह नहीं है, ऐसे लोगों का जीवन व्यर्थ है। इससे तो मृत्यु ही अच्छी और श्रेष्ठ है। डा० रानडे का यह मत है कि 'वेदों की भक्ति का स्वरूप और गीता की भक्ति का स्वरूप इनमें एक ही तरह की बातें नहीं है। वेदों की भक्ति अव्यक्त की और यज्ञ द्वारा अग्नि की सहायता से की जाती है तो गीता की भक्ति व्यक्त की और बिना अग्नि के की जाती है। इससे वैदिक भक्ति का विकास होकर व्यक्त की भक्ति अस्तित्व में आई।'[3]

---

१. ज्ञानेश्वरी १२–३६।२३।
२. ,, अध्याय ४–१६३।
३. मिस्टिसीजम् इन महाराष्ट्र—प्रो. आर्. डी. रानडे।

ज्ञानेश्वर के ग्रन्थों को पढ़कर उनके व्यासंग की, उनके प्रगाढ़ ज्ञान की और परिपक्व और उच्च कोटि के अनुभव की कल्पना आ जाती है। ज्ञानेश्वर के अद्वैत सागर में उपनिषद, गीता, गौड़पाद-कारिका, योग वासिष्ठ, शांकर तत्वज्ञान, कश्मीरी शैवागम सम्प्रदाय दर्शन तथा गुरु परम्परा से संप्राप्त नाथ पंथीय तत्वज्ञान इन सप्त सिन्धुओं का प्रवाह आ मिला है। इससे निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि—

१. ज्ञानेश्वर स्वयम् अपना दर्शन प्रस्थापित कर उसे अपने ढङ्ग से समझाते हैं।
२. ज्ञानेश्वरी शांकर मत को स्पर्श करते हुए लिखी गई।
३. रामानुज के मतों का संस्कार ज्ञानेश्वर पर नहीं हुआ है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से ज्ञानेश्वर का साम्य भी नहीं है।
४. अमृतानुभव में शांकराद्वैत के साथ शैवागमद्वैत का ही प्रतिपादन है, परन्तु प्रतिपादन की पद्धति उनकी अपनी है।
५. वल्लभ-सम्प्रदाय के मतों का या तत्वज्ञान का ज्ञानेश्वर पर प्रभाव नहीं पड़ा है।
६. पांचरात्र सिद्धान्त का परिणाम अमृतानुभव पर और ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान पर नहीं पड़ा है।
७. ज्ञानेश्वर द्वैताद्वैती भी नहीं।
८. क्योंकि वह द्वैत भ्रमात्मक और जीव तथा जगत् अज्ञात कार्य होने से उसे भी असत्य मानते हैं। जगत परमात्म रूप से सत् है ऐसा कहने पर जगत् रूप से वह असत्य भी हो जाता है।
९. कश्मीरी शैवाद्वैत शङ्कराचार्य के अद्वैत की अपेक्षा अधिक भिन्न नहीं है। वे आत्म ख्याति से अद्वैत सिद्ध करते हैं तो शङ्कर अनिर्वचनीय ख्याति से अद्वैत सिद्ध करते हैं। इतना ही भेद है।
१०. ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान पूर्णतया अद्वैतवादी है। शङ्कर के अनिर्वचनीय मायावाद का या अज्ञानवाद का उपयोग तो किया ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त गौड़पादकारिका, योगवासिष्ट, शैवाद्वैत और नाथपंथ में प्रयुक्त युक्तिवाद तथा शैवाद्वैतवाद के तर्क भी ज्ञानेश्वर ने लिए हैं, इससे ज्ञानेश्वर का निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत तत्वज्ञान एक ओर से शून्यवादी और मायावादी है, तो दूसरी ओर से विज्ञानवादी, दृष्टि सृष्टिवादी और स्फूर्तिवादी बन गया है। आत्म-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति या अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों पद्धतियों को और शैलियों को वे अपने विवेचन में अपनाते हैं। शङ्कर की अपेक्षा

अधिक युक्तिवाद प्रयुक्त करने से शंकर की अपेक्षा ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान एकदम भिन्न नहीं हो सकता। वेदों के अद्वैत सम्प्रदायके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत या द्वैताद्वैत आदि में से किसी भी सम्प्रदाय का ज्ञानेश्वर ने अनुकरण नहीं किया है। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान को हम वेदों के अनेक मतों की खिचड़ी भी नहीं मानेंगे। यों सब प्रकार के युक्तिवादों से एक अद्वैत का ही प्रतिपादन उनके तत्वज्ञान में किया गया है।

११. ज्ञानेश्वर के सब ग्रन्थों में एक ही तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। केवल कहीं अन्वय पद्धति और कहीं व्यतिरेक पद्धति पर जोर दिया गया है।

१२. ज्ञानेश्वर केवल अनुवादकर्ता नहीं है। उन्होंने कई स्थलों में गीता के स्वतन्त्र अर्थ भी किये हैं। किसी भी तत्वज्ञान की नवीनता, तत्व की अपेक्षा तत्व-प्रतिपादन शैली में ही रहती है। ज्ञानेश्वर की शैली में यह नवीनता या अपूर्वता उनके सभी ग्रन्थों में दिखाई देती है। वे स्वयम् एक साक्षात्कारी योगी थे। इसलिए वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्व घोष, गौड़पाद, शंकराचार्य, शैवामताचार्य अभिनव गुप्त आदि अद्वैत सम्प्रदायों के महर्षियों की श्रेणी में सम्मान से बैठाने योग्य ज्ञानेश्वर हैं।

ज्ञानेश्वर सर्व शून्यवादी हैं, 'ज्ञानेश्वर दर्शन' पुस्तक के अध्यात्मखंड में प्रो. शं. वा. दांडेकर 'ज्ञानेश्वर महाराजांचे तत्वज्ञान' नामक लेख में प्रतिपादन करते हैं कि शंकर केवलाद्वैती थे और ज्ञानेश्वर पूर्णवादी थे। यह भेद उचित सा नहीं जान पड़ता।[१]

ज्ञानेश्वर ज्ञानपूर्ण और ज्ञानोत्तर कर्म का उपदेश देते हैं[२]—

> हे कर्म मी कर्ता। आचरेन मी येया अर्था।
> ऐसा अभिमान झणे चित्ता। रिघो देसी।
> जगीं कीर्ति रूढवीं। स्वधर्माचा मानु वाढवीं।
> यया भारा पासोनि सोडवीं। मेदिनी हे॥[३]

'यह विहित कर्म मैंने किया है, मैं उसका कर्ता हूँ और एक विशिष्ट कारणार्थ मैं इस कर्म का आचरण करूंगा ऐसा अहंकार तुम्हारे मन में आ सकता है। किन्तु उसे मत आने दो। तुम्हें केवल देहासक्त होकर नहीं रहना चाहिए।

१. ज्ञानेश्वर दर्शन–अध्यात्म खंड–शं. वा. दांडेकर कृत लेख—
'ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान'

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१८७–१९०।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१९० ज्ञानेश्वर।

अपनी सब कामनाओं को त्यागकर सारे भोगों का यथाकाल उपभोग लेना चाहिए। इसलिए तुम अब अपने हाथ में धनुष लेकर इस रथ पर आरूढ़ हो जाओ और आनन्द से वीरवृत्ति का अङ्गीकार करो। इस संसार में तुम अपनी कीर्ति पताका फहराओ, अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाओ और पृथ्वी को दुष्टों के अत्याचारों से मुक्त करो।'

ज्ञानेश्वरी को सभी मराठी भाषी लोग माताके समान मानते हैं। स्वानुभवी लोगों के लिए अमृतानुभव, मुमुक्षुओं के लिए ज्ञानेश्वरी, तथा सबके लिए एवं नित्य-पठन के लिए हरिपाठ और अभङ्ग हैं। इस तरह जान पड़ता है कि समाज के सर्व स्तरीय लोगों की पारमार्थिक उन्नति हो इस बात की चिंता ज्ञानेश्वर को थी। ज्ञानेश्वर रचित साहित्य में कहीं भी निराशावाद नहीं है। ज्ञानेश्वर संपूर्ण रूप से आनन्दवादी थे। उनका अल्पायु में समाधि लेना यही सिद्ध करता है कि ईश संकल्प और ज्ञान सम्पन्न आत्मानुभव की पूर्णता उनमें आ गयी थी। इसकी सार्थकता प्राप्त हो जाने पर ही उन्होंने समाधि ले ली।

ज्ञानेश्वर का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

ज्ञानेश्वर ने मानवी कर्तव्य की और मानवी साफल्य की कल्पना को दार्शनिक आधार लेकर स्पष्ट किया है। मानव जीवन के संबंध में उनका यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना ध्येय निश्चित करने की और उसे प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। सारे शास्त्र मानवों के लिए हैं। देव-शरीर भोग भूमि और मानवी-शरीर कर्म भूमि है। मानवी देह से स्वतन्त्र कर्तव्य करने का अवकाश प्राप्त हो जाता है। मानव में अपनी अस्मिता होने से जीव कर्ता और भोक्ता दोनों है। ज्ञानेश्वर के अनुसार जीव का स्वरूप देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा का संघात हैं। इन सबका पूर्ण विकास ही जीवन है। परमार्थ साधन के लिये उत्तम शरीर की आवश्यकता ज्ञानदेव मानते हैं। ज्ञानेश्वर को देहात्मवादी सुखवाद और इन्द्रियात्मवादी जीवन अमान्य है। अनुकूल विषयों का और इन्द्रियों का संयोग होने पर जिस संवेदनाका निर्माण होता है उसे सुख कहते हैं। ज्ञानेश्वरके अनुसार वास्तविक सुख 'आत्मबुद्धि प्रसादजं' है। देह, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि इन सब के परे आत्मा है—ऐसी अनुभूति लेते हुए व्यवहार करने में जीवन साफल्य है। सम्पूर्ण ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति में जीवन साफल्य नहीं है। मनुष्य दैवी सामर्थ्य से सम्पन्न है। इसीलिए ज्ञानेश्वर अमृतानुभव में इस प्रकार बतलाते हैं कि[१]—

१. ज्ञानेश्वर—अमृतानुभव (९–६५)।

शिवा-शिवा समर्थ स्वामी। एवढिये आनन्दभूमि।
घेपेदिजे आम्ही। ऐसे केले॥

हे समर्थ सद्गुरु! आपकी जय हो, हमारा कल्याण करने की पात्रता और सम्पन्न शक्ति प्रदान कर आपने हम पर कितनी कृपा कर दी है। इसी आनन्द-प्राप्ति-सम्पन्नता की भूमिका से युक्त होकर हम आध्यात्मिक सुख को ले-दे सकते हैं। ज्ञानेश्वर की ऐसी मनोभूमि बन जाने पर ही उन्होंने अमृतानुभव लिखा। ज्ञानेश्वर आध्यात्मिक लोकोपकारवाद सिखाते हैं। अरस्तू जिसे 'सुप्रतिष्ठित' कहते है, स्टोईक जिसको 'प्रतिभा-संपन्न' एवम् 'सयाना' कहते हैं, तथा नित्शे जिसे 'अति मानव' (सुपरमैन) कहते हैं, ऐसी तीन विशेषताओं से युक्त तथा आध्यात्मिक प्रभुता सम्पन्न पुरुष ही ज्ञानेश्वर का 'आदर्श पुरुष है।

ज्ञानदेव का योगमार्ग—

ज्ञानदेव के अनुसार योगमार्ग पंथ राज है। ज्ञानेश्वर स्वयम् योगमार्ग के जानकार थे। सन्यास ही योग है, ऐसा वे कहते हैं। पातंजल का योगसूत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध है। विभिन्न तंत्र और क्रियाएँ तथा शारीरिक व्यायामों से भरा हुआ योगमार्ग आचरण के लिए सरल है। योग-सिद्धि का तात्पर्य चमत्कार नहीं है। वे चमत्कार को गौण बतलाकर योगमार्ग को जीवन मुक्ति का ब्रह्म साक्षात्कार का अर्थात् मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। महेश सब योगियों के गुरु हैं। ज्ञानमार्ग और योगमार्ग का आशय कर्म मार्ग है ऐसा उनका निवेदन है। कर्ममार्ग का अर्थ कर्मठता नहीं है। ज्ञानेश्वरी में वर्णित योगमार्ग को वे कर्ममार्ग मानते हैं।

कर्म से उपलब्ध होने वाले फल का आश्रय न करते हुए उस पर दृष्टि न रखते हुए व उसकी चिन्ता न करके कार्य का फल मिलेगा ऐसी आशा से प्रवृत्त न होकर केवल स्वकर्तव्य के नाते जो कर्म करता है उसे सन्यासी कहना चाहिए। वही योगी भी है। इस तरह कर्म का अवलंब करने वाला गृहस्थाश्रमी भी सन्यासी और योगी हो सकता है। इस पर ज्ञानेश्वर के विचार इस तरह हैं।[1]

गृहस्थाश्रमाचे ओझे। कपाळी आधींचि आहे सहजे।
कीं ते चि सन्याससवा ठेविजे। सरिसे पुढती॥
जेथ सन्यासिला संकल्पु तुटे। तेथेचि योगाचे सार भेटे।
ऐसे हे अनुभवाचेनि घटे। साचे जया॥

गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व यों तो सबको निवाहना ही पड़ता है। उसे टालने के लिये यदि सन्यास भी लिया जाय तो उसे सन्यासाश्रम का बोझ भी सिर

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।४९–५०–५१–५३।

पर लाद लेना पड़ता है। इसलिए अग्निसेवा का वर्जन न करते हुए कर्माचरण की मर्यादा न लाँघते हुए भी ज्ञानयोग का सुख अपने स्थान पर रहकर सहज ही मिल सकता है। जिस स्थान पर किया गया संकल्प बिलकुल नष्ट हो जाता है, वहीं पर योग के सर्वस्व-सार-ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस तरह की प्रत्यक्षानुभूति जिसे हो जाती है अर्थात् अनुभवों की तराजू में तौलकर जिसने उसे प्रत्यक्ष कर लिया है वही सन्यासी और योगी है। योग के आठ अङ्ग हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। ज्ञानेश्वर योग को पर्वत की उपमा देते है। यम-सामान्य आत्म संयम और नियम-विशिष्ट आत्म संयम। यम नियम की तलहटी से आगे चलकर आसन के मार्ग के रूप में एक पगडंडी मिलती है जो प्राणायाम के पर्वत-शिखर पर पहुँचती है। इस पर चलकर उसका अन्तिम सिरा आ जाता है जिसे 'ज्ञानेश्वर' 'अघाडा Point) जैसे महाबलेश्वर या माथेरान आदि हैं, कहते हैं। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। इस मार्ग की चढ़ाई वैराग्य के नखों का आश्रय लेकर पार करनी पड़ती है। इसके आगे पवन का और हवा का ऊँचा मैदान (Table-Land उपलब्ध होता है। इसके आगे धारणा का विस्तीर्ण प्रदेश मिलता है। ध्यान उसका अंत है। यहाँ आकर प्रवृत्ति की दौड़ समाप्त हो जाती है, और साध्य साधन की उपलब्धि हो जाती है। फिर इसके आगे कोई राह ही नहीं है। यहीं पर समाधि है। आसन के लिए व्यवस्थित बैठना पडता है। प्राणायाम से शरीर की वायु नियमित और नियंत्रित हो जाती है। प्रत्याहार में विषयों में रत इन्द्रियों को जानबूझकर उनके विषयों से हटाकर इन्द्रियों पर अपनी सत्ता प्रस्थापित करनी पड़ती है। प्रत्याहार साध्य हो जाने पर वैराग्य प्राप्ति होती है। धारणा में मन की एकाग्रता कर लेनी पड़ती है। ध्यान में प्रथम आवश्यक हो तो सगुण साकार और क्रम-क्रम से निर्गुण निराकार परब्रह्म का चिन्तन करना पड़ता है। योग मार्ग की परिणति समाधि में होती है। इसमें अपने विचार और परब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। योगमार्ग की यही परम्परा है। इस योग-मार्ग का अध्ययन बहुत कठिन है। इसमें निपुण वही व्यक्ति हो सकता है जो इन प्रकार की विशेषताओं से युक्त होगा।[1]

तरीं जयाचिया इन्द्रियांचिया घरा। नाहीं विषयांचिया।
येरझारा॥ जो आत्मबोधाचिया बोवरा। पहुँडला असे॥
असोनि देहे एतुला। जो चेतुचि दिसे निदेला। तोचि योगारुढु
मला। बोळखें तू॥

1. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।६२–६५।

'योगारूढ़ पुरुष उसी को कहना चाहिए, जिसकी इन्द्रियों के घर में विषयों का आवागमन वन्द हो जाता है और जो आत्मज्ञान की कोठरी में सुखपूर्वक आत्मानन्द में सोया रहता है, जिसके मन में सुख-दुःख के फेर में पड़कर झगड़ने का चाव नहीं रह जाता और इन्द्रिय-विषय के पास आ पहुँचने पर भी जिसे इस वात का कभी ध्यान भी नहीं होता कि ये त्रिषय क्या हैं, इन्द्रियों को कर्माचरण के मार्ग में लगाने पर भी जिसके अन्तःकरण में कर्मों के फलों के सम्वन्ध में नाम की भी आसक्ति नहीं रहती, जो केवल देह-धारण के लिए जागृत रहता है और सदा आत्म भावना में लीन रहता है।

योगाभ्यास के लिए ऐसा स्थल चाहिए जहाँ जाने पर वैराग्य प्रवृत्ति दुगुनी होकर जागृत हो जाय। ज्ञानेश्वर के शब्दों में ऐसे स्थल को देखिए[1]—

जेथ अमृताचे नि पाडें। मुळे ही सकट गोडे।
जोड़ती दाटे झाडें।। सदा फळतीं।।
परि अवश्यक पांडवा। ऐसा ठावो जोडावा।
तेथ निगूढ मठ हो आवा। कां शिवालय।।

वह स्थल ऐसा होना चाहिए जहाँ वड़े-वड़े सघन वृक्ष हों जो जड़ से ही अमृत के समान मीठे और सदा वारहों मास फल देने वाले हों। साथ ही साथ उस स्थान पर वर्षा-काल के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी पग-पग पर पानी मिलता हो और विशेषतः वहाँ पानी के वहते हुए झरने भी यथेष्ट रूप से विद्यमान हों। वहाँ गरमी वहुत ही ठिकाने की और साधारण पड़ती हो और शीतल तथा शान्त मन्द-मन्द वायु वहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि किसी प्रकार का शब्द वहाँ न सुनाई देता हो और पशुओं आदि की कौन कहे, तोते या भ्रमर तक का भी जहाँ प्रवेश न पाया जाय। वह स्थान ऐसा हो जहाँ पर पानी के सहारे रहने वाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हों और कभी-कभी कोई कोयल वहाँ आकर वैठती हो। इसी प्रकार कभी-कभी कुछ मोर भी वहाँ आया करते हों, तो कोई हर्ज नहीं। हे अर्जुन! ऐसा ही स्थान वहुत ही सावधानी के साथ ढूँढ़ना चाहिए जहाँ पर इनके अतिरिक्त कोई मठ या शिव मन्दिर भी विद्यमान हो। ऐसे ही एकान्त स्थल में योगाभ्यास संभव है।

ऐसे स्थल पर धोया हुआ वस्त्र फैलाकर उस पर मृगाजिन विछाकर वैठना चाहिए। जिस दर्भासन पर वैठते हैं उसके दर्भ अखण्ड और मुलायम होने चाहिए। यह आसन वहुत ऊँचा या जमीन की सतह जैसा कठिन और सख्त न हो।

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१७३–१७६।

आसन की स्थिति समतल हो। जिस पर सद्गुरु का स्मरण कर आसनस्थ होना चाहिए। निश्चल मन से लगातार गुरुस्मरण करते हुए एकाग्रता प्राप्त होने तक उसे जारी रखा जाय। आसन विधि परिपूर्ण कर जालंधर वंध तथा उड्डियान वंध सध जाने पर मनोधर्म की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और ऐसी स्थिति वन जाती है—

कल्पना निमे। प्रवृत्ति शमे। आंग मन विरमे। सावियाचि ।।
क्षुधा काय जाहाली। निद्रां केउते गेली। हे आठवण ही हारपली।
न दिसे वेगा ।।[1]

वहाँ पर कल्पना नष्ट हो जाती है, मन की वाह्य विपयों की ओर जाने वाली दौड़ रुक जाती है तथा सहज ही रूप से शरीर और मन शांत हो जाता है। भूख कहाँ चली गई तथा निद्रा कहाँ नष्ट हो गई इसकी स्मृति तक नहीं वनी रहती। न तो भूख लगती है न नींद का असर होता है।

आसन विधि का परिणाम कुण्डलिनी जागृति में दिखाई देता है। इसका वड़ा सटिप्पण वर्णन ज्ञानेश्वर करते हैं[2]—

नागिणीचे पिलें। कुमकुमें नाहलें। वळण घेऊनि आले।
सेजे जैसे ।।
तैसी ते कुंडलिनी। मोटकीं औटवळणी।
अघोमुख सर्पिणी। निदेली असे ।।
विद्युल्लतेची विडी। वन्हिज्वालाची घडी ।।
पंघरेया ची चोखड़ी। घोटीव जैशी ।।

केशर से स्नात नाग का वच्चा जिस प्रकार कुण्डल मारकर सो जाता है उस प्रकार साढ़े तीन कुण्डल मारे वैठी हुई कुण्डलिनी रूपी नागिन अधोमुख होकर सोगई है। वह नागिन ऐसे लगती है मानो विजली की चक्राकार लता के समान मूर्तिमान कंकण रूप में वनाई गई हो अथवा प्रत्यक्ष अग्नि के ज्वाला की दोहरी रेखा या पर्तें हों या मानों वढ़िया स्वर्ण की घोंटे हुए पाँसे की लड़ियाँ ही सामने दिखाई देती हों।

इस प्रकार हो जाने पर कुण्डलिनी को अमृत सरोवर से जव अमृत मिलता है तव योगी नया शरीर धारण करता है उसकी शोभा का ज्ञानेश्वर यों वर्णन करते हैं[3]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१२–२१३।
२. ज्ञानेश्वरी ,, ६।२२२–२२३–२२४।
३. ज्ञानेश्वरी ,, ६।२५३–२५६।

मग काश्मीराचे स्वयंभ। कां रत्नबीजा निघाले कोंभ।
अवयव कांतिची मांव। तैशी दिसे ॥
तैसे शरीर होये। जेवेळीं कुण्डलिनी चंद्रपिये। मग देहाकृति
विहे। कृतांतुगा ॥

वह शरीर ऐसा है, मानो मूर्तिमान स्फटिक का बना हुआ हो अथवा रत्नरूप बीजों में मानों अंकुर फूट निकले हों, इस तरह अवयवों की कांति हो जाती है। सायंकाल के आकाश में दिखाई पड़ने वाले रंगों से ही मानों यह मूर्ति बनाई गई हो ऐसा प्रतीत होता है अथवा प्रत्यगात्मा का लिंग ही शुद्ध रूप से विद्यमान हो। केशर से कुंकुम से पूर्ण रूप से भरा हुआ अथवा अमृतरस के सांचे में ढला हुआ अथवा शांति ही मूर्तिमान हो गई हो। उस योगी का शरीर आनन्द रूपी चित्र का रंग ही प्रत्यक्ष सामने आ गया हो, अथवा ब्रह्म-सुख की मूर्ति ही सामने आगई हो, ऐसा प्रतीत होता है अथवा संतोष रूपी वृक्ष का छोटा-सा खिला हुआ स्वरूप ही मानो दिखाई दे रहा हो। उस योगी का शरीर स्वर्णचंपक की बड़ी कली के समान कान्तिमान दिखाई पड़ता है. अथवा यों कहिये कि सामने अमृत का सजीव पुतला ही आगया हो। वह शरीर ऐसा सुकोमल लगता है मानों पुष्पित बगीचा ही सामने लहलहाता हो। अथवा कहा जा सकता है कि शरद ऋतु की आर्द्रता एवम् तरलता से युक्त स्वच्छ चन्द्र-बिम्ब ही निकल आया हो या तेज ही मूर्तिमान होकर आसनस्थ हो बैठा हो। कुण्डलिनी के अमृत प्राशन से शरीर की उपर्युक्त दशा हो जाती है। ऐसी देहाकृति को देखकर यम भी डरता है। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी अपने में कुछ खास विशेषतायें रखता है। यथा—

मग समुद्रा पैली फडचे देखे। स्वर्गीचा आलोक आई के।
मनोगत ओळखें। मुंगियेचे ॥[1]

ऐसा योगी समुद्र के उस पार देख सकता है; स्वर्ग के विचार सुन सकता है और चींटी के मन का भाव पहिचान सकता है। कुण्डलिनी के एक बार हृदय में समाविष्ट हो जाने पर अनहद नाद सुनाई पड़ता है। ये नाद १० हैं और कल्पना-शक्ति भी उसे नहीं समझ पाती। हृदयाकाश के ऊपर महादाकाश है जो ब्रह्मरंध्र कहलाता है। उस ब्रह्मरंध्र में कुण्डलिनी घुसती है और चैतन्य को अपने तेज का भोजन करवाती है। इस भोजन की तरकारी बुद्धि है। ऐसा भोजन करने से द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। अन्त में कुण्डलिनी शक्ति का तात्पर्य प्रणव ही है ऐसा रहस्योद्घाटन ज्ञानेश्वर करते हैं। नाथ-संप्रदाय और योग-संप्रदाय का यही

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।२६९।

रहस्य है। तांत्रिक योगी को ज्ञानेश्वर कोई महत्व नहीं देते। समत्व प्राप्त अवस्था जिसके मन को प्राप्त हो गयी हो वही योगी हो सकता है। नाथ-मत के संकेत को अर्थात् शैवाद्वैत को ज्ञानेश्वर ने ठीक ही समझा है इसे देखिए[1]—

> पिंडें पिंडाचा ग्रासु। तो हा नाथ संकेतीचा दंशु।
> परि दाऊनि गेला उद्देशु। महाविष्णु॥
> तया ध्वनिताचे केणें सोडुनी। यथार्थाची घडी झाडुनी।
> उपलाविली म्यां जाणुनी। ग्राहीक श्रोते॥

पंचमहाभूतात्मक शरीर का पंचमहाभूतों में लय कर देना ही पिंड का पिंडके द्वारा ग्रास करना है। इसका मर्म आदिनाथ शङ्कर अपने हृदय में रखते हैं। उनके इसी सामरस्य का मर्म या संकेत ज्ञानेश्वर यहाँ स्पष्ट करते हैं। इसी का रहस्योद्घाटन भगवान् विष्णु भगवद्गीता के रूप में वतला गये हैं। इसके ध्वन्यार्थ में गूढ़ रहस्यों की गठानें पड़ गयी थीं उनको खोलकर, उसके वस्ते को साफ कर इसके यथार्थ को खरीदने वाले योग्य ग्राहक अर्थात् श्रोतागण वैठे हुए हैं—ऐसा समझते हुए मैंने यह वस्त्र उसकी तहों को खोलकर सामने रखा है। अभिप्राय यह है कि श्रोतागण इस ज्ञानेश्वरी का मूल्य जानते हैं और उनकी रसिकता उन्हें इसका तत्वग्रहण करने को वाध्य करती है।

इसके वाद ऐसे योगी को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पर वह सिद्धि के पीछे नहीं पड़ता। तव आगे चलकर इस योगी के शरीर से भूतत्रय, पृथ्वी, आप और तेज का लोप हो जाता है। पृथ्वी का जल में, जल का तेज में, तेज का हृदय में संचरण करने वाली वायु में और अन्त में यह वायु शरीर भी पवन नाम के आकाश में लीन हो जाती है। कुण्डलिनी सज्ञा नष्ट होकर 'मारुत' यह संज्ञा उसे प्राप्त हो जाती है। यह मारुत जव तक शिवरूप नहीं वन जाता तव तक वह अपने शक्तिरूप में ही रहता है। फिर वह योगी जालंधर-वंध का त्याग करता है और सुषुम्ना नाड़ी का मुँह खोलकर गगन के पर्वत पर अर्थात् ब्रह्मरंध्र में घुसकर वहीं आसन जमाता है। यह तो स्वानुभव गम्य चीज है इसका शाब्दिक वर्णन नहीं हो सकता। ऐसे योगी परमेश्वर की योग्यता के वन जाते हैं। पर अर्जुन को शंका उत्पन्न हुई और उसने कहा भगवन्! जिसमें योग्यता नहीं है, दृढ़ता नहीं है, पक्कापन नहीं है, उन्हें यह योग कैसे प्राप्त होगा? कृष्ण के उत्तर को हम ज्ञानेश्वर के शब्दों में ही सुनेंगे।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।२९१–९२।

हें काज कीर निर्वाण। परि आणिक हो जे कांहीं साधारण।
तें ही अधिकाराचे बोडवे विण। काय सिद्धि जाय ॥३६॥
नावेक विरक्तु। जाहला देहधर्मी नियतु। तरि तोचि नव्हे [illegible]।
अधिकारिया ॥[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन तुम यह क्यों पूछते हो ? यह तो अत्यन्त उच्च कोटि की बात है, यों साधारण दिखाई देने वाले कार्य भी अधिकार की योग्यता प्राप्त किए बिना भला कैसे संभव होंगे ? इसलिए जिसे हम योग्यता कहते हैं, वह प्राप्ति के अधीन है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि योग्य बनकर जो कार्य करते हैं, वह प्रारम्भ में ही फलदायक हो जाता है। वैराग्य-भावना थोड़ी सी मात्रा में जिसमें विद्यमान है, और जिसने अपने शरीर की आवश्यकताओं पर अपना अंकुश रखा है क्या वही इस कार्य का योग्य अधिकारी नहीं है ? इतनी सी युक्ति को अपनाकर तुम भी योग्यता प्राप्त कर लोगे। इस तरह अर्जुन की शंका का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दिया है।

वैसे मन को जीतना एक बहुत जटिल कार्य है। किन्तु वैराग्य के आश्रय से उसे जीतना सरल हो जाता है।[2] जैसे—

परी वैराग्याचेनि आधारें। जरी लाविलें अभ्यासानि ये मोहरे।
तरी केतुलेनि अवसरे। स्थिरावेल ॥

वैराग्य के सामर्थ्य से मन को यदि अभ्यास में लगाया जाय तो कुछ समय के बाद वह स्थिर हो जाता है। क्योंकि मन की एक अच्छाई यह है कि अनुभूत मिठास जहाँ प्राप्त होती है वहीं पर मन रमता है। इसलिए आवश्यक यही है कि उसे कौतुकपूर्ण रीति से आत्मानुभव का सुख बार-बार चखाना चाहिए।

योगाध्यान का विवेचन—

ज्ञानेश्वर कृत योगाभ्यास का वर्णन इस प्रकार है। योगी जन पंच-प्राण और मन को अत्यन्त सावधानी से कई बार अपने आधीन रखते हैं। बाहर से यम नियम की चहार दीवारी कर वज्रासन की दीवार खड़ी कर दी जाती है तथा प्राणायाम की तोपें तत्परता से अपना कार्य करती हैं। तब इस स्थान में कुंडलिनी जागृत होकर सर्वत्र उसका प्रकाश फैलता है और मन तथा पवन शरीर के अनुकूल हो जाते हैं। अमृत से हृदय सरोवर भर जाता है। उस स्थान पर प्रत्याहार से इन्द्रियों की एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। विकार अपने स्वरूपों

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।३३६–३४२।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६–४१६।

सहित नष्ट हो जाते हैं। सारी इन्द्रियाँ वशीभूत होकर अन्तःकरण में ही आकर रहने लगती हैं। धारणा रूपी अश्वों की भीड़ जमा हो जाती है। पंचमहाभूत इकट्ठे होकर आकाश में समाविष्ट हो जाते हैं और संकल्प-विकल्पों की चतुरङ्ग चमू पराजित हो जाती है। विजय का डंका पीटते हुए ध्यान की ध्वजाएँ फहराने लगती हैं। योगी को आत्मानुभव का साम्राज्य मिल जाने से उसका पट्टाभिषेक समाधि लक्ष्मी के साथ पूर्ण हो जाता है। संक्षेप में ज्ञानेश्वर ने योगाध्ययन का यही रूपक सामने रखा है। ज्ञानेश्वर स्वयम् एक महान योगी थे तथा दैनंदिन रूप में उनका योग का बड़ा अभ्यास था। योग के अध्ययन से प्राप्त होने वाली मनःस्थिति और अनुभव अधिभौतिक स्थिति से इतने भिन्न है कि उन्हें धार्मिक न भी कहें तो आध्यात्मिक अवश्य कह सकते हैं। सिद्धी के पीछे पड़ने वाले योगी योग-भ्रष्ट और पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। ज्ञानेश्वर ने उनकी सदा उपेक्षा की है। पातंजली 'योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः' यही योग का प्रयोजन बतलाते हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर मनोजय को ही योग का रहस्य मानते हैं। युक्ताहार विहार के कारण इस मार्ग को राजयोग यह संज्ञा मिली। योग की अति को अपनाने वाले हठ योगी कहलाते हैं। ज्ञानी, विचारी और तज्ञ लोग हठयोग को गौण मानते हैं। ज्ञानदेव ने इस गुप्त संपत्ति को योग मार्ग के साधन द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया। इस तन्त्र का आश्रय लेकर लोगों की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है। ज्ञानेश्वर इसके विरुद्ध थे। प्राणायाम से नासिका रन्ध्रों से वायु समान रूप से बहने लगती है तथा निद्रा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। चाहे जैसी परिस्थिति में हम क्यों न हों हमें सुगन्ध प्राप्त होती है। यह सब अनुभवगम्य है। शारीरिक दृष्टि से कुंडलिनी का पता अभी नहीं चल सका है। पर इसे शक्ति, विद्युत या ऊष्णता कहते हैं। यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर उसके विशिष्ट परिणाम होने लगते हैं। ज्ञानेश्वर गुरु परम्परा से योगाभ्यास में निपुण हो गए थे। अनजाने भी यदि पैर अग्नि पर पड़ जाता है तो वह अवश्य जलेगा ही। इसी सिद्धांत के अनुसार गलती से भी क्यों न हो भगवान् का नाम लेने से मोक्ष मिलता है। ज्ञानेश्वर इस बात को नहीं मानते। भक्त के लिए, योगी के लिये और संत के लिए वैराग्य आवश्यक है। भक्ति मार्ग में भी मनोजय का विशेष महत्व है। यही संकेत तुकाराम, एकनाथ और नामदेव में भी मिलता है। करीब-करीब यही बात हिन्दी के भक्त कवियों में भी उपलब्ध होती है।

गुरु द्वारा संप्राप्त लाभ—

अपने गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा ज्ञानेश्वर को नाथ सम्प्रदाय का तत्वज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर स्वयम् उसका वर्णन करते हैं—

तैसे श्री निवृत्ति नायांचे । गौरव आहे जी साचे ।
ग्रंथु नोहे हे कृपे चें । वैभव तये ॥[1]
ना आदि गुरु शंकरा । लागोनि शिष्य-परंपरा ।
बोधाचा हा संसारा । जाला जो आमुते ॥[2]

इस ग्रन्थ की निर्मिति में सचमुच श्री सद्गुरु निवृत्तिनाथ का गौरव है । यह केवल ग्रन्थ नहीं है, वरन् सद्गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा का गौरव है । क्षीर समुद्र के भीतर पार्वती के कर्ण-कुहरों में यह रहस्य भगवान् शंकर ने कब उद्घाटित किया इसे कोई नहीं जानता । यह रहस्य क्षीरसागर की लहरों में मत्स्य के पेट में छिपे हुए भगवान् विष्णु के हाथ में पड़ा । वे मत्स्येन्द्र सप्तशृङ्गी पर्वत पर टूटे हुए हाथ पैर की अवस्था में पड़े हुए चौरङ्गीनाथ से मिले और मिलते ही चौरङ्गीनाथ के सारे अवयव ज्यों के त्यों हो गये । अपनी समाधि-अवस्था एक सी बनी रहे इस इच्छा से प्रेरित होकर उस रहस्य को मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को प्रदान कर दिया । ऐसे सर्वेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने योगरूपी कमलों के सरोवर सदृश तथा विषयों का विध्वंस करने वाले महान वीर गोरखनाथ को समाधिपद पर अभिषिक्त कर सामर्थ्य वान कर दिया । फिर गोरखनाथ ने शिवजी के द्वारा परम्परा से प्राप्त अद्वैत आनन्द का ऐश्वर्य उसके सारे सामर्थ्यों सहित श्री गहिनी नाथ को प्रदान कर दिया । कलि के द्वारा प्राणिमात्र ग्रसित हो रहे हैं, ऐसा देखकर श्री गहिनी नाथ ने निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदिनाथ शंकर से परम्परा द्वारा प्राप्त बोधामृत का लाभ हमसे लेकर कलि के द्वारा पीड़ित जीवों को देकर उनकी संकटों से मुक्ति करा दो । बादलों को वर्षाकाल की सहायता मिलने पर वे जिस प्रकार जोर से वृष्टि करते हैं उस प्रकार स्वभाव से ही कृपालु श्री निवृत्तिनाथ ने अपनी गुरु आज्ञा को सुनाया ।

इसके आगे ज्ञानेश्वर कहते है कि[3]—

मग अर्तांचैनि वोरसे । गीतार्थ ग्रंथ नमिसे ।
वर्षलों शांत रसे । तो हा ग्रंथु ॥
वोहळे हेंचि करावे । जे गंगेचे आंग ठाकावे ।
मग ही गंगाचि नव्हे तें तो काई करी ॥

ज्ञानेश्वर की विनय भावना—

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि पीड़ित प्राणियों के लिए दयार्द्र होकर निवृत्तिनाथ के

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५०–५८ ।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५०–५८ ।
३. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५९–७२ ।

द्वारा शांत रस की जो वृष्टि हुई उसी का प्रतिफल मेरे द्वारा प्रस्तुत गीता पर रचा गया यह टीका ग्रन्थ 'भावार्थ दीपिका' है। उस कृपा वृष्टि को ग्रहण करने के हेतु चातक पक्षी बनकर उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर मैं सामने आकर खड़ा हो गया इसीलिए गुरुकृपा से मैं इस यश का भागी बन सका। इस तरह गुरु परम्परा से प्राप्त समाधि रूपी संपत्ति को ग्रन्थ रूप में रचकर मेरे स्वामी निवृत्तिनाथ ने मुझे दे दिया। मैं तो गुरु सेवा कैसे की जाती है यह भी नहीं जानता। न मैं पढ़ा लिखा हूँ और न मुझे ग्रन्थाध्ययन का अभ्यास है। फिर ग्रन्थ रचना करने की योग्यता मुझमें कैसे आ सकती है? फिर भी मुझे निमित्त बनाकर मुझसे यह ग्रन्थ रचवा-कर पीड़ित संसार का रक्षण किया, यह निवृत्तिनाथ की कृपा का ही फल है। मैं तो अपने गुरु का पुरोहित हूँ इस नाते मैंने कुछ कम अधिक रूप में कथन किया हो तो हे श्रोतागण! माता की तरह क्षमाशील होकर उसे सहन कीजिए। यहाँ पर ज्ञानेश्वर की विनम्रता देखते ही बनती है। शब्द कैसे गढ़ा जाय? बढ़ती हुई सरणी से प्रमेय अर्थात् सिद्धाँत पूर्ण व्याख्यान कैसे किया जाय? और साहित्य शास्त्र में अलङ्कार किसे कहते हैं? मै तो इनमें से कुछ भी नहीं जानता हूँ। कठपुतली को जिस तरह सूत्र से चलाया जाता है वैसे ही श्री सद्गुरु के द्वारा मेरे बहाने मेरे गुरु ही बोल रहे हैं। अपने गुरु के द्वारा उत्पन्न किए गये ग्रन्थ की मैंने रचना की अतएव इसके गुण दोषों के लिए मैं विशेष क्षमा नहीं माँगता हूँ। इसके अतिरिक्त यदि आप जैसे सन्तों की सभा में रहकर भी कोई त्रुटि रह गयी हो तो, और यदि आप लोगों के रहते हुए भी उसका परिमार्जन न हो तो मैं प्रेम पूर्वक आप लोगों पर ही नाराज हो सकता हूँ। यदि पारस के स्पर्श से लोहा अपनी हीन दशा को न छोड़ सका तो लोहे का उसमें क्या दोष है उसी तरह यदि सन्तों के रहते हुए मेरी ग्रंथ रचना में दोष रह जाय तो उसमें मेरा क्या दोष? और भी अनेक सुन्दर और सार्थ दृष्टान्त देकर ज्ञानेश्वर अपनी शालीनता, सौजन्य और विनम्रता सूचित करते हैं। गुरु की कृपा से वे इस ग्रन्थ की निष्पत्ति कर सके इसकी कृतकृत्यता कई तरह से वे प्रकट करते हैं। इसके लिए ज्ञानेश्वरी के १८ वें अध्याय के अन्तिम दो पृष्ठों में लिखी गई ओवियाँ विशेष दृष्टव्य हैं। यहाँ पर उसका पूरा विस्तृत विवरण देना असंभव है। फिर भी कतिपय उदाहरण हम अवश्य देखेंगे—

> **गीतार्थाचा आवारु। कलशेसीं महामेरु॥**
> **रचूनि माजी श्री गुरु। लिंग जे पूजी॥**
> **मजलागी ग्रन्थाची स्वामी। दुजी सृष्टी जे हे केली तुम्हीं।**
> **ते पाहोनि हांसो आम्हो। विश्वामित्रातें ही॥**[1]

---

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७८०–८६।

गीतार्थ के अहाते में अठारहवें अध्याय रूपी कलश सहित महामेरु पर्वत तैयार कर उस स्थान पर गुरुमूर्ति की अर्थात शिवलिंग की मैं पूजा कर रहा हूं। गीतारूपी भोली-भाली माता को भूलकर मैं उनका बेटा ज्ञानेश्वर संसार रूपी जङ्गलों की खाक छान रहा था। अब माँ बेटे का पुनर्मिलन हो रहा है। हे सद्-गुरु निवृत्तिनाथ ! यह सब आपके पुण्य का फल है। मैं जो कुछ बोल रहा हूं वह सब सज्जनों का किया हुआ होने से मेरे इस कार्य को छोटा न समझिये। अपने गुरु के प्रति कृतज्ञतापूर्वक वे निवेदन करते हैं कि ग्रन्थ समाप्ति का आनन्द दायक सुअवसर आपने हमें ला दिया जिसके कारण मुझे अपने सारे जन्म का फल प्राप्त हो गया है। मैंने जो-जो इच्छा की तथा जिस-जिस प्रकार की आशा रखी वह सब परिपूर्ण होती गयी यह भी गुरु सामर्थ्य का ही फल है। हे सद्गुरुनाथ ! मेरे लिए आपने ग्रन्थ की यह जो दूसरी सृष्टि ही निर्माण कर दी उसे देखकर हम विश्वामित्र की सृष्टि रचना पर भी हँस रहे हैं। आपने अपनी वृत्ती से उनको भी मात कर दिया है। क्योंकि ब्रह्मदेव द्वारा निर्मित मूल सृष्टि के निर्माता को खिझाने के लिए, तथा त्रिशंकु राजा के लिए निर्माण की गयी प्रतिसृष्टि नष्ट होने वाली थी अतः उसके निर्माण में कौनसा पुरुषार्थ है ? किन्तु आपके द्वारा निर्मित मुझ जैसे दीन के लिए यह ग्रन्थरूपी अद्भुत सृष्टि निर्माण की है जो निरन्तर रहने वाली है।

सन्तों की इस कृपा के प्रति पुनः कृतज्ञता भाव से ज्ञानेश्वर कहते हैं—

म्हणौनि तुम्ही मज संतीं। ग्रन्थरूप हा त्रिजगतीं।
उपयोग केला तो पुढती। निरूपमजी ॥[1]
शके बाराशतें बारोत्तरें। तैं टीका केली ज्ञानेश्वरें॥
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखकु जाहला ॥[2]

संत जनों ने इस ग्रन्थ के साथ मेरा संयोग कर दिया है इससे मैं बहुत उपकृत और सौभाग्यशाली हो गया हूं। अतएव उसकी उपमा अन्यत्र कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी। सारांश यही है कि इस ग्रन्थ रूपी धर्म कीर्तन की जो सुख-पूर्ण ढंग से समाप्ति हुई है वह सब आप लोगों की कृपा का ही फल है। मेरे लिए इस सम्बन्ध में केवल सेवकाई का ही तत्व बचा रहता है अर्थात् मैंने सेवक के नाते केवल इस रूप में आपकी सेवा की है। इसके बाद वे विश्वात्मा से यह प्रसाद-दान मांगते है। इस समस्त विश्व की आत्मा के रूप में स्थित वह परमेश्वर इस

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७९१–१८१०।
२. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७१९–१८१०।

वाङ्मय-यज्ञ से संतुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करें कि दुष्टों की टेढ़ी नजर सीधी हो जाय, तथा सत्कर्मों के प्रति उनके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाय और प्राणिमात्र में हार्दिक मैत्री प्रस्थापित हो जाय। पापों का अन्धकार नष्ट होकर आत्मज्ञान के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो जाय, तथा तब जो प्राणि जिस बात की इच्छा करे, वह उसे प्राप्त हो जाय। समस्त मंगलों की वर्षा करने वाले सन्त सज्जनों का जो समुदाय है, उसकी इस भूतल के भूत मात्र के साथ अखंड मैत्री हो। ये संत सज्जन मानों चलते-फिरते कल्पवृक्षों के अंकुर हैं अथवा इन्हें चैतन्य चिंतामणि-रत्न का ग्राम अथवा अमृत का मुखर सागर ही समझना चाहिए। ये सन्त जन मानो कलङ्क हीन चन्द्रमा अथवा तापहीन सूर्य हैं और सभी लोगों के सदा के सगे-सम्बन्धी और अपने हैं। सारांश यही है कि तीनों भुवन अद्वैत सुखसे परिपूर्ण होकर अखंड रूप से उस आदि पुरुष के भजन में लगें। और विशेषतः इस लोक में जो ऐसे जीव हैं, जिनका जीवन ग्रन्थों के अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभु ने कहा—'यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।' अतएव यह वरदान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत प्रसन्न हुए हैं। इस कलियुग में महाराष्ट्र देश में गोदावरी नदी के दक्षिण तट पर जिस स्थान पर संसार के जीवन-सूत्र-मोहिनी-राज का निवास है, उस स्थान पर अत्यन्त पवित्र और अत्यंत प्राचीन पंचक्रोश क्षेत्र है, जिसका नाम नेवासें है। इस क्षेत्र में सकल कलाओं के जनक सोमवंश के शिरोमणि और राजा श्री रामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। इसी स्थान पर अर्थात् आदिनाथ शंकर की परम्परा में उत्पन्न निवृत्तिनाथ सुत (शिष्य) ज्ञानदेव ने गीता पर मराठी भाषा का परिवेश सजाया है। इस प्रकार महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो सुन्दर संवाद दिया गया है, तथा जो उपनिषदों का सार और समस्त कलाओं का जन्मस्थान है और परमहंस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हंस सरोवर का लेते हैं। परमहंसरूपी राजहंसों के लिए सेवन करने का मानो वह मानसरोवर ही है। इस गीता का अठारहवाँ अध्याय, पूर्ण-कलश है। जो यहाँ पर पूर्ण हो गया है ऐसा निवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव का कहना है। इस ग्रन्थ सी पवित्र संपत्ति से प्राणिमात्र को उत्तरोत्तर सारे सुखों की प्राप्ति हो। शक १२१२ में ज्ञानेश्वर ने गीता की यह टीका की है और सच्चिदानंद बाबा ने इस कार्य को बड़े आदर और ध्यान पूर्वक तथा प्रेम से लिखकर प्रकट किया है।

इस तरह हमने देखा कि ज्ञानेश्वरी की विचार सम्पदा दिव्य और भव्य है। वह साधारण काव्य सम्पत्ति से श्रेष्ठ और अलौकिक है। ज्ञानेश्वरी में प्रमुख रूप से

निश्चय, भूतदया, समता, शुचिता और प्रांजलता एवम् निस्सदिग्धता कूट कूटकर भरी हुई है। ज्ञानेश्वरी सिखाती है कि हमें कर्म के फल, लोक-सग्रह के लिए अर्पण करते हुए भूत दया से प्रेरित होकर अपना जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिए। परमार्थ और व्यवहार के 'दृष्टा-ज्ञानेश्वर' भिन्न नहीं मानते। ब्राह्याडवर को महत्व न देकर वे अन्तर्ज्ञान को विशेष मानते हैं। ज्ञानेश्वर का कहना है कि मेघ, समुद्र का पानी धारण कर लेता है पर संसार समुद्र की ओर न देखकर मेघ की ओर ही देखता है। क्योंकि जिसकी कोई मर्यादा नहीं उसे कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसी तरह सात सौ श्लोकों की भगवद्‌गीता में ब्रह्म सात सौ सुन्दर श्लोकों का रूप धारण कर सामने आया इसीलिए सब उसे कानों से सुन सके और वाचा से अपना सके। व्यास का संसार पर सचमुच एक बड़ा उपकार है जो उन्होंने श्रीकृष्ण के वचनों को ग्रन्थ का रूप दे दिया। इसी को मैंने मराठी भाषा की सहायता से सर्व साधारण सुन सके ऐसा सुलभ कर दिया। गीता भोलेनाथ का प्रतीक है, जिसने व्यास वचन रूपी कुसुमों की माला को धारण किया। फिर भी वे मेरी मराठी ओवियों के दुर्वादलों को स्वीकार कर लेंगे। अपने गुरु की कृपासे मैंने गीता का अर्थ मराठी में इतना सुस्पष्ट कर दिया है कि लोग उसे अपनी आँखों से देख सकें। छोटे बच्चों से लेकर ज्ञानी पुरुष तक जिसे समझ सकते हैं ऐसे सहज ओवी वृत्त में इस काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमें ब्रह्मरस से पूर्ण अक्षरों को मैंने गूंथा है। इसको सुनकर श्रोता की समाधि लग जाती है। उसे पढ़ते समय पांडित्य का प्रकाश फैलता है, तथा निरूपण की मिठास का जहाँ एक वार आस्वाद ले लिया गया तो उसके वाद अमृत के स्वाद की स्मृति भी नहीं उत्पन्न होगी।

मराठी वैष्णव कवि नामदेव का आध्यात्मिक पक्ष—

नामदेव के साहित्य का लक्ष निस्सीम भक्ति होने से सैद्धान्तिक रूप से उसमें दार्शनिक सैद्धांतिक विवेचन मिलना या खोजना वहुत कठिन कार्य है। नाम-संकीर्तन, नामस्मरण और निरन्तर भक्ति-गायन एवम् ईश्वर-गुण-गान नामदेव अहर्निश करते रहे। भक्ति और काव्य उनमें अभिन्न बनकर अपना उन्मेप परिपूर्ण रूप से दिखाते हैं। आरम्भ से ही नामदेव सगुणोपासक थे। पंढरपुर का विठ्ठल उनका उपास्य था। विसोवा खेचर और नाथ संप्रदायी अद्वैती भक्त ज्ञानेश्वर के सम्पर्क से ज्ञानाश्रयी भक्ति का उनमें वाद में उन्मेप हो जाने से वे निर्गुणोपासक भी वन गए। विठ्ठल को सर्वत्र और सर्वव्यापी समझकर अपने उपास्य का साक्षात्कार भी करते रहे। अतएव एक शास्त्रीय पक्ष की जानकारी के साथ सुसंवद्ध दार्शनिक पक्ष का सुसवद्ध विवेचन नामदेव के पदों में मिलना

असंभव सा ही है। मूलतः भक्त और गायक होने से अभंग रचना और नामस्मरण करना ही उनका एक मात्र कार्य जान पड़ता है। इस कार्य में यत्र-तत्र आनुषंगिक रूप से उनके पदों अर्थात् अभंगों में दार्शनिकता का जो स्वरूप है वह परिलक्षित हो जाता है।

भक्ति में विरोध—

जन्म से ही नामदेव को भक्ति करते हुए देखकर घर के सारे लोग उनके विरोधी बन गए। भगवान् की भक्ति में विरोध को सहकर जो भक्ति कर सकता है वही भक्त बन सकता है। नामदेव में भी यह बात दिखाई पड़ती है। अपनी माता और पत्नी के इस विरोध के बावजूद भी वे भगवान् की भक्ति न छोड़ने का संकल्प और निश्चय प्रकट कर देते हैं। यथा —

नामा म्हणे माते ऐक वो वचना। मी गेलो दर्शना नागनाथा।
आवल्या देउळीं जाहला संचार। पारुषला धीर या देहाचा ॥
तेहुनी तुज मज तुटला संबंधु। विठ्ठलाचा छंदु घेतला जीवीं ॥
या देह संसाराचा आलासे कंटाळा। म्हणोनि गोपाळा शरण आलो ॥
साधावया आत्म सुख। तेहे विटेवरी देख ॥
नको जाऊ परदेशी। वास करिगे पंढरिसी ॥
भाव धरुनि वळकट। मुखी नाम एक निष्ठ ॥
नामा म्हणे गोणाबाई। सर्व सुख याचे पायी ॥[1]

अपनी माता से नामदेव कहते हैं कि जब मैं नागनाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ गया, तब मेरे शरीर में भक्ति का संचार हो गया और विठ्ठल को प्राप्त करने की चिन्ता मन में सजग हो गई। तभी से आपलोगों के साथ के मेरे सारे लौकिक सम्बन्ध टूट गए। और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गयी। अपनी पत्नी से भी उन्होंने कहा कि आत्मसुख की प्राप्ति के लिए पंढरपुर के विठ्ठल को ही सदा देखते रहना चाहिए, अन्यत्र विदेश में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तःकरण में भाव और निष्ठा को दृढ़ रखकर भगवान् का नामस्मरण करते रहने से संसार के सारे सुख उपलब्ध हो जायेंगे। नामदेव की भक्ति आर्त भक्त की भक्ति है। इसीलिए उनमें एक सुनिश्चित निष्ठा और पक्का निश्चय है जिसने श्री पांडुरंग को ही सब कुछ मान लेना उन्हें सिखाया है। अपनी आयु के २४ वर्ष वे सगुणोपासना करते रहे पर निगुरे होने से उन्हें आत्मज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार

१. नामदेव गाथा—अभंग २९—३१, चित्रशाला प्रेस पूना।

न हो सका था। उनमें नाम संकीर्तन से प्रभु के प्रति आत्यंतिक प्रेम उत्पन्न हो गया था और वे उसका रहस्य भी जान गए। तभी वे एक स्थान पर कहते हैं—

जीव का कर्तव्य—

> आलिया संसारीं आत्माराम मुखीं। घेतलिया सुखी त्रि भुवनी॥
> जाणो निया नाम आपुलेचि आधी। मग सोमसिद्धि साधे॥
> सर्वहरि मग नाही दुजा भाव। प्रापंचिक गर्व दिसे चिना॥
> नामदेव म्हणे सर्वदा साधनी। भरे जन वन नानापरी॥[1]

प्रत्येक जीव को चाहिए कि जब वह इस संसार में आ जाता है, तब उसे हरकाम को करते हुए मुख से रामनाम स्मरण करना चाहिए। इससे वह त्रिभुवन में सुखी हो सकता है। प्रथम नाम का महत्व जान लेने से अन्य सिद्धियाँ अपने आप सध जाती है। सर्वत्र हरि ही दिखाई पड़ते हैं और दूसरा भाव ही मन में नहीं आता। नामस्मरण जैसा साधन, जीव सदा सर्वत्र काम में लाता है जिससे लौकिक व्यवहार में उसे कभी भी गर्व नहीं होता और भगवद्-कृपा के लिए उसे जंगल में भी नहीं जाना पड़ता।

नामदेव ने अपने आत्म-चरित्र को अपने अभंगों में प्रस्तुत कर दिया है।

भक्त का आत्म निवेदन—

इसमें मुख्य विवेच्य विषय भगवान् और भक्त का प्रेम और कलह है एवम् आत्म निवेदन है। परमेश्वर की प्रत्यक्ष कृपा तथा साक्षात्कार की अनुभूति का वर्णन करने वाले अभंग इसमें है, तथा ऐसे प्रसंगों का वर्णन है, जिससे ऐसा लगता है कि पांडुरंग उनसे मित्रता का वर्ताव करते थे। ईश्वर मनुष्य रूप धारण कर अपने जीवन में किसी लौकिक प्राकृत मानव की तरह परम मित्र बन व्यवहार करता है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर उन्हें आज सन्देह की दृष्टि से देखा जा सकता है। यों विद्वान भी इन अभंगों में वर्णित बातों पर विश्वास नहीं करते, परन्तु इनको पढ़कर जरूर ऐसा लगता है कि नामदेव के अभङ्गों में वर्णित बातें प्रत्यक्ष घटित हुई थीं। कहने का अभिप्राय यही है कि नामदेवोक्तियाँ काव्य की सच्ची अनुभूति पर आधारित हैं। वे एकदम कोरी एवम् काल्पनिक नहीं बतलाई जा सकतीं। केवल भावना पर आधारित तथा ईश्वर-निष्ठा की सहायता से नामदेव का काव्य-सर्जन नहीं हुआ। इस काव्य को एक भक्त की सच्ची और प्रांजल तथा प्रत्यक्षानुभूति का परिपक्व फल ही मानना चाहिए। इसकी सत्यता का आज कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १७१, चित्रशाला प्रेस पूना, पृ० २५६।

पर इसकी निश्चित जानकारी नामदेव जैसे पहुँचे हुए वैष्णव संत विश्वासपूर्वक दे सकते हैं और वह भी केवल अपनी अनुभूति के बल पर। अतः यहाँ तर्क को कोई अवकाश नहीं दिया गया है। प्रत्यत इस विषयमें मेरा कोई अधिकार न होनेसे नामदेव के अभंगों को पढ़कर मुझे जो भी अनुभूति उत्पन्न हुई उसी का आश्रय मैंने यहाँ पर लेने की चेष्टा की है। नामदेव के आध्यात्मिक विचारों की पृष्ठभूमि इस आत्मचरित्र में उपलब्ध हो जाती है।

नामदेव का आत्मचरित्र अध्ययन करने योग्य है। अतएव जिन्हें उसका अध्ययन अभीष्ट है वे इसके पूरे प्रकरण को पढ़ सकते है। नामदेव और केशव अर्थात् भक्त और भगवान् का एक ही रूप है इस भाव को देखिए —

भक्त और भगवान का अभिन्नत्व—

केशवाचे प्रेम नामयाची जाणे। नाम्या हृदयी असणे केशवाते ॥
नामा तो केशव। केशव तो नामा। अभिन्नत्व आम्हा केशवासी ॥
नामा म्हणे केशवा दुजे पण नाहीं।
परि प्रेम तुझ्यां ठायी ठेवियेले ॥[1]

केशव का प्रेम नामदेव ही जानते हैं और नामदेव के हृदय में केशव रहते हैं। इसे नामदेव और केशव ही जानते हैं। दोनों में अभिन्नत्व है। परस्पर द्वैतभाव नहीं है। अपना सब कुछ मैंने हे केशव! तुम्हारे चरणों में समर्पित कर दिया है। अन्त करण से एक किन्तु शरीर से भिन्न ऐसे हम दोनों हैं। अपने इष्ट को वे बड़ी आत्मीयता से व तत्परता से बुलाते हैं—

डोले शिण ले पाहाता वाटुली। अवस्था दाटली हृदया माजीं ॥[2]

मेरे नेत्र राह देखते-देखते थक गये। हे विठ्ठल! आपसे मिलने की इच्छा मेरे अन्तःकरण में भर आई है। उत्कंठा से और उत्सुकता से व्यग्र नामदेव की चिन्ता पराकोटि तक पहुँच जाती है और वे कहने लगते हैं कि कहीं किसी भक्त ने तो आपको नहीं रोक लिया? इतनी देर क्यों लगा दी? हे विठ्ठल! अब शीघ्र आओ। आपको पुकारते-पुकारते मेरा कंठ भर आया है तथा सूखने लगा है। आपमें पूरे विश्वास के साथ मैं अपनी भावना से दशों दिशाओं में आपको खोजता हूँ—प्रतीक्षा करता हूं। मेरे प्राणों से भी प्रिय विट्ठल आप कब आवेंगे? आपका आलिंगन और स्पर्श मैं कब कर पाऊँगा? बेचैनी से तड़प-तड़प कर नामदेव जमीन

१. सार्थ नामदेवाची गाथा—अभंग १३, पृ० ४४।
२. सकल सन्त गाथा—नामदेव अभंग, १२६६ पृ० १७८।

पर छटपटाते हैं और आर्तता से गुहारते हुए अपने उपास्य को पुकारते हैं। उनका गला भर आया है।

बचपन में ही नामदेव ने विठ्ठल को नैवेद्य दिखाकर प्रांजल भाव से उसे ग्रहण करने के लिए कहा—

केशवा माधवा गोविंदा गोपाळा। जेवीं तूं कृपाळा पांडुरंगा ॥[1]

हे केशव ! माधव ! गोविन्द ! गोपाल ! हे पांडुरंग ! हे कृपालु ! हे दशरथ नंदन ! अच्युत ! हे वामन ! तुम भोजन कर लो। हे नरहरी ! हे कृष्ण ! हे मधुसूदन ! भोजन ग्रहण करो। इस तरह नामदेव के आर्त स्वर से पुकारने पर भगवान् ने नैवेद्य ग्रहण कर लिया।

इस तरह सचमुच नैवेद्य ग्रहण करने पर माता गोणाई तथा पिता दामासेटी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके बाद का सारा विवेचन बड़ा ही मार्मिक और रसग्राही है। नामदेव ने भगवत् विषयक रति के पारमार्थिक अनुभव बचपन से ही बड़े अनमोल पद्धति से लिये है। उनके द्वारा रचित माधुर्य भाव को प्रदर्शित करने करने वाला एक पद देखिए—

नामदेव की माधुर्य भावना—

नको वाजवू श्री हरि मुरली।
तुझ्या मुरलि ने तहान भूक हरळी ॥ध्रु०॥
गोपाळ गड्यांचा मेळ, हरिसंगे खेळ, कुंजवनीं रमली ॥
खुंटल्या वनयुचा वेग, वर्षति मेघ, वळें स्थिरावली ॥
नामा चरणीचा दास, विनविती आस, आशा नाही पुरली ॥[2]

नामदेव विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं कि हे श्री हरी ! तुम मुरली मत बजाओ। तुम्हारे मुरली बजाते ही हम सब की भूख प्यास ही नष्ट हो गई। फलतः गोपाल अपने सखाओं सहित तुम्हारे साथ खेल में मग्न हैं। गोप-गोपियाँ कुंजों में तथा कुंजवन में ही रमे हैं। तुम्हारी मुरली की ध्वनि से तथा उसकी मिठास से वायु की गति रुक गई है। मेघ बरस रहे हैं, तथा जल भी स्तब्ध हो गया है। नामदेव कहते हैं, 'मैं तो आपके चरणों का दास हूँ' अतः पुनः पुनः आपसे आशा के साथ कहता हूं कि मेरी आशा मुरली की ध्वनि सुनकर परिपूर्ण नहीं हुई, अतः पुनः पुनः उसे सुनाइये। मैं सुनने के लिए उत्सुक और लालायित हूं।

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग ३१३५, पृ० २८०।
२. नामदेव पद—सार्थ गाथा।

इन्द्रियों की चंचलता—

नामदेव की भक्ति उनका कवित्व, उनका कारुण्य आदि भावनाओं का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए उनका एक रूपक देखिए। इसमें चंचल और स्वैर तथा अनिबन्ध इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को धेनुओं के रूप में बतलाकर कहते हैं—

कुत्ना थमाल ले थमाल अपुल्या गाई।
आम्ही आपुल्या घलासी जातो भाई ॥ध्रु०॥
नाही तर धाडिन रे गोपाळांच्या जोड्या ॥
नामा म्हणे रे गोष्ट रोकडी पाही ॥[1]

यह अभंग उत्कृष्ट काव्य गुणों से परिपूर्ण है। तुतला बालक बनकर उसी तुतलीवाणी में जब वे आत्मीयता से सहज खेल-खेल में ही बतलाते हैं, कि उनके इन्द्रियों की गायें तथा उनकी अनिबंध प्रवृत्तियों को रोकने पर भी वे नहीं रोक पाते। इसमें प्रदर्शिक साधक भाव तोतले बोलों से युक्त है। यह ध्वनि-काव्य का एक सरल उदाहरण माना जा सकता है। हे कृष्ण! ये इन्द्रियों की गायें सम्हाले नहीं सम्हलती हैं। तुम इनकी देखभाल करो। कल हमारे घर बहुत चीका और खोआ बनाया गया था। तुम सबने मिलकर अधिक मात्रा में उसे खा लिया। मैं बेचारा गरीब ठहरा। अतः मुझे बहुत अल्प मात्रा में तुम सब ने दिया। तुम कहोगे इसे कुछ नहीं समझता। यह तो तुतला बोलने वाला है। कृष्ण कहते हैं, तुम चुप रहो मेरी समझ में सब आ गया है। तुम्हारी इन्द्रिय रूपी गायों को मैं ही फेरता हूं। उस बात का स्मरण रखो। अन्यथा गोपालों की जोड़ियाँ तुम्हारे साथ शरारत करने भेज दूंगा। नामदेव कहते हैं कि मेरी यह बात कितनी रोकड़ी है। सूर के इसी तरह के विवेचन से यह तुलनीय है। यथा—

'माधौ मेरी इक गाइ।' —संक्षिप्त सूरसागर—पद २४।

अपने गुरु विसोवा खेचर स्वामी के दिये हुए ज्ञान से उनको जो स्वरूप साक्षात्कार हुआ उसका वर्णन वे करते हैं[2]—

गुरु कृपा से सम्पन्न नामदेव का स्वरूप साक्षात्कार—

नाचू कीर्तनाचे रंगी। ज्ञानदीप लावू जगीं ॥
सर्व सांडूनी माझाई। वाचे विठ्ठल रघुमाई ॥

---

१. नामदेवाची गाथा—(बोबडा) अभंग, पृ० १७।
२. श्री नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग १५८, पृ० १८६।

परेहून परते घर। तेथे राहू निरन्तर॥
सर्वांचे जें अधिष्ठान। तेचि माझे रुप पूर्ण॥
अवघी सत्ता आली हातां। नामयाचा खेचरी दाता॥

गुरु खेचर स्वामी की कृपा से आत्म प्रतीति हो जाने के कारण मैं कीर्तन के रंग में आनन्द से नाचूँगा और उसमें ज्ञान का प्रकाश प्रज्वलित करूँगा। सब कुछ छोड़ छाड़कर सुख से विठ्ठल-रघुमाई कहूंगा। परों से परतर आत्मरूप विठ्ठल ही मेरा विश्राम स्थल है और मैं नित्य वहीं पर वास्तव्य करूँगा। मुझे गुरु की कृपा से अखिल विश्वसत्ता मेरे हस्तगत हो गई है। मुझे मेरे पूर्ण स्वरूप की निस्संदिग्ध अनुभूति हो गई है। इसी से मैं अब नित्य अपनी भक्ति करूँगा ऐसा अब वे निश्चय कर लेते हैं।

सद्गुरु के द्वारा पथ प्रदर्शन—

नामदेव को विसोवा खेचर से जब ज्ञान प्राप्ति हो गई, तब संसार के लिए जो दुख उनके मन में था वह भी नष्ट हो गया। इसी बात पर वे सद्गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। यथा—'सद्गुरु सारिखा सोइरा जिवलग। तोडिला उद्वेग संसारी चा॥ काय उतराई होऊँ कवण्या गुणे। जन्मा नाही देणे तैसे केले॥ माझे सुख मज दाखविले डोळा। दिधली प्रेम कळा नाम मुद्रा। डोळियाचा डोळा उघडिला जेणे। लेवविणे लेणे आनंदाचे॥ नामा म्हणे निकी सांपडली सोय। न विसंबे पाय खेचराचे॥[1]

सफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख विसारि सुख अन्तरि दिना।
गिआन अन्जन मोकउ गुरु दीना। राम नाम बिनु जीवन मन हीना॥
नामदेव स्मरण कर जाना। जग जीवन सिऊ जीवू समाना॥[2]

सद्गुरु जैसा मित्र और हितकर्ता मिल जाने से सांसारिक उद्वेग नष्ट हो गया। मैं किस प्रकार इस उपकार से उऋण हो सकूँगा। मुझे जन्म मरण के आवागमन से मुक्त कर दिया तथा मुझे मेरा वास्तविक सुख प्रदान कर दिया। नाम-मुद्रा देकर मेरे अन्तःकरण में प्रेम की विह्वलता उत्पन्न कर दी। ज्ञान की दीप्ति से नेत्रों के नेत्र खुल गये। आनन्द की उपलब्धि मिल गई। अब मैं ऐसे साधन को कदापि नहीं छोड़ूँगा। तथा विसोवा खेचर के चरणों में ही पड़ा रहूँगा।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १५०, पृ० ३१७, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।
२. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, पृ० ४६२, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।

मेरा जन्म गुरु ने सफल कर दिया। नामस्मरण का मूल्य मुझे ज्ञात हो गया। दुख की विस्मृति हो गई और आध्यात्मिक सुख अन्तःकरण में स्थित हो गया। ज्ञानार्जन से यह प्रतीत हो गया कि विना रामनाम के सारभूत तत्व अन्य और कोई नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं यह तथ्य भी मैंने जान लिया।

नामदेव अपने मन को उपदेश कर समझाते हैं[1]—

मनाचे मन पण सांडित रोकडें। अन्तरिचे जोडे परब्रह्म ।।
नाथिला प्रपंच घरोनिया जीवीं। सत्य ते नाठवी कदाकाळी ।।
अजूनि तरी सांडी नाथिले लटिके। तरसील कवतुके म्हणे नामा ।।

मन का चांचल्य और मनस्थिति को मुक्त कर देने से अर्थात एकाग्र होकर हृदयस्थ परब्रह्म से सम्वन्ध जुड़ जाता है। इसी को सदा साथ रखकर मैंने लौकिक व्यवहार नष्ट कर दिया है। हे मेरे मन ! तू इस सत्य को गाँठ में बाँधले। अव भी क्षणभंगुर और मिथ्या स्वरूप सांसारिकता को तू छोड़ दे तो तेरा सचमुच उद्धार हो जायगा।

ब्रह्म का स्वरूप—

नामदेव अपने उपास्य का इस प्रकार वर्णन करते है[2]—

सगुण निर्गुण श्रुति ज्या बोलती। तो तूं माझे चित्ती पंढरी राया ।।
देव दगडाचा भक्त हा मायेचा। संदेह दोघांचा फिटे कैसा ।।
ऐसे देव तेहि फोडिले तुरकी। घातले उदकीं बोभातिना ।।
ऐसी ही दैवते नको दावूं देवा। नामा म्हणे केशवा विनवितसे ।।

जिसे श्रुतियों ने सगुण और निर्गुण इन दोनों स्वरूपों वाला वतलाया है, वही तू हे पंढरिनाथ ! मेरे चित्त में वसा हुआ है। तू जितना भी है उतना सव में स्थित है अतः मैं तुम्हारा वर्णन कैसे कर सकता हूं ? मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारे चरणों की मिठास मैं कदापि न छोड़ूँ। मेरा यही भाव तुम पुष्ट करते रहो। भीमातट पर तुम्हारा निवास है इसकी साक्ष्य पुंडलीक मुझे दे रहे हैं। नामदेव, केशव से यही माँगते हैं। भक्त और भगवान् का स्वरूप वतलाते हुए वे कहते हैं कि भक्त अपनी भावना से भगवान् को देखता है और वैसे मूर्ति तो पाषाण की ही

१. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, चित्रशाला प्रेस, पृ० ४६३।
२. नामदेवाची गाथा अभङ्ग—४७२ और ४२५, पृ० ४६२ और ३६० (चित्रशाला प्रेस)

रहती है। दोनों के मन का सन्देह कैसे दूर किया जाय? प्रस्तर देवमूर्तियाँ तो तुरकों के द्वारा भग्न की गईं। उनको पानी में डुबोकर रखने पर भी न वे चिल्लाईं और न कुछ हो सका। अतः मेरा यही निवेदन है कि सर्वव्यापी परब्रह्म के प्रति मेरी भक्ति बनी रहे। अपने मन को पुनः उपदेश और चेतावनी भी वे देते हैं यथा[1]—

> परब्रह्म जे चितसी आसा ते भावसी। राम भगत चेतिय के अचित मन रासी।
> कैसे मन करे गारे संसार सागर विखैको वना। भूठी माया देखके भुलारे मना॥
> सिपि के जन्म देला गुरुपदेस भला संत के प्रसाद नामा हर से मिला॥

हे रामभक्त अब चेतजा जो अचित्य है और मन से असीम है उसे यदि तू अपना लेगा तो आशा से भावना में उसे पा सकता है। विष से भरा हुआ संसार-सागर इसके बिना तू कैसे पार करेगा? गुरु ने छीपी जाति में उत्पन्न मुझे अच्छा उपदेश दिया है कि यह माया झूठी है, इसमें भूलकर भी मत उलझ। सन्तों के प्रसाद से मुझे हरि मिले हैं।

स्पष्ट है कि नामदेव सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूपों के जानकार और उपासक थे। मूर्ति भंजन का स्वरूप जब तक उन्होंने यात्रा में नहीं देखा था, तब तक वे सगुणोपासक बने रहे और यात्रा कर लेने के बाद तथा तद्युगीन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति को ठीक-ठीक समझकर वे निर्गुणोपासक बन गए। सन्त ज्ञानेश्वर तथा विसोबा खेचर के उपदेशों और सम्पर्क से निर्गुण भक्ति उनमें अधिक रूप में सजग हो गयी। साधना-मूलक-नाथ सम्प्रदाय की विशेषताएँ और भावमूलक भागवती भक्ति का अपूर्व समन्वय नामदेव में विद्यमान है। नामदेव की कबीर के सन्त मतवाली विशेषताओं को समझने के लिए प्रा. राजनारायण मौर्य लिखित राष्ट्रवाणी में प्रकाशित 'संत नामदेव की निर्गुण भक्ति' यह लेख तथा 'नामदेव पदावली' पूना विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित दोनों विशेष द्रष्टव्य हैं।[2]

नामदेव की भक्ति और आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप—

नामदेव का भक्तिमार्ग उत्कट भक्ति से सम्पन्न है। पाखंडियों और दंभियों के लिए उनकी भाषा कठोर बनकर प्रस्तुत हुई जो उनकी कुरीतियों और दंभों का

---

१. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४२, पृ० ४६२।

२. सन्त नामदेव की निर्गुण भक्ति—ले०प्रा० राजनारायण मौर्य, राष्ट्रवाणी सं. ११ वर्ष १५ मई सन् १९६२ तथा नामदेव पदावली सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र —पुणे विद्यापीठ पुणे–७।

परिस्फोट करती है। परमार्थ का क्षेत्र उनकी दृष्टि में ज्ञानी, अज्ञानी, अस्मिता प्राप्त और अस्मिता-रहित आदि सबके लिए है तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन बेकार हैं। भक्ति को आध्यात्मिक मार्ग का वे एक प्रमुख साधन मानते हैं। जो कोई भी प्रत्यक्ष राम को बतला देगा उसके वे अनुयायी बनने के लिए तैयार हैं। पांडुरंग तो भावों का भूखा है। हरिनाम रूपी वेणुनाद से मुग्ध होकर चरने वाली और भीमा नदी का पानी पीकर भक्तों पर कृपा करने वाली कामधेनु की तरह विठ्ठल हैं। इनकी भक्ति के चरणों पर ज्ञान भी विनम्र होकर नत हो जाता है। नामदेव की कविता में नाम-माहात्म्य ही प्रमुख वर्ण्य विषय है। नामस्मरण से ईश्वर प्राप्ति हो जाती है। अन्य सारे कार्य नाम के बिना फीके हैं। नाम अमृत से भी मधुर होने से सभी अहर्निश उसको चख सकते हैं। एक रामनाम सारे पातकों से मुक्ति दिलाता है। नाम सुखनिधान और पतित पावन होने से नाम स्मरण करने वालों का उद्धार हो जायगा। मिठास भरी नामदेव की वाणी अत्यन्त सुमधुर है जो महाराष्ट्र में तो प्रसिद्ध है ही परन्तु पजाब में भी ब्रजभाषा में नामदेव ने इसी के आश्रय से भक्ति की धारा बहाई है। नामदेव के पद और साखियाँ देखकर लगता है कि कबीर के साहित्य में मिलने वाले सिद्धांत, तत्व और प्रतिपादन शैली नामदेव से ही उनको उपलब्ध हो गई थी। नामदेव के हिन्दी पदों पर मराठी का प्रभाव बराबर परिलक्षित हो जाता है। मराठी की तरह रूपक और दृष्टान्त उनके हिन्दी पदों में भी विद्यमान है। भगवान् प्रेम स्वरूप है। भक्त अनन्य होकर भगवान् से प्रेम का नाता जोड़ता है। नामदेव ने इसे ऐसा सिद्ध किया है कि भगवान् का सगुण रूप हृदय में प्रतिष्ठित हो जाय। इसी से अपनी मनस्थितियों के अनुसार आर्त, करुणा भरी, विनय परक और सहृदयतापूर्ण अभिव्यंजना नामदेव ने की है। सन्तों के सहवास से सम्पन्न होकर व उनके प्रेम-प्रसाद से, नाथ-सम्प्रदाय की और वारकरी-संप्रदाय की विशेषताएँ, ज्ञानाश्रयी-निर्गुण-भक्ति, उत्कट सगुण-भक्ति और नामस्मरण की विशेषताएँ नामदेव-साहित्य में परिपक्व और सम्पन्न आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत हैं।

नामदेव नामस्मरण की महिमा इस प्रकार गाते हैं—

जैसे ताप दे निरमल धामा।
तैसे राम नाम बिनु बापुरो नामा ॥[1]

× × ×

तू दाना तूं बीना। मैं बिचारु किया करी ॥
नामेचे सुआमी बरबसन्द तू हरी ॥

१. पंजाबांतील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद २०, पृ० १०१।

जैसे बिना सूर्य प्रकाश के निर्मल धूप असंभव है उसी प्रकार नामदेव बिना रामनाम के बेचारा अनाथ प्राणी है। भगवान् का नामस्मरण मेरे जैसों के लिए एक बहुत बड़ा आधार है। अन्धे की लकड़ी का जितना महत्व अन्धे को होता है उतना ही महत्व मुझे अपने नामस्मरण के आधार का है। हे परम कृपालु अल्लाह! तुम दानशूर हो अतः सबको देने वाले और सब से 'पत्रं, पुष्पं फलं तोयं' के हिसाब से लेने वाले के रूप में ही सब तुम्हें पहिचानते हैं। तुम ज्ञानी, तथा दूरदृष्टि वाले हो। तुम्हारी शक्ति का मैं पामर क्या और कैसे वर्णन करूँ? नामदेव कहते हैं हे स्वामी! हे श्री हरी! संसार के जीवमात्रों को क्षमा प्रदान करने वाले मात्र तुम ही हो।

भजन की एकाग्रता में लौकिक व्यवहार-विस्मरण—

नामदेव परमेश्वर भजन में अपनी सुधबुध बिलकुल भूल जाते थे। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> **जब देखा तब गावा ॥ तऊ जनु धीरजु पावा ॥**
> **नादि समाइलो रे सतिगुर भेटिले देवा ॥**
> × × ×
> **जह अनहत सूर उजारा। तह दीपक जलै छांरा ॥**
> **गुरु परसादी जानिआ। जनु नामा सहज समानिआ ॥**[1]

सद्गुरु ने मेरी और भगवान् की भेंट करा दी। उन्हीं की कृपा से मेरी यह दशा हो गई कि जब मैं नामस्मरण करने लगा तो भजन में मुझे भगवान् दिखाई दिये। मैं परमेश्वर के रूप में विलीन हो गया। परिणामतः धैर्य और आनन्द मिल रहा है। धूमिल, अस्पष्ट तथा धुँधला प्रकाश भी दिखाई पड़ने लगा है। बिना आघात से उत्पन्न ध्वनि एवं शब्द सुनाई पड़ने लगा है। ज्योति प्रकट हो गई। यह सारा गुरुकृपा का प्रत्यक्ष फल है। मेरे रत्नजटित अन्तःकरण में भगवान् का विद्युत प्रकाश चमकता है और पता चलता है कि भगवान् आत्मा में और हृदय मे सर्वत्र पूर्णरूप से लबालब भरे हुए हैं। बाह्य जगत् में प्रकाशित सारे दीपक उसके सामने फीके पड़ गए हैं। यह सारा सहज ही हो गया और वह भी गुरु-प्रसाद से। भगवान् की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। नामदेव के अनुसार भगवद्-प्राप्ति का मार्ग इस प्रकार है—

> **कोई बोलै नीरवा कोई बोले दूरी। जल की मछली चरै खजूरी ॥**
> **काइरे बकवाद लाइउ ॥ जिन हरि पाइउ तिन हि छपाइउ ॥**
> **पंडित होइकै बेदु बखानै ॥ मूरखू नामदेऊ रामहि जाने ॥**[2]

---

१. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ९, पृ० ८९।
२. ,, ,, पद १७, पृ० १६।

कोई कहते हैं ईश्वर पास है, कोई कहते हैं कि वह दूर है। ऐसी बकवास किस काम की ? इस प्रकार का विधान एवं उक्ति ठीक इसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि मछली खजूर के पेड़ पर चढ़ गयी। तात्पर्य यह कि ये सारे कथन व्यर्थ हैं। वास्तव में जिन्हें भगवान् के दर्शन हो गये वे उसको गुप्त ही रखते है। पंडित वेदोच्चार बड़े जोर से करते हैं पर मैं मूर्ख हूँ और ईश्वर को पूर्णतया पहिचानता हूँ। इसमें पंडितों की अहंकार भावना को उन्होंने फटकारा है तथा भक्त की विनम्रता अपने निवेदन में प्रकट कर दी है।

ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप—

नामदेव को सर्वत्र 'सर्व खलु इदम् ब्रह्म' का साक्षात्कार होने लगा और वे कहने लगे—

> एक अनेक व्यापक पूरक जद देखो तद सोई।
> माया चित्र विमोहित विर्ला बूझे कोई॥
> कहत नामदेव हरि की रचना देखो हृदय विचारी।
> घटघट अन्तर सर्व निरन्तर केवल एक मुरारी॥[1]

सब गोविन्द है। गोविन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रवाह, तरंग वीचियाँ पानी से भिन्न नहीं है तद्वत् यह सारा विश्व प्रपंच उसी ईश्वर की लीला है। इस हरि की रचना में एवम् सर्वभूतों में वही एकमात्र परब्रह्म विराजित है। घट-घट में केवल एक गोविंद ही विद्यमान है। भक्त ही भगवान् अर्थात् राम बन गये। फिर भी तुम मेरे परमात्मा और मैं तुम्हारा भक्त, तुम पूर्ण और मैं अपूर्ण। यह नामदेव की भावना उनके विनम्र भक्तिमार्ग की सूचक है। डा० रानडे की यह सूचना बड़ी महत्वपूर्ण है कि कोई यह न समझे कि मैं पूर्ण ब्रह्म बन गया हूँ क्योंकि उसमें धोखा-भय है।

'It is this ideal of perceptual progressive realisation, or attainment to the highest acme possible for man, here below, which may be reached by humanity without a tint of arrogance or self-complacency.'[2]

'अपने अखण्ड प्रयत्नों से क्रमशः ऊपरी स्तर के साक्षात्कारी अनुभव लेते रहना इस जग में संभव है। उतने ऊँचाई वाली अवस्था तक पहुँचते रहना इतने ही लक्ष्य का अनुसरण मानव के लिये संभाव्य है, क्योंकि इस ध्येय में पूर्णत्व का

---

१. नामदेवाची गाथा—पद ४६, पृ० ४६३, (चित्रशाला प्रेस)।
२. 'पाथवे टु गॉड'—डा० रा. द. रानडे, पृ० १९७।

अहङ्कार नहीं तथा साधक के प्रयत्नों में शिथिलता निर्माण करने वाली अल्प संतुष्टता भी नही है।'

इसीलिए नामदेव कहते हैं[१]—

'रामहि जपही रामहि जाने छोड़ करम की आशा।
रामहि भज, तई रामहि होई, प्रणवे नामा दासा।।
जलते तरङ्ग, तरङ्गते है जल कहन सुनन को दूजा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा।।'

राम जपने से तू राम जान लेगा। तू कर्म की आशा छोड़ दे। तब तू राममय हो जावेगा। दधि को विलोने से घृत बन जाता है वह पुनः एक नहीं हो सकता। पूजा, पुजापा और पूजनीय सभी अभिन्न है। फिर भी नामदेव का कहना है कि मैं भक्त हूँ अतः अधूरा हूँ और तुम परमेश्वर हो अतः पूर्ण हो।

नामदेव अपनी अन्तरात्मा से निकलने वाली ध्वनि से परमात्मा का गुणगान करते थे। इनके शब्द वैराग्य-परक भावना से भरे हुए हैं। एक स्थान पर वे कहते है[२]—

नामदेव की वैराग्य भावना—

वेद पुरान सासत्र अनन्ता गीता कवित न गावउगो।
अखंड मंडल निरंकार महि अनहद वेनु बजावऊगो।।
वैरागी रामहि गावऊगो।।
पंच सहाई जन की सोभा भलै-भलै न कहावऊगो।।
नामा कहै चिकुहरि सी उराता सुन्न समाधि पावऊगो।।

अपनी आयु के पूर्वार्ध में सगुणोपासक बने हुए नामदेव पंजाब में जाकर निर्गुणी सत बने और भक्तिमार्ग के निष्ठावन्त प्रचारक बनकर प्रचार करते रहे। इसी का परिणाम उनके बाद के सन्तों पर विशेषतः कबीर आदि पर अधिक पड़ा है। इस ऐतिहासिक तथ्य की और सत्य की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। परमेश्वर एक महान् शक्ति अथवा सत्ता मात्र नहीं है। प्रत्युत अनन्य भक्ति करने पर परमेश्वर का सहज सुलभ दर्शन एवम् साक्षात्कार हो सकता है ऐसा प्रतिपादन नामदेव ने अपनी अनुभूति के आधार पर ही किया। चौदहवीं से पंद्रहवीं शती का कालखण्ड इस्लामी आक्रमणों और अत्याचारों का होने से तथा इस देश की प्राचीन आर्य

१. रामदेवाचे आध्यात्मिक चरित्र व ज्ञानदीप—ग. वि. तुळपुळे, पृ० १५७।
२. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ३१, पृ० ११४।

संस्कृति पर विध्वंसक प्रहार हो जाने से एक प्रक्षुब्ध और भयप्रद वातावरण सर्वत्र निर्माण हो गया था। तभी इस परिस्थिति का पंढरपूर से पंजाब तक के भ्रमण काल में और अपने उधर के वास्तव्य काल में नामदेव ने सूक्ष्म निरीक्षण कर लिया था। अतएव एक ईश्वर, जाति भेदातीतता, मूर्ति पूजा का बहिष्कार जैसे सिद्धांतों पर आधारित सहज सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन नामदेव ने जोर शोर से आरम्भ किया। नामदेव के ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। नामदेव के भगवान् अन्तर्यामी ओर सर्वत्र विद्यमान हैं। उनका कहना है—

ऐसो रामराई अन्तरजामी। जैसे दरपन माहि वदन परवानी।
वसै घटाघट लीप न छीपै। बंधन मुकता जातुन दीसै।।
पानि माहि देखु मुखु जैसा। नामेका सुआमी बीठलु जैसा।।[1]

हे भक्तों! परमेश्वर सब के हृदयों में विद्यमान है। जिस तरह दर्पण में देखने वाले को निजी मुख प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसी तरह ब्रह्मज्ञानी मनुष्य को ईश्वर विषयक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञान से दिव्य प्रकाश सामने आता है। बंधन-मुक्त एवम् ब्रह्मज्ञानी के लिए मनुष्य की जाति और कुल से कोई सरोकार नहीं। सब प्राणिमात्रों के हृदय में ईश्वर का अस्तित्व है। अतः नामदेव को अपना स्वामी विठ्ठल सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

नामदेव की माधुर्य भक्ति—

माधुर्य भावना से परिपूर्ण नामदेव का एक पद द्रष्टव्य है—

मैं बऊरी मेरा राम भतारु।।
रचि रचि ताकऊ करऊ सिंगारु।।

कबीर का पद 'हरे राम मैं तो राम की बहुरिया।' इसके साथ तुलनीय हो सकता है। नामदेव की उक्ति है कि वे एक बावरी स्त्री है जिसका पति राम है। उसके लिए ही यह सारी साज सज्जा नामस्मरण इत्यादि है। लोग इस कृति की चाहे जितनी निन्दा करे नामदेव को इसकी कोई परवाह नहीं है। मैं भगवन्नामामृत रसायन का पान करने में मग्न हूँ। इसी से मुझे श्रीरंग प्रभू विठ्ठल की भेंट हो गई और उसकी पूर्ण अनुभूति साक्षात् हो जाने से मैंने उसको चीन्ह लिया है ऐसा उनका विनम्र निवेदन है।

नामदेव ऐसे प्रभु का पूजन सर्वत्र करते हैं क्योंकि 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीद।' पंढरपूर से पंजाब तक नामदेव ने भगवद्-भक्ति का प्रचार किया।

---

१. **पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ५८, पृ० १५८।**

इसी भक्ति से उन्हें अष्ट-सात्विक भावों के आध्यात्मिक अनुभव मिले। पांडुरंग मिलन के आनन्द से वे गदगद और कृतकृत्य हो गये। क्योंकि उनका विठ्ठल सर्वगुण मंडित एवम् परम कृपालु है। इसका दृढ़ विश्वास उनमें जागरूक रहा। कहीं उसे नजर न लग जाय यही उनकी चिन्ता है। यह भाव और कला का सुन्दर शोभन चित्र चिन्त्य है—

श्याम मूर्ति डोळस सुन्दर सावळी। ते ध्यान हृदय कमळीं धरुनि ठेलो ॥
सकळ स्थिति सुखाचा अनुभव झाला। सकळ विसरला देह भाव ॥
नामा म्हणे देवा दृष्टि लागा म्हणीं। पुण्डलीका धर्मे करुनि जोडलासी ॥[1]

नामदेव को एक स्फूर्तिदायक हृदय स्पर्शी अखंड आनन्द का अनुभव हुआ क्योंकि श्यामल सुन्दर विट्ठल मूर्ति को उन्होंने हृदय में धारण कर लिया था। मन स्वरूप में रँग जाने से देहजनित व्यापारों का भान न रहा। सांसारिक चिंताएँ मिट गयीं, द्वित्व की भावना विनष्ट हो गयी। अद्वयानन्द की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त हो गयी। शरीर पुलकित हो गया। नामस्मरण से जन्म मृत्यु के आवर्तनों से मोक्ष मिल गया। पुंडरिक की कृपा से ऐसे विठ्ठल का मुझे सहज अनुभव मिला। यह चिंता उत्पन्न हो गई कि कहीं उनके सुन्दर विठ्ठल को किसी की नजर न लग जाय।

नामदेव की अन्तिम इच्छा में भी विनम्र आत्मनिवेदन बड़ा मार्मिक है। जो उन्हें श्रेष्ठ कोटि का संत सिद्ध करता है—

मार्मिक आत्म निवेदन—

वतन आमुची मिरासी पंढरी। विठोवाचे घरी नांदणूक।
सेवा करु नित्य नाचू महाद्वारी। नामाची उजरी जागऊँ तेथे।
साधु सन्ताशरण जाऊँ मनोभावें। प्रसाद स्वभावे देती मज ॥
नामा म्हणे आम्ही पायरीचे चिरे। संत पाय हिरे देती वरु ॥[2]

पंढरपूर हमारी वपौती से संप्राप्त जागीर है। इसके महाद्वार में हम सतत संकीर्तन और भजन कर नाचना चाहते हैं। इस तरह विठोवा की सेवा हो जायगी और हम शुद्ध भाव से सन्तों की शरण जायेंगे जिससे उनकी कृपा का प्रसाद हमें मिलेगा। नामदेव कहते हैं कि विठ्ठल के मन्दिर की सीढ़ियों के हम पत्थर बनें

---

१. नामदेवाची गाथा–पद ६७, पृ० १७३ (चित्रशाला प्रेस)।
२. नामदेव कृत अभङ्गाचीगाथा, पद संख्या ५३२, पृ० ३८१।

जिससे दर्शनार्थ आने वाले संतों के हीरों के समान मूल्यवान चरण हम पर पड़ते रहेंगे। और भी वे आगे कहते हैं

संकल्प विकल्प निरसूनिया भ्रांति। दावीन विश्रान्ति अभिनव तुज।
अन्तरिचे गुज बोलोनि पंढरिनाथ। आलिंगन देत नामयासी॥[1]

नामदेव को पंढरिनाथ ने अपने अन्तस्तल के हृद्‌गत भावों को प्रकट कर उन्हें आलिगन दिया और कहा कि जिससे तुम्हारे संकल्प-विकल्प और सन्देह दूर हो जावेंगे। मैं ऐसा उपाय और विश्राम स्थल तुम्हें बताऊँगा। वह उपाय यही है कि तुम अपनी समस्त वृत्तियों को विषयों से मोड़कर व उनको मरोड़कर सावधानी से मेरे रूपों की ओर अग्रसर करो। शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंधादि से अपनी इन्द्रियों से मुझे ही प्रत्यक्ष कर लो। तब तुम्हें मेरा प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जावेगा। तुम्हें और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे आवागमन का क्रम भी अवरुद्ध हो जायगा। तुम्हें केवल अपने मन में केवल दृढ़ विश्वास रखकर मेरे और अपने सम्बन्धों को दृढ़ निश्चय से अपनाना होगा।

प्रेम लक्षणायुक्त-भक्ति तथा ज्ञानमय भक्ति के द्वारा भक्ति का प्रचार कर नामदेव ने भागवत धर्म का प्रचार मराठी और हिन्दी-भाषी प्रदेशों में दोनों भाषाओं में कर दोनों भाषा-भाषियों पर बड़ा उपकार किया है। वारकरी सम्प्रदाय में नामदेव प्रेम की सगुण मूर्ति हैं। प्रेम ही उनका स्थायी भाव है, इसी से अपने उपास्य विठ्ठल को वे अपना चुके थे। विसोवा खेचर की गुरु कृपा से वे परम कोटि के सन्त बने, और निर्गुण भाव से चराचर में विठ्ठल की व्याप्ति को देखते हुए उसका प्रत्यक्षाचरण पंजाब में जाकर करते रहे। उनका यह ऋण कबीर आदि को मान्य है। भागवत भक्तों में नामदेव की तरह अद्‌भुत भक्ति रस की पयस्विनी बहाने वाला दूसरा और कोई नहीं। ऐसा मानना अयोग्य नहीं होगा।

एकनाथ का आध्यात्मिक पक्ष—

परम कारुणिक महान मराठी वैष्णव कवि एकनाथ की कृतियों में उनका दार्शनिक पक्ष हमारे सामने आ जाता है। उनकी आरम्भिक कृतियाँ प्रमुख रूप से आध्यात्मिक विचारों को अभिव्यक्त करने वाली हैं। इसी से हमने यहाँ पर क्रमशः उनके आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक व्यक्तित्व और विचारों का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया है। इन्हीं कृतियों में प्रमुख रूप से उनके पारमार्थिक और आध्यात्मिक विचारों का पक्ष अभिव्यंजित हो गया है अतः इस विवेचन में उनको इस रूप में लिया गया है।

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभङ्ग ४४९, पृ० ३६३।

एकनाथ का व्यक्तित्व और आध्यात्मिक साधना—

हिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य के भक्त कवियों में परम कारुणिक संत श्री एकनाथ पूरे वैष्णव साहित्य के ही नहीं वरन् अद्यावत् मराठी साहित्य के हिमालय हैं। वेदान्त-सिद्धान्त के तर्क कर्कश गगन चुम्बी हिम-शिखर इन नगाधिराज की शोभा अभिवर्धित कर रहे हैं, तथा सदभिरुचि और सद्भक्ति संयुक्त-भाव गंगौघों के सुक्षेत्र से उद्गम पाकर नवरसों से भरे हुए अपने दोनों पुलिनों की भूमियों को अपनी पुनीत एवम् प्रभूत जल राशि से आप्लावित करती हुई यह साहित्य भागीरथी अपनी तरह सहज स्वच्छन्दता से बह रही है। यहाँ से स्थान भ्रष्ट होकर छूट पड़े हुए हिम-प्रस्तर आपाततः इस बहते हुए गंगौघ में आकर पिघल रहे हैं। इस हिमालय के ऊपरी भाग पर विराजित वनश्री की नयनाभिराम शोभा, प्रज्ञासूर्य का उदय तथा इसी प्रदेश पर दिखाई पड़ने वाली प्रतिभा के शारदीय पूर्णिमा की धवल और स्वच्छ ज्योत्स्ना एवम् नयनाभिराम बहार का क्या वर्णन किया जाय ?

एकनाथ ने अपनी तीव्रतम हृदय संस्पर्शी अनुभूति को अपने शब्दों के माध्यम से अत्यन्त उत्कटता के साथ अपनी कृतियों में भावना सिक्त कर अभिव्यक्त कर दिया है। इसका तत्काल परिणाम सहृदय पाठकों के चित्त को स्पर्श कर लेना है। अर्थात् यह कार्य सचमुच एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार का ही हो सकता है। अतः यह तो कहा ही जा सकता है कि उनके पास प्रतिभा—सम्पन्नता थी। हिन्दी के महान् युगप्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास और मराठी के परमकारुणिक श्री एकनाथ में बहुत साम्य है। दोनों ने अपनी बहुमुखी और सर्वस्पर्शी प्रतिभा से जीवन के विस्तृत और विविध अङ्गों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन और निरीक्षण कर अपनी भावानुभूति से सभी काव्य-गुणों की माधुरी से अभिव्यजित कर दिया है। यह अभिव्यंजना विभिन्न साहित्य शैलियों में लोकाभिमुख होकर उद्भावित हुई है। विस्तार की दृष्टि से और भक्ति की साधनात्मक विचार धारा में दोनों ने अद्वितीय और अनुपम ढङ्ग से साहित्य में अपनी पैनी और गहरी पैठ को सिद्ध किया है। फिर भी दोनों के अपने-अपने अधिकार और साहित्यिक कृति-शिल्प को देखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है, कि तुलसीदास यदि हिन्दी साहित्य के सुमेरु पर्वत है तो एकनाथ मराठी साहित्य के हिमालय हैं।

पारमार्थिक साधक एवम् साहित्यकार की स्वनिर्मित साधना-प्रणाली—

श्री एकनाथ का साहित्यकार अपनी स्वनिर्मित साधना प्रणाली और प्रयत्न से विकसित और वर्धिष्णु हुआ। अपने पारिवारिक एवम् लौकिक जीवन में तथा पारिमार्थिक क्षेत्र में वे किस प्रकार यशस्वी हुए, तथा इसी यशस्विता का प्रतिपादन

कर उसे सुष्ठु रूप से अपने साहित्य में किस प्रकार वे चरितार्थ एवम् सुसम्पन्न कर सके इसे देखना है। अपने युगीन भक्तों एवं सन्तों में वे अग्रगण्य माने गये हैं। परन्तु यह वरेण्यता उन्हें कैसे उपलब्ध हो गयी इसका यदि अध्ययन करना हो तो हमें उनके आध्यात्मिक साहित्य का परिशीलन करना होगा। उनके भीतर का साहित्यकार, उनकी अपनी साधना और तपस्या से जगा था। यह कैसे सम्भव हो सका था इसका अध्ययन यथा क्रम उनके साहित्य से देखा जा सकता है। उनकी दिव्य साहित्य-मंदाकिनी में अवगाहन करना और उससे सुस्नात होना ही तो हमारा लक्ष्य है।

परिस्थिति का तीव्र आघात—

एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यह बताता है कि जब तक कोई तीव्रतम चोट जीवन में किसी को नहीं लगती तब तक उसका व्यक्तित्व निखर कर प्रकाश में नहीं आता। एकनाथ के जीवन पर यही सिद्धान्त लागू होता है। मूलनक्षत्र में उत्पन्न होने से उनके माँ-बाप स्वर्गस्थ हो गये थे। उनके जीवन पर यह एक ऐसा प्रहार था जिससे वे मर्माहत हो गये। इसी व्यथा की अभिव्यक्ति श्री एकनाथ इस प्रकार करते हैं—

> **मुळीच्या मुळीं एका जन्मला। मायबापे थोर धाक घेतला।**
> **कैसे मूळ नक्षत्र आले कपाळा। स्वये लागलो दोहींच्या निर्मूळा।**
> **शान्ति करता अवध्याची जाली शान्ति। मुळी लागोनिया लावली ख्याति॥**
> **एका जनार्दनीं मुळीच्या गोठी। माय सकट सगळा बापचि घोटी॥**[1]

उक्त अभंग में वे अपनी करम कहानी गाते-गाते अपने सहज प्रवृत्तियुक्त अन्तःकरण से एक तत्वगर्भित परिहास करते हैं। उनके कथनानुसार यह सब मूल नक्षत्र की महिमा है कि 'मैं मूल नक्षत्र में पैदा हुआ और पैदा होते ही मैंने सबको खा डाला। इसलिये उसकी शान्ति करने निकला पर मैंने अपनी ही चिरशान्ति प्राप्त कर ली। अतः मैं अपने ही कुल को 'जड़ से उखाड़ने वाला' इस संज्ञा से आख्यात हुआ। किन्तु फिर भी मैं जनार्दन स्वामी का 'एका' बन गया किन्तु यह कैसे सम्भव हुआ?' जिस प्रकार मूलनक्षत्र में उत्पन्न होकर मैंने सब को नष्ट कर डाला उसी प्रकार मैंने माया सहित ब्रह्म को घोंट लिया। अतः यह मूल नक्षत्र की ही महिमा मानी जावेगी। इस पर भी मेरे गुरु श्री जनार्दन स्वामी ने मुझे माँ-बाप और गुरु इन तीनों का वात्सल्य प्रदान किया।

---

१. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास भाग २—ल. रा. पांगारकर, पृ० २१७।

अपने माँ-बाप के मर जाने पर उनके वृद्ध पितामह चक्रपाणि ने अपनी जर्जर वृद्धावस्था के कारण एकनाथ को जनार्दन स्वामी के उत्तरदायित्व में सौंप दिया। बचपन से ही प्रह्लाद की तरह 'कौमारे आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भगवना निह' एकनाथ में स्वभावतः विशेषताएँ दिखाई दीं। वे बचपन से ही कुशाग्र और बुद्धि प्रागल्भ्य से युक्त थे। अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त उपदेशोंको सुनकर एकनाथ के अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ लहलहा उठीं। परिणामतः इससे संप्राप्त आनन्दावस्था की लहरों में वे डूबने उतरने लगे। गुरु-कृपा से ज्ञान भी अर्जित कर लिया। इसी ज्ञानानुभूति को प्रकट करने की तीव्रतम इच्छा अन्तःकरण में मुखर हो उठी। उसकी अभिव्यक्ति 'आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हुई। उनकी चित्तवृत्ति का उन्मेष देखने लायक है। यथा[1]—

चित्त वृत्ति का उन्मेष—

> तुझे निज स्वरूप पाहता दृष्टीं। निजानंद न समाये सृष्टी।
> तुटल्या जन्म मरणाच्या गांठी। निर्भय पोटी मी जालो ॥६॥
> बंध मुक्तिची अटा अटीं। संचरली होती माझ्या पोटीं।
> होता तुझी कृपा दृष्टीं। उठा उठी पळाली ॥७॥

अपनी दृष्टि से तुम्हारे निज स्वरूप को देखते ही मुझे इस संसार में न समा सकने वाला आनन्द उपलब्ध हो गया। अन्तःकरण की निर्भयता मिल गई। जन्म-मरण की उलझनें सुलझ गयीं। बंधन और मुक्ति का झंझट दूर हो गया, तथा तुम्हारी कृपा दृष्टि से सारी शंकायें निर्मूल होकर मन शंका रहित बन गया।

गुरु सेवा सम्पन्न आध्यात्मिक ज्ञान—

गुरु सेवा करते हुए उनसे अध्यात्म ज्ञान आत्मसात् कर अपनी शंका-कुशंकाओं के निर्मूलन से उनकी बुद्धि में तत्वज्ञान सम्पन्नता के उपलब्ध हो जाने से एक नव उत्साह संचालित हो उठा जिसका प्रकटीकरण इस तरह हो गया[2]।

> आतां बोलणें खुंटले। शब्दांचे चातुर्य राहिले। दृष्टि चे देखणे
> उरले ते हि निमाले भेवटीं ॥१४६॥
> एका जनार्दनी एकनाथ। एक म्हणता विश्व भरित।
> तो होऊनी कृपावन्त। प्रेम आनन्द लहरी वदविली ॥१५४॥[3]

१. आनन्द लहरी ६–७ श्री एकनाथ कृत।
२. श्री एकनाथ कृत 'आनंद-लहरी', ओवी संख्या १४६–५०।१५२–५३।
३. एकनाथ कृत 'आनन्द लहरी', ओवी संख्या १५४।

अब तो वाचाशक्ति अपना कार्य छोड़ चुकी है, शब्दों का चातुर्य भी रुक गया है और आँखों से केवल देखने का कार्य शेष बच गया है, किन्तु आगे चलकर वह भी समाप्त हो गया। सद्‌गुरु के दास इन सारे संकेतों को अच्छी तरह समझ सकते हैं। पक्षी जिस तरह नारियल का आस्वाद नहीं ले सकते, वैसे ही अन्य लोग इन बातों को नहीं जान सकते। उनके लिए तो ये सारे अनुभव है ही नहीं। मेरा सबसे विनम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे सद्‌गुरु की शरण में जाकर अपना आत्मोद्धार कर लें। इससे मोक्ष का अधिकार उन्हें मिल जावेगा और जन्म मृत्यु का चक्र उन्हें नहीं व्यापेगा। सद्‌गुरु के कथन पर विश्वास रखने से सारी बातें यथार्थतः सत्य बन जाती हैं। मेरा मन ऐसे ही आनन्दोन्मेष से सम्पन्न होकर आनन्द की लहरों में निमज्जित हो रहा था। इसी के प्रतिफलस्वरूप आनन्दानुभूति की यह अभिव्यक्ति 'प्रेम आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हो गई। यह सद्‌गुरु-कृपा का ही फल है।

एकनाथ के द्वारा रचित यह प्रथम स्फुट काव्य और प्रथम साहित्यिक रचना है, ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है। अपनी आयु के सोलह से अठारह वर्ष की अवस्था में यह गुरु कृपा और अनुभूति हुई होगी। उसके पूर्व एक बार एक पाई का हिसाब गलत निकलने पर रातभर जागकर उस गलती को उन्होंने खोज निकाला तब उनकी तितिक्षा, सतर्कता, तादात्म्य और साक्षेप ये गुण देखकर उनका अधिकार और पात्रता उनके गुरु श्री जनार्दन स्वामी के ध्यान में आ जाने से उन पर गुरु कृपा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। भला गुरु परीक्षा लिए बिना कहाँ कृपा करते हैं? अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है, कि यह गुरु-कृपानुभव उनके हृदय में बिंध जाने पर ही उसकी अभिव्यक्ति होना अधिक सम्भव है। अतः सम्भवतः शक १४७०-७१ में यह स्फुट काव्य लिखा गया होगा।

साहित्य-निर्मिति करने वाले साहित्यकार की कृतियों का यदि कोई क्रम लगाना चाहे तो वह क्रम भी तभी मालूम हो सकता है जब वह उस ग्रन्थ के भीतरी स्वरूप तथा भाषा को देखता है। अपनी स्वानुभूत आनन्दानुभूति की लहरों में डुबकियाँ लगाने के बाद उससे स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर करीब-करीब बीस वर्ष की अवस्था में एकनाथ ने यह कृति प्रस्तुत की होगी। इसमें वर्णित आत्मबोधन, आत्मज्ञान आदि को उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने देखा, तथा उसे अन्य विद्वानों के द्वारा उसी प्रकार के भावों से अभिव्यंजित कृतियों से मिलाकर देखा और परखा। तब उस निपुणता को और परिपक्व करने के हेतु श्री जनार्दन स्वामी ने श्री एकनाथ को श्री व्यास के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र द्वारा रचित 'शुकाष्टक' पर मराठी में टीका रचने का आदेश दिया। इस आदेश का पालन करते हुए एकनाथ ने अपनी टीका में

अभिव्यंजित स्वात्मानंद को श्री शुक की अनुभूति और स्वात्मानन्द के साथ मिलाकर उसकी परीक्षा की। इसका फल यह हुआ कि वे अब अपने गुरु के अनुभवों को अपने अनुभवों में सम्पन्न पाने लगे। इस एक रसता और तादात्म्यानुभव में रसलीन होकर 'शुकाष्टक' पर ओवीबद्ध मराठी टीका उन्होंने प्रस्तुत की। बहुधा कवि अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत करने के बाद अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अन्य कवियों की कृतियों से मिलाकर देखते हैं—पढ़ते हैं और तुलना भी कर लेते हैं। इस तरह अपनी साहित्यिक योग्यता की कमी को पूरा कर लेने का उनको सुअवसर भी प्राप्त हो जाता है। 'शुकाष्टक' पर रची गई टीका की बानगी देखने लायक है[1]—

जो वेद सरोवरीचा हंसु। द्विभुज जाला जगदीशु।
अवतरला व्यासु द्वैपायनु ॥४२५॥
माजो मने निष्टंकु विचारी॥ हा विवेक त्यासी प्राप्तादायकु
सेव्यकरी ॥४३०॥

द्विभुज जगदीश के समान अपने अन्तःकरण से जो वंदनीय बन गया है, तथा जो वेद के सरोवर में तैरने वाले हंस के समान है, ऐसे द्वैपायन व्यास महर्षि के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र ने इस अष्टक को रचा है। यह व्यास पुत्र विवेक का सागर, आनन्द का मंगल निधि और सुबुद्धि मान है। इस व्यास पुत्र द्वारा निर्मित अष्टक के आठ श्लोकों का जो नित्य पाठ करेगा उसे सम्यक ज्ञान का वृक्ष ही हाथ लग जायगा। उसका जीवन सार्थक होकर ठिकाने लग जायगा तथा विवेक के प्राप्त साधनों का सेवन और अप्राप्त साधनों की प्राप्ति से उसे सेवन की योग्यता उसमें आ जाती है। वह शंका-रहित और निर्मल मनवाला हो जाता है।

ओवी का उदात्त रूप—

एकनाथ ने यह ग्रन्थ ओवी छन्द में लिखा है। वैसे उनके बहुत से ग्रन्थ इसी छंद में लिखे गये हैं परन्तु इस छन्द के बारे में एकनाथ के मौलिक विचार इसी ग्रन्थ में वर्णित हैं। अत्यन्त उदात्त अन्तःकरण से वे ओंकार के स्वरूप के साथ ओवी का सम्बद्ध जोड़ते हैं। देखिये[2] —

या शुक मुखाष्टके पवित्रा। औट चरणी विचित्रा।
ओवियाँ नव्हती अर्ध मात्रा। औटावी हे ॥२७॥
ओवी दाखवी विवेकाते। पावन करी औट हाते।
एक देशी सरते व्यापकामाजी ॥२८॥

---

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी संख्या ४२५–२६, ४२९–३०।

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवियां २७–२८।

ॐकार की मात्राएँ साढ़े तीन होती हैं, तथा ओवी छंद की मात्रायें भी साढ़े तीन होती हैं। मनुष्य की जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यावस्था इन चारों को ॐकार की मात्राओं में निहित माना गया है। ॐकार में उसकी अर्ध मात्रा सानुनासिक है। इसे ही तुर्यावस्था का संकेत मानते हैं। यह तुर्यावस्था स्वसंवेद्य आत्मानुभूति एवम् ब्रह्मानुभूति ही समझी जाती है। अतएव ओवी भी प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति ही है ऐसा एकनाथ का अभिप्राय है। ओवी को साढ़े तीन हाथ से नापना उचित नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मानुभूति के अतिरिक्त स्वप्न, और सुपुप्ति भी इसमें समायी हुई है। अर्थात् इससे सारा मानव शरीर पुनीत हो जाता है तथा व्यापक सत्ता से सम्बद्ध हो जाता है।

योग्य गुरु का योग्य शिष्य —

श्री शुकाचार्य की तरह जनार्दन स्वामी के पात्रतम शिष्य एकनाथ का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि[1]—

तो जनार्दन प्रिय एका। मूळ योगे श्री शुका।
लागोनि केली टीका। स्वात्मबोधे ॥४३९॥
एका जनार्दनी कीं जनार्दन एकपणीं। सागरी जैसे पाणी
तरंग जाले ॥४४४॥[2]

आनन्द लहरी लिखने के अनुभव प्राप्ति से अपने नवीन अनुभवों को शास्त्रीय निकष लगाने के हेतु अपने गुरु की आज्ञा से शुकाष्टक पर टीका रची जिससे कि प्राप्त ज्ञान पूर्णतः आत्मसात हो जाय। वे इन ओवियों में कहते हैं, कि यह केवल आठ श्लोकों का अष्टक मात्र नहीं है, अपितु एक मधुर आम्रवृक्ष है। इसकी आठ शाखायें हैं, तथा प्रत्येक शाखाग्र पर एक-एक मधुर आम्रफल लगा हुआ है। शुक योगीन्द्र इस प्रत्येक फल का सेवन किया करते थे। उसी तरह ओवियों में रचित मराठी टीका भी यही अभिप्राय प्रकट करती है कि यह साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर पुनीत और शोभन हो जाता है जब कि वह इसको पढ़ता है। इसके पढ़ने से व्यापक अनन्त सत्ता में सान्त का अकेलापन नष्ट हो जाता है। जिस तरह सागर और तरंग दोनों एक ही अभिन्न जल के स्वरूप हैं वैसे ही जनार्दन स्वामी और एकनाथ दोनों अभिन्न हृदय हैं।

संभवतः शक १४७२ में अपनी २१ वर्ष की आयु में एकनाथ ने शुकाष्टक की टीका रची। इस द्वितीय कृति के बाद उनमें और विकास होता है। शुकानुभूति के

२. एकनाथ कृत 'शुष्काष्टक' ओवियाँ ४३९–४०।
२. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी संख्या ४४२–४४४।

साथ अपनी अनुभूति की तुलना और गुर्वादेश का पालन दोनों एक ही साथ वे इस द्वितीय कृति से सम्पन्न कर सके। इससे उन्हें एक अपूर्व सुख एवम् समाधान प्राप्त हो गया। इसी को वे स्वात्मसुख कहते हैं। इस स्वात्म सुख को अभिव्यक्त करने के लिए उनकी आत्मा बेचैन हो उठी और इसका फल यह हुआ कि उन्होंने 'स्वात्म-सुख' नाम की तृतीय स्वतन्त्र कृति प्रस्तुत की। इस ग्रन्थ में गुरु कृपा की चढ़ती कमान अभिव्यक्त की गई है। अपने पूर्वजों से मिली हुई काव्य प्रतिमा की ईश्वरीय देन को पुनः गुरु कृपा से मुखरित करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हो गया। इसी पर वे संतोष प्रकट करते हैं उनके ये हृदयोद्‌गार अत्यन्त मधुर और सुरस बन पड़े हैं[1]—

> जाखर करुनि वेगळी। गोडीची कीजे निराळी।
> स्वादुसर्वांगी सकळीं। तैसा स्वानंदु जाणा ॥२८॥

जिस प्रकार शर्करा की मिठास को शर्करा से अलग कर लिया जाय तो उसका स्वाद जैसे सर्वाङ्गों से प्रकट हो जाता है वैसे ही स्वानन्द-सुख के मिठास की दशा अर्थात् स्वानन्द की अनुभूति की अवस्था है।

एकनाथ अपने ग्रन्थ का परिचय यों देते हैं[2]—

> स्वात्मसुख येणें नावे। हा केवळ ग्रन्थ नव्हे।
> येणे रहस्य अनुभवावे। निजात्मसुख ॥४१२॥
> हो कां पति-सुखा लागी गोरटी। सासरच्या दासीची मानी गोठी।
> जैसे प्रमेय सुनी दिठी। पहावा ग्रंथ ॥४१४॥

एकनाथ का स्वात्म सुख —

इस ग्रन्थ का नाम 'स्वात्मसुख' है। यह केवल इस संज्ञा को ही सार्थ करने वाला नहीं अपितु यह ग्रन्थ वस्तुतः ऐसा है जिसे पढ़कर सहृदय पाठक को भी स्वात्मसुख का अनुभव होने लगता है। इसका यही रहस्य है। अधिकार सम्पन्न ऐवम् आत्म सुख में लीन रहने वाला निपुण इसे पढ़कर आत्मसुख में लीन हो जाने का पुनः प्रत्यय कर सकता है। वह युग ऐसा था जब लड़कियों के विवाह अल्पवयस में ही सम्पन्न हो जाते थे। ऐसी ही विनयशीला सुलक्षणी नववधू का दृष्टांत देकर एकनाथ अपनी बात समझाते है। जिस प्रकार अल्पवयसा सुलक्षणी सुशीला नववधू अपने पति सुख के हेतु ससुराल में आकर श्वशुरगृह की दासी के आदेशों का पालन

---

1. एकनाथकृत 'स्वात्मसुख'—ओवी संख्या २८।
2. " " " " ४१२–४१४।

करती है, वैसे ही आत्मसुख लाभार्थ या प्रभु चरणों का सुख पाने के लिए साधक को इसी दृष्टि से किसी शास्त्र या ग्रन्थ का परिशीलन करना चाहिए। इस ग्रन्थ का निरूपण जिस शैली का है उसे भी देख लेना समीचीन होगा। यथा[1]—

ये ग्रंथीचे निरूपण। वरि-वरि पाहता कठिण। परी अभ्यंतरी
गोडी जाण। अमृता ऐसी ॥४७२॥

इस ग्रन्थ में किया गया निरूपण ऊपरी तौर पर देखने पर कठिन जान पड़ता है। पर उसकी अन्तर्गत और वाह्य स्वरूप की माधुरी अमृत के समान है। इस माधुर्य के प्रति सहज स्वाभाविक रुचि एकनाथ के अन्तःकरण में पहले से ही थी। परन्तु उसको प्रेरणा देने वाले श्री जनार्दन स्वामी ही थे, जिनकी कृपा से आनन्द की जीवन दायिनी वर्षा उन पर होती ही रही। इसी प्रेम वर्षा से एकनाथ के अन्तःकरण की वृत्तियाँ निरन्तर भावविभोर होती ही रहीं। इसकी यथा योग्य अभिव्यंजना वे इस प्रकार करते हैं[2]—

हे भानुदास कुळवल्ली। निजात्म मंडपा वेली गेली।
एका जनार्दन पुष्प फळी। संत सुखी ये हेतू ॥५०६॥
एका जनार्दन परिपूर्ण। जन जनार्दन अभिन्न।
हे ज्यासि आकळे खूण। स्वात्मसुख जाण तोचि लाभे ॥५०९॥

संत भानुदास के कुल में उत्पन्न काव्य प्रतिभा रूपी लता लहलहाकर एकनाथ तक आ पहुँची तथा उनकी आत्मा के वितान पर चढ़कर मंडराने लगी। स्वामी जनार्दन की कृपा से इसमें फल-फूल आदि लगे। वे सब संत जनों के सुख के काम आ सके। एक प्रकार से अपने ही स्वात्मसुख की आत्मकथा सुनने के लिए विवेक वैराग्य और श्रद्धावान श्रोता मिल जाने पर उनकी अवस्था अद्वितीय बन जाती है। इस अवस्था के सामने समाधि अवस्था का सुख भी अपने आपको उस पर न्यौछावर करने लगता है। गुरु और शिष्य परिपूर्ण रूप से अभिन्न हैं। इस तथ्य का जो अनुभव कर सकें वही स्वात्मसुख को लूट सकता है।

एकनाथ का चतुर शिष्य—

एकनाथ के २४ वर्ष की अवस्था में शक १४७२–७४ में अपनी इस अनुभव-सिद्ध तृतीय कृति को प्रस्तुत किया होगा। हम देखते हैं कि अब तक एकनाथ में काफी निखार आ गया था। एक प्रौढ़ साहित्यकार का व्यक्तित्व उनमें धीरे-धीरे पनप रहा था। जो अब इतना प्रगति-शील हो गया था कि ज्ञान प्राप्ति और

१. श्री एकनाथ कृत 'स्वात्मसुख'—ओवी ४७२।
२. ,, ,, ,, ५०६–५०९।

स्वात्मसुख परिपक्व दशा में ले सकने में अपने आपको समर्थ और सम्पन्न पाने लगा था। एक वार श्रीमद् आद्य शंकराचार्य ने अपने परम शिष्य हस्तामलकाचार्य से प्रश्न किया—

कस्त्वम् शिशो कस्य कुतोसि गंता। किन्नीयते त्वांकुत आगतोसि।
एतन्मयोक्तम वद चार्भकत्वम्। मत्प्रीतये प्रीति विवर्धनोसि॥

हे मेरे प्रिय शिष्य। तुम किस के पुत्र हो? कहाँ जाने वाले हो? तुम्हें कौन ले जाता है? कहाँ से आये हो? मेरे द्वारा तुम्हें अव तक जो कुछ वतलाया गया है उसे इस प्रकार समझाकर कहो जिससे तुम मेरी प्रीति के पात्र बन जाओगे। 'श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने अपने परम शिष्य के हृदयस्थ ज्ञान को' 'करतलगत आमलक फलवत्' जाँचना चाहा था, तव उसने 'हस्तामलक' लिखकर अपने 'शाब्दे परेच निष्णातः' होने का परिचय दिया था। इसी 'हस्तामलक' जैसे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पर मराठी में टीका लिखने का आदेश जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को दिया। इसमें अपने गुरु का क्या अभिप्राय हो सकता है इसे एकनाथ एक चतुर एवम् निष्णात शिष्य होने से पूर्ण रूप से समझ गए थे इसका वर्णन द्रष्टव्य है[1]—

शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त। चिन्मात्रैक सदूगदित। निजानन्दे आनन्द भरित।
तो मी येथ निज बोध॥८०॥
जनार्दनचि स्वयें जन। हे ज्ञानाचे निज ज्ञान। एकाजनार्दन शरण।
सन्त सम्पूर्ण तुष्टले॥९३॥[2]

हस्तामलक ने आद्य शंकराचार्य को जो कुछ सुनाया उसे ही सद्गुरु जनार्दन स्वामी के पास प्रिय शिष्य श्री एकनाथ अपनी मराठी टीका में उसी प्रकार अत्यंत हृद्य और गंभीर शैली में अभिव्यक्त करते हैं। जिस गूढ़तम ब्रह्मज्ञान को तुमने अपरोक्षानुभूति के साथ स्वसंवेद्य कर लिया, इसी को तुम शास्त्रीय पद्धति से समूचे स्वरूप सहित विशद प्रकार से वर्णन करो क्योंकि इसमें श्रीमदाचार्य का पूर्ण मनोगत है तथा इसका महत्व भी उच्चकोटि का है। श्री एकनाथ आगे चलकर कहते हैं कि अपने सद्गुरु की इस इच्छा को वे अपनी टीका में अभिव्यक्त कर सके, इसका एकमात्र कारण श्री सद्गुरु हैं, क्योंकि इस कार्य में उनको प्रेरक एवं सहायक श्री जनार्दन स्वामी के सिवा और कोई नहीं हुआ। इसीलिये वे उनकी पूर्ण रूप से शरण गये है। इस ग्रन्थ में पारमार्थिक ज्ञान का जो भी निरूपण हुआ है उसका सारा श्रेय वे उनको ही दे देते हैं। हम यों कह सकते हैं कि हस्तामलकाचार्य ने

१. श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी संख्या ८०–८३ (९३)।
२. श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी सं० ७०, ७२,७३, ९३।

अपनी स्वानुभूति को 'शाब्देपरेच निष्णातः' व्यक्त कर अपनी शास्त्र वृत्ति का शंकराचार्य को एक परीक्षार्थी के नाते जैसे परिचय करवाया, उसी तरह अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय उसी भावना से सिक्त होकर एक परीक्षार्थी के नाते अपने गुरु को श्री एकनाथ ने करवाया। 'हस्तामलक' के प्रयास और शास्त्रीय ज्ञान को देखकर जो आनन्द शंकराचार्य को हो गया था उसी कोटि का आनन्द जनार्दन स्वामी को एकनाथ के कार्य से मिला। उन्हें यह ज्ञात था कि इस कार्य में उनके गुरु बराबर उनके साथ रहे हैं जिनकी प्रेरणा और बल से इसमें जो अपरोक्षानुभूति का निरूपण है वह यही बतलाया है कि सद्गुरु की शरण जाना चाहिए जिससे संत जन भी संतोष प्राप्त कर लेते हैं।

सद्गुरु प्रेरित कार्य –

अत्यन्त विनम्रता से पुनः एकनाथ यह निवेदन करते हैं[1]—

हस्तामलकाची टीका। एकला कर्ता नव्हे एका।
साह्य जनार्दन निज सखा। ग्रन्थार्थ नेटका अर्थिला तेणे ॥६६८॥
पूर्ण जाले निरूपण ॥ पूर्ण म्हणावया म्हणते कोण।
खुंटला बोल तुटले मौन। आनन्दघन अद्वयात्मा ॥

इस टीका के लिखने में मुझे पूरी सहायता जनार्दन स्वामी से मिली। अतएव यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। इसका कर्तृत्व मेरा निजी जरा भी नहीं है यही एकनाथ कहते हैं। इसका निरूपण करने में सद्गुरु की कृपा ही सहायक हुई है। यहाँ वाणी के शब्द भी समाप्त हो गए–मौन भी टूट गया और आनन्द-घन अद्वयात्मा का अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया।

अपनी चौथी कृति २५–२६ वर्ष की अवस्था में शक १४७५ में प्रस्तुत की है, ऐसा सभव जान पड़ता है।

एकनाथ की विकसनशील पारमार्थिक साधना—

इस तरह अपने प्रियतम शिष्य की परीक्षा ले लेने पर उनके गुरु ने उनको और उच्च स्तर का अनुग्रह देकर साधना करवाई और स्वयम् उनको साथ लेकर यात्रा के लिए निकले। गोदावरी नदी के तट पर नासिक त्र्यंबकेश्वर में चन्द्रभट नामक ब्राह्मण से 'चतुःश्लोकी–भागवत' पर पुराण विवेचन सुनाकर श्री जनार्दन स्वामी जी ने एकनाथ महाराज को आज्ञा दी कि तुम अब इस चतुःश्लोकी भागवत पर यहीं पर टीका लिखो। एकनाथ इस प्रसंग का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

१. एकनाथ- हस्तामलक ओवियाँ ६६८–६७०।

'जनार्दन म्हणती एकनाथा सांगतो वचन ऐक आता ।
श्री दत्त वरद तुझिया माथा । लाधला अवचिता निज भाग्ये ॥
चतुःश्लोकी जे भागवत । चंद्र भटे आणिले से सांगत ।
त्याजवरी टीका करावी प्राकृत प्रांजळ वहुत ये स्थानी ॥'[1]

जनार्दन स्वामी ने एकनाथ से कहा कि 'तुम पर श्री दत्त भगवान का वरद हस्त है अतः यह अवसर तुम्हें प्राप्त हो गया है। इसलिए इसी स्थान पर इस चतुःश्लोकी भागवत पर मराठी में टीका रचो। अव तक एकनाथ के द्वारा चार कृतियाँ प्रस्तुत की गई थीं जिनमें उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के विभिन्न प्रयोग किए थे। अतः उनका यह ग्रन्थ उनकी विकसनशील प्रतिभा के स्वरूप को हमें बतलाता है। उनके गुरु का अपने शिष्य पर पूर्ण विश्वास था जिसे एकनाथ की वाणी में ही सुनना उपयुक्त होगा।

तेणे स्वानंदे गर्जोन । श्री मुखे स्वये जनार्दन ।
वोलिला अति सुखावून । हे वर्णी गुह्यज्ञान देशभाषा ॥
तया माझी मध्यम अवस्था । नेणे संस्कृत पद पदार्था ।
बाप आज्ञेचि सामर्थ्यता । वचने यथार्थ प्रवोध झाला ॥[2]

आदि कल्प के प्रारम्भ में समुद्र के जल में स्थित ब्रह्मा जड़मूढ़ हो गया, और सृष्टि रचना करने की विधि भूलकर अज्ञान से आवृत्त हो गया। उस समय विष्णु के नाभिकमल में कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को अपनी अस्मिता भी विस्मृत हो गयी तब श्री नारायण ने उसे अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान देने के हेतु अपनी चिद्घन-मूर्ति का दर्शन दिया। नारायण की दिव्य मूर्ति देखते ही ब्रह्मा में दिव्य स्फूर्ति का उदय हुआ और अज्ञान तिरोहित हो गया। यही इतिहास शुक मुनि राजा परीक्षित को सुनाते हैं, जो 'चतुःश्लोकी भागवत' कहलाता है। यहाँ पर ऐसा लगता है कि श्री जनार्दन स्वामी एकनाथ महाराज के मनःपटल पर सगुण भक्ति का स्वरूप विशेष रूप से अंकित करवाना चाहते है। इसीलिए 'चतुःश्लोकी भागवत' की टीका लिखने का आदेश उनको स्वामीजी ने दिया। एकनाथ कहते हैं कि इस समय मेरी मध्यम अवस्था है। (सम्भवतः उनकी आयु लगभग तीस से अधिक की इस समय रही होगी।) मेरी बुद्धि संस्कृत के पद पदार्थ समझने लायक प्रगल्भ नहीं थी। पर अपने पिता सदृश गुरु की आज्ञा में कितना वल होता है इसका अनुभव

---

१. एकनाथकृत चतुश्लोकी भागवत टीका।
२. एकनाथकृत चतुश्लोकी भागवत टीका।

करते हुए उसी सामर्थ्य की सहायता से मैंने टीका लिखी। जिसके विवेचन का कार्य ठीक और यथार्थ रूपेण उनके वचनानुसार ही हुआ।

गुरुकृपा और समर्थ शिष्य का अधिकार तथा सगुणोपासना का महत्व—

जनार्दन स्वामीजी के परीक्षण और निरीक्षण एवम् प्रत्यक्ष मार्गदर्शनानुसार एकनाथ का साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्तित्व विकसनशील बनता गया। अपने गुरु की कृपा से उनकी साहित्य साधना और शास्त्रीय ज्ञान वर्धिष्णु हुआ। अद्वैत और निर्गुण परब्रह्म की अनुभूति एवम् साक्षात्कार अपनी कर्मठ उपासना से और ज्ञान सम्पन्नता से वे लेते रहे। परन्तु यह ब्रह्मानुभूति उनके समग्र जीवन के लिए पर्याप्त और उपयुक्त न थी। अपने गुरु में दृढ़ विश्वास रखने वाले एकनाथ की हरबार सहायता जनार्दन स्वामी ने की है। इसे अब तक उनके निरूपित ग्रन्थों के वचनों से साधार रूप में हमने देख लिया है। हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अभी इसमें और परिपक्वता आने की गुंजाइश है। क्योंकि तभी तो अन्ततोगत्वा परमकारुणिक एकनाथ का प्रखर और पूर्ण ओजस्वी समर्थ व्यक्तित्व जीवन की गहराइयों में प्रत्यक्ष पैठकर, उसमें से मोती निकालकर अपना लौकिक और पारमार्थिक दोनों तरह का सुख सुस्पष्ट रीति से प्राप्त कर सकता है। इसकी पूर्ण कल्पना उनके गुरु को थी। नित्य कर्म करते हुए साधक के लिए उसके बल पर भवदानुग्रह बहुत फलदायी होता है। ऐसा अनुभव साधक तभी ले सकता है जब वह स्वावलम्बी बनकर ईश सहायता और गुरुकृपा से असीम और अटूट विश्वास का आधार प्राप्त कर लेता है। तब वह जिस कार्य को हाथ में ले लेता है उसे उत्साह पूर्ण और आशा से पूरा कर लेता है। इसका प्रमुख कारण सगुण उपासना का महत्व है। इसी बात का महत्व एकनाथ के हृदय में ठोस रूप में अङ्कित हो जाय इस लक्ष्य को सामने रखकर जनार्दन स्वामी ने उन्हें 'चतुःश्लोकी भागवत' की मराठी में टीका रचने का आदेश दिया था। अपनी गुरु की इच्छा और अपेक्षा को एकनाथ परिपूर्ण कर सके थे इसका पता हम उनके द्वारा अभिव्यक्ति सशक्त और विश्वास पूर्ण विवेचनों से पा लेते हैं। यहाँ पर उनकी वाणी उन्मुक्त और निर्भय बन गई है। यथा[1]—

> वासिष्ठाचे वचनासाठी। सूर्य मंडळी तपे छाटी।
> शिका तरती सागरपोटीं। श्रीरामदृष्टि प्रतापे॥१०२३॥

---

१. एकनाथ—चतुःश्लोकी भागवत मराठी टीका, ओवी संख्या १०२३–१०३६।

टीका में मैं ला सका यह समर्थ गुरुजी के समर्थ प्रताप का परिणाम था। एकनाथ अपने समस्त भावों सहित गुरु पद पंकजों में नतमस्तक हो जाते हैं। पारमार्थिक ज्ञान से परिपूर्ण ग्रन्थ चतुःश्लोकी भागवत सारे महाभागवत का रहस्य अपने में समेट चुका है। परन्तु वह सारा सद्गुरु के सामर्थ्य से ही संप्राप्त हो सका। अतएव अकेला एकनाथ उसका कर्ता नहीं है, प्रत्युत इस टीका के अभिव्यंजन में उसके सांगोपांगों सहित सद्गुरु जनार्दन स्वामी ही प्रकट हुए हैं। एकनाथ और जनार्दन स्वामी ये दोनों नाम अलग हैं परन्तु इनका स्वरूप अभिन्न है। इसीलिए ग्रन्थ के निरूपण के साथ ही जीवन का पूर्णत्व मैं जान सका।

एकनाथ एक पात्रतम शिष्य—

इस कृति को प्रस्तुत करने के बाद सगुण भक्ति का महत्व एकनाथ भली-भाँति समझ गये थे। ऐसा निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाला जा सकता है। एकनाथ की शिक्षा दीक्षा और संवर्धन उनकी निगरानी में हुआ था। अतएव उन्होंने इस बात का पूर्ण रूप से ध्यान रखा कि अपने प्रियतम शिष्य के विकसनशील प्रगति में शास्त्रीय ज्ञान और साधन की कोई कमी न रह जाय। इसी सतर्कता के कारण एकनाथ उनके पात्रतम शिष्य बन गए। साहित्यकार और भक्त कवि के नाते स्वतन्त्र रचना, टीका ग्रन्थ इत्यादि के प्रयोगों से ब्रह्मानुभूति के संवेदन का इतने विस्तृत और विशाल प्रमाण में शायद ही किसी को सुअवसर मिला हो। अद्वैत वेदान्त की तर्क कर्कश ज्ञान की तथा यौगिक कठिन साधना को पचाकर श्री एकनाथ अपने हृदय पक्ष से सगुण ब्रह्म के साक्षात्कारी भावाभिव्यंजन के कार्य में भी पटु बन गए। अब उनमें यह आत्म विश्वास दृढ़ हो गया कि वे अब लोकाभिमुख रचनाएँ सर्जन कर सकते हैं। यह आत्मविश्वास उनके विरचित एक अभंग के उदाहरण से देखा जा सकता है।

सगुणोपासना में आस्था[1]—

सगुण चरित्रें परम पवित्रें सादर वर्णावीं।

× × ×

एका जनार्दनी भक्ती मुक्ती होय तत्काळीं॥

परम पवित्र, सगुण चरित्रों का अत्यन्त आदर सहित वर्णन करना चाहिए। सज्जन लोग सगुण चरित्र वालों के प्रति आस्था रखते हैं अतः सर्वप्रथम आदरयुक्त अन्तःकरण से प्रभु का नाम गाना चाहिए। कीर्तन रंग में आकर भगवान् के

---

१. एकनाथ अभंगों की गाथा पृ० १७१ अभंग १६७५।

सामने सुख से तल्लीन होकर उसमें झूम उठना चाहिए। भक्ति और ज्ञान को छोड़कर अन्य बातें न की जाय। प्रेमपूर्वक वैराग्य और विवेक की युक्तियों सहित अन्य बातों का निराकरण किया जाय, इससे अन्तःकरण में श्री हरि की सगुण-मूर्ति का ध्यान धँस जायगा और वही चिरंतन रूप से स्थित हो जायगा। सन्तों के घर की कीर्तन मर्यादा इसी प्रकार की होती है। अद्वय भाव से अखंड नामस्मरण करते हुए भजनानन्द में निमग्न होकर तालियाँ पीटनी चाहिए। एकनाथ कहते हैं कि भक्ति से ही मुक्ति तत्काल हो जाती है।

सगुणोपासना का परिणाम—

सगुण उपासना के प्रति ठोस आस्था और उसका महत्व एकनाथ महाराज के अन्तःकरण पर अङ्कित हो जाने से उनके जीवन में और भक्ति में स्थिरत्व आगया। परिणामतः उनमें ज्ञान की परिपक्वता आती गयी और प्रौढ़ता और पाण्डित्य से वे परिपूर्ण बन गये। गुर्वाज्ञा से भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों की अर्थात् उत्तर में मानस आदि और दक्षिण में रामेश्वर आदि स्थानों की यात्राएं कीं। स्थान-स्थान पर उन्होंने तद्युगीन जन जीवन की परिस्थिति को देखा तथा अनेक प्रसिद्ध सन्तों के साथ सत्संग भी किया। इस यात्राकाल में उनका योग-क्षेम श्रीकृष्ण परमात्मा की कृपा से सुचारु रूप से चला। इससे सगुण भक्ति की भावना उनमें दृढ़ से दृढतर और दृढ़तर से दृढ़तम होती गयी। कहना न होगा कि सारे उत्तर-भारत में प्रचलित युग की सगुण-भक्ति को विशेष रूप से उन्होंने आत्मसात किया होगा और अपने शास्त्रीय ज्ञान तथा हृदय से उद्‌भूत सगुण भक्ति के आधार पर उसे और पक्का कर लिया होगा। इस आदान-प्रदान से अपने इष्टदेव के चरित्र का गुणगान किया जाय यह भावना उनमें दृढ़ होती गयी। पैठण में आकर अपने गुरु की आज्ञा से एक आदर्श गृहस्थाश्रमी सन्त एवं भक्त बनकर लौकिक और पारमार्थिक जीवन सफलता से निभाते रहे। अपने जीवन के इतने लंबे अरसे में शास्त्रीय ज्ञान, हृदय प्रवृत्तिनुसारिणी सगुण-भक्ति, चार ग्रन्थों की सर्जना, अपने सद्‌गुरु के प्रति दृढ़विश्वास और तज्जन्य लोक मंगलकारिणी वृत्तियों से वे एक पूर्ण रूप से साधु, पण्डित और विद्वान संत और भक्त का आचरण करने वाले गृहस्थ बन गये। शास्त्रीय ज्ञान की सुसम्पन्नता, पंडितों के साथ मैत्री, देशाटन से सम्प्राप्त अनुभवों और अन्वीक्षण की विस्तृत और व्यापक लोकाभिमुखी दृष्टि ने उनमें एक अद्वितीय एवं उर्जस्वल प्रतिभा का उन्मेष जगा तथा उनकी धाक सर्वत्र प्रकर्ष रूप में जमती गई।

चतुःश्लोकी भागवत की रचना करने के बाद एकनाथ ने अभंगों की

रचना भी आरम्भ कर दी थी। अपनी भाव भीनी इस नव-नवोन्मेषमयी अनुभूति की इस विधा को उन्होंने अपने गुरु को बतलाना चाहा क्योंकि यह उनका विश्वास था कि ज्ञान का प्रभाव और काव्य की प्रेरणा गुरु की महिमा एवम् कृपा का ही फल है। इस महिमा को वे इस प्रकार मुखर करते हैं—

सद्गुरु महात्म्य—

> **तरी जो कायावाचा मनें। अति कृपाळू दीना कारणें॥**
> **तोडी शिष्याची बंधने। उठवी ठाणे अहंकाराचे॥[1]**
> **हे स्वप्नी हीन स्मरे मनें। शिष्याची सेवा स्वयें करणे।**
> **पूज्यत्वे पाहणे निज शिष्या॥[2]**

काया वाचा मनसा सद्गुरु दीनों के लिए अत्यन्त कृपावान हो जाते हैं। अपने शिष्यों के अज्ञान के बंधनों को दूरकर वे उन्हें परम ज्ञानी बना देते हैं। उनके अन्तःकरण से अहङ्कार का निवास हटा देते हैं। फलतः वे अहङ्कार रहित निर्मल स्वभाव के शिष्य बन जाते हैं। सद्गुरु शब्द ज्ञान में पारंगत, ब्रह्मानन्द में सदा निमग्न, शिष्य प्रबोधन में किसी भी प्रकार की शंकाओं का निर्मूलन कर सकने में सक्षम तथा शिष्यों का पूर्ण समाधान करने वाले होते हैं। उनका इस प्रकार का सहज स्वभाव बन जाता है। अतः उनके शिष्यों में से जिसका जैसा भाव होगा उसी के अनुरूप उसे अनुभव प्राप्त होने लगते हैं। ऐसे महापुरुषों को अपने गुरु होने का कतई अहंकार नहीं है और न वे अपने शिष्यों से किसी प्रकार की कभी कोई सेवा भी लेते हैं। अपने शिष्य की प्रतिष्ठा रखते हुए उसे उच्चस्तर पर ले जाने की तत्परता जिसमें सदा विद्यमान रहती है ऐसे सद्गुरु की महिमा अपार है।

इस तरह गुरु-महिमा गाकर अपने स्फुट काव्य के रूप में लिखे गये एवम् रचे गए अभंगों को उन्होंने अपने गुरु को दिखाया। इन अभङ्गों के बारे में श्री जनार्दन स्वामी ने जो अभिप्राय अभिव्यक्त किया है वह द्रष्टव्य है—

> **परी नवल त्याचे लाघव। अभंगीं घातले माझे नाव।**
> **शेखी भावाचा निज भाव। उरावया ठाव नुरवीच॥९८॥[3]**

उनका निवेदन है कि मुझे अपने पन के कारण जो ज्ञान अपने गुरु से उपलब्ध हुआ उसके परिणाम स्वरूप में भक्त बन गया। पर भक्ति रस के उन्मेष में जो कुछ भी प्रकट हो गया उसमें मेरा कुछ भी न था जरा इस कौतुक को

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ३–२९७।३००।
२. " " "
३. " " १–९८।

देखिए कि इन अभङ्गों में मेरी छाप अर्थात् मेरा नाम उन्होंने लिखवाया। वास्तव में ये भाव मेरे न थे, पर उनकी निःस्पृहता ने अभिमान रहित होकर इन अभङ्गों को उन्होंने मेरा ही बतलाया और कहा[1] —

यया वचना सन्तोषला । म्हणे धन्य रे भला । निज भाविक
तूचि संचला । प्रकट केला गुह्यार्थ ॥

× × ×

तुझेनि मुखे जे जे निघे । ते सन्त हृदयी शान्त चि लागे ।
मुमुक्षु सारंगासी पाहिजे । रुंजी निजांगे करितील ॥

यहाँ पर गुरु और शिष्य दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का सच्चा स्वरूप क्या यह भी समझा जा सकता है। एकनाथ का सारा साहित्यिक और सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके गुरु के द्वारा ही तैयार किया गया था। अतः अपने अन्तःकरण की ऋजुता और कृतज्ञता जब एकनाथ व्यक्त करने लगते हैं, तब वे अत्यन्त विनम्र हो जाते हैं। तथापि उनके हार्दिक आदर भाव को समझते हुए श्री जनार्दन स्वामी अपने शिष्योत्तम के लिए वात्सल्य भावना प्रकट करते हैं। इसीलिए उन्हें एकनाथ के प्रांजल वचनों से परम संतोष प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि भाई! तुम्हारी काव्यधारा में तुम्हारे ही निजी भाव अभिव्यक्त हुए हैं। गूढ़ एवम् रहस्यात्मक पारमार्थिक ज्ञान को तुमने अपने स्वानुभव से सिद्ध कर काव्य में प्रकट कर दिया है। इसे मैं क्या यह मानूँ कि इसमें मेरी स्तुति है अथवा यह मानूँ कि इसमें सार निरूपण ही है। यह ग्रन्थ-पीठिका है अथवा ब्रह्मगान? साहित्य के मर्मज्ञ और ज्ञानी भी इसे आसानी से नहीं समझ सकेंगे किन्तु तुमने उसे अपने विवेक से और अन्तःकरण की भाव मयता से समझ लिया है, और उसके रहस्य को प्रकाशित कर अभिव्यक्त कर दिया है। अपनी वाणी के इन स्वरों में जो गूँज उठा है उससे संतोष को भी सन्तोष उत्पन्न हो गया है। संत हृदयों को तुम्हारे मुख से निकले हुए वचन सत्य प्रतीत होते हैं। मोक्ष की जिज्ञासा रखने वाले पारमार्थिक सहृदय रसिक जन इस सरस काव्य के इर्द-गिर्द सदा मँडराते रहेंगे। इस तरह गुरु के अभिप्राय को सुनकर श्री एकनाथ को परम संतोष प्राप्त हुआ। वास्तव में 'चतुःश्लोकी भागवत' के बाद कालानुक्रम से अभङ्गों पर विचार करना चाहिए था परन्तु हमने स्फुट काव्य का परामर्श बाद में लेने का निश्चय किया है। अतः अब हम 'एकनाथी भागवत' का एक महान ग्रन्थ के नाते विवेचन करेंगे।

१. एकनाथी भागवत अध्याय ६६–१०२।

'एकनाथी भागवत' एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है।

गुरु आज्ञा से श्री क्षेत्र पैठण में उत्स्फूर्त होकर अपनी निजी प्रज्ञा और गाढ़ी विद्वत्ता के प्रगाढ़ आत्मविश्वास से एकादश स्कंध पर टीका लिखना उन्होंने आरम्भ किया। अपनी आयु के ३५ से ४० वर्ष तक उन्होंने भागवत का प्रगाढ़ अध्ययन, स्फुट रचनाएँ निर्माण कर ली थी, तभी कर लिया था। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ पैठण में कर वाराणसी में उसे समाप्त किया था। इसके बारे में उनके महाग्रन्थ की अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार है—

तैसे माझेनि नावें। ग्रन्थ होती स्वभावें। आज्ञा प्रताप गौरवें।
गुरु वैभवें सार्थकू ॥[1]
म्हणवोनि एकादशाची टीका। एकादशीस करी एका।
एकपणाचिया सुखा। फळेल देखा एकत्वें ॥

× × ×

वाराणसी महामुक्ति क्षेत्र विक्रम शक संवत्सर।
शके सोळाशे तिसोत्तरा। टीका एकाकार जनार्दन कृपा ॥
महामंगळ कार्तिक मासी। शुक्ल पोर्णिमे सी।
सोमवार शिवयोगेसी। टीका एकादशी समाप्त जाहली।
स्वदेशीचा शक संवत्सर। दंडकारण्य श्रीरामक्षेत्र।
प्रतिष्ठान गोदावरी तीर। तेथील उच्चार तो ऐका ॥
शालीवाहन शक वैभव। संख्या चौदाशे पंचाण्णव।
श्रीमुख संवत्सराचे नांव। टीका अपूर्व तै जाहली ॥[2]

दंडकारण्य के श्रीराम क्षेत्र की प्रतिष्ठान नगरी में गोदावरी तीर पर माघ-शुद्ध एकादशीके दिन पूर्वा नक्षत्र रहते हुए प्रातःकाल पूर्व वेला में शक १४९१–९२ तथा संवत् १६२६–२७ में 'एकनाथी-भागवत' का लेखन आरम्भ हुआ तथा मोक्षदा-पुरी वाराणसी में शक १४९५ तथा संवत् १६३० में महामंगलदायक कार्तिक शुक्ल-पक्ष पूर्णमासी तथा सोमवार के दिन इस महाग्रन्थ का लेखन पूर्ण हुआ। जनार्दन स्वामी जैसे सद्गुरु की समर्थ आज्ञा के वैभव को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचाकर दिखाने का महान् कार्य एकनाथ के द्वारा सुसम्पन्न हुआ। इस एकादश स्कंध की टीका लिखने वाला 'एका' अर्थात् एकनाथ एकात्म भाव से इसे पूर्ण कर सका।

---

१. एक[illegible]थी [illegible]त प्रथम अध्याय–१०८–११४ और
अध्याय ३१ ओवियाँ ५५०–५५३।

२. ,, ,, ,, ,, ,,

इसमें एकनाथ ने दृढ़ निश्चय पूर्वक अपने गुरुदेव से सप्राप्त ज्ञान के साक्षात्कारी स्वरूप को सहज और प्रेक्षणीय बनाकर अपनी टीका में प्रस्तुत कर दिया है। इसके द्वारा पाठक और श्रोता जीवात्मा और परमात्मा के एकात्मक तादात्म्य एवम् सुखानुभूति को प्राप्त कर लेंगे।

श्रीमद् भागवत का आध्यात्मिक महत्व—

भारतीय वैष्णव साहित्य में श्रीमद्भागवत महाग्रन्थ का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। विष्णु पुराण, हरिवंश और भागवत इनमें से भागवत पुराण विशेष लोकप्रिय है। इसका कारण यह है कि इसके रचयिता में विद्वत्ता और कवित्त का मधुर और अपूर्व संयोग हुआ है। भागवत में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्संग, सच्चरित्र, गुरुसेवा, आदि पारमार्थिक अङ्गों का विवेचन, सृष्टि का आरम्भ, प्रलय और जन सामान्य मानवी व्यवहारों आदि का सम्पूर्ण निरूपण करना यह प्रमुख उद्देश्य होने से कई बार पुनरावृत्ति भी हुई है। विष्णु के अवतारों की महिमा इसमें बखानी गई है। इस मूल ग्रन्थ का रचयिता वेदान्त विषय का प्रगाढ़ ज्ञाता और सरस प्रतिभा सम्पन्न कवि होने से भागवत का प्रचार अन्य वैष्णव ग्रन्थों से अधिक हुआ, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी श्रीकृष्ण चरित्र प्रमुख रूप से निवेदन करना यह बात श्रीमद् भागवत कार के सामने रही है। भगवान् वेद व्यास ने महाभारत की रचना की। परन्तु अस्वस्थता बनी रही। अठारह पुराण लिखे और परोक्ष ईश्वर ब्रह्म का वर्णन किया, फिर भी जब मन की अशान्ति नहीं गयी तब उन्होंने श्रीमद् भागवत लिखा। इसमें यह बताया गया है, कि नररूप धारी लीला लाघवी भगवान् साकार सगुण बनकर इस संसार में मानव की तरह व्यवहार, आचरण, आदि करते हैं। नारद-व्यास संवाद में उनके अन्त:करण की बेचैनी का पता चल जाने पर व्यास भागवत रचते हैं। और अपने पुत्र शुक मुनि को सुनाते हैं। ऋषि शाप से मरणासन्न राजा परीक्षित शुक से उसे सुनते हैं। इस ग्रन्थ के कथन की यह परम्परा है। भगवद् भक्ति परक यह ग्रन्थ होने से इसमें भगवान् और उनकी भक्ति का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

अनेक विष्णु के अवतारों में से यादव कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण का अवतार सर्व-श्रेष्ठ होने से उनकी भक्ति श्रेयस्कर है, यही इसके प्रतिपाद्य विषय का मुख्य सूत्र है। इसके कुल द्वादश स्कंध हैं। कौरव पांडवों के संघर्ष की बातें इतिवृत्त के रूप में प्रथम स्कंध में निरूपित हैं। कृष्ण सम्बन्धी अंश इसमें भी हैं पर परीक्षित से विशेष सम्बन्धित यह रहा है। दूसरे स्कंध में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विवेचन करते-करते नवम् स्कंधों तक भागवत कार ने अनेक आख्यानों में अवतारों आदि पर

प्रकाश डाला है। दशम स्कंध के दो खण्ड हैं। पूरा श्रीकृष्ण चरित्र इस स्कंध के इन दो खण्डों में विवेचित है। पूर्व खण्ड में श्रीकृष्ण जन्म से उनकी शैशवावस्था पौगंडावस्था का विवेचन और वर्णन है। उत्तर खण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण के तारुण्य और रासलीला-गोपीव्यवहार आदि विषय वर्णित हैं। श्रीकृष्ण के पुरुषार्थ विषयक चरित्र का भाग उत्तर खण्ड में है। वैष्णव भक्त कवियों के द्वारा दशम स्कंध पर ही या उनके प्रसङ्गों पर ही अनेक रचनाएँ विभिन्न भारतीय भाषाओं में अधिक रची गयी हैं। एकादश स्कंध को उद्धव गीता भी कहते हैं। बारहवें स्कंध में इन पुराणों का उपसंहार है। श्री एकनाथ का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' दशम स्कंध की एक कथा पर आधारित है। श्रीकृष्ण अपनी लीला संवरण कर निज धाम को जा रहे हैं। इस घटना से उद्धव दुखी हैं और बाद में उनको स्वयम् अकेले ही रहना पड़ेगा इस वियोग की तड़फाने वाली भावना ने अभिभूत कर दिया। इस कल्पित मानसिक व्याकुलता से व्यथित होकर उन्होंने श्रीकृष्ण से अनेक प्रश्न पूछे हैं। उनके उत्तर में श्रीकृष्ण ने उद्धव को उपदेश दिया हैं। इसी उपदेश से सारा एकादश स्कंध निर्मित है।

इस उद्धवगीता के कुल ३१ अध्याय हैं। श्री एकनाथ भागवत इसी महाग्रन्थ की टीका है। इसका प्रथम अध्याय 'विप्रशाप' नाम का है। द्वितीय अध्याय निमी जायंत संवाद एवम् नारद वसुदेव संवाद है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में माया कर्म ब्रह्म निरूपण और भगवन्त अवतार कथाएँ हैं। पंचम अध्याय में वसुदेव-नारद संवाद में भगवत् सेवा के मार्ग बतलाये हैं। छठे में देवहुति और उद्धव विज्ञापन है। सातवें में अवधूतेतिहास उद्धव श्रीकृष्ण संवाद में वर्णित है। आठवें में पिंगलोपाख्यान है तो नवम् और दशम् अध्याय उद्धव श्रीकृष्ण संवाद से व्याप्त है। एकादश अध्याय में पूजा विधान योग है, तो द्वादश अध्याय में सत्सङ्ग महात्म्य कथित है। तेरहवें में 'हंसगीत' निरूपण, चौदहवें में भक्ति रहस्यावधारण योग है। पंद्रहवें अध्याय का नाम सिद्धि निरूपण योग, सोलहवें का विभूति योग है। सत्रहवें अध्याय में ब्रह्मचर्य-गृहस्थ कर्म धर्म निरूपण है। अठारहवें में वानप्रस्थ सन्यास धर्म निरूपण है। उन्नीसवें में वानप्रस्थ-सन्यास धर्म लक्षण निरूपण है। बीसवें में वेद त्रयी विभाग योग विवेचन है तो इक्कीसवें में वेदत्रय विभाग योग निरूपण है। चौबीसवें अध्याय में प्रकृति पुरुष सांख्ययोग कथित है। पच्चीसवाँ अध्याय श्रीकृष्ण उद्धव संवाद में गुण निर्गुण निरूपण है। छब्बीसवाँ अध्याय ऐल गीतोपाख्यान है। सत्ताईसवें अध्याय में क्रिया योग, ध्यानयोग विवेचन है। अट्ठाईस और उनतीसवें अध्याय में क्रमशः परमार्थ-निर्णय, परमार्थ-प्राप्ति

सुगमोपायक धन और उद्धव वदरिकाश्रम प्रवेश है। तीसवें में स्वकुल निर्दलन है। इकत्तीसवाँ अध्याय मौसलोपाख्यान से सम्बन्धित है। श्री एकनाथजी ने अपनी टीका में मूल रूप से जो अध्याय जैसे विवेचित है, उनको वैसा ही रखा है, पर टीका में विवेचन स्पष्ट करते हुए अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता और स्वतन्त्र प्रज्ञा का परिचय दिया है। मूल भागवत में अध्याय ३१ हैं, तथा श्लोक संख्या १३६७ है। नाथ भागवत में अध्याय ३१ हैं तथा ओवियाँ १८८०० हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता और उद्धव गीता का आध्यात्मिक अन्तर—

'श्रीमद् भगवद्गीता' और 'उद्धव गीता' में उसके स्वरूप तथा उसके प्रतिपाद्य शैली में विभिन्नता है। जीवन में एक व्यामोह-संघर्ष एवम् द्वंद्व निर्माण हो जाने से अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कुछ प्रश्न पूछे उसका उत्तर देते हुए जो साहित्य निर्माण हुआ वह भगवद्गीता है। इसमें रस परिपोष भी देखने के लिए मिलता है। केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से देखने पर उद्धव-गीता में वह रस परिपोष नहीं मिलेगा, जो भगवद्गीता में है। भागवत के एकादश स्कंध की यह उद्धव गीता ऐसी है, जिसमें उद्धव के पूर्ण कल्पित दुःख और उसका भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया आध्यात्मिक स्तर का निराकरण है। करुण रस के क्षितिज पर शान्तरस की वनश्री भक्ति रस के जल सिंचन से जैसे हरी-भरी दिखाई देती है, ऐसा उद्धव गीता का स्वरूप है। साहित्यिक दृष्टिकोण से उद्धव गीता की यह पृष्ठभूमि रस परिपोषक होने पर भी उसमें तत्वज्ञान का जो गाढ़ा परिपाक है उससे सामान्य सहृदय रसिकों की उनकी साहित्यिक रुचि की दृष्टि से यदि वह नीरस जान पड़े तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नाथ भागवत को समझने के लिए साहित्यिक दृष्टि के साथ परमार्थ प्रवण प्रवृत्ति जिसमें जितनी अधिक होगी उतनी ही मिठास मूल भागवत के एकादश स्कंध में, तथा नाथ भागवत की टीका में चखने के लिए उसे मिल सकती है।

ऊपर बतलाये गये स्वरूप में भगवद् भक्ति को प्राधान्य देकर एकादश स्कंध में वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यों तो परमार्थ विषयक सभी बातें एकादश स्कंध में प्रसंगवशात् प्रतिपादित हैं। परन्तु पाठक के लिए एकादश स्कंध का स्वरूप एक झमेला सा सिद्ध होता है। इस झमेले में पाठक न उलझे इसी हेतु को सामने रखकर मानो भागवतकार ने प्रथम दशम स्कंध में वर्णित तत्वज्ञान के वक्ता एवम् तत्वज्ञ का सम्पूर्ण चरित्र समूचे ढङ्ग से बखाना है। भागवतकार की यह स्कंध-संगति देखकर मुझे तो अवश्य ही ऐसा जान पड़ता है, कि भागवतकार की रचना में अवश्य ही कुछ विशेष दृष्टि रही हो। विचार करने पर

यह निश्चित हो जाता है कि तत्वज्ञान समझने के लिए तत्वज्ञ के चरित्र का समीचीन ज्ञान होना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त-सूत्र को सामने रखकर ही भागवतकार ने इस प्रकार से स्कंध संगति लगाई है। वेदान्त सूत्रकार, महाभारत-कार, तथा भागवतकार व्यास एक ही हैं, ऐसी जनश्रद्धा है। परन्तु विद्वानों का मत इस प्रकार का नहीं है। ईसवी सन् १००० के बाद और १२०० ईसवी पूर्व भागवत ग्रन्थ की रचना हुई है, ऐसा विद्वानों का तर्क है। अतः सूत्रकार, 'भारतकार' और 'भागवतकार' व्यास ये एक ही व्यक्ति होना असंभव है। वैसे व्यास कोई भी क्यों न रहे हो, लेकिन भागवतकार व्यास की प्रज्ञा और प्रतिभा भारतकार व्यास से कुछ कम नहीं दिखाई पड़ती। इसी कारण जन साधारण को भारतकार और भागवतकार एक ही हैं यह भ्रम होना स्वाभाविक है। प्रज्ञा और प्रतिभा की दृष्टि से दोनों एक ही जान पड़ते हैं। भागवतकार और महाभारतकार ये दोनों दार्शनिक दृष्टि से सांख्यमतवादी होकर वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के प्रतिपादक हैं। दोनों में जो अन्तर सुस्पष्टतः दिखाई देता है वह है, महाभारतकार का कर्मवादी होना और भागवतकार का भक्तिवादी एवं अनन्य शरणागति का प्रतिपादक होना। श्रीमद् भगवद्गीता और एकादश स्कंधी उद्धव गीता का यही अन्तर है। इन दो गीताओं की पार्श्वभूमि भी अपने ढङ्ग की और अनोखी है। अपनी-अपनी पार्श्व-भूमि पर ग्रन्थकार ने जो तत्वमूर्तियाँ सुचारु रूपेण खड़ी की हैं वे दोनों बड़ी ही सुहावनी और यथार्थ प्रतीत होती हैं इसी कारण जिस प्रकार से युग परिवर्तन होता जाता है उसी प्रकार के भाष्य या टीकाएँ इन गीताओं पर होती रही हैं। इन टीकाओं में से अपने तद्युगीन परिस्थिति का बखान करने वाली पंद्रहवीं शताब्दी की एकनाथ महाराज के द्वारा लिखित एकनाथी भागवत यह टीका प्रसिद्ध है।

ईश्वर प्राप्ति में भाषा बाधक नहीं है।

श्री एकनाथ को इस बात का गर्व है कि उन्होंने यह टीका मराठी में लिखी है। अपने देशज लोग देशज भाषा में ही समझ सकते हैं। हरि कथा के वर्णन में एवम् भगवद्गुणानुवाद में भाषा का कोई बन्धन बाधा रूप में उठ खड़ा नहीं हो पाता। हरिकथा निरूपण संस्कृत में हो चाहे प्राकृत में, भगवान् तो भावों का भूखा होता है। इसलिये वे कहते हैं—

जे पाविजे संस्कृत अर्थें। तेंचि लाभे प्राकृते।
तरी नमनावया येथे। विषय चित्तें ते कायी॥

× × ×

आता संस्कृता किंवा प्राकृता । भाषा झाली जे हरिकथा ।
ते पावनचि तत्वतां । सत्य सर्वथा मानावी ॥१२८॥[1]

संस्कृत में अभिव्यक्त किया गया जैसे अर्थ की प्रतीति कराता है वैसे ही प्राकृत भाषा में वही भाव अभिव्यक्त किया जाय तो वह भी अर्थ की प्रतीति कराता है। इनमें से एक भाषा में कहा गया श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ ऐसा हम नहीं कह सकते। प्रापंचिक पदार्थों के नाम संस्कृत में और प्राकृत में और अलग-अलग हो सकते हैं, पर रामकृष्णादिकों के नाम नहीं बदलते। संस्कृत का निर्माण देवों ने किया इसलिए क्या प्राकृत को चोरों ने निर्माण किया है? जो इस प्रकार के वृथाभिमान में, भ्रम में पड़े हुए हैं उनको वृथा ही बोलकर कहने से क्या फायदा? हरिकथा संस्कृत में वा प्राकृत में निरूपित हो वह सर्वथा पावन ही मानी जावेगी।

सच्चा भागवत कौन है?

भागवत वही है जो भगवन्त है इस नाते भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ और परम भागवत हैं इसके साथ ही वे ब्रह्मज्ञ हैं। इसीलिये एकनाथ का यह कथन उपयुक्त है—

ब्रह्माहुनि ब्राह्मण थोरु। हे मीच काय करूं।
परी अद्यापि श्रीधरु चरणालंकारु मिरवीतू ॥[2]

ब्रह्म से ब्रह्मज्ञ श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह ब्रह्म का ज्ञाता एवम् तत्वज्ञान का प्रणेता भी होता है। सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण भागवत का वर्ण्य विषय बनकर प्रसिद्ध हुये हैं। भागवत अपने सभी कर्मों को भगवान् के प्रति निस्सीम भाव से अर्पण कर देते हैं। इसको एकनाथ बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन करते हैं। यथा—

हेतुक अहेतुक। वैदिक, लौकिक स्वाभाविक।
भगवंती अर्पे सकळिक। या नाव देख भागवत धर्म॥
उदकी तरंग अति चपळ। जिकडे जाय तिकडे जळ।
तैसे भक्ताचे कर्म सकल। अर्पे तत्काल भगवन्ती ॥[3]

मनसा-वाचा-कर्मणा से किये गये कर्म, वैदिक शास्त्र पद्धतिसे किये गये विहित कर्म, लौकिक, स्वाभाविक प्रकार से किये गये सभी कर्म भगवान् को समर्पित करने वाले व्यक्ति भागवत धर्म को अपनाने वाले हैं ऐसा माना जाता है। जिस

१. एकनाथी भागवत अध्याय १ ओवियाँ १२२–१२७।
२. एकनाथी भागवत अध्याय १–ओवियाँ १६५।
३. एकनाथी भागवत अध्याय २–ओवियाँ ३३५–३३७।

तरह पानी पर अनेक चपल तरंगें दिखाई पड़ती हैं और वे जिधर जाती हैं उधर सर्वत्र जल ही जल विद्यमान रहता है, वैसे ही भक्तों के सारे कर्म भगवान् को समर्पित किये जाते हैं। भगवान् जल स्वरूप हैं और भागवतों के सारे कर्म तरङ्ग स्वरूप हैं।

भगवद् भक्तों का मार्मिक स्वरूप—

भगवद् भक्तों का स्वरूप एकनाथ ने मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। यथा—

भक्तां सर्वभूतीं भगवद्भावो। तेथे विघ्नांसि नाही ठावो।
तया अपायचि हो उपावो। भावार्था देवो सदा साह्य॥
भक्ती वीण मुक्तिचा सोसू। करितां प्रयत्न पडे वोसू।
असो हे वैराज पुरुषू। करी प्रवेशू अव्यक्तीं॥[1]

भक्त सारे भूतमात्रों को एक ही भगवद्भाव से देखते रहते हैं। इसलिये उनके किसी भी कार्य में किसी भी तरह के विघ्न को भी प्रवेश नहीं मिल सकता। वे सदा अपने भाव पुष्प भगवान् को अर्पण करते हैं। अतः भगवान् उनके सदा सहायक होते हैं। उनके लिए दूसरों के द्वारा किया गया अपाय भी उपाय बन जाता है। जो लोग विना भक्ति किये मुक्ति पाने का अथक परिश्रम करते हैं, उनके सारे प्रयत्न नष्ट हो जाते है। वैराग्य प्रवण राजपुरुष अव्यक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका एकमात्र कारण भगवद्भक्ति ही है।

इन सारे भक्तों को कर्म बंधन कदापि नहीं व्याप सकते। एकनाथ के शब्दों में इसे समझना ठीक होगा। जैसे—

सांडूनी देहीच्या अभिमाना। त्यजुनि देवतांतर भजना।
जे अनन्य शरण हरिचरणां। ते कर्म बंधना नातळती॥
या परी जे अनन्य शरण। तेचि हरी सी पढियंते पूर्ण।
हरि प्रिया कर्म बंधन। स्वप्नीं ही जाण स्पर्शो न सके॥[2]

ये भगवद् भक्त अन्य देवताओं के भजनों को छोड़कर, अपने देहाभिमान को त्यजकर अनन्य शरण भाव से हरिचरण में लीन हो जाते हैं। इसलिये उनकी अनन्य-शरणता से उनके इष्टदेव प्रसन्न हो जाते हैं तथा उन्हें कर्म के बंधन नहीं व्यापते। वे हरि के प्रिय हैं अतः हरि को जानने का पूर्ण अधिकार उनका ही है।

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ३—ओवियां १८८—१८९।
२. " ५—ओवियाँ ३७१—३७२।

वे पारगत हैं अतः यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है कि वे भगवान के स्वरूप के पूर्ण ज्ञाता बन जाय। अतः उनको स्वप्न में भी कर्म के बंधन कदापि नहीं व्याप सकते। ऐसे ये हरिभक्त सगुण का भजन बड़े चाव से और रुचिपूर्वक करते हैं। एकनाथ का सगुण विषयक मतप्रतिपादन भी बड़ा जोरदार है। यथा—

निर्गुणाहूनि सगुण न्यून। म्हणे तो केवळ मूर्ख जाण।
सगुण निर्गुण दोनी समान॥ न्यून पूर्ण असेना॥
निर्गुणीचा बोध कठिण। बुद्धि वाचे अगम्य जाण।
शास्त्रांसि न कळे ऊण पूण। वेदीं मौन धरियेले॥[1]

जो सगुण को निर्गुण से न्यून कहते है, उन्हें केवल मूर्ख ही समझिये। क्योंकि वास्तव में सगुण और निर्गुण दोनों समान हैं। एक दृष्टांत से बड़े समर्पक ढङ्ग से अपना प्रतिपादन वे पेश करते हैं। जैसे घी के पिघलने पर उसका स्वाद न पिघले हुए घी से अधिक मीठा होता है, ऐसी बात नहीं है। उसी तरह सगुण और निर्गुण की बात है। निर्गुण मन बुद्धि और वाचा के परे है, इसलिए वेद भी उसके बारे में मौन स्वीकारते है। शास्त्र तो यथार्थ में अनुमान भी नहीं कर पाते। निर्गुण की ही तरह सगुण भी अत्यन्त स्वानन्द का लाभ देने वाला है। नित्य-सिद्ध-सच्चिदानन्द मय प्रकृति से सम्पन्न परमानन्द ही सगुण बन जाता है। वही गोविन्द है। निर्गुण निर्विकार की सगुण मूर्ति तेजस्वी घन श्यामल वर्ण की बनकर, मोर मुकुट धारण कर कानों में कुण्डल तथा कंठ में कौस्तुभ वनमाला पहिनकर जब सामने आ जाती है तब उसकी शोभा देखते ही बनती है। भाल-प्रदेश पर रेखांकित चंदन दोनों नेत्रों के आरक्त वर्णों के कमल दलों को भी लज्जित कर देता है। इस सगुण ध्यान-मूर्ति का पूरा आनन्द उठाने के लिए ग्यारहवें अध्याय की १४६५ से १५०० ये ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। साहित्य की दृष्टि से भगवान् श्यामसुन्दर का नख-शिख वर्णन अत्यंत सलोना तथा उच्च कोटि का है।

कृष्ण द्वारा स्वयम् अपना सगुण-ध्यान वर्णन—

उद्धव को कृष्ण अपनी ही मूर्ति का प्रतिपादन कर बतलाते हैं, कि इस सगुण मूर्ति का ध्यान करने से चित्त का संधान बड़े सुन्दर और सुचारु रूप से हो सकता है। एकनाथकृत इसका विवेचन देखिए—

जैसे केळी चे कमळ। तैसे हृदयीं अष्टदळ।
अधोमुख उर्ध्वनाळ। अति कोमळ ससलसित।[2]

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ११–ओवियां १४५६–५८।
२. ,, ,, १४–ओवियां ४६५–४६६।

त्या ही माजी वन्हि मंडळ। वन्हिकळें अति जाज्वल्य।
ते अग्नि मंडळीं सुमंगल। ध्यावी सोज्वळ मूर्ति माझी॥

जिस तरह केले के फूल का आकार होता है, वैसे ही हृदय में अष्टदल कमल है। जिसका ऊर्ध्वनाल अधोमुख है जो अत्यन्त कोमल और सुशोभायमान है। प्राणायाम के बल से उर्ध्वमुखी हृदयकमल के अष्टदल पंखुड़ियों को विकसित करे। इसका प्रबल ध्यान चिन्तन करने पर उर्ध्व मुख अधोनाल का हृदयकमल, जो कि अत्यन्त उन्निद्र और अष्टदलयुक्त है, वे अष्टदल या पंखुड़ियाँ ध्यान में अचंचल होकर स्थिर हो जाती हैं। कमल के मध्य भाग में चंद्रमंडल आ जाय, तब उसकी सोलह कलाओं सहित उसका ध्यान करना चाहिए। यह अविकल रूप से किया जाय। फिर उसमें सूर्य मंडल होगा जो बारह कलाओं से युक्त होगा। उसमें एक अग्निमंडल होगा, जो दश कलाओं से युक्त तथा अत्यन्त जाज्वल्य होगा। उसी सुमंगल अग्नि मंडल में मेरी सोज्वल मूर्ति का ध्यान किया जाय। यह सोज्वल मूर्ति हे उधो! जिस प्रकार के ध्यान से युक्त है उसे सावधान चित्त से सुनो। श्रीकृष्ण अपनी मूर्ति का ध्यान स्वयम् अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं। जो इस प्रकार है[1] —

अति दीर्घ ना ठेंगणे पण। सम अवयव समान ठाण।
सम सपोष अति सम्पूर्ण। मूर्ति सुलक्षण चिंतावी।

× × ×

तेणे घनसावळा शोभत। जैसे चांदिणे गगनामाझारी।
शुभ्रता वैसे श्यामते वरी। तेवी श्यामांगी चंदनाची भुरी।
तेणे श्रीहरी शोभत॥[2]

जो मूर्ति न तो अति दीर्घ है और न तो अति लघु एवम् बौनी है अर्थात् जिसकी आकृति और सारे अवयव सम्पूर्ण शरीर के अनुपात में सन्तुलित और सम्यक रूप में परिनिष्ठित हैं। अपने सम्मुख ऐसी मूर्ति की कल्पना करते हुए, उसके चिन्तन में काल व्यतीत करना चाहिए। यह मूर्ति ध्यान एवम् चिन्तन में समभाव से पोषित और सुलक्षणी हो। चिन्तन में उसका सुरेखित प्रसन्न मुखारविन्द निहारना चाहिए जिससे हृदय में हर्ष नहीं समाता। विशाल कमलदलवत् आकर्णान्त विशाल नेत्र हैं, भौहें कज्जलांकित हैं जो सुन्दर धनुष्याकृति की तरह

१. श्री एकनाथी भागवत अध्याय १४–ओवियाँ ४७०–४८३।
२. ,, ,, ,, ४७०–४८३।

बाँकपन लिए हुए है। श्यामल भाल प्रदेश पर पीत चन्दन और कस्तूरी की बाँकी रेखायें तथा कुम्कुम युक्त अक्षता भी लगी हुई है। नुकीली दीर्घ नासिका है और तेजस्वी दोनों कपोलों के बीच सुकुमार कोमल वदन है जो प्रवालों की आरक्तिमा लिए हुए अधर संपुटों से युक्त है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की आकृतिवत् अत्यन्त सुन्दर चिबुक है। चिक्कणता लिए हुए मुख है तथा जो अनेक चकोरों के चन्द्रमा हैं। हीरों की उज्जल ज्योतिवत् दंतपंक्ती है तथा दाड़िम बीजों की दीप्ति को प्रत्यक्ष कर देने वाले अरुणाभ अधरों के बीच दाँत चमकते हैं। बोलते समय ये दांत झलकते हैं। दोनों कर्णों में समान रूप से मकराकृति कुंडल धारण किये हुए हैं। स्वभाव सहज ईषत् मनोहर हास्य मुख पर मँडराता है। ग्रीवा शंखा-कृतिवत् सुन्दर है। तीनवलयों से युक्त कंठ का उभार है। जिस पर कौस्तुभ-मणि विराजमान है। उसके प्रकाश की दीप्ति की तुलना किससे की जाय। दिनकर अपने तेज से उनके सामने लुप्त हो जाता है। स्वभाव से ही ऊपर मँडराने वाले भुजङ्गाकार आजानुबाहु भुजाएँ हैं। विशाल वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न अङ्कित है। हृदय के दोनों भागों के बीच त्रिवलीयुक्त गहन उदर है जिस पर यशोदा के द्वारा ऊखल से बांधे गये चिह्न अङ्कित हैं। उनकी ओर देखने वालों को ऐसा लगता है कि जैसे विद्युत की तरह कौंधने वाली उनकी अपनी कांति है। पीताम्बर परिधान किया हुआ उनका साँवला घनश्यामल रूप सुशोभित है। जिस प्रकार आकाश में चांदनी या श्यामता पर श्वेत वर्ण की झलक दिखाई पड़े उसी तरह सांवले कृष्ण के अङ्गों पर चन्दन की उबटन मली हुई तथा सुशोभित है। ऐसे श्रीहरि का और भी विस्तृत वर्णन सुनिये[1] —

> कौस्तुभासि संलग्न गळा। आपाद रुळे वनमाळा।
> कटीं वाणली रत्न मेखळा। किंकिणी जाळ माळा संयुक्त॥
> मूर्ति सम्पूर्ण हरीची। जे मूर्तिची धरिल्या सोये।
> तहान भूक विसरोनि जाये। जे ध्यानी आतुडल्या पाहे।
> सुखाचा होय सुदिन। सर्वांग सुन्दर श्याम वर्ण।
> ज्येष्ठ वरिष्ठ गंभीर गहन। सुमुख आणि सुप्रसन्न।
> मूर्तीचे ध्यान करावें॥४६७॥

कौस्तुभ मणि से युक्त कंठ में आपाद झूमने वाली वनमाला विराजित है। कमर में मेखला है जिसमें किंकिणीं युक्त गोल मणियां लगी हैं। अनेक कंकण

1. एकनाथी भागवत अध्याय–१४ ओवी सं० ४८४–४६७।

भुजाओं पर बंधे हैं। शंख-चक्र गदा पद्म आदि आयुधों से युक्त नाना प्रकार की बनी मुद्रिकाएँ हैं जो उङ्गलियों में कुतूहल युक्त पहनी हैं। वर्तुलाकार गहरी नाभि है जहाँ से विधाता उत्पन्न हुआ। यह हरी का नाभि कमल है जो समूचे विश्व कमल का मूल है। पन्नों के सचेतन स्वयंभूस्तंभ अच्छी तरह गढ़े जाकर खड़े हों ऐसे उनके दो चरणों की अभिनव शोभा है। हरी के चरणों में ध्वज, वज्र, अंकुश रेखाएँ हैं तथा पद्म-चक्रादि सामुद्रिक चिह्न भी विद्यमान हैं। इन्द्रनीलमणी के तराशे गये सुन्दर त्रिकोण की तरह सुन्दर सांवले वर्ण की पिंडलियाँ हैं। सुकोमल आरक्त आभा वाले तलुओं की निराली शोभा है। उनके ऊपरी हिस्सों में सांवले वर्ण की आभा है और निचले तलुओं में आरक्त वर्णीय आभा है, वह ऐसे जान पड़ती हैं मानों सांयकाल का रंग नीलिमा युक्त आकाश में छा गया हो। नभमंडल में विराजित चंद्र रेखा की तरह सुन्दर जानुद्वय हैं और सुघटित जंघाएँ हैं। सिंह को अपनी कृश कमर का बड़ा अभिमान था, किन्तु जग जीवन कन्हैयाँ की कमर देखकर वह स्वयं लज्जित होकर जंगल में भाग गया। उसे अपना मुँह दिखाने में भी लज्जा उत्पन्न होती है इसलिए वह चिरतन रूप से अरण्यवासी बन गया है। हरि की कमर को ठीक प्रकार से जाँचने समझने के लिए मेखला को भी स्तब्ध हो जाना पड़ा और उस पर स्वर्ण के पुट चढ़े। जब कृष्ण चलते हैं तो नूपूरों की रुनझुन झनकार होती है, तथा उसमें लगी घंटियों का क्वणन होता रहता है। सिर पर घुंघराली अलकें हैं, जिनमें फूल लगे हैं, वे केश-बंध विशेष शोभायमान हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर सुलक्षणी मूर्ति श्रीहरी की है। इस प्रकार की मूर्ति का ध्यान करने से भूख प्यास तक मिट जाती है और ध्यानमग्न दशा में यह मूर्ति हृदय में स्थित हो जाने पर सुख का सुदिन आ गया ऐसा समझना चाहिए। सर्वाङ्ग सुन्दर श्यामवर्ण सुमुखी और सुप्रसन्न ज्येष्ठ और श्रेष्ठ एवम् गंभीर तथा सघन एवम् ठोस सगुण मूर्ति का ध्यान करना चाहिए।

सगुण ब्रह्म का महत्व—

श्री कृष्णचन्द्र का श्री एकनाथ कृत नखशिख वर्णन साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही उच्च कोटि का अद्भुत और अपने ढङ्ग का अनुपमेय एवम् अतुलनीय है। जिस भगवद् भक्त तथा रसिक सहृदय पाठक के अन्त:करण में यह ध्यान मूर्ति विराज मान हो जायगी उसे निश्चित रूप में आनन्दघन सांवले घनश्याम की क्रीड़ा-मय मूर्ति उपलब्ध हो जायगी। इस प्रकार के चोखे और अनोखे रसपरिपोषक अद्भुत भावपूर्ण कई स्थल पूरे एकनाथी भागवत में यत्र-तत्र बिखरे पड़े है। सुधी सहृदय पाठकों को उसमें अवगाहन कर अवश्य रस लेना चाहिए। अपने विवेचन और

प्रबंध की मर्यादा के कारण मुझे इस तरह के और अन्य उदाहरण उद्धृत करने से हाथ खींचना ही उपयुक्त और उचित होगा।

सगुणोपासकों के लिए इसका विशेष महत्त्व है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले आख्यान—

इसी महाग्रन्थ में तेईसवें और छब्बीसवें अध्याय में भिक्षुगीत और ऐलगीत इन दो उपाख्यानों की सृष्टि हुई है। इनमें से प्रथम में मालव देश के एक कृपण तथा धन लोलुप ब्राह्मण की दुर्गति का हृदय-विदारक चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें अन्त में उसका द्रव्य संचय से अधःपतन होता है। फिर पश्चाताप होकर उसे निर्वेद की प्राप्ति होती है। यह निर्वेद भगवद् कृपा से ही हुआ है। भगवान् की कृपा कब और कैसे किस पर हो जायगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। एकनाथजी इस ब्राह्मण पर जिस प्रकार कृपा हो गयी उसका वर्णन करते हैं -

कृपण और धनलोलुप ब्राह्मण का उद्धार—

मी पूर्वी होतो अति अभाग्य। आता झालो अति सभाग्य।
मज तुष्टला श्रीरंग। विवेक वैराग्य पावलो॥
परी कोणे काळें कोण देशी। कोण समय कोणा विशेषीं।
हरी कृपा करितो कैशी। हे कोणासी कळेना॥[1]

मैं पहले अनन्त अभागी था पर अब अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गया हूं। क्योंकि मुझे श्रीरंग की कृपा प्राप्त हो गयी है। वे मुझ पर संतुष्ट हो गये हैं। मेरा संचित धन ही मेरा बड़ा घोरतम अज्ञान था। उसे हरणकर मुझ पर बड़ी ही करुणापूर्ण कृपा दृष्टि की। भक्तों के अज्ञान हरण करने वाले ही हरि कहलाते हैं। मेरे अन्तकरण में श्री हरि ने अपनी कृपा से विवेक उत्पन्न किया। वैराग्य विवेक विना अंधा है, तो वैराग्य के विना विवेक पंगु है। अतः मेरे हृदय में दो जुड़वाँ फल एक ही समय में विवेक और वैराग्य के रूप में निर्माण हो गये। सच है कि हरि किस समय और किस रूप में किस पर कृपा करेंगे इसे कौन जानता है? इसकी निश्चिती भी कैसे दी जा सकती है?

कामवासना का उदात्तीकरण—

दूसरा आख्यान छब्बीसवें अध्याय का 'ऐलगीतोपाख्यान' है जिसमें चक्रवर्ती राजा पुरुरवा और देवांगना उर्वशी की प्रेम कहानी है। मनुष्य की कामवासना प्रदीप्त हो जाने पर वह कितना भी उपभोग क्यों न करे, पर उसकी कभी भी

१. एकनाथी भागवत अध्याय २३—ओवियाँ ४३६—४४१।

शांति नहीं होती यही बात इस उपाख्यान में बतलाई गयी है। इस चक्रवर्ती राजा को भी पुनः स्वर्ग में उर्वशी का उपभोग करने पर जो अनुताप हुआ वह बड़ा मनोवैज्ञानिक है। पर यह अनुताप भी बिना कृपा के असम्भव है। भगवान् की कृपा से पश्चाताप होने पर उस राजा की स्थिति का स्वयम् भगवान् निवेदन करते हैं। यथा—

ऐसा पुरूरवा चक्रवर्ती। लाहो उर्वशी भोग प्राप्ती ॥
स्वर्ग भोगी पावला विरक्ती। सभाग्य नृपती तो एक ॥
जीव होय ब्रह्म पूर्ण। निःशेष गेला मानाभिमान।
मी तूं पण भासेना ॥[१]

पुरुरवा जैसा चक्रवर्ती राजा, उर्वशी जैसी देवांगना की भोग प्राप्ति कर स्वर्ग में भी पुनः उसे उपभोगार्थ प्राप्त कर वैराग्य प्रवण बन सका। वह एक परम सौभाग्यशाली नृपति है। जो विषय अप्राप्त हैं उनके प्रति वैराग्य धारण करने वाले अनेक योगी विरागी देखे हैं पर सारे त्रिजगत में स्वर्गांगना के उपभोग का सुख प्राप्त हो जाने पर भी उसको त्याग सकने वाला पुरुरवा सचमुच बड़ा विरागी और धन्य है। उसके जैसी विरक्ति अन्यों में नहीं मिलेगी। इस प्रकार से उनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् श्रीपति अपने मुख से करते हैं। अपनी निन्दनीय कामासक्ती को अनुताप की अँगीठी में जलाकर भस्म कर दिया और अपना विवेक अभङ्ग रखा। कामिनी का महामोह छोड़ दिया। इस तरह कामासक्ती के दोष को अनुताप से धो डाला। और अपनी निर्मल चित्तवृत्ति को पुनः प्राप्त कर लिया। यह मेरी कृपा से ही अनुताप हुआ था। मेरी ही कृपा से जीव शुद्ध अनुताप से ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर लेता है और 'मेरा-तेरा' यह भाव तिरोहित हो जाता है। एकनाथ के द्वारा विवेचित ये दोनों प्रसङ्ग मनोविज्ञान और मानव चरित्र का उदात्तीकरण कैसे होता है इसे बतलाने वाले हैं। अतः इनका विशेष अध्ययन ही उपादेय होगा।

एकनाथी भागवत में और भी कई अन्य प्रसङ्ग साहित्यिक दृष्टि से बिखरे पड़े हैं। उन सब का यहाँ पर उल्लेख न करते हुए एकनाथ विषयक आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन अब हम यहीं समाप्त कर देते हैं। दार्शनिकता की दृष्टि से एकनाथ सगुण ब्रह्म को मानते हैं पर ज्ञानाश्रयी भक्ति से निर्गुण ब्रह्म के भी जानकार हैं। लोक कल्याण का आदर्श अपने जीवन से सामने रखते हुए वे सगुणोपासना को विशेष प्रश्रय देते हैं, और भक्ति को जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। जीव को भक्ति करके ब्रह्म की कृपा से अपना इहलोक और परलोक सुधार लेना चाहिए।

---

२. एकनाथी भागवत अध्याय २६—ओवियाँ २८२—२९०।

यही उनके विवेचन का सार है। जीव मूलतः अज्ञानी है और माया के द्वारा उत्पन्न मोह में वह फसता रहता है। अतः उसे सद्गुरु के बतलाये मार्ग पर चलना चाहिए। सज्जनों और सन्तों की सङ्गति करनी चाहिए, जिससे कि भगवद्भजन हरिगुणानुवाद की आदत स्वाभाविक रूप से उसमें उत्पन्न हो जाय। अपने स्वधर्म को निबाहते हुए आत्म कल्याण और लोक कल्याण दोनों सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा श्री एकनाथ का मत है। साधन के रूप में भक्ति के अतिरिक्त वे और किसी को विशेष महत्व नहीं देते। सच्चरित्र, सद्गुरु संपन्नता, विवेकपूर्ण वैराग्य, आत्मज्ञान, मोक्ष की चिंता और ईश्वर में आस्था के लिए नामस्मरण, भगवान का गुणानुवाद गायन और हरि कीर्तन नित्य करना चाहिए यही उनका उपदेश है। आदर्श भागवती भक्ति और आदर्श वैष्णव का सदाचार उन्हें व्यक्ति और समाज के हित के लिए अभिप्रेत है। तुलसीदास के ग्रन्थों में इसी प्रकार भागवती भक्ति और सदाचार पर बल दिया गया है।

मराठी वैष्णव कवि सन्त तुकाराम का आध्यात्मिक पक्ष

तुकाराम की आध्यात्मिक अभिव्यंजना का प्रयोजन—

वैष्णव भक्तों के आध्यात्मिक पक्ष का अनुशीलन करते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, कि उनकी विवेचना में एवम् उनके आध्यात्मिक चिंतन में साधकों की भाव दशाएँ, अनुभूतियाँ और मनोवृत्तियों का क्या स्वरूप था, इसे सम्यक रूप से परिशीलन कर देख लेना पड़ता है। ऐसा करते हुए हमें उनके भावात्मक संवेगों तथा भावभूमियों के साथ तद्रूप होकर समरसता और सहृदयता से उसे पढ़ना चाहिए, अन्यथा उनका अभिप्राय, आशय एवं इङ्गित हमारी समझ में आना कठिन हो जाता है। ऊपरी तौर पर किया गया अध्ययन उनके केवल स्थूल वहिरंग के साथ ही हमारा परिचय करा देता है। आध्यात्मिक पक्ष का अध्ययन साधकों के अन्तरंग में पैठकर ही किया जा सकता है। भक्तों की भारतवर्ष में कमी नहीं परन्तु सारी भयङ्कर विभिपिकाओं और अत्याचारों को सहकर भी एकमात्र भगवान् को चाहने वाले तुकाराम की आध्यात्मिक उन्नति एवम् योग्यता अत्यन्त उच्चकोटि की है।

वैष्णव साधकों ने प्रायः अपने सामने एक विशिष्ट दृष्टि रखकर प्रयत्नपूर्वक आध्यात्मिकता की भावना से प्रेरित होकर प्रतिज्ञापूर्वक लिखा है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसकी फलनिष्पत्ति वरावर होती है ऐसा वे प्रांजलता से स्वीकार करते हैं। आज ऐसे साहित्यकार कितने मिलेंगे जो इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कह सकें कि मैं फलानी पुस्तक फलाने तरह की फल निष्पत्ति के लिए लिख रहा हूँ।

अतः उसको पढ़कर पाठक उसी तरह की अनुभूति भी प्राप्त कर लें। इसका कारण अनुभूति की उतनी तीव्रता और गहराई का अभाव ही माना जावेगा। वैष्णव कवियों की मुखरित वाणी में उनके अनुभव जैसे उन्होंने उपलब्ध कर लिये वैसे ही अन्य भी कर सकते हैं ऐसा आश्वासन मिलता है। जैसे ज्ञानेश्वर की यह प्रतिज्ञा देखिए—

'जरी एकले अवधान दीजे। तरी सर्व सुखासी पात्र होइजे।
हे प्रतिज्ञोत्तर माझे। उघड आईका॥' —ज्ञानेश्वरी।

अवधानपूर्वक दत्तचित्त होकर भावार्थ-दीपिका का श्रवण करने से सब प्रकार के सुखों की उपलब्धि हो जायगी, यह खुले रूप में वे श्रोताओं से कहते हैं और प्रतिज्ञापूर्वक इसका अनुभव लीजिए ऐसी चुनौती भी देते हैं। यदि ज्ञानेश्वरी श्रवण और पठन कर वैसा अनुभव नहीं मिलता तो उसका दोष किसे दिया जाय? वास्तव में उसका दोष पाठक को ही दिया जावेगा। 'दासबोध' में समर्थ रामदास कहते हैं—

'ग्रंथ नाम दास बोध। गुरु शिष्याचा संवाद।
येथे भक्तिमार्ग विशद। बोलिला असे॥
आता श्रवण केलिया चे फळ। क्रिया पालटे तात्काळ।
तुटे संशयाचे मूळ। एक सरा॥ —दासबोध।

दासबोध के पठन से पाठकों की कार्य शुद्धि हो जावेगी ऐसी समर्थ की प्रतिज्ञा है। दासबोध के पारायण करने पर भी वैसा अनुभव नहीं मिलता और न कर्मों की शुद्धि हो जाती है। इन सब लोगों के ग्रन्थ जिस प्रतिज्ञा के साथ लिखे गये हैं उसी भावना की प्रामाणिकता और अधिकार के साथ यदि वे पढ़े जाँय तो उसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु देखा यह जाता है कि लोग उस तरह पढ़ते ही नहीं इससे संस्कृत की एक उक्ति चरितार्थ हो जाती है[१]—

'वक्तुरेवहि तत् जाड्यं श्रोता यदि न बुध्यते।'

यदि श्रोता जानकार न हो तो वक्ता को भी अपने कथन में जाड्य प्रतीत होने लगता है। कहने का अभिप्राय यही है कि तुकाराम की उक्तियाँ भी इसी सावधानी और अधिकार से पढ़ी जाँय तो वैसी ही अनुभूति प्राप्त होगी।

आध्यात्मिक प्रेरणा—

प्रायः वाङ्मय निर्मिति के कारण दो हुआ करते हैं। (१) लोकेषणा और (२) वित्तेषणा। तुकाराम को इनमें से कौनसी बात साहित्य के अभिव्यंजन में

१. एक संस्कृत सुभाषित वचन।

अभिप्रेत थी इसका विचार करने पर समझ में आता है कि इन दोनों एषणाओं में से एक भी उनकी साहित्य निर्मिति का कारण नहीं कहला सकती। तुकाराम ने अभंग लिखे इस कारण पंडित वर्ग नाराज था। इसलिए उन पर बहुत अत्याचार किये गये जिन्हें उन्हें सहना पड़ा। उनको काव्य निर्मिति का अधिकार नहीं है ऐसा कहा गया। अभङ्ग लिखकर कोई अर्थ प्राप्ति उनको निश्चित नहीं हुई थी। प्रथम तो वे 'स्वान्त सुखाय' ही लिखते थे। जो कुछ भी लिखा उसे इन्द्रायणी में उन्हें डुबो देना पड़ा। ईश्वर कृपा से वह सारा अभंग वाङ्मय अभंग ही रहा और पुनः उन्हें सारा का सारा उपलब्ध हो गया। पर इसके लिए उनको तेरह दिन निराहार व्रती बनकर प्रायोपवेशन करना पड़ा। वे अपने वास्तविक अनुभवों को ही अभङ्गों में अभिव्यक्त करते रहे। उनकी सारी कविता आत्मनिष्ठ और भावानुभूति से संयुक्त है। जिस प्रकार की भगवदानुभूति उन्हें हुई, उसे जनता के सामने वे इसलिए भी रखना चाहते थे कि जैसा उनका आत्म-कल्याण हो गया वैसा और लोगों का भी हो। यह सत्प्रेरणा और इसी लोक कल्याण की भावना ने उनको साहित्य के माध्यम से उसे अभंगों में कहने के लिये प्रेरित किया है। ऐसा समझना समीचीन तथा उपयुक्त होगा।

आध्यात्मिकता का लक्ष्य आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण—

तुकाराम कहते हैं[1]—

'सन्ताची उच्छिष्टे बोलतो उत्तरें। कायम्या गव्हारे जाणावे हे ॥
विठ्ठलाचें नाम घेता नये शुद्ध। तेथे मज बोध काय कळे।
तुका म्हणे मज बोलवितो देव। अर्थ गुह्यभाव तोचि जाणे ॥

तुकाराम भगवदानुग्रह प्राप्त करने की इच्छा को अहर्निश अपने सामने ध्येय रूप में रखकर अपनी साधना में लगे हुए थे और इस तरह उनको भगवान् के अस्तित्व का साक्षात्कार हुआ। भगवान् की दयालुता और कृपा सम्पन्नता के सामर्थ्य पर भी अडिग आस्था उत्पन्न हुई जो कई स्थानों में और प्रसङ्गों में अभिव्यक्त हो उठी है। तेरह दिनों के बाद जब उनके अभङ्गों की बहियाँ उनको पुनः वापस मिलीं तब वे गद्‌गद् हो गये। क्योंकि उनका यह अनुभव अत्यन्त वास्तविक और प्रत्यक्ष था। इसी भावना से अभिभूत होकर वे कहते हैं[2]—

सगुण-साक्षात्कार—

थोर अन्याय केला। तुझा अन्त म्यां पाहिला।
जगाचिया बोला साठीं। चित्त क्षोभविले ॥

× × ×

१. तुकारामाचे अभङ्ग—अभङ्ग ६१६, पृ० १६५।
२. तुकारामाचे अभङ्ग २२४१।

तुका म्हणे बोद। साच केले आपुले ।।

हे भगवान् ! तेरह दिनों तक मैंने निराहार रहकर आततायी बनकर जो कार्य किया उसके लिए तुम मुझे दंड दो। क्योंकि तुम सचमुच दयाघन, भक्त-काम-कल्पद्रुम हो। भक्त के अपराध को क्षमा करके उस पर दया करने वाले तुम हो ऐसा मुझे प्रत्यक्षानुभव देकर तुमने अपने अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। मुझे इसी बात का बहुत आनन्द है। अपनी गाथा में तुकाराम ने अपरोक्षानुभूति का परोक्ष ज्ञान अपने अभङ्गों में अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस प्रसङ्ग और संदर्भ में स्वयम् भगवान् ने आकर उनको अपनी गाथा वापस प्राप्त करा दी, इससे अन्य लोगों को भी अपरोक्षानुभूति का चाक्षुष-प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ।

मतलब यह है कि तुकाराम के वाणी की सत्यता जैसे सिद्ध होकर सामने आई उसी तरह अन्य सन्तों की बानियाँ भी सत्य हैं, उनकी अनुभूतियाँ सत्य हैं, तथा उनकी अभिव्यंजनाएँ भी सत्य हैं। पाठकों को अर्थात् रसिकवर सहृदयों को इस दृष्टि से उसके अन्तरंग में प्रवेश पाकर एवम् समरस होकर भक्तों के साहित्य को पढ़ना चाहिए। इससे जो निष्पत्ति होगी वह उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार वर्णित अनुभूति का प्रत्यक्षानुभव और संवेदन ही होगा।

तुकाराम के फलाने अभग उन्होंने सिद्ध दशा में लिखे हैं अथवा साधक दशा में, इसकी नीरस और तथ्यहीन चर्चा को छोड़कर यदि उनके साहित्य-सिंधु में पैठें, तो आध्यात्मिक पक्ष के मोती और रत्न ही हाथ लगेंगे।

तुकाराम के सगुण का स्वरूप—

तुकाराम कोरमकोर सगुण साधक थे। इसके प्रमाण उन्हीं के वचनों और अनुभवों से लेंगे। भक्तिमार्ग में जिसकी भक्ति की जाती है उसका दर्शन सगुण-स्वरूप साक्षात्कार का विशेष महत्व है। सगुण के पथ्य को तुकाराम भली-भाँति जानते थे इसीलिए अपने अनुभवपूर्ण वाणी में वे कहते हैं—

नको ब्रह्मज्ञान, आत्मस्थिति भाव।
मी भक्त तूं देव, ऐसे करी।।

× × ×

नलगे तो मोक्ष मज सायुज्यता।[1]
नावडे हे वार्ता शून्याकारी।।

भक्त अपनी पूरी जिम्मेदारी भगवान् पर सौंप देता है। एकबार जब उनकी

---

१. तुकाराम महाराजांचे अभंग १०२२।

वहियाँ उनको वापस मिल गयीं तभी अपने उपास्य पांडुरंग से उन्होंने कह दिया कि मेरा सारा योगक्षेम वहन करने का उत्तरदायित्व हे भगवान् ! अब आपका ही होगा। तभी तो उन्होंने कहा कि मुझे कोरा शाब्दिक ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए। मुझे तो भावात्मक आत्मस्थिति चाहिये जो प्रत्यक्ष अनुभवजन्य है। मैं भक्त हूँ, और तुम भगवान् यह सिद्ध ही हो जाय। शुष्क बातों में मन नहीं रमता। ब्रह्मज्ञान की केवल तात्विक चर्चा से व्यर्थ ही थकान उत्पन्न हो जायगी। मेरी तो आपसे यह प्रार्थना है कि अपना सुन्दर सगुण स्वरूप दिखाओ। मैं तुम्हारे चरणों का निरन्तर वंदन करूँगा। मुझे मोक्ष सामुज्यता मुक्ति आदि नहीं चाहिए। शून्यकार सम्बन्धी सिद्धांत मुझे अच्छे नहीं लगते। इतना ही नहीं तो सगुण और निर्गुण का वितंडावाद उन्हें अप्रिय लगता है। वे कहते हैं—

परब्रह्म स्वरूप—

सगुण की साकार निर्गुण कीं निराकार।
नकळे हा पारवे दां-श्रुतीं ॥
तो आम्ही भावे केलासे लहान।
ठेवुनिया नावे पाचारितो ॥[1]

परब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण, साधार है अथवा निराधार, तथा साकार है अथवा निराकार ? ये सारे प्रश्न ऐसे हैं जिनका वेदों और श्रुतियों में भी निर्णय नहीं लग पाया है। परन्तु हम सन्तों ने अपनी भावना से उसे छोटा बना लिया है और उसको अपनी रुचि और भाव के अनुसार अनेक नामों से पुकारते हैं।

भगवान् के नाम की उन्हें विशेष चाह थी। वे हृदय से उसका वर्णन करते हैं यथा—

गोड नावे क्षीर परि साखरेचा धीर।
तैसे जाणा ब्रह्मज्ञान वापुडे ते भक्तिवीण ॥[2]
रुची नेदी अन्न। ज्यांत नसतां लवण ॥
आंधळयाचे श्रम। शिकविल्याचे चिनाम ॥
तुका म्हणे तारा। नावे तंबु-याच्या सारा ॥[3]

रुचि होने पर लवण रहित अन्न अच्छा नहीं लगता क्योंकि लवण का होना अनिवार्य है। दुग्ध मीठा तभी लगता है जब वह शर्करायुक्त होता है। ब्रह्मज्ञान भी

१. तुकाराम महाराजांचे अभंग—अभंग गाथा।
२. ,, १४७९।
३. तुकारामांचे अभंग १७४९।

विना भक्ति के शून्य है। भक्ति के साथ ही उसकी महिमा है। कोरा ब्रह्मज्ञान उसी तरह है जैसे तानपूरे के तार। यदि सगुण भक्ति है तो वे तार झंकृत हो सकते हैं, और तभी 'तानपूरा' यह नाम भी सार्थक हो जाता है। अन्धे को नाम सिखाने में कोरा परिश्रम करना पड़ेगा जो व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि उसका रूप देखने की आँखें हों तो नाम सीखना भी सार्थक होगा।

सगुण भक्ति साधना विषयक तुकाराम का अभिमत—

तुकाराम के मतानुसार सगुणोपासना से सारी दशाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। हृदय की मूर्ति प्रकट हो जाती है, क्योंकि वह हृदय के शुद्ध भाव की जानकार होती हैं। सारे साधना परक धर्मों में एकमात्र धर्म हरि का नाम है। सब का बीज नामस्मरण है। अन्य सब उसके फल हैं। सारे श्रमों का निवारण, सारे धर्मों का रहस्य, सकलपुण्य, एकमात्र हरिकीर्तन तथा नामघोष से संप्राप्त हो जाते हैं। हरि के दास निर्लज्ज बनकर हरिनाम गाते हैं। सारे रस यहीं पर आकर एक हो जाते हैं, और भवबंधन के सारे पाश खुल जाते हैं। अन्त:करण में भगवान् की बस्ती हो जाने से सारे पुण्य के लक्षण और भगवान् की साधना के सारे अङ्ग अपने आप आ जाते हैं। आवागमन रुक जाता है। गृहस्थ आश्रम का त्याग करना नहीं पड़ता। कुलधर्म अपने से ही ज्ञात हो जाते हैं। एक विठोवा का नाम, योगियों का शून्य ब्रह्म, परिपूर्ण मुक्त आत्मा आदि सब कुछ है। तुकाराम कहते हैं, कि हमारे जैसे भोले जनों के लिये एकमात्र सगुण ही सब कुछ है। क्योंकि इसी एक साधना से सारी स्थितियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। यथा—

अवघ्या दशा येणें साधती। मुख्य उपासना सगुण भक्ति ॥
प्रकटे हृदया ची मूर्ति। भावशुद्धी जाणोनिया ॥[1]

भक्ति से ब्रह्मज्ञानी की, योगियों की सारी दशाएँ संप्राप्त हो जाती हैं। तुकाराम के मत में मुख्य उपासना सगुण-भक्ति ही है। इसमें अन्त:करण का भाव शुद्ध और सरस होता है। भगवान् को यही विशेष प्रिय होने से हृदय की ध्यान मूर्ति भी प्रकट हो जाती है।

तुकाराम को विठ्ठल के दर्शन बाल रूप में हुए और उन्होंने भगवान् के आलिंगन-सुख का अनुभव किया। वेदांती की भाषा में रुक्षता एवं शुष्कता होती है, अत:एव तुकाराम को उससे कोई सरोकार नहीं है। उनकी अनुभूति ने उन्हें यह सिखा दिया था कि इससे प्रत्यक्ष लाभ कुछ भी नहीं होता। अत: वे निवेदन करते हैं कि उन्हें ऐसा अनुभव नहीं चाहिए जो शाब्दिक मात्र हो।

१. तुकारामाचे अभङ्ग ६४५।

तभी वे आत्मीयता और तन्मयता से कहते हैं[1]—

> बोलाल या आपुल्या पुरते । मज या अनन्ते गोवियेले ।
> झाडीला न सोडी हातीचा पालव । वेधी वेधें जीव वेधियेला ॥
> तुमचे ते शब्द कोरडिया गोष्टीं । मजसवे मिठी अंग संगे ॥
> तुका म्हणे तुम्हां होईल हे परी । अनुमव वरी येईल मग ॥

यदि केवल अपने ही सम्बन्ध में बात करनी हो, तो मैं ऐसा कहूँगा कि मुझे अनन्त ने अपने से सूत्रबद्ध कर रखा है। मेरे हाथों में यह जो सदा फलने फूलने वाला कल्पवृक्ष आ गया है, उसे मैं अब कभी भी छोड़ने वाला नहीं हूँ। इस परमात्मा् ने मेरे जी को निरन्तर आबद्ध कर रखा है। वैसे आप लोग भगवान् का सैद्धान्तिक वर्णन करते हैं, जो मुझे केवल शाब्दिक शुष्क चर्चा के रूप में जान पड़ता है। प्रत्यक्ष मेरा अनुभव तो भगवान् के साथ स्पर्श सुख और आलिंगन में बद्ध अवस्था का है। तुकाराम कहते हैं यही अनुभव तुम भी ले सकते हो। ऐसा अनुभव हो जाने पर तुम भी मेरी तरह कहने लगोगे।

सगुण साक्षात्कार के कतिपय अन्य अनुभव—

तुकाराम महाराज के एक अभङ्ग में यह भाव व्यक्त किया गया है कि भगवान् के लिए कोई कार्य ऐसा नहीं है, जो असम्भव या दुस्साध्य हो। तुकाराम को यह अभंग उस समय उत्स्फूर्त हुआ था जब वे लोहगाँव में भगवान् विठ्ठल की मूर्ति के सामने कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन सुनने के लिए आई हुई एक स्त्री का बालक उसकी गोद में मर गया। तुकाराम के ध्यान में यह बात आ गई। तब भगवान् से करुण याचना करते हुए वे कहते हैं[2]—

> अशक्य तो तुम्हा नाहीं नारायणा । निर्जिवा चेतना आणावया ।
>
> × × ×
>
> तुका म्हणे माझे निववावे डोळे । दावुनि सोहळे सामर्थ्याचे ॥

हे भगवान्! आपके लिए कोई बात असम्भव नहीं है। आप तो भक्त-काम-कल्पद्रुम है। ये सब उपाधियाँ जब तक आप सत्य सिद्ध नहीं कर देंगे तब तक उन्हें सत्य कौन मानेगा? अतः कीर्तन में आए हुए जिस बालक का देहान्त हो गया था उसे जीवित करने की कृपा कीजिये। जड़ में चेतनत्व ला सकना आपके लिए असम्भव नहीं है। मैं लोगों के सामने तुम्हारा गुणगान करता रहता हूँ वह

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४४४।

२. ,, २३१५।

३. ,, ५५९।

अयथार्थ सिद्ध हो जायगा। लोग मेरे कथन की प्रतीति ले सकें ऐसा कुछ प्रत्यक्ष कार्य आप कीजिए। इस तरह आर्तता से पुकारने पर वह बालक जीवित हो गया। वैसे केवल तुकाराम कहते हैं इसलिए भगवान् दयालु है ऐसा कौन मानेगा ? भक्त की लाज रखने के लिए भक्त की कही हुई बात सत्य हो जाय यह उत्तरदायित्व भगवान् को लेना ही पड़ता है। यही बात तुकाराम के साथ हुई।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण उस प्रसङ्ग का है, जब छत्रपति शिवाजी महाराज तुकाराम के कीर्तन में उपस्थित थे। उनको पकड़ने के लिए मुसलमान सरदार सिपाहियों को लेकर आगए। इस तरह प्राण संकट देखकर तुकाराम की आबरू जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। इस अवसर पर तुकाराम ने भगवान् से यह प्रार्थना की[1]—

भीत नाहीं आता आपुल्या मरणां। दुःख होता जनांत न देखवे।
आमची तो जाती ऐसी परम्परा। कां तुम्ही दातारा नेणां ऐसे॥
भजनी विक्षेप तेंचि पें मरण। न वजावा क्षण एक वाया॥
तुका म्हणे नाही आघाताचा वारा। ते स्थळीं दातारा ठांव मागे॥

मैं अपनी मृत्यु से नहीं घबराता। परन्तु लोगों के बीच में किसी को दुःखी भी नहीं देख सकता। हमारी जाति भक्ति करने वालों की है और भगवान् भक्तों के कहलाते हैं। अतः आप भी इसे क्योंकर नहीं मानेंगे ? भजन में विक्षेप उत्पन्न होना ही मरण है। उस समय तो एक क्षण भी व्यर्थ नही गँवाना चाहिए। जो भजन करता है उसे कोई आघात कर छू भी नहीं सकता। क्योंकि भजन करने वाला भक्त भजन करने के लिए उसी स्थान पर दानी भगवान् से सुअवसर और सुरक्षा माँगता है। तुकाराम ने शिवाजी को इस प्रकार का अभय दिया—

न करावी चिंता। भय न धरावे सर्वथा॥[2]

कोई चिन्ता मत करो। सदा अभय होकर रहना चाहिए। भगवान् के दास भगवान् के द्वारा रक्षित होते है। भगवान् स्वयम् उनके रक्षण कर्ता बन जाते हैं। तुकाराम कहते हैं, कि कोई शङ्का या सन्देह अपने वचनों में प्रकट नहीं करना चाहिए। भगवद् भजन में कोई भय नहीं है जो सन्देह प्रकट करते हैं उन्हें कोई उत्तर सोच लेना चाहिए।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ५५९।
२. ,, ,, ३४४८।

तो अवश्य दें। संतों के चरणों में मैं विनम्र होकर पड़ा रहूँ यही मेरी इच्छा है। इन सन्तों से कहिये कि वे मुझ पर कृपा करें। आरम्भ में केवल निष्काम भक्ति ही उन्हें अभिप्रेत नहीं रही होगी। सगुण और निर्गुण इसमें से क्या मांग ले इसका निर्णय आरम्भ में नहीं हो पाया। इसलिये निश्चित रूप से क्या माँगा जाय इसका निर्णय कर सकने की क्षमता आ जाय इसीलिए वे 'सन्तों के चरण कमलों से मुझे दूर न करो' यही बार-बार भगवान् से मांगते हैं। सारांश यह है कि तुकाराम के एक-एक अभंग को पढ़कर उसका अर्थ लगाना चाहिए।

तुकाराम की पारमार्थिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप

तुकाराम के अभङ्ग उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होने से एकदम हम उन्हें निराधार और प्रक्षिप्त नहीं मान सकेंगे। पूरी अभगों की गाथा उनके प्रत्यक्ष अनुभूति जन्य अनुभवों के प्रांजल आधारों से भरी हुई है। तुकाराम ने इन अभगों में तत्वज्ञान का विवेचन किया है। पर गाथा को पढ़कर कोई तत्वज्ञानी नहीं बन सकता। अभंगों में तात्विक वर्णन आया है। सत्य वर्णन आत्म प्रतीति और सगुणोपासना से सम्भूत अनुभवों का ही माना जावेगा। तात्पर्य यह है कि तुकाराम एकदम पक्के सगुणोपासक हैं।

अन्त में प्रत्यक्ष पांडुरंग उन्हें लिवाने आये हैं। तुकाराम इसे समझ न सके। सदेह वैकुण्ठ जाना है, यह जब उन्हें ज्ञात हुआ तो गरुड़ ने अभय देकर कहा 'नाभी नाभी'—अर्थात् 'मत डरो, मत डरो।' इसलिए उन्होंने अन्य सन्तों को आलिंगन देकर इसी शरीर से कम से कम वाराणसी तक वे गरुड़ के साथ गए। इसी का वर्णन इस अभंग में मिलता है—

> **फैल आले हरि। शंख चक्र शोभे करीं। गरुड येतो फडत्कारे।**
> **तुका झालासे संतुष्ट। घरा आले वैकुण्ठ पीठ ॥**[1]

साक्षात् भगवान् विष्णु आ गए हैं। हाथों में शंख चक्र धारण किया हुआ है। गरुड़ अपने पंखों को फड़-फड़ाकर तुकाराम से कहता है कि 'मत डरो, मत डरो।' सामने देखो कौन आये हैं? मुकुट और कुण्डलों की शोभा के आगे सूर्य का तेज लुप्त हो गया। मेघ के साँवले वर्ण वाले हरि हैं और तुकाराम अपनी आँखों से भगवान् को निहारते हैं। उनका चतुर्भुज रूप है, तथा गले में वैजयंती-माला धारण की हुई है। दसों दिशाएँ प्रकाशित हो गई हैं। तुकाराम सन्तुष्ट हो गए क्योंकि वैकुन्ठ पीठ ही उनके घर चलकर आया था। तभी तो वे आगे कहते है[2]—

---

१. तुकारामाचे अभंग १५९६।
२. ,, १५९७।

भगवान् का साक्षात दर्शन—

> शंख चक्र गदा पद्म । पैल आला पुरुषोत्तम । नाभी नाभी ।
> भक्त राया । वेगीं पावलों सखया ।। दुरुनि येतां दिसे दृष्टी ।
> घाके दोष पळती सृष्टी ।। तुका देखोनि एकला ।
> वैकुण्ठीहुनि हरि आला ।।

तुकाराम ने देखा कि शंख चक्र गदापद्मधारी पुरुषोत्तम उस ओर आ गए हैं। वे तुकाराम से कहते हैं कि मत डरो। हे भक्तराज तुम्हारे लिए मैं शीघ्र आ गया हूँ। भगवान् को दूर से ही आते हुए देखा, जिसकी धाक से सारे दोष स्वयम् दूर भाग जाते हैं। तुकाराम को अकेला देखकर वैकुण्ठ से हरि स्वयम् आ गये हैं।

इन अनुभूतियों की अभिव्यंजना को हम झूठ कैसे कह सकते हैं? गरुड़ ने तुकाराम को अभय दान दिया यह उनकी स्वात्मानुभूति की दशा का वर्णन है। अब तक किए गए विवेचन से तुकाराम किस कोटि के भक्त थे, इसे सुचारु रूप से चित्रित करने का प्रयत्न यहाँ पर किया गया है। वे भक्त कैसे बने, उन्होंने भगवान् का अपने उपास्य विठोवा का जो इतना प्रेम संपादन कर लिया था, वह उनकी अलौकिक तपस्या का फल है। यह तपस्या उन्होंने कैसे की इसे देखना आवश्यक है।

तुकाराम की तपस्या एवं साधना—

जीवन एक सरल और सहज बात नहीं है। जीवन में व्यक्ति का बाह्य परिस्थिति से तथा अपनी निजी प्रवृत्तियों से संघर्ष होता रहता है। इन संघर्षों में विजयी होकर अपनी ध्येय सिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन बात है। यह संघर्ष कोई अनोखी चीज नहीं है। हरएक को इसका अनुभव किसी न किसी रूप में होता रहता है। उसका लक्ष्य छोटा हो चाहे बड़ा उसमें विजय पाना उसके अपने वस की बात है। परन्तु एक तीसरे प्रकार का संघर्ष होता है, जो इनसान के सामर्थ्य के बाहर की बात है - इसे यदृच्छा, प्रारब्ध या दैव कहा जाता है। ये तीनों संघर्ष श्री संत शिरोमणि तुकाराम महाराज के जीवन में बड़ी तीव्रता से हुए थे ऐसा दिखाई पड़ता है। ये तीनों संघर्ष तीव्रतर से तीव्रतम होते हुए भी वे विजयी हुए थे। इससे तुकाराम का जीवन-चरित्र आदर्शयुक्त और लुभावना सा लगता है। तुकाराम ने अपना यह जीवन बड़ी जागरुकता के साथ व्यतीत किया। अब हम उनके ही अभंग वचनों से निस्तृत उनकी जीवन गङ्गा में डुबकियाँ लगाकर अवगाहन करेंगे, और उस पुनीत स्नान से अपने आपको पवित्र बना लेंगे। देखिए वे अपने बारे में कहते हैं—

वरा कुणवी केलों । नाहीं तरि दंभेचि असतों मेलो ।

× × ×

तुका म्हणे थोरपणें । नरक होती अभिमाने ॥[1]

बहुत अच्छा किया जो हे भगवान् आपने मुझे कुनबी जाति में उत्पन्न किया। अन्यथा मैं दंभ में फूलकर यूँ ही मर गया होता। तुकाराम प्रेम से नाचकर भगवान् के चरणों में गिर पड़ते हैं। यदि कुछ विद्या पास में होती, तो मैं अन्य किसी के चरणों में गिर पड़ता और सन्तों की सेवा न कर पाता। इससे व्यर्थ ही मेरा जीवन लुट गया होता। अहंकार और अभिमान से वेकार ही शेखी बघारने का कार्य करता रहता जिसका परिणाम यह होता कि मुझे नरक में ही जाना पड़ता। एक अन्य जगह वे इस तरह कहते हैं—

शूद्रवंशी जन्मलो । म्हणोनि दंभे मोकलिलो ॥

× × ×

सर्व भावे दीन । तुका म्हणे यातिहीन ॥[2]

शूद्रवंश में जन्म लेकर दंभ से दूर रहा। हे पंढरिनाथ! अब तो आपके सिवा मेरे माँ-बाप और कौन हैं? ज्ञान प्राप्ति के लिए अक्षर रटने का मुझे अधिकार नहीं है। मैं सब तरह से दीन हीन हूँ। तुकाराम कहते हैं कि मैं यातीहीन हूँ।

साधकावस्था—

मनुष्य का मन कतिपय विशिष्ट प्रसङ्गों, परिस्थितियों में रहकर ऐसा बन जाता है कि वह अपने भीतर भावात्मक परिवर्तन की दशा महसूस करने लगता है और परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत भी हो जाता है। जीवन के निश्चित एवम् ठोस माने हुए तत्व व्यर्थ सिद्ध होने लगते हैं। इससे निराशा एवम् अगतिकता उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का मन बाह्य रूप से शीतल और स्थिर ज्ञात होता है। दैनंदिन व्यवहार तो वह निश्चिन्तता से किया करता है, किन्तु उसके अन्तर्मन में एक संघर्ष—एक हलचल होती रहती है। जब वह अपनी सीमा से परे जाकर तीव्रतम हो जाती है। तब उसका प्रचण्ड आन्दोलन आरम्भ हो जाता है और

---

१. तुकारामाचे अभंग ३२०।

२. तुकारामाचे अभंग २७६६।

विस्फोट होकर प्रलय जैसी दशाउत्पन्न हो जाती है। सर्वनाश साकार होकर सामने आ जाता है। ऐसे ही अवसर पर कल्याण के अनेक सूक्ष्म बीज बाहर आ जाते हैं, और नये मूल्य तथा उनका धरातल एवम् क्षितिज सामने दृग्गोचर होने लगता है। यदि बुद्धि और निश्चय का बल हो तो उससे लाभ भी उठाया जा सकता है। राजपुत्र गौतम बुद्ध, गोस्वामी तुलसीदास के जीवन ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी को प्रवृत्ति का परिवर्तन या जागृति कहा जाता है। आध्यात्मिक उन्नति का यह प्रथम सोपान है।

हर एक व्यक्ति की भावना प्रक्षोभ एवम् उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ वाल्मिकी के मन का प्रक्षोभ पापों के परिणामों के भय से उद्भूत हुआ था। गौतम बुद्ध सांसारिक दुःखों के प्रति विरक्त हुए थे। तो तुलसीदास ऐहिक प्रलोभनों से उदासीन हो गये थे। ऐसी मानसिक जागृति एवम् उत्क्रान्ति से परमेश्वर की ओर चित्तवृत्ति लग सकती है, अथवा घोर अधःपतन हो सकता है। तुकाराम के मन में बचपन से ही जागृति उत्पन्न हुई थी। उसका कारण उन पर विपत्तियों के अम्बार एक के बाद एक टूट पड़े थे। परिणामतः उनकी मानसिक उद्विग्नता और उसकी भीषणता बढ़ गई। इसका कारण उनकी भीषण परिस्थिति ही है। यथा—

आतां काय खावे कोणीकडे जावें। गावांत राहावें कोण्यावळें।
तुका म्हणे याचा संग नव्हे भला। शोधीत विठ्ठला जाऊँ आतां॥[1]

अब मैं क्या खाऊँ, कहाँ जाऊँ तथा ग्राम में किसके बल पर मैं रहूँ। पाटिल (चौधरी) और ग्राम के लोग मुझ से नाराज हैं। अतः अब मुझे कौन पूछेगा? सब यही कहते हैं कि इसे तो किसी से सरोकार ही नहीं है अतः इसका फैसला तो हमने न्यायालय में दे दिया है। अच्छे-अच्छे लोगों से मेरे बारे में उलटा-सीधा कहकर मुझे धोखा दिया गया है। मुझे दुर्बल जानकर मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया गया। तुकाराम कहते हैं अब मुझे इनका संग छोड़कर विठ्ठल के आश्रय में जाना चाहिए।

भक्त को भगवान् की सहायता—

ऐसी करुण दशा में आत्यंतिक निराशा, आत्यंतिक परिणाम भी प्रस्तुत कर देती है। प्रायः इससे आत्म हनन की ओर प्रवृत्ति जगती है। तुकाराम प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे, अतएव उनके कुल में चली आती हुई भक्ति की संस्कारगत परम्परा ने उन्हें इस आपत्ति से बचाया तथा हृदयस्थ भगवान् ने भी सहायता प्रदान की। इसी सहायता को वे यों प्रदर्शित कर देते हैं—

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ६७६।

विचारिले आधी आपुल्या मानसीं । वाचो येथें कैसी कोण्याद्वारें ॥

× × ×

तुका म्हणे दुःखें आला आयुर्भाव । जाला बहु जीव कासावीस ॥[1]

प्रथम अपने मन से पूछा कि हे मेरे मन ! तू बता कि मैं किस पंथ का अनुसरण करूँ, किस के द्वार पर जाकर पुकारूँ ? तभी हृदयस्थ भगवान् ने प्रत्यक्ष सहायता देकर ऐसी बुद्धि प्रदान की जिससे यह ज्ञात हुआ कि इस विपन्न परिस्थिति के बावजूद भी नाश नहीं होगा । मैं तो उद्वेग-समुद्र में डूबा हुआ था, और किस प्रकार भगवान् प्राप्त होंगे इस चिन्ता में व्यग्र था । तुकाराम कहते हैं कि इस दुःख के कारण मेरी आत्मा व्याकुल हो उठी है क्योंकि अब तक की सारी आयु इसी दुःख से भरी हुई व्यतीत हुई है । पर अब मैं आश्वस्त होकर निश्चिन्त और शान्त हूँ ।

तुकाराम की वैराग्य प्राप्ति और जीवन दृष्टिकोण—

इस प्रकार की जागृति हो जाने पर भगवद्-चिन्तन के अतिरिक्त, और कोई मार्ग किसी को भी नहीं सुझाई देता । शायद उनका पारमार्थिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है । वे कहते है कि एक मात्र विठोवा ही मेरे अवलंब हैं । वे इसी भावना को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

याती शूद्र वंश केला वेवसाव । आदि तो हा देव कुळपूज्य ॥
नये बोलो परिपाळिले वचन । केलियाचा प्रश्न तुम्हीं सन्तीं ॥[2]
देवाचे देऊळ होते ते भंगले । चित्तासी जे आले करावेसे ॥
आरंभी कीर्तन करी एकादशी । नव्हते अभ्यासी चित्त आधीं ॥
कांहीं पाठ केली सन्ताची उत्तरें । विश्वासे आदरे धरुनिया ॥

× × ×

यावरी या जाली कवित्वाची स्फूर्ति । पाय धरिले चित्ती विठोवाचे ॥

× × ×

भक्ता नारायण नुपेक्षी सर्वदा । कृपावंत ऐसा कळों आलें ॥
तुका म्हणे माझें सर्व भांडवल । बोलविले बोल पांडुरंगे ॥

शूद्र जाति में जन्म लेकर मैंने व्यवसाय किया । मेरे कुल में आदि देव के रूप में विठ्ठल पूज्य थे । मुझे बोलने का अधिकार नहीं था । इस वचन का मैंने

१. तुकारामाचे अभङ्ग ३१८२ ।

२. तुकारामाचे अभङ्ग १३३३ ।

विस्फोट होकर प्रलय जैसी दशाउत्पन्न हो जाती है। सर्वनाश साकार होकर सामने आ जाता है। ऐसे ही अवसर पर कल्याण के अनेक सूक्ष्म वीज वाहर आ जाते हैं, और नये मूल्य तथा उनका धरातल एवम् क्षितिज सामने दृग्गोचर होने लगता है। यदि वुद्धि और निश्चय का वल हो तो उससे लाभ भी उठाया जा सकता है। राजपुत्र गौतम वुद्ध, गोस्वामी तुलसीदास के जीवन ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी को प्रवृत्ति का परिवर्तन या जागृति कहा जाता है। आध्यात्मिक उन्नति का यह प्रथम सोपान है।

हर एक व्यक्ति की भावना प्रक्षोभ एवम् उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ वाल्मिकी के मन का प्रक्षोभ पापों के परिणामों के भय से उद्भूत हुआ था। गौतम वुद्ध सांसारिक दुःखों के प्रति विरक्त हुए थे। तो तुलसीदास ऐहिक प्रलोभनों से उदासीन हो गये थे। ऐसी मानसिक जागृति एवम् उत्क्रान्ति से परमेश्वर की ओर चित्तवृत्ति लग सकती है, अथवा घोर अधःपतन हो सकता है। तुकाराम के मन में वचपन से ही जागृति उत्पन्न हुई थी। उसका कारण उन पर विपत्तियों के अम्वार एक के वाद एक टूट पड़े थे। परिणामतः उनकी मानसिक उद्विग्नता और उसकी भीपणता वढ़ गई। इसका कारण उनकी भीपण परिस्थिति ही है। यथा—

आतां काय खावे कोणीकडे जावें। गावांत राहावे कोण्यावळें।
तुका म्हणे याचा संग नव्हे भला। शोधीत विठ्ठला जाऊं आतां॥[१]

अव मैं क्या खाऊँ, कहाँ जाऊँ तथा ग्राम में किसके वल पर मैं रहूँ। पाटिल (चौधरी) और ग्राम के लोग मुझ से नाराज हैं। अतः अव मुझे कौन पूछेगा? सव यही कहते हैं कि इसे तो किसी से सरोकार ही नहीं है अतः इसका फैसला तो हमने न्यायालय में दे दिया है। अच्छे-अच्छे लोगों से मेरे वारे में उलटा-सीधा कहकर मुझे धोखा दिया गया है। मुझे दुर्वल जानकर मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया गया। तुकाराम कहते हैं अव मुझे इनका संग छोड़कर विठ्ठल के आश्रय में जाना चाहिए।

भक्त को भगवान् की सहायता—

ऐसी करुण दशा में आत्यंतिक निराशा, आत्यंतिक परिणाम भी प्रस्तुत कर देती है। प्रायः इससे आत्म हनन की ओर प्रवृत्ति जगती है। तुकाराम प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे, अतएव उनके कुल में चली आती हुई भक्ति की संस्कारगत परम्परा ने उन्हें इस आपत्ति से वचाया तथा हृदयस्थ भगवान् ने भी सहायता प्रदान की। इसी सहायता को वे यों प्रदर्शित कर देते हैं—

१. तुकारामाचे अमङ्ग ६७६।

विचारिले आधी आपुल्या मानसीं । वाचो येथें कैसी कोण्याद्वारें ॥

× × ×

तुका म्हणे दुःखें आला आयुर्भाव । जाला बहु जीव कासावीस ॥[1]

प्रथम अपने मन से पूछा कि हे मेरे मन ! तू बता कि मैं किस पंथ का अनुसरण करूं, किस के द्वार पर जाकर पुकारूं ? तभी हृदयस्थ भगवान् ने प्रत्यक्ष सहायता देकर ऐसी बुद्धि प्रदान की जिससे यह ज्ञात हुआ कि इस विपन्न परिस्थिति के बावजूद भी नाश नहीं होगा । मैं तो उद्वेग-समुद्र में डूबा हुआ था, और किस प्रकार भगवान् प्राप्त होंगे इस चिन्ता में व्यग्र था । तुकाराम कहते हैं कि इस दुःख के कारण मेरी आत्मा व्याकुल हो उठी है क्योंकि अब तक की सारी आयु इसी दुःख से भरी हुई व्यतीत हुई है। पर अब मैं आश्वस्त होकर निश्चिन्त और शान्त हूं ।

तुकाराम की वैराग्य प्राप्ति और जीवन दृष्टिकोण—

इस प्रकार की जागृति हो जाने पर भगवद्-चिन्तन के अतिरिक्त, और कोई मार्ग किसी को भी नहीं सुझाई देता । शायद उनका पारमार्थिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है । वे कहते है कि एक मात्र विठोबा ही मेरे अवलंब हैं । वे इसी भावना को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

याती शूद्र वंश केला वेवसाव । आदि तो हा देव कुळपूज्य ॥
नये वोलो परिपाळिले वचन । केलियाचा प्रश्न तुम्हीं सन्तीं ॥[2]
देवाचे देऊळ होते ते भंगले । चित्तासी जे आले करावेसे ॥
आरंभी कीर्तन करी एकादशी । नव्हते अभ्यासी चित्त आधीं ॥
कांहीं पाठ केली सन्ताची उत्तरें । विश्वासे आदरे धरुनिया ॥

× × ×

यावरी या जाली कवित्वाची स्फूर्ति । पाय धरिले चित्ती विठोबाचे ॥

× × ×

भक्ता नारायण नुपेक्षी सर्वदा । कृपावंत ऐसा कळों आलें ॥
तुका म्हणे माझें सर्व भांडवल । बोलविले बोल पांडुरंगे ॥

शूद्र जाति में जन्म लेकर मैंने व्यवसाय किया । मेरे कुल में आदि देव के रूप में विठ्ठल पूज्य थे । मुझे बोलने का अधिकार नहीं था । इस वचन का मैंने

१. तुकारामाचे अभङ्ग ३१८२ ।
२. तुकारामाचे अभङ्ग १३३३ ।

पालन किया। पर सन्तों के बीच में मुझसे तुम लोगों ने प्रश्न किया है। उसका मैं उत्तर देता हूँ। दारिद्र के कारण और अकाल से त्रस्त होकर जब मेरा सब कुछ स्वाहा हो गया तब मुझे अपने व्यवसाय में हानि होने लगी। एक मन्दिर था, जो पूर्वजों के द्वारा बनवाया गया था पर वह भग्न हो गया था। उसे सुधारा जाय ऐसा मन में आया। प्रारम्भ में कीर्तन करना आरम्भ किया तब चित्त में इसका कोई अभ्यास न था। सन्तों के सहवास में रहते अचानक मुझ में काव्य निर्मित की स्फूर्ति और प्रेरणा जगी। तभी चित्त ने विठ्ठल चरणों में आश्रय ले लिया। यह बात तो जगविदित है कि नारायण भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करते। वे सदा कृपावन्त होकर कृपा ही करते रहते हैं। यह बात भली-भाँति समझ में आ गयी। यही मेरी पूँजी है। इस पर भी मेरे द्वारा पांडुरंग ने अभंग निर्मिति करवायी।

आध्यात्मिक अभिव्यंजना की प्रेरणा—

नामदेव और पांडुरंग ने तुकाराम के स्वप्न में आकर कविता करने के लिए आदेश दिया था। इसका प्रमाण इम अभंग में देखा जा सकता है —

नामदेवें केले स्वप्नामाजी जागें। सवें पांडुरंगे येऊनिया॥
सांगितलें काम करावे कवित्व। वाउगे निमित्य बोलों नेको॥[1]

तुकाराम कहते हैं कि मुझे पांडुरंग सहित आकर नामदेव ने स्वप्न में जगाकर यह आदेश दिया कि तुम अभंग-रचना करो। यह केवल निमित्त मात्र प्रमाण नहीं है इस तरह कहकर विठ्ठल ने मुझे थपथपाकर सावधान किया। मुझे यह कहा कि शतकोटी अभङ्ग पूरे करने की प्रतिज्ञा नामदेव की थी। वे तो उसे पूरा न कर सके पर तुकाराम! अब तुम उनके अधूरे कार्य को पूरा करो।' 'इस पर कोई विश्वास रखे या न रखे इसमें मार्मिकता इतनी तो अवश्य समझी जा सकती है कि भक्त तुकाराम का अन्तःकरण भक्ति भावना से ओतप्रोत हो गया था, और वे अपने आराध्य विठ्ठल की कृपा से काव्य में अपनी अनुभूति परक भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहते थे। अतएव वे अब निश्चिन्त होकर मनसावाचा कर्मणा गोविन्द-भजन और चिन्तन में काल व्यतीत करने लगे।

तुकाराम की आध्यात्मिक अवस्थाएँ—

साधक और सिद्धों की पारमार्थिक दृष्टि से चार अवस्थाएँ होती हैं। १. वृद्धावस्था, २. मुमुक्षु-अवस्था, ३. साधकावस्था और ४. सिद्धावस्था। वृद्धावस्था वह है जिसमें साधक को आत्मज्ञान नहीं होता और न परोपकार करना चाहिए यह ज्ञात रहता है, तथा जिसमें अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि के द्वारा स्वधर्म की पहिचान

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग १२२०।

नहीं हो जाती। मुमुक्षु वह है जो सांसारिक दुःख से दुखी होता है तथा त्रिविध तापों से संतप्त है और शास्त्रों के निरूपण को श्रवण कर जो अन्तःकरण पूर्वक पश्चाताप कर सकता है। परमात्मा प्राप्ति की इच्छा और साधन की चिंता भी मुमुक्षु किया करता है। साधक उसे कहते हैं जो अवगुणों का त्याग करते हुए संतसमागम तथा उनकी कृपा प्राप्ति भी कर लेता है। सद्गुरु के द्वारा बतलाये गये साधनों से शास्त्र-प्रतीति एवम् आत्म-प्रतीति से आत्मा तथा परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित कर लेता है। तात्पर्य यह है कि साधक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब बातों को छोड़ देता है। सिद्ध उसे कहते हैं जो स्वयं सदवस्तु बन जाता है। संदेह और भ्रमों से मुक्त एवम् निर्मल मन उसे उपलब्ध हो जाता है। जिसका ज्ञान संदेह रहित है परमात्मा का अनुभव जिसे संप्राप्त है, तथा जो दृढ निश्चयी है, ऐसी अवस्था वाला व्यक्ति ही सिद्ध कहलाता है। ये चारों अवस्थाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं और एक दूसरे पर आधारित एवम् अन्योन्याश्रित है। सिद्धावस्था विकासात्मक है। तुकाराम ने जब ससार से विरक्ति लेकर अन्तर्मुख होकर आत्म निरीक्षण कर लिया तब अपने भगवान् से यह प्रश्न किया[1]—

काय तुज कैसे जाणावेगा देवा। आणावे अनुभवा कैशा परी॥
सगुण निर्गुण थोर कीं लहान। न कळे अनुमान मज तुझा॥
कोण तो निर्धार करुं हा विचार। भवसिंधु पार तरा बया॥
तुका म्हणे कैसे पाय आतुडती। न पडे श्रीपतीं वर्मठावे॥

हे भगवान् मैं आपको कैसे जानूँ? आपकी भक्ति किस रीति से करनी होगी जिससे उसका अनुभव मुझे मिल सकेगा। आपको किस भाव से प्राप्त करूँ इसका रहस्य आप ही बता दीजिए। मेरी स्थिति ऐसी है कि मैं यह नहीं जानता कि सगुण और निर्गुण में से कौन बड़ा और छोटा है। मैं इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस भवसागर को पार करने के लिए मैं क्या निश्चय करूँ? तुकाराम कहते है मेरे चरण इस पथ पर आगे बढ़ने में हिचकिचा रहे हैं, अतः मुझे आप तक पहुँचने का रहस्य बतला दीजिए।

तुकाराम के सामने दो समस्यायें थीं। प्रथम पारमार्थिक मार्ग का अज्ञान और दूसरी मानसिक दुर्बलता। इन सारी बातों के कारण भक्ति करना कठिन था। इस उधेड़-बुन में उन्हें परमेश्वर की सहायता प्राप्त हो गई। दुनियाँ के लोग उन्हें सताने लगे। किसी को कोई कष्ट न देने पर भी लोग उनको सताते थे। यही उनका दुख था। दुनियाँ के बहुरूपियेपन से वे उकता गये। अतएव उसको उन्होंने

---

१. तुकारामाचे अभंग ३४३७।

त्याग दिया। दुर्दैव का तमाचा पड़ने पर मन दुख से व्याकुल हो जाता है। अपने आसपास की चीजें सुख के बदले दुख उत्पन्न करती हैं। इनसान अपने आपको पापी समझने लगता है। इस तरह आत्मग्लानिपूर्ण उद्‌गार निकलने लगते हैं। वास्तव में ऐसे साधक बुरे या पापी नहीं रहते। क्योंकि यह आत्मधिक्कार निराशा से उत्पन्न होता है। इस तरह आत्मग्लानि और आत्म संशोधन, तुकाराम की मुमुक्षु अवस्था की प्रारम्भिक सीढ़ी है। ग्लानि और पश्चाताप दग्धता युक्त होने पर भी कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। इसी चिन्ता से तुकाराम का अन्तःकरण उद्विग्न था। अपने साधनहीनता की भी उन्हें पर्याप्त चिन्ता थी। तुकाराम का मन ऐसी आत्मग्लानि से मृदुतम बन गया और अहंकार तिरोहित हो गया। ऐसी दशा में परमेश्वर प्राप्ति के मार्ग पर जाने वाला साधक प्रायः ममता के मोह में पड़कर पुनः अहंकार में फँस सकता है। परन्तु तुकाराम के संस्कार दृढ़ थे। इसलिए उनका वैराग्य श्मशान वैराग्यवत् सिद्ध नहीं हुआ। नामस्मरण और नाम-संकीर्तन ये दो प्रमुख साधन तुकाराम के पास होने से ईश्वर कृपा के सम्पादन में वे अग्रसर होते गये। वे इन साधनों की महिमा जानते थे तथा इसकी प्राप्ति के लिए सत्संग चाहते थे। भगवान् से उन्होंने यह प्रार्थना की[1]—

नाम संकीर्तन और सत्सङ्ग—

> हरी तुझे नाम गाईन अखंड। या विण पाखंड नेणे कांहीं॥
> अंतरीं विश्वास अखंड नामाचा। काया मनें वाचा देईं हेंचि।
> तुका म्हणे आता देईं सन्त संग। तुझे नामी रंग भरो मना॥

हे हरि! तुम्हारा गुणगान मैं अखंड रूप में करूँगा। इसके अतिरिक्त किसी पाखंड को मैं नहीं अपना सकता। मैं केवल भगवद्-भजन ही जानता हूँ। हे भगवान्! मेरे मानस में नाम संकीर्तन का अखंड विश्वास पैदा हो जाय और काया-वाचा-मनसा से मैं यही कर सकूँ ऐसा आशीर्वाद मुझे आप प्रदान कीजिए। संत संग ही मुझे आप प्रदान करें जिससे आपके नाम स्मरण में मैं रँग जाऊँ।

अपने अभंगों का उपयोग वे नामस्मरण में ही करना चाहते हैं क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि नामस्मरण करने से भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यथा—

भक्त की अभिलाषा—

> नाम आठविता सद्‌दित कंठी। प्रेम वाढे पोटीं ऐसे करीं॥
> रोमांच जीवन आनंदाश्रु नेत्रीं। अष्टांग ही गात्रीं प्रेम तुझें॥[2]

१. तुकारामाचे अभंग ४०१४।
२. ,, ८१८।२८७३।

तुकाम्हणे पंढरीनाथा । मजला आणिक नको व्यथा ।।[1]

नाम स्मरण करते ही कंठ सद्गदित हो जाता है। इसी तरह प्रेम बढ़ता जाय ऐसा मुझे बना दें। सारा जीवन तुम्हारे प्रति प्रीति से भर जाय जिससे रोमांचित होकर शरीर पुलकित हो जाय तथा नेत्रों में आनन्दाश्रु आ जाँय। अष्टांगों में तुम्हारा प्रेम ही प्रकट हो जाय। सारा शरीर भी यदि संकीर्तन करते हुए नष्ट हो गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। दिनरात नाम और गुण-गान करता रहूँगा और सर्वदा संतों के चरणों में पड़ा रहूँगा। तुकाराम अपनी स्थिति इस प्रकार बना लेना चाहते हैं, जैसे कोई गोपी कृष्ण प्रेम में मग्न होकर स्वच्छन्द रूप से चलती है। वे कहते हैं कि हे हरि! तुम्हारा रूप ध्यान में इसी तरह आता रहे। तुम्हारे चरणों में मैं इसी तरह आसरा लेता रहूँ। दुर्बल को जिस तरह आमंत्रण की आशा तथा लोभी को कालान्तर की आशा रहती है, और दोनों उङ्गलियों पर दिन गिनते रहते हैं, उसी तरह हे पंढरिनाथ! मुझे केवल तुम्हारी ही आशा है और कोई चिन्ता मैं मोल लेना नहीं चाहता।

नामस्मरण का सामर्थ्य—

इस प्रकार का भाव जब साधक का बन जाता है तब मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। नामस्मरण के सामर्थ्य में विश्वास दृढ़ हो जाता है। अन्य किसी साधन को नहीं अपनाना चाहिए ऐसी श्रद्धा बन जाती है। तुकाराम में हम यही देखते हैं। जीवन में नित्य संकटों के क्षण आते रहते हैं। इनसे संघर्परत रहना पड़ता है, परन्तु साधनारत साधक नामस्मरण को अपनाये ही रहता है। इसका कारण नामस्मरण के प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास मात्र ही है। यही आस्था उनको इस युद्ध में निराशा से मुक्त रखती है। जैसे—

रात्री दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग। अंतर्बाह्य जग आणि मन ।।
जीवा ही आगोज पडती आघात। येऊनिया नित्य नित्यकरी ।।
तुका म्हणे तुझ्या नामाचिया बळे। अवघीयांचे केले काळे तोंड ।।[2]

दिनरात हमारे सामने आभ्यंतर रूप से संग्राम करने का अवसर उपस्थित रहता है। बाहर परिस्थितियों से और अन्तःकरण में सद्प्रवृत्तियों का असद् प्रवृत्तियों से निरन्तर संघर्प चलता रहता है। जीव पर इन सब के आघात पड़ते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं कि फिर भी केवल नाम स्मरण के बल पर हम साधक इन सबको परास्त कर देते हैं।

---

१. तुकारामाचे अभंग ८१८-२८६३।
२. ,, ४०६१।

वैष्णवों का धर्म—

इस तरह भगवान् का नामस्मरण और संकीर्तन करते-करते भक्त, भगवान् और भगवन्नाम का त्रिवेणी संगम हो जाता है। आदर के साथ हरिनाम गाने वाले, और सुनने वाले स्त्री-पुरुष शुद्ध हो जाते हैं। वैष्णवों का धर्म यही है ऐसा तुकाराम का निवेदन है—

आम्हां वैष्णवांचा कुळ धर्म कुळींचा। विश्वास नामा एका भावें ॥
तुका म्हणे देवा ऐसीयाची सेवा। द्यावी जो केशवा जन्मो जन्मीं ॥[1]

वैष्णवों के कुल का कुल धर्म एकनिष्ठ भाव से नामस्मरण पर अटूट विश्वास है। प्रथम चित्त को वासनारहित कर सत्यवादी हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की जाय। तुकाराम कहते हैं कि हे भगवान्! हम आपका भक्ति-भावना से नाम-स्मरण कर प्रेम पूर्वक, आनन्द में आकर नाचेंगे और गावेंगे तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों की आपसे याचना नहीं करेंगे। इस प्रकार के वैष्णव-भक्त की सेवा, हे भगवान्! जन्म-जन्मांतरों तक आप अवश्य लेते रहें। संत-समागम ही वैष्णवों का जीवन लक्ष्य होता है। क्योंकि सन्तों की संगति से भगवद् भक्ति दृढ हो जाती है। यथा—

संसारांच्या नावें घालुनियां शून्य। वाढता हा पुण्य केला धर्म ॥
तुका म्हणे सुख समाधि हरिकथा। नेणें भवव्यथा गाईल तो ॥[2]

अपने लौकिक जीवन के नाम पर शून्य लिखकर केवल नाम स्मरण और भजन से मैंने यह पुण्य प्राप्त कर लिया है। हरि के भजन से यह संसार स्वच्छ और उज्ज्वल हो गया है। कलिकाल के द्वारा किये गये सारे प्रयत्न निष्फल हो गये। अन्य सारे साधनों का शरीर और बुद्धि से त्याग कर दिया है। हरिकथा गुणगान में और स्मरण करने में समाधि सुख प्राप्त हो गया। तुकाराम कहते हैं जैसे मैंने इसे उपलब्ध कर लिया वैसे ही कोई भी इसे उपलब्ध कर ले सकता है।

आचरण शुद्धता और वैराग्य—

तुकाराम चित्त शुद्धि के लिये वैराग्य का प्रतिपादन करते हैं। प्रथम आचरण शुद्ध होना चाहिए जिससे मन भी शुद्ध हो जाता है। अनासक्ति भी भगवान् के गुणानुवाद से संप्राप्त हो सकती है। उन्होंने गीता के अध्याय २, श्लोक ६२ के अनुसार यह बतलाया है। यथा—

चिंती विषय त्याला उपजे हे वासना। भोग हा पुरेना विषयांचा ॥
तो या कामालागी उत्पन्न करीतो। काम तो निर्मितो क्रोधरूपा।

१. तुकारामाचे अभंग ४०४२।
२. ,, ३२२५।

तुका म्हणे बीजा पासूनि अंकुर। होतो हा विस्तार याच परी ॥[1]

तुकाराम ने कहा है कि जो व्यक्ति अपने मन में विषय-वासना की चिंता करता है उसको ही वासना उत्पन्न हो जाती है और उसे विषयों का भोग कभी पूरा नहीं पड़ सकता। बीज से अंकुर और अंकुर से पूरा विस्तार जैसे होता है, उसी तरह एक वासना से सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव विवेक और वैराग्य का आश्रय लेना चाहिए।

ईश्वर-प्रेम के लिए ऐहिक प्रेम छोड़ना पड़ता है। निन्दा और स्तुति की परवाह भी नहीं की जाती। संकल्प विकल्प में पड़ने से अशान्ति उत्पन्न होगी। सुख बादलों की तरह नष्ट हो जावेगा। अतः परमात्मा की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है। इसके लिए विनम्र होना पड़ता है। इसी विनम्रता से तुकाराम कहते हैं—

वंदीन मी भूतें। आतां अवघीं चि समस्ते।
तुमची करीन भावना। पदो पदी नारायणा।
गाळुनियां भेद। प्रमाण तो ऐसा वेद॥
तुका म्हणे मग नव्हे दुजयाचा संग॥[2]

पारमार्थिक सिद्धावस्था—

नारायण सब में व्याप्त है। अतः मैं सारे प्राणिमात्रों का वंदन करूँगा। मैं इसी भावना से सब को देखूँगा कि हे नारायण! आप सब में कदम-कदम पर कैसे दिखाई देते हैं। वेद ऐसा प्रमाण देता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि कहीं भी कोई भेद की भावना नहीं है। इसलिए सदा भगवान् का ही साथ सर्वत्र रहता है। लोक लज्जा आदि बातों से प्रायः मानव डरता है। उसके विरुद्ध परन्तु सत्य लगने वाली बात लोगों के सामने कहने का सामर्थ्य उस में नहीं रहता। अन्तः-करण में एक संकोच एवम् हिचकिचाहट रहती है। अतः सत्य का पथिक एकान्त-वासी बनकर जनता का सम्पर्क टालता है। तुकारामने ऐसा ही किया। वे एकान्त के लिए वन का आश्रय लेने लगे। उनके ऐसे आचरण की लोग निन्दा करने लगे। तुकाराम ने इसकी चिन्ता नहीं की। परमार्थ में साधक की सहायता करने कोई नहीं आता। तुकाराम इस बात को अच्छी तरह जानते थे। वे सदा अपना आत्म-निरीक्षण करते और वह भी बड़ी सूक्ष्मता से। तुकाराम अपने दोषों को बड़ी

१. तुकारामाची अभंगात्मक गीता–पृ० ३४ अभंग १०७ तथा
गीता अध्याय २।६२।

२. तुकारामाचे अभंग ७४६।

निष्ठुरता पूर्वक ढूँढ़ते हैं। इस तरह एकान्तवासी बनकर उनको जंगल में ही मंगल दिखाई दिया। यथा—

आध्यात्मिक जीवन का आनन्द—

वृक्षवल्ली आम्हाँ सोयरी वनचरें। पक्षी ही सुस्वरें आळविती ॥[1]
तुका म्हणे होय मनासी संवाद। आपुलाचि वाद आपणांसी ॥[2]

तुकाराम कहते हैं कि वृक्ष और लताएँ हमारे सम्बन्धी है, तथा वनचर हमारे रिश्तेदार हैं। यहाँ पर पक्षी सुस्वर स्वर में गाते हैं, इससे नामस्मरण एवम् भगवद् चिंतन के लिये एकान्त सेवन में भी रुचि उत्पन्न हो जाती है। कोई दोष देने वाला या प्रशंसा करने वाला यहाँ नहीं रहता। यहाँ पर आकाश का वितान है और पृथ्वी का आसन सदा विद्यमान है। मन जहाँ रमता है वहीं क्रीड़ा करने लग जाता है। यहाँ पर स्वच्छन्द रूप से बहने वाली वायु, कमंडलु, कंथा इत्यादि का काम देती है। हरिकथा का विस्तारपूर्वक भोजन यहाँ पर किया जा सकता है। अपने ही मन से संवाद किया जा सकता है तथा अपने से ही वाद-विवाद किया जा सकता है।

पारमार्थिक जीवन में सबसे अधिक बाधक चिन्ता होती है। इस चिंता से मुक्ति भी भगवान् पांडुरंग ही दिला सकते हैं। ऐसा भक्त तुकाराम का दृढ़ विश्वास था। अतएव इस ईश्वरी अनुकम्पा के लिये भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

प्रपंच वोसरो। चित्त तुझे पायी मुरो ॥ ऐसे करिगा पांडुरंगा।
शुद्ध रंगवावे रंगा। पुरे पुरे आतां। नको दुनियाची सत्ता।
लटिकें ते फेंडा। तुका म्हणे जाय पीडा ॥[3]

हे पांडुरंग। मेरी लौकिक आसक्ति दूर हो जाय और चित्त तुम्हारे चरण कमलों में श्रद्धा रखने लगे। मुझे अपने रंग में रंग लो, जिससे मेरा चित्त तुममें लीन हो जाय और मेरी सारी व्यर्थ की लौकिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाँय। अपने आराध्य से प्रेम पूर्वक वे यही माँगते हैं कि वे प्रेम के भाव में इतने मग्न हो जाँय, कि उनकी भाव समाधि ही लग जाय। इस शुद्ध प्रेम रंग में रँगकर विठ्ठल की सगुण भक्ति उन्हें उपलब्ध हो गई। तभी वे निर्भय होकर कहते हैं—

सगुण भक्ति की सिद्धावस्था—

आम्ही तरी आस झालो टाकोनी उदास। आतां कोण भय धरी।
पुढें स्मरणाचे हरी ॥ भलते ठायीं पडो। देह तुरंगी हा चढो ॥

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४८१।
१. ,, २४८१।
३. ,, २९७१।

गेले माना मान। सुखदुःखाचे खंडण। तुमचे तुम्हांपाशी।
आम्ही अहो जैशी तैशी ॥[1]

हे भगवान् ! हम तो अपनी सारी आशा त्यागकर उदास वन गये हैं। हरि स्मरण करते हुए अब हमें किसका भय है ? अब यह शरीर किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, इसे कोई दिलचस्पी उसके लिए नहीं है। चाहे जमीन पर बैठना पड़े अथवा घोड़े पर बैठना पड़ें, हमें तो सभी स्थल एक से हैं। मान, अपमान, सुख और दुख के परे रहने की हमारी प्रवृत्ति बन गई है। अतः हमें किसी से क्या लेना देना है। हम जैसे हैं वैसे ही रहेंगे।

संत तुकाराम वैराग्यमय प्रवृत्ति से अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए थे। उनमें आत्म विश्वास पूर्ण और निरहंकारी वृत्ति जग पड़ी थी। तभी बड़ी तन्मयता पूर्ण होकर वे कहते है—

पिकलिया सेंद कडूपण गेले। तैसे आम्हां केले पांडुरंगे ॥
काम क्रोध लोभ निमाले ठायीची। सर्व आनन्दाची सृष्टी झाली ॥
आठव नाठव गेला भावाभाव। आला स्वयमेव पांडुरंग ॥
तुका म्हणे भाग्य या नावे। म्हणिजे संसारी जळिजे याचिलागी ॥[2]

फल के पक जाने पर उसकी कटुता नष्ट हो जाती है। पांडुरंग ने हमें वैसा ही बना दिया है। काम, क्रोध लोभ इत्यादि भाव अपने स्थान पर ही नष्ट हो गए और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भासमान होने लगा। निरीहता परिपूर्ण रूप से प्राप्त हो गई। और साधक ने अपने में ही पांडुरंग को विद्यमान देखा। इसी सद्भाग्य के लिए लौकिक भावनाओं को होम करना पड़ता है।

भगवान् के प्रति आस्था, भक्ति अथवा स्नेह भावना रखने का प्रायः यह अर्थ लिया जाता है कि भगवान् के प्रति इस तरह की भावना का होना। केवल विश्वास ही भावना नहीं है अपितु विश्वास की परिणति प्रेम, कृतज्ञता, पूज्यभाव एवम् शरणागति आदि भावों सहित प्रत्यक्ष कृति में जब हो जाती हैं, तब उसे विश्वास का भाव कहा जाता है। आचरण और मनोभावना एक सी बन जाय यही बात उसमें निहित है। यह भाव अचानक उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इसके लिए भी साधना करनी पड़ती है। अपनी साधना पर साधक का अटल विश्वास होना आवश्यक होता है। नाम संकीर्तन साधना पर तुकाराम के विचार इस प्रकार हैं—

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ४७।
२. तुकारामाचे अभंग ४१०३।

नाम संकीर्तन—

नाम सङ्कीर्तन साधन पैं सोपें । जळतील पापें जन्मांतरींचीं ॥
तुका म्हणे सोपें आहे सर्वां हूनी । शाहाणा तो धणी घेतो येथें ॥

× × ×

तुटे भवरोग । संचित क्रियमाण भोग ॥ ऐसे विठोबाचे नाम ।
तुका म्हणे माया । होय दासी लागे पाया ॥[1]

नाम संकीर्तन कितना सरल साधन है। नाम के लेने पर जन्म-जन्मान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नारायण घर में ही आ जाते हैं। जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं। सहज ही जिसको हम कह सकते हैं ऐसा 'रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशव' इस मंत्र को सर्वदा जपना चाहिए। इसको छोड़कर अन्य किसी साधन को मैं नहीं अपनाऊँगा। ऐसा विठ्ठल की शपथ लेकर कहता हूँ। यह सब साधनों से सरल साधन है ऐसा समझकर चतुर व्यक्ति इसी को अपनाता है। विठोबा का नाम जप करने से अनेक जन्मों का खंडन हो जाता है। भवरोग से छुटकारा प्राप्त होकर संचित, क्रियमाण आदि के भोग भी नहीं भोगने पड़ते। माया भी दासी बनकर चरणों में झुक जाती है। नाम-स्मरण करने वाले के पास कोई पाप और त्रिविध ताप नहीं फटक पाते। यह साधन ऐसा है कि इसे अपनाते हुए किसी अन्य विधि विधान की जरूरत नहीं होती।

अनन्य शरणागति—

अनन्य शरणागति के बिना भगवान् नहीं मिलते। सारे सम्बन्ध अनन्य भाव से ही भगवान् से जोड़े जाते हैं। इसी अनन्य भाव से तुकाराम कृष्ण को अपना सर्वस्व मानते हैं। देखिए—

कृष्ण माझी माता । कृष्ण माझा पिता ।
कृष्ण बंधु चुलता । कृष्ण माझा सता ॥

× × ×

तुका म्हणे माझा श्रीकृष्ण विसावा । वाटे न करावा परता जीवा ॥[2]

तुकाराम कहते हैं कि मेरे लिए कृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं। वे मेरी माँ, पिता, बंधु, गुरु और भवसागर से पार ले जाने वाले जहाज हैं। मेरा मन भी कृष्ण ही है तथा वे ही मेरे स्वजन और एकमात्र आश्रयस्थल हैं। अतः वे कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि मुझे आप एक क्षण भर भी न त्यागिये।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४५८।७२८।

२. तुकारामाचे अभङ्ग ५१६।

वे ही कृष्ण तुकाराम के पांडुरंग हैं जिसे वे वार-वार पुकारते हैं। यथा—

जो भक्ताचा विसावा। उभा पाचारितो धांवा ॥[1]
तुका म्हणे कृपा दानी। फेडी आवडीची धणी ॥

हे भगवान्! आप अनाथों के नाथ हैं इसीलिये मैं आपको कब से खड़े-खड़े पुकार रहा हूँ। प्रेम की कोई वस्तु या पदार्थ लेकर हमारे मुख में प्यार से आप ही डाल दिया करते हैं। भक्त की आशा बलवती होती है। फलतः कृपादानी विठ्ठल को तुकाराम ने अपने अन्त करण में दृढ़ एवम् स्थित कर दिया था। उनके मत से इस भक्ति को निश्चयपूर्वक अपनाकर ही उनको अत्यधिक आनन्द की उपलब्धि हो जायगी। इसीलिए वे कहते हैं—

सांडोनिया दो अक्षरा। काय करु हा पसारा ॥
काना पात्रा वां याविण। तुका म्हणे विठुली ॥

× × ×

मज हंसतील लोक परी गाईन निश्शंक ॥
तुझे नामी मी निर्लज्ज। काय जना सवेकाज ॥
तुका म्हणे माझी विनंति। तुम्ही परिसा कमळापती ॥[2]

× × ×

काये करुनि धंदा। चित्त गोविंदा तुझे पायी ॥[3]
तुका म्हणे तुज कळेल ते आतां। कराजीं अनन्ता माय बापा ॥[4]

तुम्हारे श्रेष्ठ भक्त यही विचार करते हैं कि जप तपादि साधनों में मन नहीं रमता। अतः नामस्मरण किया जाय। मेरे जैसे दीन भक्त करुणा से अपनी बात आपको प्रदर्शित कर बतलाते हैं। हे विठ्ठल। मुझे आपके नाम के दो अक्षरों के अतिरिक्त अन्य बातों की क्या आवश्यकता है? मैं तो अपनी तुतली वाणी से ही निरतर हे हरि! आपका नाम गाता रहता हूँ। समग्र वेदों का सारवचन और मंत्र की तरह जिसे समझा जाता है ऐसे नाम स्मरण से मैं भी ब्रह्मार्पण किया जाऊँगा। मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि मेरी इस कृति को देखकर लोग हँसेंगे पर मैं निश्चिन्तता से आपका नाम स्मरण करता रहूँगा। हे कमलापति! मेरा शरीर और उसके अवयव अपने-अपने कार्य करते रहेंगे। पर मेरा मुख सदा

---

१. तुकारामाचे अभंग १०७५।
२. तुकारामाचे अभंग १५२३।२६५६।
३. तुकारामाचे अभंग ३४३८।

गोविन्द-गोविन्द जपता रहेगा। हे भगवान्! मेरा और मेरे कुटुम्ब का उत्तर-दायित्व आप पर ही रहेगा। अपने अभंगों में मैं आपका गुणगान करता रहता हूँ इसलिए मुझे अपने पेट की कोई चिन्ता नहीं है। मेरी सारी चिन्तायें अब दूर हो गयी हैं और आप यह सब जानते हैं।

भगवान् का प्रेम एक महान् वरदान—

अपने उपास्य के चिंतन से भक्त को आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। इस आनन्दानुभूति के साथ भक्त को अपने आराध्य का चिन्तन करने की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। तुकाराम को यह सारी प्रेमोत्कटता अपने समग्र रूप में प्राप्त हो गई थी। तुकाराम इस प्रेम को भगवान् की एक महान् देन मानते हैं। यह अनमोल देन शाश्वत रूप से बनी रहे, ऐसी प्रार्थना वे पांडुरंग से करते हैं। प्रेमी भक्त का अपने प्रिय आराध्य के इस प्रेम का एक दूसरा पहलू भगवान् का विरह है। अपने प्रियतम परमात्मा के बिना विरह जन्य तड़पन उत्पन्न होती है। जिस तरह से शरीर को प्राण की चाह रहती है उसी तरह भक्त को अपने आराध्य की रहती है। प्रेम की बाढ़ आ जाने पर स्वेद, रोमांच, अश्रु, कम्पन, गला भर आना आदि आठ प्रकार के सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। बाढ़ में इनका स्वरूप गतिमान होता है। हृदय-सरिता का जल बाढ़ के कारण नेत्रों से आँसुओं के रूप में वह निकलता है। प्रेम के एवम् भक्ति के क्षेत्र में ऐसी स्थिति में प्रेमी की प्रिय के प्रति वृद्धि ही होती है। यह अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति को प्रस्तुत कर देती है। तुकाराम अपनी ऐसी भावावस्था में आकर कहते हैं—

> **सद्गठित कंठ दाटो। येणे फुटो हृदय।**
> **तुका म्हणे येथें पाहिजे चौरस। तुम्हावीण रस गोड नव्हे॥**[1]

मेरा कंठ सद्गदित होकर भर आवे तथा हृदय द्रवीभूत हो जाय। हे विठ्ठल! आपके चिंतन का एक लाभ तो निश्चित रूप से मिल जायगा। नेत्रों से सदा जल बहा करे और आनन्द से शरीर पुलकित हो जाय। तुकाराम कहते हैं कि मन में यही इच्छा मैं करता रहूँ कि मुझे आपकी कृपा का दान प्राप्त हो जाय। गला भर आते ही नेत्रों से अश्रु-सिंचन होने लगेगा। आनन्द से रोमांच उठ खड़े होंगे। हे भगवान्! आपके मिलने से पुरानी बातें विस्मृत हो जायँगी। मैं तो सुन्दर आलाप से आपके गीत गाता रहूँगा। तुकाराम कहते हैं, यहाँ तो विस्तृत रूप में रसवृष्टि हो तो अच्छा होगा। परन्तु आपके बिना रस फीका ही होगा।

---

१. तुकारामाचे अभंग २४२३।

विठ्ठल की व्यापकता —

भावों के भूखे तुकाराम अपनी भावभीनी भक्तिपूर्ण अवस्था से अपने अन्तःकरण में और बाहर धीरे-धीरे व्यापक रूप में विठ्ठल का अस्तित्व अनुभव करते हैं। भगवान् सदा उनकी बातें सुनते और उन पर कृपा करते हैं। तुकाराम को नरदेह क्या मिली मानो अन्धे के हाथ बटेर लग गई। तुकाराम को भगवान् मिल गये तब वे अपना आत्म निवेदन अपने आराध्य के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं—

> **पावलो हा देह काकतालीय न्याये। नघडे उपांये घडो आले॥**
> × × ×
> **काय विरक्ति कळे आम्हां। जाणे एका नामा विठोवाच्या॥**
> **कासया एकांत सेवूं तयावना। आनंद तो जना माजी असे॥**
> × × ×
> **मार्गी चालता पाऊला पाऊलों। चिंतावी माऊली पांडुरंग॥**
> **तुका म्हणे हेचि करावे जीवन। वाचे नारांयण तान भूक॥**[1]

यह मानव शरीर काकतालीय न्याय से मुझे उपलब्ध हो गया, इसीलिए कुछ ऐसी उपयुक्त बात हो गई जो चाहे जितने उपाय किये जाने पर भी परिपूर्ण न हो सकती थी। अर्थात् मुझे सहज ही इस देह से भगवान् की प्राप्ति हो गई। वैसे विरक्ती को मैं जानता भी नहीं था, मुझे तो केवल विठोवा का एकनाम ही ज्ञात था। अब तो मैं वैष्णवों के मेले में सुखपूर्वक नाच उठता हूँ, तथा आनन्द से करताल वजाता हूँ। शांति, क्षमा, दया आदि मैं कुछ भी नहीं जानता था। मुझे तो केवल गोविन्द का कीर्तन ही करना आता है। मैं अपने शरीर के प्रति अब उदास क्यों रहूँ जब कि मैं भक्ति रूपी अमृत के सागर में पूरा डूब गया हूँ। मुझे अब जंगल में एकान्त वन सेवन करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि मुझे अब तो सारा आनन्द लोगों में ही दिखाई पड़ रहा है। मार्ग चलते-चलते पद-पद पर मुझे अपनी माता के समान पांडुरंग का चिंतन करना चाहिए ऐसा लगता है। सारे सुख, सारे सम्बन्ध अपनी पीठ पर लादकर प्रेमपूर्वक गीतों में प्रेम रस भरता रहता हूँ। अपने पीताम्बर से आप भक्तों पर कृपा की छाया फैलाते रहते हैं। अतएव तुकाराम का यही कहना है कि ऐसे भक्त का ही जीवन क्रम मैं अपना लूँ जिससे वाचा से नारायण जपते-जपते भूख प्यास आदि मिट जावेगी। नाम लेने वालों की कोई जाति नहीं है और हे भगवान् शरण में आये हुए को तुम अङ्गीकार कर लेते हो अतएव मेरे साथ वैसा ही कर मुझे अपनाओ।

---

१. तुकारामाचे अभंग ४०४३।८७१,१६४६।

तुकाराम इस तरह अपने नित्य के अनुभवों में से ही विश्वंभर की कृपा की एवम् दया की प्रत्यक्ष प्रतीति कर लिया करते थे। तुकाराम की मनोभूमिका देखने लायक है—

कारे नाठवी सी कृपाळू देवासी। पोसितो जगासी एकलाचि ॥
तुका म्हणे ज्याचे नाव विश्वंभर। त्याचे निरन्तर ध्यान करी ॥[1]

कृपालु भगवान् को क्यों विस्मृत करते हो? वे तो अकेले ही सारे लोगों का पोषण करते हैं। छोटे शिशु के लिये माता के स्तनों में दुग्ध की उत्पत्ति करके श्रीपति दोनों हाथों से उसका पालन-पोषण करते हैं। ग्रीष्मकाल में भी वृक्ष कोपलों से युक्त हो जाते हैं उनको जल रूपी जीवन कौन प्रदान करता है? जब वे सारे अनन्त में व्याप्त हैं तो क्या वे तुम्हारी चिन्ता नहीं करेंगे? तुकाराम कहते हैं उनका नाम इसलिए विश्वम्भर है अतएव उनका ध्यान निरन्तन करना चाहिए।

भगवान् का यह विश्वात्मक अनुभव तुकाराम के भीतर भक्ति की आर्द्रता से निसृत हुआ था। इसे भी वे अपना सौभाग्य मानते हैं। सच है, बिना भाग्य के मुलाकात भी कैसे हो सकती है?

महान् भारतीय दार्शनिक गुरुदेव रानडे अपने 'तुकाराम वचनामृत' की भूमिका में कहते हैं—कि, 'साधक दशा के मार्ग में अनेक भयङ्कर विघ्न आते हैं। हरएक साधक इसका अनुभव करता है। अनेक प्रकार के विकल्प, अनेक प्रकार के विकट प्रसंग एवम् अनेक प्रकार की शंकाएँ, साधक के मन में उद्भुत हुआ करती हैं, और मृगजल की तरह साध्य अभी दूर ही है ऐसा प्रतीत होगर क्षण-क्षण निराशा उत्पन्न होती रहती है। यह निराशा की दशा आत्मरूपी सूर्योदय पूर्व की एक भिन्न प्रकार के अन्धकार से परिपूर्णरजनी ही है। ऐसी परिस्थिति में भी जो साधक जागृत रहकर सूर्योदय की राह देखता है उसे ही अपना अन्तिम साध्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस परिस्थिति में मन की तड़पन भयङ्कर होती है और बेचैनी भी।'[2]

तुकाराम में यह बेचैनी थी और मन की तड़पन भी, जिसने उनको एक सफल और सिद्ध भक्त बना दिया और वास्तव में भगवान् साकार रूप में उन्हें उपलब्ध हो गए थे। उनके सान्निध्य सुखार्थ मुक्ति का भी त्याग तुकाराम ने कर दिया था। सचमुच वैष्णव सगुण साधकों में तुकाराम सिरमौर है।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २३१०।

१. तुकाराम वचनामृत प्रस्तावना—गुरुदेव रा. द. रानडे, पृ० ८।

समर्थ रामदास का आध्यात्मिक पक्ष

आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्व-पीठिका—

राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास का आध्यात्मिक चिन्तन अपने ढङ्ग का और स्वतन्त्र था। प्रायः भक्तिपरक वैष्णव साहित्य का अध्ययन करते हुए, हम वैष्णव भक्तों की आध्यात्मिक साधना प्रणाली और उनकी प्रेरणा के स्रोत खोजते रहते हैं। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का गठन कैसे बना इसका भी हम विचार करते हैं। उनके चिन्तन परक आध्यात्मिक साहित्य को पढ़कर उसका रसास्वादन कर उनकी अनुभूतियों का एवम् अभिव्यक्तियों का मात्र निरूपण कर लेते हैं। वस्तुतः यथार्थ रूप से हमारे लिए उसका रसास्वादन कर लेना साध्य ही नहीं होता। मनोरंजन के लिए साहित्य के क्षेत्र को ये नहीं अपनाते। प्रत्युत कठिन से कठिन साधना करते हुए अपने जीवन के अनेक संघर्षों का मुकावला करते हुए उसमें वे विजयी वनते हैं, और अनुभूति को वतलाते हैं। प्रथम हमें इसका अध्ययन कर आध्यात्मिक क्षेत्र की उनकी विजय का रहस्य जान लेना चाहिए। इसके अनन्तर उनकी अनुभूति पारमार्थिक अनुभवों का अभिव्यंजन कैसे करने में तत्पर एवम् सिद्ध हो गई इसका अनुशीलन करना चाहिए। यह कार्य जितना सरल जान पड़ता है उतना ही कठिन भी है। हम यह कदापि नहीं कहना चाहते कि इन वैष्णव साधकों में प्रतिभा विलकुल ही नहीं थी।

आध्यात्मिक अनुभूति लेने वालों में समर्थ रामदास की विशेषता—

ज्ञानेश्वर ने अपने व्यक्तिगत जीवन के परिस्थिति के साथ के संघर्प, समाज के साथ किये गये सघर्प के वारे में, या आध्यात्मिक जीवन में उच्चता प्राप्त करने के लिए यदृच्छा, भाग्य, या दैव के साथ किये गये सघर्प के वारे में कहीं पर भी उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। वरन् ज्ञानेश्वरी में और अन्यत्र इसके विपय में वे मौन हैं। तुकाराम और नामदेव ने अपने व्यक्तिगत संघर्प, सामाजिक संघर्प और पारमार्थिक क्षेत्र में आत्मिक उन्नति से अपना उद्धार कर लेने के लिए आत्म-निवेदन, सत्संग, नाम-माहात्म्य, और परमात्मा के प्रति दृढ़ विश्वास आदि के माध्यम से अपने व्यक्तित्व अर्थात् अपने चरित्र को प्रस्तुत कर दिया है। कहीं-कहीं पर समाज में पाखंडों, कुरीतियों और दुर्गुणों पर कठोरता से प्रहार करने वाले उद्गार अभिव्यक्त किये हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने इनको अपने तीनों प्रकार के संघर्षो में देखा था, तथा उन पर विषय प्राप्त कर ली थी, तभी वे आगे वढ़ सके थे। कहीं-कहीं पर भगवान् से यह स्थिति सुधर जाय ऐसी करुणा-पूर्ण माँग भी वे

परमेश्वर से विनम्रतापूर्वक करते हैं। जैसे ज्ञानेश्वरी का 'प्रसाद दान' है। इन सबसे अलग और प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व श्री संत रामदास का है। रामदास के जीवन में व्यक्ति और समाज का संघर्ष, व्यक्ति के सत् और असत् का संघर्ष, तथा आध्यात्मिक जीवन में उन्नति और योग्यता प्राप्त करने के लिए दैव या प्रारब्ध से किया हुआ संघर्ष बिलकुल अलग ढङ्ग का है। रामदास ने अपने प्रारम्भिक जीवन में जिस संघर्ष का सामना किया उसमें उन्होंने विजय प्राप्त करने के हेतु 'मनोबोध' लिखा। आरम्भ से ही प्रयत्न का आश्रय लिया है और इस आश्रय को सुचारु रूप से संगठित करने के हेतु उन्होंने अपना एक तन्त्र निर्माण किया जो महत्व का है। इसमें सम्पूर्ण विजय उनको स्वनिर्मित तन्त्र से ही प्राप्त हुई। यह अतीव साधना का परिणाम था जो बड़े मनोयोग के साथ की गई थी। इसमें पूर्ण रूप से पटुता एवम् निपुणता प्राप्त कर लोक संग्रह और जगत् का उद्धार करने के लिए एक अलग प्रकार का स्वतन्त्र और सर्वकश साधना प्रणाली निर्माण की। इसी से वे रामदास' बन सके।

समर्थ रामदास की अपनी स्वतन्त्र साधना-प्रणाली—

समर्थ सम्प्रदाय के संस्थापक एवम् सद्गुरु रामदास स्वामी थे। वे अपने आपको महान् बना सके, तथा अनेक शिष्यों को समर्थ और महंत[1] बनाकर अनेक केन्द्रों में उनके द्वारा 'रामोपासना' का प्रचार और प्रसार करते हुए लोक जागृति

१. 'महंत' यह शब्द रामदास स्वामी के द्वारा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मोक्ष प्राप्ति और ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बतला सकने वाला मठ-प्रमुख 'महंत' कहलाता था। ये महंत कुछ नियोजित कार्य किया करते थे जो स्वामी रामदास को अभिप्रेत थे। वे ये हैं—

(१) प्रयत्नपूर्वक बुद्धि पुरस्सर संकटों में सर्वत्र सबको अभय प्रदान कर उससे अलिप्त रहना।

(२) अपनी समर्थ और सिद्ध-साधना प्रणाली से अनेक विध लोगों को सुज्ञ बनाना।

(३) अन्याय का प्रतिकार करना और अपने न्यायी आचरण से कठिन प्रसंगों में धैर्य, बुद्धि और चतुरता पूर्वक सावधानी से सबको आधार एवम् आश्रय देना।

(४) अनेक सुयोग्य लोगों का समुदाय तैयार कर आत्मकल्याण एवम् लोक-कल्याण प्राप्त करना।

(रामदास वचनामृत—डा० रा. द. रानडे प्रकरण ७५, पृ० १३२)

कर सके। इसी से अपने सम्प्रदाय की साधना-प्रणाली के द्वारा स्वधर्म-पालन और स्व-संरक्षण संभव हो सका। समर्थ रामदास अपने व्यक्तिगत संघर्ष में अत्यन्त साक्षेपी तथा अध्ययनशील थे।

जो अध्ययन किया हो उसका मनन और चिन्तन करना चाहिए ऐसा उनका आदेश था। भगवद्-प्रेम, तपस्या से साध्य और उद्भूत होता है। अपनी पात्रता और अधिकार सुसम्पन्न जो नहीं कर लेता वह समर्थ, चारित्र्यवान निर्भयी कैसे बन सकता है? जो अपने आपको आश्वस्त नहीं कर सका वह दूसरों को कैसे धैर्य प्रदान कर सकता है? आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति, संस्कृति और आचरण पर निर्भर है। इसलिए परमात्मा के अधिष्ठान पर आश्रित एवम् आधारित तपस्या, सहिष्णुता, विनयशीलता और स्वधर्माचरण के प्रति जागरुकता और परिश्रम करने की तत्परता जब तक साधक में नहीं है तब तक उसे विजय एवम् सफलता मिलना प्रायः असंभव ही है। ऐसी समर्थ रामदास की मनोधारणा थी। उनके मत से जो अध्ययन नहीं करता, उसका सर्वनाश निश्चित है। उनकी, 'यत्न तो देव जाणावा', तथा 'सामर्थ्य आहे चळवळीचें। जो-जो करील तयाचे। परन्तु तेथे भगवन्ताचे अधिष्ठान पाहिजे ॥', और 'घडी-घडी विघडो हा निश्चयो अन्तरीचा। म्हणावुनि करुणा हे बोलतो दीन वाचा ॥' जैसी उक्तियाँ उनके द्वारा निर्मित स्वतन्त्र साधना प्रणाली का महत्व और गरिमा सिद्ध करती हैं। इन उक्तियों में वे कहते हैं कि यत्न को ही भगवान् समझना चाहिए। आन्दोलन में सामर्थ्य उसके करने वालों की दृष्टि से अवश्य रहता है, परन्तु भगवान् का अधिष्ठान एवम् आशीर्वाद प्राप्त कर किया गया आन्दोलन ही महत्वपूर्ण होता है। बार-बार अन्तःकरण में निश्चय कर लेने पर भी उसका कृति में पालन नहीं हो पाता है। इसलिए मैं भगवान् से उसे पूरा कर बोलने की करुणा-पूर्ण वाणी में दीनता से प्रार्थना किया करता हूँ।[१]

उनके साहित्य-सागर में डुबकी लगाकर उसमें से बाहर सशरीर निकल आना आसान कार्य नहीं हैं। ईश्वर पर अडिग आस्था रखने वाले, स्वावलम्बी एवम् प्रयत्नशील बनकर और एक सुनिश्चित तन्त्र और साधना-प्रणाली से अध्ययन कर उसमें अवगाहन कर सकते हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समर्थ रामदास के व्यक्तित्व में राष्ट्रगुरु होने की कौन-कौन सी विशेषताएँ विद्यमान थीं और उनका अनुशीलन करेंगे।

---

१. देखिए रामदास कृत 'मनाचे श्लोक', 'दासबोध' और 'करुणाष्टक'।

रामदास के व्यक्तित्व में पायी जाने वाली विशेषताएँ—
जिससे वे राष्ट्रगुरु बने—

वे अपने मन से कहते हैं—

मना सज्जना भक्ति पंथेचि जावे। तरी श्रीहरी पाविजे तो स्वभावे।
पर्नी निंद्य ते सर्व सोडो निद्यावे। जनी वंद्य ते सर्व भावे करावे ॥[१]

यहाँ पर रामदास अपने मन को 'सज्जन' कहकर सम्बोधन करते हैं, तथा उनको समझाते हैं कि हे मेरे सज्जन मन ! तू भक्ति मार्ग से ही चल। क्योंकि इस मार्ग से चलने पर श्रीहरि स्वभावत: और सहज ही तुझे मिल जायेंगे। दुनियाँ में जो भी निन्दनीय और तिरस्करणीय है उसे छोड़ दिया जाय और जो भी वंदनीय और स्पृहणीय है उसे अपनाया जाय।

इस तरह सबसे प्रथम समर्थ रामदास ने अपने मन पर सुस्पष्ट संस्कार कर उसे सज्जन कहा। स्व-सुसंस्कार करते हुए आत्म-शिक्षा ग्रहण करने का तन्त्र एवम् साधना-प्रणाली रामदास की अपनी विशेषता है। यह आत्मबोध एक बहुत बड़ा सामर्थ्य है जिसका रहस्य वे जानते थे। मन के बारे में एक सस्कृत उद्धरण में कहा गया है[२]—

मन एव मनुष्याणाम् कारणम् बन्ध मोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मुक्तैः निर्विषम् स्मृतम् ॥

मनुष्य का मन ही मानवमात्र के बन्धन और मोक्ष का कारण है। समर्थ रामदास को इसकी शिक्षा दीक्षा तथा यह सामर्थ्य अपनी गुरु परम्परा से उपलब्ध हो गयी थी। अब इसे ही देखने का हम प्रयत्न करेंगे।

आदि नारायण सदगुरु आपुचा। शिष्य हो तयाचा महाविष्णु।
तयाचा हो शिष्य जाणावा तो हंस। तेणे ब्रह्मयास उपदेशिले ॥
ब्रह्मदेवे केला उपदेश वसिष्ठा। तेथे धरिली निष्ठा शुद्ध भाव ॥
वशिष्ठ उपदेशी श्री रामयासी। श्री रामें दासा सी उपदेशिले ॥
ब्रह्म देवे केला उपदेक्ष वसिष्ठा। तेथे धरिली निष्ठा शुद्ध भाव ॥[३]
आत्मरूपी जाला रामी रामदास। केला उपदेश दीनोद्धारे ॥

× × ×

---

१. मनाचे श्लोक संख्या २।

२. एक संस्कृत सुभाषित ब्रह्म विंदूपनिषत्-श्लोक सं० २।

३. समर्थाची गाथा—पद २७०, पृ० ८४।

भाविका भजन गुरु परम्परा । सदा जप करा राममंत्र ॥
राम मंत्र जाण त्रयोदश माझा । सर्व वेद शास्त्रां प्रकटचि ॥
× × ×
येणे मंत्रे जाणा मुमुक्षु साधक । साधक प्रसिद्ध सिद्ध होय ॥
सिद्ध होय राम तारक जपतां । मुक्ति सायुज्यता रामदासी ॥[1]

रामदास अपनी सम्प्रदाय परम्परा इन पदों में बतलाते हैं। आदि नारायण-महाविष्णु से यह परम्परा आरम्भ होती है। आदि नारायण हमारा मूल सद्गुरु है जिसके शिष्य महाविष्णु हुए। इस प्रकार आगे चलकर महाविष्णु के हंस, हंस के ब्रह्माजी, ब्रह्मा के वशिष्ठ शिष्य हुए। वशिष्ठ ने इस संप्रदाय का उपदेश प्रभु रामचंद्रजी को दिया। रामचन्द्रजी ने रामदास को शिष्य बनाया। ब्रह्मदेव ने वशिष्ठ को जो उपदेश दिया था, उससे उन्होंने अपने आराध्य में दृढ़ निष्ठा और शुद्ध भाव रखा। प्रभु रामचन्द्रजी को यही उपदेश वशिष्ठ ने दिया जो 'योगवासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध में एकान्त में चर्चा करते समय लक्ष्मण पहरेदार बने थे और दुर्वासाके शाप से पूरे रघुकुल को बचानेके लिये अपनी प्रतिज्ञा-भंग के उपलक्ष में उनको सरयू में आत्म-विसर्जन कर देना पड़ा था। प्रभु रामचन्द्रजी ने रामदास को स्वयम् उपदेश दिया और उन्हें हनुमानजी के हाथों में सोंपकर वे अन्तर्धान हो गये। सांसारिक जीवन के प्रति मैं मनःपूर्वक और प्राणपण से उदास हो गया हूँ। इसीलिये हमारे कुल में मुख्य उपास्य के रूप में प्रभु श्री रामचन्द्रजी और हनुमानजी ये दोनों पूजे जाते हैं। दोनों मुझ में आत्मरूप बनकर निवास करते हैं। अपने इस आत्मरूप का स्वसंवेद्य स्वात्मानुभव प्राप्त कर लेने के कारण मैं राम का दास बन गया हूँ और 'रामदास' कहलाता हूँ।

प्रभु श्री रामचन्द्रजी से जगत् के उद्धारार्थ जो उपदेश मुझे प्राप्त हुआ उसे जगत के लिए प्रदान करूँगा जो इस प्रकार है। भावुक बनकर इस गुरु परम्परा से संप्राप्त प्रणाली से भजन करना चाहिए और सदा त्रयोदशाक्षरी राम मन्त्र का जप करना चाहिए। इसके तेरह अक्षर 'श्रीराम जयराम जय जय राम' ये हैं। इनको जपकर ही इनकी महिमा प्रकट होती है। ऐसा सारे वेदों और शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वैसे भी यह राम-मंत्र इसलिए प्रसिद्ध है कि यह बद्ध और जड़ जीवों को तार देता है। इससे सकल चराचर के जड़जीव तर जाते हैं। काशीपुरी में जो साधक इसको जपते हैं उनका जीवन धन्य है। यह मंत्र ओंकार स्वरूप और तारक मंत्र के

१. समर्थाची गाथा–अनन्तदास रामदासी (सम्प्रदाय परम्परा), पद २७०–७१, पृ० ८४।

नाम से प्रसिद्ध है। मुमुक्षुओं के लिए तो यह विश्वरूप प्रदान करता है। इस मन्त्र के सामर्थ्य से मुमुक्षु जीव जागरुक और सतर्क हो जाता है। उसे सुस्पष्ट साधकावस्था प्राप्त हो जाती है। निष्ठापूर्वक इस मन्त्र की साधना करने पर वह सिद्ध बन जाता है। इसे रामतारक मन्त्र के जपने से रामदास को सायुज्य मुक्ति मिल गयी। अन्य लोग भी उसे प्राप्त कर सकते हैं।

रामरमंत्र-साधना की सिद्धि से मिलने वाला सामर्थ्य—

एक बार इस तारक राममन्त्र की जप-साधना परिपूर्ण कर लेने पर यह आवश्यक नहीं है कि साधक गृहस्थी न बने। क्योंकि इस मन्त्र की साधना और उसकी सांगता साधक में वह बल प्रदान करती है, जो उसे सुन्दर रीति से गृहस्थाश्रम को निभाते हुए भी विवेकी बना देती है। अपने 'दास बोध' में समर्थ रामदास बतलाते हैं[1]—

'प्रपंच करावा नेटका। परमार्थ साधावे विवेका॥'

रामदास गृहस्थाश्रम को 'नेटका' अर्थात् सुस्पष्ट और प्रयत्नपूर्वक भली-भाँति करना चाहिए ऐसा बतलाते हैं। इससे ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण विवेक की सहायता से सुसम्पन्न हो जाते हैं। इस विषय का एक स्थान पर वे साधक को बड़ा सुन्दर उपदेश देते हैं यथा—

जीव का कर्तव्य—

संसार करावा सुखे यथा सांग। परी सन्त सङ्ग मनी धरा॥
असोनिया नाहीं माया सर्व कांहीं। विवंचुनि पाहीदास म्हणे।[2]

समर्थ रामदास यह उपदेश देते है कि मुमुक्षु साधक को प्रथम अपना लौकिक, सांसारिक जीवन यथासांग सुखपूर्वक कर्तव्य दक्ष बनकर अत्यन्त साक्षेप के साथ व्यतीत करना चाहिए। इसे करते हुए स्वार्थरत न रहकर सन्त-संग करने की चिन्ता मन में करते हुए उसे जीवन में बरतना चाहिए। इसका फल यह होता है कि आगे चलकर अपने आप उसका मनन एवं चिंतन होने लगता है। धीरे-धीरे भगवान् में आस्था जगती है तथा संतों और सज्जनों का सहवास प्राप्त हो जाता है। है। इस तरह प्रत्यक्ष रूप में प्रतीति प्राप्त होकर इहलोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं। संतों का अनुभव और उनके वचन इस पार से उस पारतक अर्थात लौकिक और पारलौकिक जीवन सुधारने में उससे सहायता मिल जाती है। अपनी

---

१. दासबोध—रामदास।

२. समर्थाची गाथा—पद २७६, पृ० ८९।

प्रतीति से मिले हुए अनुभवों को अन्य सन्तों के आत्मानुभवों से वर्णित निरूपणों से मिलाइये। इससे इन निरूपणों में प्रगाढ़ विश्वास उत्पन्न हो जायगा। संसार में रहकर यदि निरूपण में प्रीति होगी तो निश्चित उद्धार हो जावेगा। आत्मोद्धार में सर्वत्र दिखाई पड़ने वाली माया केवल भासित होती है। वह सत्य नहीं है—यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा परिणामत: ईश्वर मिल जाता है। रामदास कहते हैं कि साधक को इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कर देखना चाहिए। पूर्ण छानबीन करने पर मुमुक्षु को अपने उद्धार की चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। चिन्ता से मार्ग उपलब्ध हो जाता है। मार्ग मिलने से उद्धार हो जाता है यह समर्थोपदेश यथायोग्य और उचित ही है। जीव को मुमुक्षु बनना चाहिए जिससे यह साधन उसे सुलभ हो जाता है।

समर्थ रामदास के इस उपदेश को आचरण में लाने के पूर्व साधक को आत्म-निरीक्षण करना अनिवार्य है। रामदास की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—'आधी केलें। मग सांगितले' अर्थात् उनकी कृति प्रथम और उक्ति बाद में यह क्रम रहा है। उपदेश देने वाला यदि स्वयम् वैसा आचरण नहीं करता तो उसका उपदेश निरर्थक सिद्ध हो जाता है। समर्थ रामदास उपदिष्ट बात को आचरण में लाकर फिर उसका उपदेश देते हैं। निश्चित है कि उन्होंने अपना आत्म निरीक्षण अवश्य किया था। वह आत्म निरीक्षण उन्होंने किस प्रकार किया इसे देख लेना उपयुक्त ही होगा।

समर्थ रामदास का आत्म निरीक्षण—

समर्थ रामदास अपना आत्मनिरीक्षण एक रूपक के द्वारा समझाते हैं। यथा —

प्रवृत्ति सासुर निवृत्ति माहेर। तेथे निरन्तर मन माझे॥
माझे मनीं सदा माहेर तुटेना। सासुर सुटेना काय करूं॥
दुरि जाय हित मजचि देखतां। प्रेत्न करूं जाता होत नाहीं॥
होत नाहीं प्रेत्न सन्त संगेविण। रामदास खूण सांगत से॥[1]

मेरी प्रवृत्तियाँ ससुराल है और उसका मायका निवृत्ति है। रामदास कहते हैं कि मेरा मन निरन्तर अपने मायके में तथा ससुराल में रमता है। परन्तु न तो मायके का मोह टूटता है न ससुराल की व्याप्ति छूटती है। निवृत्ति से भगवान् का सान्निध्य मिलता है अत: मन का वहाँ रमना सर्वथा सराहनीय कहा जावेगा। मेरे मन में अपने नैहर की स्मृति मँडराया करती है और छूटती नहीं है। पीहर भी

१. समर्थाची गाथा—पद २८६, पृ० ६२।

नहीं छूट पाता। इस प्रकार से द्विविधा उत्पन्न हो गयी है। एक ओर प्रवृत्तिपरक बातों का आकर्षण है जहाँ सांसारिक प्रलोभन, मोह, प्रतिष्ठा आदि है, तो दूसरी ओर निवृत्तिपरक बातों का भी आकर्षण है जहाँ भगवद्-भक्ति और आनन्द आदि बातें मिल सकती हैं। मेरे सामने यह समस्या है कि मैं किस की ओर जाऊँ? लौकिक पक्ष मेरे हाथ धोकर पीछे पड़ गया है तो विवेक दूर-दूर भाग रहा है। साधक के लिये विवेक का साथ अनिवार्य है। विवेक जब दूर जाता है तब मेरा हित मेरी आँखों के सामने ही मुझे छोड़कर जा रहा है। यह बात प्रतीत होती है। प्रयत्न करने की इच्छा है पर उसे करते नहीं बनता। केवल इच्छा से ही कार्य नहीं हो सकता। कार्य को कर डालने से ही कार्य समाप्त हो जाता है। अतः मुझे प्रयत्न को कार्यान्वित करना चाहिए। सन्तों का सहवास करने से सत्संग हो जायगा। वह यह सिखा देगा कि प्रयत्न कैसे किया जाय। प्रयत्नपूर्वक किया गया कार्य सफलता प्रदान करता है। रामदास को आत्म-निरीक्षण से इस बात का पता चला कि सत्सङ्ग के बिना प्रयत्न नहीं हो सकता। संत अपने साथियों को बुद्धि पुरस्सर प्रयत्न में रत करा देते हैं। इससे व्यक्ति को परमार्थ के मार्ग का सत्पथ और विवेक जैसा तत्पर साथी भी मिल जाता है।

आत्म निरीक्षण के बाद की सीढ़ी आत्म-कथन है। बिना अनुभूति के आत्म-कथन संभव नहीं होता। अनुभूति जब तीव्रतम हो जाती है, तब वह आत्म-कथन का विषय बनकर अभिव्यक्त होती है। व्यक्ति के भीतर छिपी हुई प्रच्छन्न दैविक शक्ति मन में रहती है। इसे आत्म-निरीक्षण से मुमुक्षु साधक को ढूँढ़ना पड़ता है। इस खोज में प्राप्त स्वानुभूत बातों को वह अपने आत्म निवेदन के रूप में प्रस्तुत कर देता है। समर्थ रामदास भी यही करते हैं।

समर्थ रामदास का आत्म निवेदन—

> बोलण्या सारिखे चाले जो सज्जन। तेथ माझे मन विगुंतले॥
> दास म्हणे जन भावार्थ सम्पन्न। तेथे माझे मन विगुंतले॥

समर्थ रामदास को सत्संग से जो अवस्था प्राप्त हो गई थी, उसका अनुभव वे अपने से कहकर बतलाते हैं। वे कहते हैं कि मेरा मन उसी स्थल में अटक गया जहाँ पर सज्जनों की उक्ति के अनुसार ही उनकी कृति भी देखने के लिए मिल जाती है। जहाँ सज्जन व्यक्ति में शुद्ध ब्रह्मज्ञान विद्यमान होने पर भी वह पूर्ण निरभिमानी भी है, वहाँ मैं ऐसे व्यक्ति के प्रति मनसा वाचा कर्मणा श्रद्धानत

१. समर्थाची गाथा—पद २६८, पृ० ६४।

हो जाता हूँ। विवेक वैराग्य पूर्ण तथा अपनी समस्त ऐन्द्रिय वृत्तियों में उदासीन, तथा स्वधर्माचरण में तत्पर एवम् स्वधर्म रक्षण में दक्ष व्यक्ति में मेरा मन दिलचस्पी लेता है। रामदास कहते हैं कि जहाँ पर नित्य सगुण भजन से पूर्ण समाधान एवं संतोष प्राप्त हो जाता है और जहाँ लोग भावार्थ संपन्न हैं अर्थात् जहाँ पर भावों का दारिद्र्य नहीं है, वरन् भगवान्‌के गुणानुवाद में रुचि हैं, तथा उसका अर्थ समझने की भावुकता व पात्रता विद्यमान है वहाँ मेरा मन रमता है और आकृष्ट हो जाता है।

इस प्रकार का समर्थ रामदास का आत्म निवेदन पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें साधकावस्था परिपक्व होकर सिद्धावस्था में उन्हें पहुँचा देने की तत्परता में पहुँच गई थी। तात्पर्य यह है कि समर्थ तव सिद्ध बनने की अवस्था में पहुँच चुके थे। साधक को अपनी साधना पर अडिग आस्था और संपूर्ण विश्वास होना चाहिए। जब साधक में यह दशा आ जाती है और वह पूर्ण रूप से कटिबद्ध हो जाता है तब वह गुरुकृपा से योग्य साधक और साधक से सिद्ध बन जाता है। इस गुरु कृपा के प्राप्त होने पर वे सद्गुरु को हृदयस्थ भावों की श्रद्धांजली अर्पण कर देते हैं।

श्री समर्थ रामदास का गुरु स्तवन[1]—

श्री गुरुकृपा ज्योति। नयनी प्रकाशली अवचिन्ती॥
रामी रामदास म्हणे। अनुभवाची हे लूण॥

श्री सद्गुरु कृपा ज्योति हैं। अचानक वह ज्योति मेरे नेत्रों में आकर प्रकट हो गई, तथा प्रकाशित हो गई। यह प्रकाश उस साधारण ज्योति का नहीं है जिसकी वाती कपास से बनाई गई हो, यह दीपक बिना तेल के प्रज्वलित होता है तथा उसके लिए किसी शमादान की भी कोई आवश्यकता नहीं है। समर्थ रामदास कहते हैं कि आत्मा के अनुभव की यह पहचान है और उसको पहिचानने का यही चिह्न अथवा संकेत भी है। इस प्रकार उन पर गुरु कृपा हो जाने से वे अपने सद्गुरु को नमन करना भी चाहते हैं। समर्थ रामदास का सद्गुरु नमन देखिए—

मनोभावे नमन स्वामी सद्गुरुसी। जेणे निज सुखासी दाविलें॥
म्हणोनिया भावे अनन्य शरण। काया वाचा मने दास म्हणे॥[2]

मनके सहज भावों से प्रेरित सद्गुरु को मेरा प्रणाम है, उन्होंने मुझे अपने निज सुख का अनुभव बतला दिया है तथा सुख को प्रत्यक्ष दिखाकर मुझे सुखरूप

१. समर्थाचा गाथा—पद २६३, पृ० ६२।
२. ,, पद २६६, पृ० ८३।

कर दिया है। मेरे जीव स्वरूप को हरण कर मुझे परमात्म रूप से मिला दिया है। सद्गुरु का रिश्तेदार मिल जाने पर एक ही वार में जीव का अहंभाव नष्ट हो जाता है। सद्गुरु से भेंट हो जाने पर मेरी जो अवस्था वन गई उसका वर्णन करना कठिन है। मैं उसे शब्दों में नहीं बांध सकता। अतः वोल भी मौन हो गये। मैं अपनी प्रतिभा के वल से शब्दों के द्वारा सद्गुरु का वर्णन कर सकने में अक्षम हूं। जो अनिर्वचनीय है, तथा जिस का वेद भी पार नहीं पा सकते, उसे मैं कैसे वर्णन करूँ? इसलिए काया-वाचा-मनसा मैं अनन्य शरण होकर तुम्हारे पास आया हूं। सहस्र वदन शेष नाग जिसका वर्णन नहीं कर सकते तथा शिवजी भी जिसकी चरण-धूलि को इसलिए अपने मस्तक को झुकाकर नवाते हैं क्योंकि वह मुक्ति प्रदायिनी है। मैं उनके प्रति अनन्य भाव से नत मस्तक हूँ।

आराध्य से सम्वन्ध प्रस्थापित करने वाला सद्गुरु के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं होता। सद्गुरु का महत्व यही है कि साधक और साध्य का अन्तर कम हो जाय और वे इनके वीच की खाई को पाट दें। रामदास के सामने यही वात थी। अतः उन्होंने अपने उपास्य प्रभु श्री रामचन्द्र के स्वरूप को देखा और उससे साक्षात्कार किया। आगे चलकर वे अपने इष्टदेव के स्वरूप का वर्णन करते हैं जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा है—

सगुण उपास्य का स्वरूप—

उठा प्रातःकाळ जाला। अवघे राम पाहूं चला। हा समयो जरी टळला।
तरी अन्तरला श्रीराम ॥ ध्रु० ॥
ते ते आपणां ऐसे केले। रामदास दातारें ॥

× × ×

उठोनिया प्रातःकाळीं। मूर्ति चिंतावी सावळीं।
शोभे योगियाचे मेळीं। हृदय कमलीं साजिरी।[१]
रामदास सर्वकाळ। कंठीं वेळ ऐसाचि ॥[२]

समर्थ रामदास कहते हैं कि चलो हम सव मिलकर प्रभु रामचन्द्रजी को देखने चलें। प्रातःकाल के सुसमय में प्राप्त हुए ऐसे स्वर्णिम अवसर को खोना नहीं चाहिए। यदि ऐसा सुअवसर टल गया तो पुनः प्रभु रामचन्द्रजी नहीं मिल सकेंगे। सव वानर मिलकर प्रभु को घेरे हुए वैठे हैं और प्रभु रामचन्द्रजी सिंहासन पर

१. समर्थांचा गाथा—पद ७३, ७४, पृ० ३३–३४।
२. समर्थांचा गाथा—पद ७३–७४, पृ० ३३–३४।

विराजमान हैं। यह शोभा देखने के लिए विमानों में देवता गणों की भीड़ एकत्र हो गई है। आकाश में और पृथ्वी पर सब लोग प्रभु रामचन्द्र को देखने पधारे हैं। प्रारब्धवशात् माया रूपी जानकी अशुद्ध हो गई थी। अतः उसकी देहबुद्धि को जलाकर प्रभु ने उसका दोष सुधारकर प्रेमपूर्वक उसका स्वीकार किया। बड़े सद्भाव से राम और भरत परस्पर प्रेमपूर्वक गले मिले। रघुनन्दन-जानकीनाथ की आत्मा अधीरता से विह्वल हो उठी थी। रामदास के आराध्य ने संसार के पीड़ितों, कष्टियों एवं दीन दुखियों पर कृपा करने के लिए कृपा पूर्ण दृष्टि से उनकी ओर निहारा तथा उन सब को अपने ही जैसा बलवान और सामर्थ्यशाली बना दिया। प्रति दिन बड़े तड़के उठकर श्यामल और सुन्दर प्रभु श्री रामचन्द्रजी की मूर्ति का चिंतन करना चाहिए। योगियों के मेले में प्रभु बहुत ही आकर्षक और सुन्दर दिखाई देते हैं। इस मूर्ति को हृदयकमल में प्रस्थापित कीजिए। राम का अङ्ग-प्रत्यंग सुन्दर है। काछनी कसे हुए पीताम्बर धारी भगवान् को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये। उनके चरणों में पैंजनियाँ हैं जो बजकर मानो उनके ब्रीदांकी घोषणा कर रही हैं। ऐसे रामचन्द्रजी करुणा के आगार, देवताओं के पक्ष लेने वाले, भक्तों के अन्त-करण में रहने वाले, आनन्द राशि के रूप में अहर्निश शोभित हैं। रात तापसों के आधार, पुण्यों के आकर, तथा जिसका ध्यान गौरीपति सदा किया करते हैं जो सबके आश्रय और विश्रांत स्थल एवम् मूर्तिमान आनन्द स्वरूप हैं। रामदास सदा और सर्वत्र इसी मूर्ति को देखते हुए अपना जीवन सम्बन्धी सारा कार्य करते रहते हैं। प्रभु रामचन्द्र की मूर्ति का अत्यंत सुरस और सुन्दर वर्णन समर्थ रामदास ने अगले तीन पदों को लेकर बड़ी ही मार्मिकता एवम् तत्परता के साथ किया है। यथा[1] —

राम सर्वांगे सावळा। हेम अलंकारे पिवळा।
राम योग्याचे मंडण। राम भक्तांचे भूषण।
राम आनंद रक्षण। संरक्षण दासाचे।।
माझ्या जिवींच्या जिव्हाळा। दीनबंधू दीन दयाळा।।[2]

ये प्रभु रामचन्द्रजी वर्ण से सांवले है तथा स्वर्णालङ्कारों से विभूषित होने के कारण आभा से युक्त एवं सुशोभित हैं। नाना रत्नों की एकत्र दिखाई पड़ने वाली शरीर की आभा का क्या वर्णन किया जाय? पीत किरीट और भालप्रदेश पर पीला केशर सुचर्चित है। पीले वर्ण की घंटाएँ निनादित हो उठी हैं। पीले स्वर्ण की पैंजनियाँ और पहुँची, तथा सुयशपूर्ण पीले विरूदी के तोडर झन झनाते हैं।

---

१. समर्थाची गाथा—पद ७५, ७७, ७८, पृ० ३३, ३४।
२. समर्थ गाथा—पद ७४–७८।

विस्तीर्ण पीतमण्डप है जिसमे पीला सिंहासन विद्यमान है। राम, सीता, और लक्ष्मण उस पर आसीन होकर उपस्थित है। रामदास इन सब का गुणगान करते है।

प्रभु रामचन्द्रजी जहाँ न हों ऐसा कोई स्थल तो बतलाए। प्रभु रामचन्द्रजी भूमंडल में, योगियों में, नित्य-निरन्तर, वाहर और भीतर तथा सर्वत्र उनका अस्तित्व है। राम विवेक के गृह में तथा भक्ति में भी मिल जाते हैं। जहाँ शुद्ध भाव होगा वहीं पर तुरन्त ही रामचन्द्रजी आ जाते हैं। अहं भावना का विनाश राम के ही कारण होता है। राम भक्तों के भूषण, दासों के सरक्षक एवम् आनन्द के अधिष्ठाता हैं।

हे प्रभु रघुनाथजी! उठिये प्रातःकाल हो गया है। माता कौसल्या आपको जगा रही है। *संसार भर में सर्वत्र यह मंगल प्रभात की वेला अपना संकेत दे रही* है और अव सव जग पड़े है। अतएव अब अपना मुखकमल सब को दिखाइये। स्वर्ण की थाली लेकर क्षमा, शान्ति, दया और जनक तनया जानकी आरती उतारने आई है। आत्मा और परमात्मा की युगल जोड़ी की तरह प्रतीत होने वाले भरत और शत्रुघ्न उन्मनी अवस्था युक्त होकर आ रहे हैं। विवेकी सद्गुरु वसिष्ठ एवम् सन्त महन्त मुनीश्वरादि हरिनाम का जयघोष करते हुए आ रहे हैं। सारा वातावरण हर्ष से उत्फुल्ल हो गया है। इसलिए सभी निर्भय हो गए है। सात्विक प्रवृत्ति वाले सुमंत प्रधान नगर वासियों को लेकर आ रहे हैं, तो हनुमानजी रामचन्द्रजी के चरण कमल देखने के लिए पधारे हैं। रामदास निवेदन करते है हे मेरे जीवनाधार! दीनवधु, दीन दयाघन, भक्त जन-वत्सल, हे दयाल! मुझे दर्शन दीजिए। प्रभु रामचन्द्रजी ने रामदास की यह प्रार्थना सुन ली तथा प्रातः स्मरणीय जगत्-वंद्य, जग-जीवन ने स्वानन्द रूप होकर उन्हें दर्शन दिये।

इस प्रकार प्रभु जानकीनाथ का सगुण-साकार रूप जब समर्थ रामदास ने देखा तब उन्होंने चाहा कि अपने आराध्य की मानसपूजा की जाय। वाह्य पूजा मे वाह्य उपादानों, उपकरणों तथा पूजा द्रव्यों की आवश्यकता होती है। यह कभी-कभी केवल पाखंड और आडंबर का रूप धारण कर लेती है। अपने आराध्य को अपने अंतःकरण से समर्पित की गयी भाव सुमनों की मालाएँ तथा मानस के भावों का निःशेष रूप से किया गया एकत्रित एवम्-निश्छल समर्पण ही मानसपूजा है। यह मानसपूजा सर्व श्रेष्ठ पूजा मानी गयी है। समर्थ रामदास के द्वारा की गयी मानस पूजा का स्वरूप इस प्रकार है।

सगुण ब्रह्म राम की मानस पूजा

इस मानस पूजा का वर्णन देखिए[1] —

उंच सिंहासन मृदु मृदासन। सुखें सिंहासन रे देवराया ॥
ध्यान आव्हान आसन जाण। पाद्य अर्ध्य आचमन
काही नेणे मी रामा वीण ॥
स्नान परिधान उपवीति गंध। केशर कस्तूरी सुगंध कांहीं नेणे मी
मति मंद धूप। दीप नैवेद्य जाण। वीडा दक्षणा नीरांजन।[2]
रामी रामदास म्हणे रामविण मी काहीं नेणे।
राम माझा जींव प्राण। कांहीं नेणी मी रामा वीण॥[3]

इस प्रकार की विस्तृत और बहुविध प्रणाली की सांगोपांग मानस पूजा अन्यत्र कहीं भी देखने के लिए नहीं मिलेगी। यह मानस पूजा अपने ही ढङ्ग की और अनोखी है। अपने आराध्य को कोई कष्ट न हो इसका बड़ी सतर्कता से ध्यान रखा है। ऊँचे सिंहासन पर मृदु से मृदुतर और मृदुतर से मृदुतम आसन पर अपने प्रभु को आसनस्थ होने की प्रार्थना रामदासजी करते हैं। वे आगे कहते हैं कि देखिए यह स्वर्ण मंडप है, जिसमें रत्नों के दीपक झलमला रहे हैं। अगणित किरणों की प्रभा फैली हुई है, जो अवर्णनीय है। नये रत्नों के जड़े गये नगीने हैं, जिमकी प्रभा भूमंडल पर सुन्दरता से फैल रही है। मोतियों के चंदोवे अपने तेज से चमचमाते हैं और इधर-उधर मंडराते हैं। उनके गुच्छों के गुच्छ लटके हुए हैं जो शुभ्रवर्ण के हैं। ऐसा उत्तम स्थल हे देवाधिदेव! और कहाँ मिल सकता है। इस अपार वैभव की तुलना नहीं हो सकती। रामदास ने इस तरह प्रार्थनापूर्वक उनको बैठाया और पुनः नमस्कार कर भगवान् को स्नानार्थ आमन्त्रित किया। फिर आसन पर विठाकर नाना प्रकार के उवटन आदि लगाकर अनेक सुगन्धी तेलों को लगाकर स्वयम् अपने हाथों शरीर का मर्दन शुरू किया। शरीर मलते हुए यह देखा गया कि कहीं भी कोई मल विद्यमान नही था। नियमतः यथा योग्य पानी डालकर स्नान करवाया तथा गीले शरीर को पोंछकर दिव्य वस्त्र परिधान करवाए। इसके बाद केशर जैसे सुगंधी द्रव्य लगाए। केशर का सुरंग हो गया। अनेक प्रकार की सुगंधी पुष्पमालाएँ, सुगंधी मौक्तिक मालाएँ समर्पण कीं। अनेक आभूषण अलङ्कारादि सुन्दर-सुन्दर ढङ्ग से प्रभु श्रीरामचन्द्रजी को पहिनाए। इसके

१. समर्थाची गाथा—पद ७६–६२, पृ० ३८।
२. समर्थाची गाथा—पद ७६–६२, पृ० ३८।
३. समर्थ गाथा—पद ७६–६२, पृ० ३८।

वा्द समर्थ रामदास ने पुनः उनको नमस्कार किया। धूप दीप जलाकर अनेक प्रकार से अर्चना की। अनेक प्रकार के दीप मंगवाकर उन्हें जलवाया तथा सुगंधी अगरवत्तियाँ भी जलाईं। इससे सारा वातावरण ही सुगंधयुक्त बन गया। ऐसे दीपकों से तथा नीरांजन से आरती उतार कर अनेक प्रकार के षडरसयुक्त पदार्थों के नैवेद्य समर्पित किये। तब भगवान् रामचन्द्र भोजन करने बैठे। भोजन के लिए अनेक प्रकार की तरकारियां, रायते, कई प्रकार के घी और मलाई से तर पक्व पकवान, सुगंधी खीर खाने के लिए वहाँ पर विद्यमान थे। तब अनेक प्रकार के फलों से बनाये गये मीठे पदार्थ धीमे-धीमे यथावकाश परोसे गये। दही दूध भी सुगंधित था। इस प्रकार यथासांग भोजन करवाने के बाद प्रभु के हाथ धुलाये गये और उन्हें ठीक प्रकार से तकिये के सहारे विश्राम करने के लिए बैठाया गया। उनको अनेक प्रकार के फल तथा त्रयोदशगुणी पान के बीड़े समर्पित किये गये। इस तरह सांगोपांग पूजन करने के बाद समर्थ रामदास ने उन्हें नमस्कार किया और कहा कि मेरी यह मानस पूजा आप ग्रहण कीजिए। इस पर प्रभु ने उत्तर दिया ऐसी पूजा कर तुमने अपनी श्रेष्ठ एवम् उच्च कोटि की भक्ति ही मेरे प्रति सिद्ध की है।

समर्थ रामदास पुनः अपने आराध्य का ध्यान करते है: और कहते हैं कि अब पंचारती ले आओ। उसे जलाओ क्योंकि अब हमारे सम्मुख राम लक्ष्मण, सीता और हनुमान उपस्थित हैं। उनको समदृष्टि से देखिए। ठीक सामने खड़े हो जाइये और राम बनकर राम को देखिए। फिर उनकी पाद्य पूजा के बाद आचमन कर संकल्प कीजिए कि मैं यह निश्चय करता हूँ कि मैं प्रभु रामचन्द्रजी के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता। स्नान, परिधान, उपवीति, गंध केशर कस्तुरादि नाना परिमल द्रव्यों से अर्चनाकर कहिए कि मैं मतिमन्द आपकी क्या पूजा कर सकता हूँ? मुझे तो पूजन करने की यथायोग्य प्रविधि तक ज्ञात नहीं है। मेरा सब कुछ रामार्पण है। प्रभु श्री रामचन्द्रजी के सिवा मैं अन्य किसी को भी नहीं जानता, इसलिए मंत्र पुष्पादि से प्रार्थना करते हुए प्रदक्षिणा कीजिए और अपने आपको अपने सर्वस्व सहित रामचन्द्रजी को समर्पित कर दीजिए। ऐसे प्रसंग में राम-लक्ष्मण तथा सीता माता के गुणगान करना और रामकल्याण राग में नित्य गायन करना उचित होगा। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी व्यापक रूप से सब में विद्यमान हैं। रामदास कहते हैं कि मैं रामचन्द्रजी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता। मेरे प्राण और जीवनाधार प्रभु रामचन्द्रजी ही हैं।

उपासना का महत्व—

इस प्रकार तपस्या और साधना एवम् अर्चना करते-करते समर्थ रामदास ने

अपने ही द्वारा सुनिर्मित साधना-प्रणाली से रामोपासना चलाई। रामोपासना के महत्व को वे भली-भाँति जानते थे। इसीलिए वे गर्जना पूर्वक कहते हैं—

उपासनेला दृढ़ चालवावे। भूदेव सन्तासी सदा लवावें।
सत्कर्म योगे वय घालवावे। सर्वांमुखीं मंगल बोलवावें॥

उपासना का आश्रय मानव का व्यक्तिगत कल्याण तो सुनिश्चित कर ही देता है किन्तु समाज कल्याण एवम् लोक हित भी उससे सम्पन्न हो जाता है। इसीलिए कहते हैं कि अपनी उपासना दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिए। इसके साथ ब्राह्मण तथा सन्तों को सदा नम्रतापूर्वक वंदन करना चाहिए। अपनी आयु सत्कर्म करते हुए व्यतीत की जाय और सबके द्वारा मंगल नामस्मरण करवाया जाय।

अपनी यह मनोकामना और उपासना परिपूर्ण करने के लिए समर्थ रामदास ने चाफळ नामक स्थान में अपने आराध्य प्रभु रामचन्द्र की स्थापना की। अपनी कल्पना के अनुसार रामचन्द्रजी को श्री क्षेत्र चाफळ में पधराया और उस सगुण साकार मूर्ति की वे आरती करने लगे। चाफळ के उत्सव का वैभव बड़ा अपूर्व था। अपने एक वर्णन में उसका विवेचन इस प्रकार करते हैं—

चाफळकी ऐश्वर्य पूर्ण परिस्थिति और प्रभु रामचन्द्रजी की आरती—

भंबाळ कर्पुराचे। दीपरत्न किळाचे उजळले दिग्मंडळ।
मेघ विद्युल्लताचे। दिसती तैशापरी। भर चन्द्रज्योतीचे।
दाटल्या उभयहारी। फडकती ते निशाणें तडक वाजती भारी॥[1]
जाहाली अति दाटणी। पुढे पवाड कैचा॥ सर्वहि एक वेळा।
गजर घोष वाद्यांचा। शोभतो सिंहासनी। स्वामी रामदासांचा॥[2]

यह वर्णन साहित्य और काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सरस बन पड़ा है। चाफळ के राम मन्दिर को श्री छत्रपति शिवाजी की राजकृपा प्राप्त थी। इसी से इतने राजवैभव का ऐश्वर्य तथा शोभा राम मन्दिर को प्राप्त हो गई थी। प्रभु रामचन्द्र की आरती के लिए कर्पुरादि वटियों का ढेर लग जाता था जिनके जलाने पर रत्नों के दीपक प्रज्वलित हो जाया करते थे। ऐसा लगता था कि मानों सारा दिग्मंडल धवलीकृत हो गया हो, अथवा विद्युल्लताओं के मेघ उमड़ रहे हों। चन्द्र-ज्योतियाँ अपने अद्वितीय रूप से झलक उठती थीं। उनकी ओर देखकर ऐसा लगता था कि मानों मुक्ता फलों के गुच्छ ही लटक रहे हों। हे दीनबंधु! हे दयासिंधु!

---

१. समर्थगाथा—पद १०१, पृ० ४१।
२. समर्थगाथा—पद १०१, पृ० ४१।

आप करुणा सागर हैं मैं आपकी आरती उतारता हूँ। इस आरती मे हम शिवजी के भी अन्तःकरण को वेध लेंगे। जो कि नित्य आपकी आराधना किया करते हैं। मन्दिर में दिव्य छत्र चामर सर्वत्र लगे हुए हैं। शंख घड़ियाल बज रहे हैं। भेरी बज रही है, मेघ अंबर उसकी ध्वनि से थर्रा रहे है। दोनों ओर पताकायें फहरा रही हैं। चाफळ की नदी में मंडराने वाली मछलियों के पुन्छ चमकते हैं जिसमे रोम-रोम थर्रा उठते हैं। मृदंग, करताल आदि की ध्वनि आन्दोलित हो रही है। हरिदास कीर्तन के लिए खड़े हैं, ब्रह्मवीणायें बज रही हैं। नाद का तुमुल कोलाहाल हो उठा है। साहित्य, नट नाट्य आदि रामचन्द्र के गुणानुवाद में किये जाते हैं। भक्ति का भव्य रसाल रंग उमड़ रहा है। नामघोष गर्जित हो रहा है। छोटे बड़े राव रंक सभी इसमें सक्रिय भाग ले रहे हैं। चंपक पुष्प-जाति आदि असंख्यादि प्रकार के सुमनों से पुष्पांजलियाँ प्रभु को समर्पण की जा रही है। नाना प्रकार के सुगंधी द्रव्यों का परिमल इतना घुल-मिल गया है, कि मानों पृथ्वी ही लुप्त हो गई हो। ब्राह्मण मंत्र गाकर प्रभु को रिझाते हैं। सब लोग देख रहे हैं कि वहां पर उनके चरण चिह्न प्रकट हो गये हैं। सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य है। वे लोग धन्य हैं, जो अपने नेत्रों से यह नेत्रों का सुख प्राप्त कर लेते हैं। ऋषि कुलों से आवेष्टित ये सूर्य कुल के दाशरथी रामचन्द्रजी इतने अनुपम, इतने सुन्दर हैं कि उनको देखने के लिए लोगों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई है। इसका और अधिक क्या वर्णन किया जाय। सारे वाद्य इकट्ठे ही मिलकर बज उठे हैं तथा नाम स्मरण का घोष आन्दोलित हो उठा है। सिहासनाधिष्ठित-जगदीश-कौशल्यापुत्र-अयोध्यापति धनुर्धारी-रामचंद्रजी की शोभा देखिए। समर्थ रामदास स्वामी के आराध्य की यह गरिमा मय प्रतिष्ठा है। वे आराध्य ईश्वर हैं और आदर्श राजा भी।

चाफळ का इतिहास प्रसिद्ध उत्सव श्री समर्थ रामदास की कृपा के आश्रय में एक कल्पवृक्ष बन गया था तथा उसमें बारहों महीने भक्ति, ज्ञान के फल लगते थे। यहाँ मुमुक्षु, सिद्ध, साधक आदि सभी उसकी छाया में बैठकर श्रीरामचन्द्रजी और सद्गुरु रामदास के कीर्तिगीत स्वच्छन्दता से गाते हैं।

सज्जनगढ़ में शिवाजी ने रामदास को रहने के लिए बुलाया तब उन्होंने शिवाजी से कहा कि चाफळ के मन्दिर के उत्सव की व्यवस्था की जाय। शिवाजी चाफळ में आकर स्वामीजी से मिले। तब स्वामीजी ने उनसे कहा 'शिवबा! तुम्हारे इस भक्ति-प्रेम के आगे हम कुछ नही कह सकते, सेवा करना चाहते हो, तो श्री रामचंद्रजी के देवालय, महाद्वार, सीढ़ियाँ और दीपमालाएँ बनवादो। इसी

घटना के पूर्व तुळजा भवानी को—प्रतापगढ़ की श्री रामवरदायिनी देवी को बीमारी के परिहार के लिए रामदास ने स्वर्ण का कर्णफूल चढ़ाया और उससे वरदान माँगा कि 'तुझा तू वाढवी राजा। शीघ्र आम्हाचि देखतां। दुष्ट संहारिले मागे उदंड ऐसे ऐकितो। परन्तु रोकडे कांहीं। मूळ सामर्थ्य दाखवी।' अर्थात् हे भवानी माता! आप अपने राजा को हमारे सामने शीघ्र ही उन्नति की एवम् उत्कर्षयुक्त स्थिति में पहुँचा दो। ऐसा प्रसिद्ध है कि आपकी शक्ति से अतीत काल में दुष्टों का दमन किया गया है। हे माता! आपसे पुनः यही प्रार्थना है कि अपने उसी सामर्थ्य को फिर से दिखाओ।

शिवाजी रायगढ़ पहुँचकर सोचने लगे कि श्री समर्थ स्वामी की वृत्ति तो उदासीन है किन्तु पहले से ही उनकी आज्ञा हमें यह मिल चुकी है कि चाफल के श्रीरामचंद्रजी का उत्सव समारोह उत्तरोत्तर उत्कर्षपूर्ण किया जाय, जैसी उसमें वृद्धि होगी उसी मात्रा में राज्य की भी अभिवृद्धि होगी। स्वामीजी की आज्ञा का पालन इस भक्त का भूषण है। सद्गुरु की कृपा से और आशीर्वादों से राज्य विस्तार होता ही है, तो भी स्वामीजी की अनुज्ञा वैभव वढ़ाने के लिए नहीं मिलती, अब क्या किया जाय। सोचते-सोचते उन्होंने 'दत्ताजी त्रिमल' के द्वारा दिवाकर गुसाँई को पत्र लिखवाया कि शुभ अवसर पा यह बात स्वामीजी से निवेदन कर देना। वे स्वामीजी से मिले और उनके परामर्शानुसार ग्यारह ग्रामों की नियुक्ति का संकल्प हुआ और धूमधाम से समारोह किया जाय यह तय किया गया। उसके अनुसार व्यवस्था की गयी।[1]

इस तरह अब तक समर्थ रामदास के द्वारा निर्मित तंत्र और साधना-प्रणाली का अध्ययन कर यह पाया कि स्वामीजी ने इसी के बल पर चाफळ के श्रीराम मन्दिर की स्थापना तथा उत्सवादि की व्यवस्था और श्री छत्रपति शिवाजी को आदेश आदि बातें निर्माण कीं। इसमें उनके सद्गुरु बनने के बाद के सामर्थ्य की पहिचान हमें हो जाती है। अब हम उनके अपने निजी प्रारम्भिक जीवन के बारे में कि वे पारमार्थिक क्षेत्र के साधक कैसे बने, इसे देखेंगे।

जीवन का दृष्टिकोण—

समर्थ अपने प्रारम्भिक जीवन के बारे में लिखते हैं, जिससे उनके प्रारम्भिक जीवन-संघर्ष का पता लगता है। उसमें उनके पूर्व जीवन के संघर्ष का स्वरूप सुचारु

१. विशेष अध्ययन के लिए शिवाजी महाराज के कतिपय आज्ञापत्रों को, समर्थ-वाग्देवता-मंदिर, धुलिया के ग्रंथालय में देखिए।

रूप से सामने आ जाता है और समर्थ का अटल विश्वास और आत्मबल बचपन में कितना दृढ़ था इसका पता लग जाता है। यथा—

वृद्ध ते म्हणती संसार करावा। जना हातीं घ्यावा म्हणनी बरें ॥
रामदास म्हणे कथिले जें वेदीं। तया मात्र वंदी उत्तर थोर ॥
× × ×
सर्वस्व वुडती ऐसी जे मातोक्ति। न धरावी चित्ती साधकांनीं ॥
रामदास म्हणे शुक्र होता गुरु। परन्तु दातारु धन्य वळी ॥[1]

रामदास के युग में लौकिक जीवन कितना जटिल और संकीर्ण हो गया था उसे देखा जा सकता है। इधर वृद्ध लोग उन्हें विवाह कर घर-गृहस्थी बसाने की सलाह देते थे। क्योंकि उन लोगों का ऐसा विश्वास था, कि जिन का विवाह हो जाता है उन्हें समाज अच्छी दृष्टि से देखता है। रामदास स्वामी कहते हैं कि क्या कभी समाज ने किसी को अच्छा कहा है? वास्तव में समाज का दस्तूर यह है कि भला वही है, जो किसी को डुबो दे या पूरी तरह से लूट ले। समाज के लोग रामदास को अपनी दृष्टि से उपदेश देते हैं, परन्तु वे अपनी ओर से उत्तर देते हैं वह बड़ा जोरदार हैं। उनसे लोगों ने कहा क्यों ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को अपनाते हो? इससे अच्छा यह है कि विवाह कर घर बसाओ। गृहस्थ बनकर नैवेद्य, वैश्वदेव, अतिथि भोजन आदि कार्य करने पर यदि एक ओर कुछ दोष भी उत्पन्न हो गये हों, तो उसका परिहार हो जाता है। ये सब बातें समर्थ को अच्छी न लगी और उन्होंने कहा वाल्मीकि क्या मूर्ख थे, जो उन्होंने यह सब छोड़-छाड़कर भगवद्-भक्ति का मार्ग अपनाकर मुक्त हो गये। वेद इत्यादि के द्वारा जिस मार्ग का समर्थन किया गया है उसी का निषेध ये समाज के तथाकथित प्रतिष्ठा प्राप्त लोग किया करते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है? जननी भी यही कहती है कि जो विवाह नहीं करते, उनका सर्वस्व नाश होता है। किन्तु साधकों को ऐसी उक्तियों की बिलकुल पर्वाह नहीं करनी चाहिए। यदि यही सत्य मान लिया जाय तो भरत क्या मूर्ख थे जो रामभक्ति के कारण अपनी माता को त्याग देते हैं। क्या दैत्येन्द्र के पुत्र प्रल्हाद ने अपने पिता को त्यागकर बड़ी भूल की? गोविन्द से स्नेह का नाता जोड़ना क्या अधर्म है? रावण जैसे लंकाधीश एवम् अपने ज्येष्ठ भ्राता को विभीषण जैसे भक्त ने त्याग दिया और भक्ति भाव से प्रभु रामचन्द्र से सम्बन्ध जोड़ा यह क्या सत्कर्म नहीं है? रामदास कहते हैं, कि शुक्राचार्य जैसे विद्वान और बली गुरु को त्यागकर दैत्यों के राजा बलि ने भक्ति के कारण दानी बनकर अपना

१. समर्थांचा गाथा—पद २२७, २२८, पृ० ७४।

सत्पथ नहीं छोड़ा। तात्पर्य यह है कि अपने साधना पथ से विचलित करने वाली या डिगाने वाली अनेक बातें एवम् विरोध सामने आने पर भी साधक को अपना भक्तिपथ नहीं त्यागना चाहिए, वरन् अन्य बातों को त्याग देना चाहिए। कलियुग में साधना करने की सहज और सरल युक्ति एवम् उपाय समर्थ रामदासजी के द्वारा यही बतलाई गयी है।

भक्ति का महत्व—

इस प्रकार से भक्ति मार्ग का समर्थन कर उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि वे इसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। उन्हें यह ज्ञात था कि उपासना मार्ग सीधा-साधा मार्ग नहीं है। प्रत्युत बहुत कठिन और कंटकों से भरा हुआ है। उसकी भयानकता और चंचलता से ऊबकर वे अपनी बात करुणापूर्ण वाणी में भगवान् से प्रकट कर देते हैं—

घडी घडी विघडो हा निश्चयो अन्तरीचा।
म्हणुनि करुणा हे बोलतों दीन वाचा ॥[1]

मनका चापल्य प्रयत्नपूर्वक हटानेका प्रयत्न करने पर भी नहीं दूर होता और सकल स्वजनों की माया नहीं छूट पाती। मैं पुनः पुनः निश्चय करता हूँ कि हे प्रभु रामचन्द्रजी आपकी भक्ति करूँगा। परन्तु मेरा निश्चय ढीला पड़ जाता है अतएव हे प्रभो ! मैं करुणा से यह दीन वचन आपको सुनाता हूँ कि मेरा निश्चय अटल रखो और उपासना मार्ग पर मुझे स्थिर कर दो।

मन की चंचलता भगाने का उपाय—

समर्थ रामदास मन की चंचलता को अच्छी तरह समझते थे। भगवद्-कृपा ही इस चंचलता से मुक्ति दिला सकती है, इसका अटूट विश्वास उनमें था। इसी बात को अनेक रूपकों द्वारा वे प्रकट करते हैं। यहाँ पर मन को पंछी के रूपक से वे समझाते हैं[2]—

पक्ष नाहीं परी मान उडे। आकाश थोडे गती लागी ॥
न कळे वो माये पाखरु सावज। रूपाचे विवज जाणवेना ॥
रामी रामदास विनवि अवधारा। माणसाचा चारा तया लागी ॥

किसी के भी सहज पकड़ में न आने वाला मन होता है जो स्वभावतः चंचल हुआ करता है। इसीलिए समर्थ अपने आराध्य से अपनी बात यों बतलाते हैं कि

१. रामदासवचनामृत—करुणाष्टक श्लोक ५ के अन्तिम दो चरण, पृ० १८२।
२. समर्थाची गाथा—पद ६६०, पृ० २६८।

मन एक ऐसा पंछी है जिसके पंख नहीं है, परन्तु फिर भी यह बहुत ऊँचे उड़ता है। इसकी गतिशीलता इतनी तेज है, कि आकाश भी उसे अपूर्ण एवम् अधूरा जान पड़ता है। लक्ष्य बनाकर इसे पकड़ना इसलिए कठिन है क्योंकि वह अति चंचल है। इसका वास्तविक रूप समझ में आ ही नही सकता। विचित्रता यह है कि अपने भक्ष्यार्थ यह पंछी मानव को चुनता है। मानव ही इसका भोजन है। अतः हे दयाधन रामचन्द्रजी ! अपनी शक्ति से इस चंचल और पकड़ में न आने वाले पक्षी को रोक लो।

नोटः—ऐसे रूपकों की समर्थ-साहित्य में कमी नहीं है। रामदास स्वामी की आध्यात्मिक काव्य साधना कितनी बलशाली और पैनी थी इसकी कल्पना हमें मिल जाती है। समर्थ की भाषा गद्य की शैली से युक्त है, तथा उसमें लालित्य और नाद माधुर्य नहीं है इत्यादि आक्षेप उनके साहित्य के बारे में लिए जाते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उनकी अटपटी वाणी सर्वत्र वैसी नहीं है। उसमें लालित्य, ओज, नाद, माधुर्य अनेक काव्योचित बातें यत्र-तत्र मिल जाती हैं।

समर्थ रामदास ने मानव और संसार के पारस्परिक सम्बन्ध की वास्तविकता को ठीक समझ लिया था। अज्ञानी मानव अपने छोटे से अल्पज्ञान पर कितना अहंकारी बन जाता है इसका सुन्दर विवेचन यहाँ पर रामदास स्वामी एक सर्प के रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हैं। यथा—

सर्प रूपक :

मानव और संसार का सम्बन्ध—

होता अज्ञानाचे विळीं। डसला देह भाव अंगुळी ॥
अहंविश्व डसला व्याळ। वैद्य पाचा रा गोपाळ ॥
उगवतां दिवसी डसला तोंडी। चढता वळतसे मुरकुण्डी ॥
सुखदुखाच्यिा जाण। लहरी येताति दारुण ॥
विषय निंव लागे गोड। धन्य हरिनामाचे कडू ॥
वरिवरि हात झाडुनी काय। आभ्यंतर शोधुनि पाहे ॥
रामदासा नित्य उतार। जवळी वैद्य रघुवीर ॥[1]

रामदास कहते हैं यह सर्प अज्ञान के बिल में था जिसने बाहर आकर देह भाव रूपी उंगली को डस लिया, तथा उस स्थान पर अहंकार रूपी विष उगल दिया। उस व्याल के भयंकर विष से मुक्त होने के लिए गोपाल वैद्य को ही

1. समर्थाची गाथा—पद ६६६, पृ० ३०१।

बुलाना पड़ेगा। इस विष को वही उतार सकता है। प्रथम तो रात्रि के अन्धकार में इस भयंकर व्यालने डस ही लिया था। अब दिन के उजाले में पुनः उसने मुँह पर ही डस ही लिया। परिणामतः उसका विष सर्वत्र व्याप्त हुआ और लहरें आने लगीं। इस विष के चढ़ने पर आदमी लड़खड़ाने लगा। मानव अपने जीवन में अहंकार के कारण और अज्ञान के नशे में आकर अपनी स्थिति इतनी जर्जर और दयनीय बना लेता है कि सचमुच वह डाँवाडोल होने लगता है। रामदास स्वामी का यह वर्णन कितना यथार्थ और सटीक है। सुख और दुख की दारुण लहरें आकर बड़ी दारुण और हृदय विदारक परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। इस विष-सिक्त अवस्था में उस व्यक्ति को विषय रसों का कड़ुवा नीम मीठा लगता है, तथा वह विषयासक्त होकर उसमें अधिकाधिक लिप्त हो जाता है। हरि नामस्मरण का मीठा अनाज उसे कटु लगने लगता है। अब ऊपरी तौर पर हाथ पैर पटकने से क्या हो सकता है? अन्तःकरण पूर्वक भगवान् को पुकारना चाहिए। तभी उपाय संभव है। समर्थ रामदास ने बतलाया है कि दोनों बार डसे गये विष का परिणाम बड़ा भयानक होता है परन्तु उन पर विषों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि पास ही रघुनाथजी जैसे निष्णात वैद्य बैठे हुए हैं, जो इन विषों का उपाय करना जानते हैं। सच है संसार में विषयासक्त बनकर मानव उसी में लिप्त हो जाता है और अधःपतन के गर्त में चला जाता है। परिणामतः उल्टी-सीधी बातें करने लगता है। प्रभु रामचन्द्रजी का आश्रय लेना ही इससे सम्पूर्ण छुटकारा प्राप्त करना है।

अपने मनोबोध में समर्थ रामदास इसीलिये चेतावनी देते हैं[1]—

समर्थ रामदास की अपने मन को दी गई सार्थक चेतावनी—

खरे शोधिता शोधिता शोधिताहे।
× × ×
जगीं धन्य तो मारुती ब्रह्मचारी॥

सत्य की खोज तथा पहिचान खोजकरके ही उपलब्ध हो जाती है। खोजी को सदा सत्य की खोज में तत्पर रहना चाहिए। मन को इसी तरह उद्-बोधन एवम् उपदेश करना चाहिए। बार-बार मन को उपदेश करने पर एक संस्कार उस पर हो जाया करता है। सज्जनों की संगति से और सहयोग से अच्छा निश्चय सानुराग परिपूर्ण हो जाता है।

समर्थ रामदास ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की और वैसा बरतने लगे। पर काम उनको सताने लगा तब स्वानुभूति से उनको यह ज्ञात हुआ कि जो

१. मनाचे श्लोक रामदासकृत श्लोक संख्या १५१ और ८७।

मुख से सदा राम नाम जपता है उसे काम किसी भी प्रकार से बाधा नहीं पहुँचा सकता। काम वासना कभी भी उपभोग से शमित नहीं होती वरन् बढ़ती है। परन्तु समर्थ रामदासजी का समर्थ उपाय प्रभु रामचन्द्रजी का नामस्मरण ही है। काम भावना का सुस्पष्ट संस्कार के द्वारा किया गया यह उदात्तीकरण 'फ्रायड वादियों' के लिए एक चुनौती ही है। समर्थ रामदास की यह सुस्पष्ट घोषणा कि जो हरिभक्त हैं, उनके पीछे समर्थ भगवान् का वरद हस्त होने से वे कामवासना को मार सकने में समर्थ हो जाते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्यके आदर्श रूपमें उन्होने हनुमानजी को अपने सामने रखा था। अपने जीवन में उन्होंने हनुमानजी को प्रत्यक्ष आत्मसात कर लिया है। तात्पर्य यह है कि वे स्वयम् हनुमानजी की ही तरह ब्रह्मचारी हैं। नाम जपने वाला नामी के गुणों से इष्ट और अभीप्सित धैर्य से सम्पन्न रहता है। अतः वे धैर्य से कभी विगलित नहीं होते। हरिभक्त और आदर्श ब्रह्मचारी बजरंग-बली इसलिये संसार में वरेण्य हैं और धन्य हैं। इस प्रकार समर्थ ने सत्य की अर्थात् राम की खोज की। इस खोज में वे अध्यवसाय करते रहे। इस अध्यवसाय में वे अपने हृदय में राम के प्रति आस्थापूर्ण प्रेम सहित जागरुक और पूरे सतर्क थे। साधनापथ में गलती सम्भाव्य है। अतः ग़लती बार-बार हो जाने पर भी उसे पुनः पुनः सुधारकर प्रेम पूर्वक राम की साधना में दत्त चित्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष साक्षात्कार से प्रतीति के साथ किया गया पारमार्थिक अनुभव जब उन्हें होता है, तब उसमें रामचन्द्रजी के लिए मिलन की बेचैनी जग पड़ती है तथा वें आत्मीयता से उन्हें पुकारने भी लग जाते हैं।

भक्त भगवान् का सम्बन्ध—

समर्थ का आत्मीयता से अपने आराध्य को पुकारना—

देवराया धावारे। धावारे। धावे देवराया ॥ध्रु०॥
अहिल्या कष्टली वनीं। बोले करुणावचनीं।

× × ×

रामदास म्हणे भावे। ब्रीद तरी सांभाळावे ॥[1]

यहाँ पर इस पद में प्रसंग अहिल्या का है, जो अनेक शतकों तक शापवश पत्थर होकर कष्ट भोग रही है। उसकी प्रभु को बार-बार करुणापूर्ण वाणी में पुकारने वाली भावना को समर्थ ने अच्छी तरह समझ लिया है। भक्त भी इसी तरह करुणापूर्ण भावना से अपने आराध्य को पुकारता है। अन्तःकरण की भावावस्था दोनों की तुलनीय और स्पृहणीय है। समर्थ रामदास अपनी कविता में

१. समर्थाचा गाथा—पद १०३१, पृ० ३१०।

अहिल्या की भावना से समरस होकर कहते हैं, कि शापदग्ध अहिल्या शिला बनकर वन में अनेक जन्मों से कष्ट पा रही थी। वह करुणा भरे वचनों में बोली कि हे दयाधन! मैं तो दीन अनाथ बनकर आपको आर्त अन्तःकरण से पुकार रही हूँ। आप समर्थ और दीनानाथ हैं। हे दयानिधि! आपके सिवा मेरा उद्धार कौन कर सकता है? मेरे आन्तरिक भावों को पहिचान केवल आपको ही हो सकती है। अतः शीघ्र दौड़कर आ जाओ। रामदास भी मानो उसके साथ समरस होकर कहते हैं कि हे प्रभु रामचन्द्रजी! दीनों का रक्षण करने का आपका विरद है अतः आप अहिल्या का उद्धार अवश्य करें। भाव पूर्ण वचनों से समर्थ रामदास रघुनाथजी को पुनः पुनः प्रार्थना करते हैं।

समर्थ के आध्यात्मिक पक्ष का रहस्य—

समर्थ रामदास की आध्यात्मिकता का पक्ष विवेक-वैराग्य-सम्पन्न तथा प्रवृत्ति मूलक कर्तव्यों को स्वधर्माचरण में दक्ष करने वाला और मूलतः सर्वान्तर्यामी भगवान् रामचन्द्रजी का अधिष्ठान सदा जागरूक रहते हुए मूलतः निवृत्तिपरक मार्ग की ओर उन्मुख करने वाला है। जीवन के लक्ष्य को मोक्ष और कर्म बंधन से निवृत्त मानकर आध्यात्मिक क्षेत्र के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाले प्रायः विवेक का महत्व भूलकर केवल वैराग्य की बातें करते हैं। समर्थ रामदासजी कुशाग्र बुद्धि और चतुर थे इसलिए उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि से स्वधर्माचरण में जीव को कर्तव्य दक्ष रखकर भगवान् के अधिष्ठान का सामर्थ्य प्रदान कर निवृत्ति परक लक्ष्य की ओर अग्रसर किया। सदाचार सम्पन्नता और आत्मसाक्षात्कार से जीव ब्रह्मानुभूति करने के लिए निपुण और दक्ष बन गया। रामदासजी की यह सर्वोत्तम सफलता मानी जा सकती है। परमार्थ-सम्पन्न, वैराग्य-प्रवण, विवेक-तत्पर करने वाले समर्थ का आध्यात्मिक पक्ष अत्यंत स्पृहणीय और प्राणवान् है।

सप्तम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक-पक्ष

सप्तम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

महात्मा कबीर के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष :

कबीर की वैष्णवता—

कबीर वैष्णवों में एक आदर्श वैष्णव माने जाते हैं। उनकी वैष्णवी विशेषता उनकी वाह्य वेषभूषा एवं उनके परिवेश पर आधारित न होकर आचरण-जन्य व्यवहार तथा उनमें अन्तर्भूत सन्तों के गुणों पर आश्रित है। विवेक, वैराग्य, निरहङ्कार प्रवृत्ति, सत्संग और अहिंसादिभाव कबीर में व्यक्तिगत रूप से और उनके द्वारा अभिव्यंजित साहित्य में दृग्गोचर हो जाते हैं। वैष्णव-धर्म में मूल रीति से निम्नलिखित तत्व पाये जाते हैं—१. आस्तिकता अर्थात ईश्वर की कल्पना तथा अपने आराध्य के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध। २. भक्ति की भावना एवम् आत्मसमर्पण कर देने की तत्परता। अपने उपास्य की उपासना एवम् तत्सम्बन्धी आचरण प्रणाली। ३. अहिंसा की भावना किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो यह जागरुकता। ४. धार्मिक उदारता एवम् सहिष्णुता जिससे अन्य धर्मों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण अर्थात् उनके विचारों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार।

कबीर में ये चारों बातें उनके निजी आचरण में तथा उनके चिन्तन में हम पाते हैं। वैसे कबीर की प्रतिज्ञा प्रसिद्ध ही है—'मसि कागद छूयो नहि कलम गही नहीं हाथ।' परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि कबीर में अध्ययन शीलता न थी। सत्सङ्ग का माहात्म्य वे जानते थे, इसीलिए अनेक साधु संतों के साथ रहकर विचार विमर्श तथा चर्चा से उनमें बहुश्रुतता पर्याप्त मात्रा में आ गई थी। इसीलिए केवल पढ़ने वाले मूर्खो की उन्होंने आड़े हाथों खबर ली है।

यथा—

> **कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुसतग देहु बहाइ।**
> **बावन आखिर सोधिकैं, ररैं ममैं चितलाइ॥[1]**
> **पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।**
> **एकैं आखर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होइ॥**

कबीर का मत है कि पढ़ने का परिश्रम छोड़ देना चाहिए। और पुस्तकोंको

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १ और ३, पृ० २४१।

वहा देना चाहिए। बावन अक्षरों में से खोजकर 'रा' और 'म' का मर्म ध्यान-पूर्वक चित्त में लाना चाहिए। जीवन में अनुभव ही महत्वपूर्ण होता है क्योंकि केवल पुस्तकाध्ययन व्यवहारशून्य बना देता है। कबीर ने अपने अनुभव के आधार पर ही यह धारणा बना ली थी, कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़कर कोई पण्डित नहीं बन सका है। प्रेम का एक अक्षर जो पढ़ लेता है उसे ही पंडित कहना चाहिए। प्रेम कभी क्षर नहीं होता और सर्व साधारणतः लोग इसी बात के मर्म को भूल जाया करते हैं। स्मरण रहे कि यह प्रेम भक्त और भगवान् के बीच का है। यहाँ आशय लौकिक प्रेम से नहीं वरन् अलौकिक प्रेम से है। कबीर मानव का सम्बन्ध अलौकिक और अनन्त ईश्वर से जोड़ते हैं। राम के साथ प्रेम एवम् भक्ति महत्वपूर्ण है।

अनुभूति की सत्यता का आधार कबीर की बानियों में होने से कबीर जैसे सत्यान्वेषणी जो कुछ भी निर्भीकता से कह देते हैं, वह सार्वकालिक सत्य की भाँति अन्तःकरण में अंकित हो जाता है। कबीर ने जीवन सम्बन्धी, जगत् सम्बन्धी और जगदीश सम्बन्धी कुछ निश्चित धारणाएँ बना ली थी जिनको समझकर हम उनकी दार्शनिकता का स्वरूप जान सकेंगे।

कबीर की मान्यताएँ—

कबीर ने अपनी मान्यताएँ जिस स्वरूप में निश्चित की हैं वे उनकी बुद्धि और भावना की कसौटी पर खरी उतरने पर ही प्रतिष्ठित हुई हैं। कबीर की साधना आत्मसाक्षात्कारी है और प्रेम की माधुरी से भरी हुई है। अपने इस अलौकिक और स्वसंवेद्य प्रेम के बारे में उनका यह निवेदन है—

अकथ कहाणी प्रेम की कछू कही न जाइ।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई॥[1]

प्रेम की यह अकथनीय एवम् अनिर्वचनीय कहानी ऐसी नहीं है, जिसे सब कोई मनमाने ढङ्ग से अथवा दिलचस्पी लेकर कह दे। यह तो अकथनीय है। यह गूंगे की शर्करावत् अनुभूति है। गूंगा शर्करा की मिठास का आनन्द लेकर बैठे-बैठे मुसकाता रहता है। इस तरह कबीर की साधना प्रणाली में कठोर व्रती बने हुए कर्मण्यता की विशेषता है। निस्पृहता और समदर्शिता से ही यह सम्भव है। पर इस मार्ग पर आने वाले साधक के लिये सद्गुरु और ज्ञान के प्रकाश की नितांत आवश्यकता रहती है। जब तक इस मानव शरीर को पाकर किसी व्यक्ति ने परमात्मा से प्रेम नहीं किया तब तक उसका जीवन एकदम निरर्थक-सा है। यथा—

१. कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दरदास पद १५६, पृ० १३६।

प्रेम भावना—

कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया साव।
सूने घर का पाहुनां ज्यूं आवै त्यों जाव॥
× × ×
नैना नीझर लाइया, रहत वहै निसयाम।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ करौं, कबरे मिलहुगे राम॥[1]

कबीर कहते है कि जब तक इस अलौकिक प्रेम का दिव्य आस्वाद नहीं लिया, तब तक ऐसा ही समझिए जैसे सूने गृह में कोई अतिथि आया और चला गया। वस्तुतः ऐसे प्रेमी की स्थिति तो यह हो कि उसके नेत्रों से नित्य आँसुओं की झड़ी बह रही हो और दिन-रात मुँह से राम नाम निकल रहा हो। जिस प्रकार पपीहा पीऊ-पीऊ की रट लगाता है, वैसे ही जीवात्मा-साधक परमात्मा के विरह में छटपटाता रहे तो अच्छा है। अपने प्रिय को देखने की—मिलने की अतीव उत्कंठा उसमें होती है। कबीर भाव-भक्ति को अपने में ले आने के लिए कटिबद्ध है। उनके सामने 'नारदी भक्ति' का आदर्श है। वैष्णव भक्ति को अपनाकर भी कबीर निर्गुण निराकार से उसे जोड़कर राम में ही अल्लाह को देख सकने की विशेषता रखते हैं। कबीर की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा अद्वैत है। इसी तत्व से वे अभिन्न भी है। इस अनुभूति की प्राप्ति के लिए भगवान् के प्रति भक्त का आकर्षण भक्ति से ही सिद्ध होता है। पर यह भक्ति भगवद् कृपा पर निर्भर है। भवसागर से तर जाना आसान कार्य नहीं इसे वे अपने एक पद में यों व्यक्त करते हैं—

कैसे तूं हरि को दास कहायौ करि बहु भेषर जनम गंवायो॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यो नहिं सांई काछ्यौ ड्यंभ उदर कैतांईं॥
हिरदै कपट हरि सूं नहिं सांचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ।
झूठे फोकट कछू मंझारा, राम कहै ते दास नियारा॥
भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा॥[2]

तू अपने को हरि का दास कहलाता है, जबकि पूरा जन्म तूने अनेक प्रकार के वेष परिवेश धारण करने में ही व्यतीत कर दिया। सुध-बुध रहते हुए तूने अपने स्वामी का भजन नहीं किया किन्तु दंभ को अपने गांठ में बाँध लिया। जब तक हृदय में कपट है, तब तक सचमुच हरि से साक्षात्कार सम्भव नहीं है ऐसा ही मानना पड़ेगा और केवल बाह्याचार से अनहद नाद सुनाई भी पड़ा तो उसका क्या

---

१. कबीर ग्रंथावली—पारसनाथ तिवारी साखी ४६ और ४८, पृ० १४७।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ३, पृ० ४।

मूल्य है ? भगवान् बिना निष्कपट के प्राप्य नहीं है। ऊपरी आडंबरों और पाखंडों को कबीर कोई महत्व नहीं देते। कबीर कहते हैं कि इस कलियुग में झूठे और मुफ्तखोर बहुत हैं। वस्तुतः जो राम का नाम स्मरण करते है ऐसे हरि सेवक भगवान् के निकट हैं। वास्तव में नारद की भक्ति ही ऐसी भक्ति है जो मग्न होकर की गई है। उसी तरह तू भी करे तो तेरा भी इस भव सागर से उद्धार हो जायगा।

प्रश्न यह है कि क्या साधक अपने से ही सही रास्ता पा लेगा ? कबीर के पास इसका भी उत्तर है और वह यह है—

सदगुरु ही एक मात्र साधन—

गुरबिन दाता कोइ नहीं, जग मांगन हारा।
तीनी लोक ब्रह्माण्ड में सबके भरतारा ।।टेक।।
अपराधी तिरथि चले तीरथ कहा तारै।
काम क्रोध मल भरि रहे, कहाँ देह पखारै ।।१।।[1]
कागद की नौका बनी, बिचि लोहा भारा।
सबद भेद बूझे बिनां बूड़ै मंझ-धारा ।।
कहै कबीर भूलो कहा कह ढूंढ़त डोलै।
बिन सतगुर नहिं पाइए घट ही में बोलै ।।[2]

सद्गुरु के बिना कोई दाता नहीं है। इस संसार में यदि मांगना हो तो सद्गुरु से ही मांगना चाहिए। त्रैलोक्य और ब्रह्मांण्ड में सबके उद्धारकर्ता यदि कोई हो सकते है तो एकमात्र सद्गुरु हैं। अपराधी यदि तीर्थों में जाकर तीर्थ यात्रा इत्यादि करता है तो क्या तीर्थ उसको दोष से मुक्त कर देंगे ? जब तक काम, क्रोध, मोह, मदादि मलों से शरीर भरा हुआ है तब तक देह प्रक्षालन का क्या मूल्य है ? अन्तस् की शुद्धि आवश्यक है यदि वह नहीं हुई है तो सारे प्रयत्न वैसे ही सिद्ध होंगे, जैसे कागज की नौका में लोहे का बोझ ढोने का प्रयत्न करना। शब्द का रहस्य बिना जाने मँझधार में गोते लगाते रहना पड़ता है। कबीर कहते है कि हे जीवात्मा तू कहाँ भूलकर भटक गया है, तथा क्यों व्यर्थ ही ईश्वर को सर्वत्र खोज रहा है ? सद्गुरु के बिना तुझे उसका रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। वह तो घट में ही है और घट से ही बोलता है। अतएव वे आगे चलकर समझाते हैं—

१. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और १३, पृ० १३५–३६।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और १३, पृ० १३६–१३६।

सद्गुरु महिमा—

सतगुर सवां न को सखा, सोधी सई न दाति ।
हरिजी सवां न को हितु, हरिजन सई न जाति ।
सतगुरु हमपर रीझिकरि, कहा एक परसंग ।
वरसा बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग ॥[१]

सद्गुरु के समान सखा, मित्र एवम् आध्यात्मिक मार्ग के साधनों का प्रदाता कोई नहीं है, इसे चाहे तो ढूँढ़कर देख लीजिए । भगवान् के समान कोई आराध्य और भक्त की तरह कोई जाति नहीं है । अच्छा ही हुआ जो गुरु मिल गए अन्यथा बड़ी हानि हो जाती । जैसे पतिंगा दीपक की ज्योति पर आकृष्ट होकर झपटता है और अपने को जला बैठता है, उसी तरह बिना गुरु के हमारी भी यही स्थिति हो जाती है । सद्गुरु की महिमा अनन्त है और उन्होंने मुझ पर अनन्त उपकार किये हैं । मुझे ज्ञान देकर उस सर्वव्यापी परब्रह्म को देखने की दृष्टि हृदय के नेत्रों को खोलकर प्रदान की है । सद्गुरु ने हम पर रीझकर एक ऐसा मार्मिक प्रसंग तत्वान्वेषण का छेड़ा जिससे भगवान् की भक्ति का बादल हम पर आकर बरस पड़ा जिससे मेरे सारे अंग भीग गए । सद्गुरु के प्रति अपार और सहज कृतज्ञता के भाव कबीर जैसे साधक ने यहाँ पर प्रकट कर दिए हैं । कहा जा सकता है कि कबीर की साधना वैयक्तिक पुरुषार्थ, संयम और विवेकाश्रित है । गुरु ने कबीर जैसे साधक को परब्रह्म से साक्षात्कार कर सिद्ध बन जाना सिखाया । उसके प्रेम में छककर वे बार-बार उसके विरह की अनुभूति करने लगते हैं ।

उपास्य की चाह—

सर्वव्यापी, अनन्त, ईश्वर, राम अल्लाह को प्राप्त करने की चाह प्रेमी कबीर में बड़ी तीव्र गति से विद्यमान है । देखिए—

चकई बिछुरी रैनिकी, आइ मिले परभाति ।
जे नर बिछुरे राम सो, ते दिन मिले न राति ॥
बिरहा बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतान ।
जिहि घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥[२]

चक्रवाकी रात्रि समय में चक्रवाक से बिछुड़ गई है । प्रभात आने पर वह चक्रवाक से मिलेगी । परन्तु जो नर राम से बिछुड़ जायेंगे उनके लिए न तो दिन है

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २५–३४, पृ० १३९–४० ।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी २–४ तथा २–१६, पृ० १४३ ।

न रात। उनके विरह की व्यग्रता का कितना दारुण वर्णन है। राम के विरह की सच्ची आग जिनके अन्तःकरण में जाग पड़ी है वे धन्य हैं। कबीर इसीलिए कहते है कि विरही भगवान् की कोई खिल्ली न उड़ावे। वास्तव में भगवद्-विषयक रति, स्नेह आदि भावनाएँ हृदय में उत्पन्न होना ही कठिन है। अतएव जिन साधकों के अन्तःकरण में भगवान् को प्राप्त करने की तीव्रता है, जो उनके विरह में दुःख-कातर है उनकी विरह भावना को बुरा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि वह तो सब तरह से सर्वश्रेष्ठ भावना है। वास्तव में जिस मानव के अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न ही नहीं होती उसको स्मशानवत मानना चाहिए। कबीर की यह चेतावनी सार्थ और समीचीन ही है।

ब्रह्म का स्वरूप—

कबीर जिसके विरह में इतने बेचैन रहते है, उस राम का स्वरूप भी देख लेना उपयुक्त होगा। रामानन्द के द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक ज्ञान से कबीर ने रामके निर्गुण अलख स्वरूप में मन रमाया। कबीर का प्रियतम 'राम' किसी सीमा में बद्ध नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म अगम, अगोचर, अपार और सबसे अलग है। यथा—

नाद बिंदु ते अगम अगोचर पाँच तत्व ते न्यारा।
तीन गुनन तैं भिन्न है पुरुख जो अलख अपारा॥

—कबीर।

यह ब्रह्म इन सबसे परे है अतः उसका वर्णन कैसे संभव है? कबीर की व्यग्रता दर्शनीय है—

भारी कहौं तो बहु डरौं, हल्का कहौं तो झूठ।
मैं का जानों रामकूँ, नैनां कबहूँ न दीठ॥[1]

× × ×

निरगुन राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई॥
कहै कबीर सो भरमे नाहीं। निज जन बैठे हरि की छांही॥[2]

कबीर का यह ब्रह्म, नाद, बिंदु, पांचतत्वों से परे और न्यारा है, तथा तीनों गुणों से भिन्न, अपार अलक्षित पुरुष है। उसको भारी कहना भयावह है। हल्का कहना सरासर झूठ है। अतः वे कहते हैं कि जिसे मैंने नेत्रों से कभी नहीं देखा, उस राम को मैं कैसे जान सकता हूँ? कबीर का यह तर्क अकाट्य है। इसीलिए

---

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६, पृ० १६३।
२. " " पद १६३, पृ० ८६।

निर्गुण राम का जप करो यही उनकी घोषणा है। अविगत की गति ससीम से कैसे लखी जा सकती है? चारों वेद, स्मृतियां और पुराण तथा भाषा-शिक्षा, व्याकरण आदि कोई उसका मर्म नहीं पा सकते। शेष नाग, गरुड़ जैसे वाहन, तथा चरण चांपने वाली कमला तक इस रहस्य से अनभिज्ञ रही। परन्तु कबीर भ्रम में नहीं पड़े वरन् हरि की कृपा छाया में उनके भक्त बनकर बैठे हुए हैं।

औपनिषदिक ऋषियों का अवाङ्मनस-गोचर-ब्रह्म और कबीर के ब्रह्म में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। 'माण्डूक्य उपनिषद' में ब्रह्म के बारे में यह बतलाया है—

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।
सकृद्विभात सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥[1]

यह ब्रह्म जन्म रहित, (अज्ञानरूप) निद्रा रहित, स्वप्नशून्य, नामरूप से रहित नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है, उसमें किसी प्रकार का कोई कर्तव्य नहीं है। उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से यों घोषित है—

नाना प्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम् लक्षणमचिन्त्यम् व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय ॥[2]
सारं-प्रपंचो पशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

विवेकी जन तुरीय ब्रह्म को ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तः प्रज्ञ है, न वहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्वहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और अप्रज्ञ है। वलिक अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म, प्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत रूप है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जानने योग्य है। उसका कोई लक्षण नहीं है और न वह पकड़ में आ सकता है।

कबीर का राम कुछ इसी प्रकार का है जिसकी वे अपने मन में धारणा बनाते हैं। इसलिए उसे 'सैना वैना' से कैसे समझाया जा सकता है। ब्रह्मानुभूति तो कबीर कर लेते हैं पर उसे प्रकट कर लक्षण सहित कैसे व्यक्त करें? गूंगे की शर्करा का आस्वाद गूंगा ही जानता है। निश्चित वह दाशरथी राम नहीं है क्योंकि 'दशरथ सुत तिहुं लोक वखाना। राम नाम का मरम है आना', मानने वाले कबीर उसकी अनुपमता अपने ढङ्ग से इस प्रकार बतलाते हैं—

१. माण्डूक्योपनिषद् श्लोक ३६, पृ० १७३।
२. ,, ७, पृ० ५२।

राम कै नाइ नीसांन वागा, ताका मरम न जाने कोई।
कहै कवीर तिहूं लोक विर्वजित, ऐसा तत अनूपं ॥[1]

कोई भी राम का मर्म नहीं जानता। भूख, तृष्णा गुण इत्यादि के परे होने से सारे घट-घट के अन्तर में वही रमता है। वेद, भेद, पाप, पुण्य, ज्ञान, ध्यान सबसे विर्वजित होने पर भी वह ऐसा अनुपम तत्व है कि उसे अनिर्वचनीय ही कहा जावेगा। उसका तेज ऐसा हैं कि अनुमान तक नहीं किया जा सकता।

कवीर उससे परिचय करने का अङ्ग वतलाते हैं[2]—

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं देखे ही परवांन॥
पानी ही ते हिम भया हिम हिम ही गया बिलाइ॥
जो कछु था सोइ भया अव कछु कहा न जाइ॥
देखो करम कवीर का, कछु पूरबला लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख॥

परब्रह्म के तेज का कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। कहने से उसकी शोभा असली रूप में वर्णन ही नहीं की जा सकती प्रत्युत उसे देखकर ही समझा जा सकता है। गूंगे की शर्करा, देखकर समझना जैसे विलक्षण प्रयोगों से कवीर के ब्रह्म का यह विलक्षण स्वरूप सवके पहुँच के वाहर की वात है। एक सुन्दर दृष्टांत देखिए, पानी से हिम बनता है हिम पिघलकर पानी बन जाता है अतः जो वास्तविक स्वरूप था यही तत्व पुनः बन गया। कुछ कहने के लिए बचा ही नहीं वह अनिर्वचनीय है। कवीर का भाग्य कुछ ऐसा अपूर्व है कि पूर्व जन्म का फल ऐसा फलित हुआ, कि उसके शून्य महत्व में परब्रह्म को उन्होंने अपना मित्र वना लिया जिसे मुनि भी नहीं प्राप्त कर सके थे। कवीर का एक पद इसे और स्पष्ट कर देता है—

सन्तो घोखा कासूं कहिये।
प्यंड ब्रह्मांड छोड़ि के कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥[3]

हे सन्तो! इस अनिर्वचनीय ब्रह्म का विवरण कर क्यों धोखे में रहते हो? गुण ही में निर्गुण है और निर्गुण में गुण है अतः इस सरल रास्ते को छोड़कर कहाँ व्यर्थ भटक रहे हो? लोग उसे अजर अमर इत्यादि कहते हैं पर वास्तविक

१. कवीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १२६।
२. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और ६ तथा २२, पृ० १६७, १६८, १६६।
३. कवीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १८०, पृ० १४६।

बात कोई नहीं कहता। वह तो अलख निरंजन राय है, अगम्य है। निषेधात्मक रूप में कहना भी धोखा है। यह भी ठीक है कि कोई स्वरूप, वर्ण नहीं है परन्तु वह घट-घट में व्याप्त है अर्थात् वह सब में समाया हुआ है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की कोई-कोई विवेचक बातें करते हैं। पर वे सब बातें देश काल परिस्थिति में सीमित है। परब्रह्म तो असीम है उसका न तो आदि है न अन्त। तात्पर्य यह है कि वह पिण्ड और ब्रह्मांड से भी परे है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि इन सब से परे है। वह सगुण और अगुण के भी परे है। कबीर तो निर्गुण का ध्यान करते हैं, सगुण की पूजा करते हैं और निरंजन एवं अल्लाह राम को हृदय से नमस्कार करते हैं।

कबीर तो अपने रामराई को सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं। अपने प्रियतम को कैसे पहचाना जाय? कबीर के ढङ्ग से जानना है तो देखिए--

कस्तूरी कुण्डल बसे, म्रिग ढूंढे वनमांहि।
× × ×
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥[1]

कस्तूरी-मृग जिस तरह अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी की सुगंध से आकृष्ट होकर व्यर्थ ही जंगल में उसको खोजता फिरता है वैसे ही राम घट-घट में होने पर भी साधक दुनियां भरमें उसे खोजता फिरता है। साधक को व्यर्थ की खोज छोड़कर अपने में ही उसका दीदार करना चाहिए। जिस तरह नेत्रों में पुतली है वैसे ही घट में ब्रह्म है। मूर्ख लोग इसे नहीं जानते अतः व्यर्थ बाहर खोजते रहते हैं। जिसका कोई मुख नहीं, जिसका कोई सुन्दर असुन्दर रूप नहीं वह तत्व ऐसा अनुपम है जैसे पुष्प की पत्तियाँ और सुगंधादि। वास्तव में ये सभी एक ही हैं अलग-अलग नहीं।

भक्त और भगवान् के विभिन्न सम्बन्ध—

भावात्मक ढङ्ग से कबीर कभी उसे 'माता' तो कभी 'स्वामी' और कभी 'प्रियतम' भी कहते हैं। जैसे—

हरि जननी मैं बालक तोरा।
काहे न औगुण बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित्त रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो घाता, तऊ न हेत उतारे माता॥
कहे कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥[2]

---

१. कबीर ग्रन्थावली – डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १, पृ० १६२ साखी २, पृ० १६३ तथा साखी ७ पृ० १६३।

२. कबीर ग्रंथावली--डा० श्यामसुन्दरदास पद १११, पृ० १२३।

माता के प्रति पुत्र का विनम्र भाव जननी को उसके सारे अपराध क्षमा करने के लिये विवश कर देता है। माता स्वभावतः उपकारी होती है वैसे ही हरि भी जननी के स्वभाव से वालक कवीर पर अपनी कृपा रूपी वात्सल्य की कृपा करें। हरि से की गई यह प्रार्थना वड़ी अनोखी है।

वही कवीर दूसरी जगह अपने आपको राम की वहुरिया भी कहते हैं जैसे—

हरि मेरा पींव माई, हरि मेरा पीव।
कहे कवीर भौ-जलि नहिं आऊँ ॥[1]

अपने हरि-प्रियतम को छोड़कर मुझ से एक क्षण भर भी कैसे रहा जा सकता है? मैं हरि प्रियतम की वहुरिया हूँ तथा मेरे राम वहुत बड़े हैं और मैं उनकी छोटी सी दासी हूँ। मैंने अपने प्रियतम के लिए सारा सिंगार सँवारा है अतः उनसे ही प्रार्थना करती हूँ कि हे प्रियतम! मुझे आकर क्यों नहीं मिलते? इस वार मैं जव अपने प्रिय से मिलने जाऊँगी तो मेरा अवश्य उद्धार हो जायगा। मुझे इस भवजाल में पुनः नहीं आना पड़ेगा।

कवीर कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानते हैं। इसीलिए वे वड़े भाग्य से और अनेक जन्मों की साधना से रीझे हुए प्रीतम से कहते हैं—

वहुत दिनन में प्रीतम आए।
भाग वड़े घरि वैठे आए ॥टेक॥[2]
कहै कवीर मैं कछू न कीन्हां। सहज सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥[3]

यह मेरा अहोभाग्य है कि मेरे घर मेरे प्रियतम पधारे। अपने घर मैंने उनको वैठे-वैठे ही पा लिया। उनके साथ मंगलाचार करने में तथा 'राम' का रसास्वाद करने में अपनी जिह्वा को लगा रखूँगी। जीवात्मा के यह प्यार भरे उद्‌गार हैं, कि मैंने तो कुछ भी नहीं किया परन्तु मेरे प्रिय ने सहज ही मुझे अपना सौभाग्य प्रदान कर दिया। मैं तो निराश हो गई थी, पर मेरे मन्दिर में प्रकाश हुआ और मैंने अपने प्रिय को लेकर सुखपूर्वक शयन किया। इसमें उनका ही वड़प्पन है मेरा तो इसमें कोई भी महत्व नहीं है।

नाथ, योगी, सूफी, वेदांत आदि सिद्धांतों के अनुसार और उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मानुभूति का प्रभाव कवीर पर पड़ने से वे ब्रह्म का साक्षात्कार कभी सिद्धों की शैली में, कभी प्रेम की पीर के साथ, कभी अक्खड़ निरंजनी योगी की तरह तो

---

१. कवीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ११७, पृ० १२५।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ६, पृ० ६।
३. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ६, पृ० ६।

कभी ज्ञानी ऋषि-मुनियों की तरह परात्पर ब्रह्म का निरूपण करने लगते है। इसलिए उस विलक्षण ब्रह्म की पहचान करना कठिन हो जाता है। वास्तव में वे 'पूरे सूं परचा भया' ऐसा जब कहते है तो लगता है कि उनका यह पूर्ण-ब्रह्म से किया गया साक्षात्कार एकदम आध्यात्मिक है।

ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप—

अपनी अव्यभिचारी निष्ठा से अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त रूप का भी कभी-कभी वर्णन वे करने लगते हैं—

> **भजि नारदादि सुकादिवन्दित, चरन पंकज भामिनी।**
> **कहै कबीर गोव्यंद भजि, परमानन्द बंदित कारणा॥[1]**

इस पद को पढ़कर उनकी सगुण भावनिष्ठा सहज समझ में आ जाती है। अज्ञान के घुंघट का पट हटाते ही प्रियतम मिलते हैं इस पर कबीर का पूर्ण विश्वास है। निर्गुण राम को स्मरने से जीवात्मा हरि को तजकर अन्यत्र कहीं नहीं जायेगी, इसे वे जानते हैं। जब साधक पूर्ण भक्त बन जायगा तो ऐसे भक्त के लिए अल्लाह, राम, नरसिंह भेष भी ले सकते हैं, यह उन्हें मान्य है। तात्पर्य यह है कि कबीर की भक्ति मस्ती और मौज से ओतप्रोत है। वैष्णव होने के नाते कबीर ने केशव, मुरारी, गोविन्द, राम आदि नामों से अपने आराध्य को पुकारा है। राम-रंग में मतवारे होकर एक ओर अपना बुनकरी व्यवसाय सम्हालते है, तो दूसरी ओर ईश्वर भजन तथा साधु-समागम करते रहते हैं।

माया का स्वरूप—

कबीर मोक्ष प्राप्ति में माया को बाधक समझते है—

> **माया महा ठगिनी हम जानी।**
> **भगतां के भगतिनि होइ बैठी तुरका के तुरकानी॥[2]**

माया अनेक रूपात्मक है अतः वह साधक को किस रूप में आकर ग्रस लेगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। महा-ठगिनी-माया बहुरूपिनी बनकर त्रिगुण के फाँस से अर्थात् फन्दे से सबको मधुर वचनों से फँसाती रहती है। किस-किस के साथ वह क्या-क्या होकर बैठी है इसका पूरा हवाला कबीर ने इस पद में दे दिया है। सबके मार्ग में मूर्तिमंत बाधा के रूप में वह आ विराजी है। कबीर ने माया को प्रसव-धर्मिणी माना है। क्योंकि वह उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है। कबीर माया की घोर निंदा स्थान-स्थान पर करते हैं। साधक जीवात्मा को माया नाना भ्रांतियों के चक्कर में डालती रहती है। देखिए—

---

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३९२, पृ० २१८।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद १९३, पृ० ९५।

मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यानी पुरिष को भोलि भोलि खाई ।।टेक।।
कहै कबीर पद लेहु विचारी,
संसारि आइ माया किनहूं एक कही पारी ।।[1]

यह मीठी प्रतीत होने वाली माया को कौन त्याग सका है ? विशेषतः यह अज्ञानी को पूर्ण रूप से ग्रस लेती है । संसार को माया के सगुण और निर्गुण दोनों रूप प्रिय हैं । लक्ष्मण और गोरखनाथ जैसे विवेकी और संयमी ही इसे परिपूर्ण रूप से त्याग पाये हैं । कीटकों से लेकर हाथी तक में इसका साम्राज्य व्याप्त है । सारे त्रैलोक्य को खाने वाली माया को कौन रोक सका है ? अर्थात् उससे कौन बच सका है । संसारी भाइयों को कबीर ने इसीलिए माया से सजग रहने की चेतावनी दी है ।

कबीर ने माया को स्पष्ट रूप में वेश्या के समान सरे बाजार में बैठकर काम के बंधनों से बाँधने वाली कहा है । माया और मन का सम्बन्ध घनिष्ठ होने से मन के सारे विकार माया के साथी हैं, अतः इनसे बचना चाहिए । भक्त और भगवान् की प्राप्ति में तथा जीव और ब्रह्म की प्राप्ति में माया बाधक बनती है । एक कबीरोक्ति है :

'माया मुई न जन मुआ मरि मरि गया सरीर ।' —कबीर ।

न तो माया नष्ट हुई न मायालिप्त साधक नष्ट हुआ । बरन केवल शरीर मात्र नष्ट हो गया । कबीर इसीलिए अपने राम से कहते हैं कि हे राम ! आपकी माया द्वंद्व मचाती रहती है । कामिनी और कंचन के फेर में यह सब को डाल देती है, कबीर कहते हैं कि सन्तों ! हमने इसीलिए राम-चरण में प्रीति मान रखी है । कबीर ने सारे मार्ग अपनाकर देख लिए और अन्त में जो उनको सार रूप एवम् सरस जान पड़ा वह मार्ग इस प्रकार है ।

सबै रसाइन मैं किया, हरि रस सम नहिं कोइ ।
रंचक घट में संचरे, तो सब कंचन होइ ।।[2]

हरि के समान और सुरस कोई साधन नहीं है । घट में एक क्षण भर भी यदि उसका संचार हो जाय तो उसका स्वर्ण बन जाता है । तात्पर्य यह है कि भगवद् भक्ति के पारस स्पर्श से शरीर रूपी कुधातु भी स्वर्ण जैसी अच्छी धातु बन जाती है । अर्थात् जीवन सफल और सार्थक हो जाता है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १६२, पृ० १६६ ।
२. ,, ,, साखी ८।१६८, पृ० १७ ।

कबीर का मानववादी और समन्वयात्मक दृष्टिकोण—

कबीर के राम रसायन ने तद्युगीन जन साधारण को विकार मुक्त कर अपनी सामयिक समस्याओं से ऊपर उठाने का पथ प्रशस्त किया। कबीर का भक्ति-मार्ग वैयक्तिक साधना का मार्ग होकर भी एक सामाजिक संस्कार निर्माण करने की क्षमता रखने वाला मार्ग है। वाह्य आडम्बर और पाखण्डों से युक्त वातावरण में हृदय से की जाने वाली भक्ति के योग्य भावावस्था का कबीर ने निर्माण किया, यह उनकी सबसे बड़ी देन है। कबीर ने व्यक्ति के अहंकार का विसर्जन कर उसे अलौकिक और उदात्त तत्व की ओर अग्रसर होना सिखाया देखिए—

तूं तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे नाऊँ परि, जित देखौं तित तूं।।[1]

सुमिरन और भजन से एक सुसंस्कार मनुष्य पर प्रभाव डालता है। 'यह मेरा', 'यह तेरा' आदि का संघर्ष लुप्त हो जाता है। सबसे सुन्दर चीज यह हो जाती है कि अहं भावना का समूल नाश हो जाता है। साधक में जब अहं भावना नहीं रहेगी तब वह जिधर देखेगा उधर उसे अपने इष्ट के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ेगा।

कबीर की तत्वदर्शी और सार ग्रहिणी प्रतिभा ने एकदम मौलिक रूप में अपने विचारों को फक्कड़ाने ढंग से और अक्खड़ाने मनमौजी स्वरूप में व्यक्त किया है। ऐसा करते हुए तथा कथित पंडितों, मुल्लाओं को उन्हें फटकारना पड़ा है। पर वे उसमें चूके नहीं है। असत्य और मिथ्या से उन्हें चिढ़ थी, इसलिए कड़े शब्दों में डटकर उन्होंने उसका मुकाबला किया है। अपने घर को जलाकर घर फूंक मस्ती से वे बेहद के मैदान में आए थे। तभी तो उन्होंने एक जगह कहा—

कबीर यह घर है प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारै भुईं धरै तब पैठे घर मांहि।।[2]

यह तो प्रेम एवम् भक्ति करने वालों का मार्ग है, अतः कोई यह न समझे कि यह एक सस्ता और सरल मार्ग है। यह किसी खाला-मौसी का घर नहीं है कि यहाँ पर जो चाहे सो आ जावे। इस मार्ग का साधक प्रथम अपना सर उतार कर जमीन पर रखे तब इसकी मर्यादा में प्रवेश करे। आध्यात्मिक मार्ग पर चलना किसी ऐरे गैरे का कार्य नहीं है। कबीर की यह चेतावनी उनके लोककल्याणोन्मुख प्रवृत्ति से ही अभिव्यंजित हुई है। कबीर के युग में धार्मिक क्षेत्र में कई साधनाएँ

१. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६, पृ० १४६।
२, ,, डा० श्यामसुन्दरदास साखी १६, पृ० ६६।

प्रचलित थीं, तथा उनमें आडम्बर बहुत बढ़ गये थे। कबीर ने इन सब के विरुद्ध जोरदार शब्दों में मोर्चा लिया। इस दृष्टि से कबीर बहुत बड़े क्रान्तिकारक थे। उन्होंने देश में, समाज में, धर्म में, साधना में तथा सर्वत्र इस ढकोसलेबाजी के विरुद्ध आवाज उठाई तथा सहज और विवेक पर आधारित साधना प्रणाली को अपनाया। सत्य के तत्व के दर्शन उन्हें जहाँ भी हुए, उसे कबीर ने स्वीकार किया तथा उसको प्रतिष्ठित कर प्रसारित किया। कबीर यों व्यक्तिगत-साधना के साधक थे। परन्तु उन्होंने सत्याचरण और विवेकाश्रित साधना का उपदेश लोगों को दिया तथा इसे ईश्वर प्रेरित कर्तव्य समझकर पूर्ण किया देखिए—

कबीर का समन्वयवादी दृष्टिकोण—

कहरे जे कहिवे की होई।
नां को जानै नां को मानैं, तार्थं अचिरज मोहि ॥ठेक॥
मोहि आज्ञादई दयाल करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्यो, अब मोहि दोस न लाइ ॥[1]

कबीर के युग की अव्यवस्थित दशा का चित्रण करने वाला यह पद है कोई किसी की बात नहीं सुनता था और कोई किसी की बात नहीं मानता था। कबीर को इस पर आश्चर्य हुआ। भलाई की बात भी लोगों को जँचती नहीं थी। सब अपने-अपने रंग में रंगे हुए, लोभी, अभिमानी, दंभी और पाखंडी बन गए थे। सब आपस का भाई चारा तक भूल गए थे। 'मैं' और 'मेरा' इसी की स्वार्थ भरी दृष्टि उनमें लबालब भरी हुई थी। इस संसार के जल में पापी बनकर वे अपने जीवन को पंकिल कर रहे थे और अपार रूप से उसी में डूब रहे थे। कबीर को भगवान् की आज्ञा मिली थी कि इनका उद्धार करो। इसीलिए सदाचार और नीति आदि का उपदेश कबीर ने दिया। अन्यथा उनको क्या पड़ी थी कि वे किसी को समझाने जाते। संसार का शायद यही नियम है कि किसी का भी भला कीजिए तो वह उसे कभी अच्छा नहीं लगेगा। कबीर ने भी यही अनुभव किया। पर अपना कर्तव्य पालन करते हुए वे उपदेश देने से न चूके। परन्तु उनको यह कहना ही पड़ा कि मैं तो कहते-कहते थक गया हूँ लोग अपनी बुरी आदतें नहीं छोड़ते मुझे अब कोई दोष नहीं दे सकता।

वे कहते थे मेरा तो एक अल्लाह निरंजन राम है। हिन्दू और तुर्क दोनों मेरे निकट नहीं हैं। न तो मैं व्रत, उपवास, रोजा आदि रखता हूँ न पूजा करता हूँ और न नमाज पढ़ता हूँ। मैं हृदय से उस एक निराकार को नमस्कार करता हूँ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३१८, पृ० १९५।

न तो मैंने तीर्थ यात्रा की है, न हज किया है। मेरी तो रामराय से पहिचान हो गई और मेरा मन उसी में रम गया तथा सारे भ्रम और तर्क भाग गये हैं। कबीर सब को यही आदर्श सामने रखने के लिए कहते थे। लोक मंगल की साधनावस्था उनमें परिपूर्ण होने से उन्होंने भावानात्मक उपासना से व्यक्ति और समाज के रचना-पक्ष में सदाचरण और सत्याचरण पर विशेष बल दिया, तथा मिथ्या और दम्भों का भंजन किया। 'कबीर ने अपने युग में सारे बाह्य आडम्बरों से मुक्त ऐसी साधना पसन्द की जिसने मानव को मानवता के आसन पर और भगवान् को सगुण निर्गुण के परे आसनस्थ किया।' डा० हजारीप्रसादजी का यह मत ठीक ही है।[1] ईश्वर में एकदम आस्था एवम् अटूट विश्वास इस साधना की सबसे बड़ी विशेषता है।

गोस्वामी तुलसीदास एवम् वरेण्य तथा महान वैष्णव भक्तप्रवर का आध्यात्मिक पक्ष—

भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी वैष्णव साहित्य के सबसे प्रतिभावान उर्जस्वल साधु कोटि के व्यक्ति हैं। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में तुलसीदासजी ने रामोपासना पर विशेष बल देते हुए समाज में व्यक्ति और समाज की शाश्वत आस्था को दृढ़ करने का प्रयत्न किया है। उनका यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य मानना पड़ेगा। उनके जैसे व्यक्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक विवेक वैराग्य और संयम एवम् तपस्या से भक्ति साधना करते हुए इस जगत् से अपना उद्धार कर लेना सहज कार्य नहीं था। तुलसी ने इसीलिए कहा—

हिय निरगुण नयनन्हि सगुण, रसना राम सुनाम।
मनौं पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥[2]

तुलसीदास कहते हैं कि हृदय से निर्गुण की जानकारी रखते हुए अर्थात् ज्ञान के होते हुए भी नेत्रों से सगुण को देखते आना चाहिए और रसना से राम का सुनाम स्मरण करते रहना चाहिए। ऐसा करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों स्वर्ण के संपुट में दोनों विद्यमान है। कहने का अभिप्राय यही है कि सगुण और निर्गुण के एकांगी आग्रह को छोड़कर दोनों को समझते हुए ज्ञानी भक्त अपनी जिह्वा से राम नाम स्मरण किया करता है।

ब्रह्म की विशेषताएँ—

तुलसीदासजी ब्रह्म में ही निर्गुणत्व और सगुणत्व की विशेषताएँ निहित हैं ऐसा मानते हैं। जल को वाष्प से अलग नहीं कह सकते। बादल से जल बरसकर

१. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १८६।
२. तुलसीदास—दोहावली ७।

कभी-कभी उसकी बरफ बन जाती है। किन्तु मूल रूप पानी ही है, उसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म को तुलसीदासजी उस अग्निवत् मानते हैं जिसे हम प्रकट होने पर प्रत्यक्ष देखते हैं और अप्रकट होने पर काष्ठ में ही विद्यमान पाते हैं। तुलसीदासजी सगुण-उपासना पर ही क्यों विशेष बल देते हैं? एक स्थान पर कवितावली में तुलसीदाससी ने कहा है—

अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहर जामि है राम, जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिए तें।
पैज परे प्रहलाद हुं को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥[1]

नाम स्मरण करने वाले सगुणोपासक भक्त के लिए रामचन्द्रजी केवल अन्तर्यामिन् ही नहीं है, वरन् बहिर्यामिन भी हैं इसका अनुभव भी उसे उपलब्ध हो जाता है। प्रभु लोकपालक और रक्षक होने से भक्त की सुरक्षा किया करते हैं। बालक के वचनों को जिस प्रकार ध्यान देकर माता-पिता सुनते हैं और अपने वत्स को देखकर जिस प्रकार गाय उसे दुग्धपान कराने में तत्पर हो जाती है, उसी तरह भक्त के लिए वत्सलता और अपनापन भगवान् में रहता है। भक्त और भगवान् का सम्बन्ध कच्चा नहीं है तभी तो पैंज लग जाने पर प्रल्हाद के लिए वे स्तंभ से प्रकट हो सके। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह बात व्यर्थ चर्चा की नहीं है—इसे स्वयम् ही समझना बूझना चाहिए।

भक्ति का प्रयोजन केवल आत्मकल्याण ही नहीं है वरन् लोककल्याण भी है। भक्त इस जगत् को छोड़कर भक्ति करने कहीं नहीं जाता अतः भक्ति करने वाले भगवान् को अपने में नहीं बाहर देखना चाहिए। लोक कल्याण करने वाले भगवान् का सगुण रूप तभी जानना सम्भव है। तुलसीदासजी इसको भली-भाँति जानते थे। भक्ति करने वाला भक्त भगवान् का ज्ञाता होने से भक्ति करता हुआ उसको अधिकाधिक जानना चाहता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों पक्षों का भक्ति में समावेश है। भक्ति या प्रेम व्यक्त से ही किया जा सकता है जिसे देखा-परखा जाता है और वह भी सबके बीच में। तुलसी तभी कहते हैं—

'सियाराम मय सब जग जानि।
करहूँ प्रनाम जोरि जुग पानि॥'[2]

तुलसी ने अपने उपास्य धनुर्धारी राम को सारे संसार में देखा और वह भी

---

१. कवितावली उत्तरकाण्ड १२९।
२. रामचरित मानस।

'सिया राममय' ही समझकर । इसलिए वे दोनों हाथ जोड़कर अपने सगुण स्वरूपी को नमस्कार भी कर सके हैं । अपने प्रभु का स्वरूप जिस प्रकार वे जानते थे उसे भी जान लेना आवश्यक है । यथा—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ ।
मोद न मन तन पुलकि नैन जल, सोनर खेहर खाऊ ॥१॥[1]
समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम-पसाउ ॥[2]

तुलसीदासजी इस पद में अपने उपास्य के गुणों का स्वरूप वर्णन कर समझाते हैं कि जानकी नाथ-रामचन्द्रजी का शील, स्वभाव, शक्ति और सौन्दर्य ऐसा कल्याणकारी है कि जिसके सम्पर्क में आकर मन प्रसन्न, शरीर पुलकित और हृदय सात्विक भावों से भर जाता है । यदि कोई ऐसा अभागा मिल जाय जिस पर इसका कोई भी असर न हो तो उसे दर-दर की ठोकरें खाते हुए, धूल फांकते रहना चाहिए । जो व्यक्ति नीरस हो उसका जीवन व्यर्थ ही है । बचपन से ही माता-पिता, भाई, गुरु, सेवक तथा मन्त्री एवं मित्र आदि सबका यही कहना है कि उन्होंने रामचन्द्रजी का मुखारविंद स्वप्न में भी क्रोधित नहीं देखा । वे तो सदा हँसमुख ही रहे । प्रभु रामचन्द्रजी अपने साथ खेलने वाले बालकों की हानि तथा उनके साथ होने वाले अन्याय का बराबर ध्यान रखते और अन्याय न होने देते थे । अपने हमराहियों को प्रसन्न करने के लिए अपनी जीत हो जाने पर भी स्वयम् हार जाते थे । सौहार्द्रता यह गुण उनमें प्रमुख रूप से था । अपने चरण स्पर्श मात्र से ही शापित अहल्या का उद्धार उन्होंने कर दिया । उन्हें केवल इस बात का दुख हुआ कि हमने ऋषि-पत्नी को पैर से छू दिया । शिव के धनुष को तोड़कर अन्य राजाओं का मानमर्दन कर दिया । परशुरामजी के क्रोध करने पर उन्हें क्षमा करते हुये स्वयं अनुज लक्ष्मण सहित उनके चरणों में गिर पड़े । ऐसा सामर्थ्यवान भगवान् के सिवा और कौन हो सकता है ? राजा दशरथ ने राज्य देने का वचन देकर अपनी पत्नी के वश होकर उन्हें वनवास दे दिया और इसी लज्जा के कारण स्वर्ग सिधारे । ऐसी कुमाता कैकेयी का भी मन भगवान् ने रखा और उनकी सेवा करते रहे । हनुमानजी की सेवा देखकर उनके अधीन हो गये, और कृतज्ञतावश उनसे कहा कि 'भाई मेरे पास देने के लिए तो कुछ नहीं है, पर मैं तुम्हारा ऋणि हूँ । यदि विश्वास न हो तो सनद लिखा लो ।' 'विभीषण और सुग्रीव ने कपट भाव नहीं छोड़ा

१. विनयपत्रिका १०० पद ।
२. ,, ,,

फिर भी प्रभु उन पर कृपा करते ही रहे और अपनी शरण में लिया। भरत की प्रशंसा भरी सभा में करते हुए भी जिन्हें तृप्ति नहीं हुई। भक्तों पर तो वे निरन्तर कृपा और उपकार करते रहे। जब-जब उसकी चर्चा का प्रसङ्ग आया तो वे लज्जा से गड़ गये। उनकी वंदना करने वाले की वे नित्य दूसरों से प्रशंसा ही करते रहे। प्रभु रामचन्द्रजी की करुणा अपार है अतः उनके गुणों का स्मरण कर हृदय में उनके प्रति प्रेम उमड़ आता है। तुलसीदासजी का यह परम विश्वास है कि वे इस प्रेम से उत्पन्न आनन्द के कारण निश्चय ही भगवान् के चरणों का प्रसाद प्राप्त करेंगे।

सगुण उपासना साध्य भी है—

इससे स्पष्ट है कि तुलसी भक्ति एवम् सगुण उपासना को केवल साधन ही नहीं वरन् साध्य भी मानते हैं। निर्गुण और अलख ब्रह्म उनको जाँचना सम्भव ही नहीं था। तभी तो एक अलख जगाने वाले से उन्होंने कहा था—

'हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमारके बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहि? राम नाम जपु नीच॥'

तुलसीदासजी अपने ब्रह्म राम को रामनामधारी दशरथ सुत से अभिन्न मानते हैं। इसे वे अपने संस्कृत श्लोकों में की गई वंदना में और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। यथा—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा।
यत्सत्वादनृषैव भाति सकलं रज्जो यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधे स्तितीर्षावतां।
वन्देहं तमशेष कारण परं रामाख्यमीशं हरिम्॥[1]

—रामचरित मानस।

तुलसीदासजी उस ईश का यहाँ पर अभिवादन करते हैं जो 'राम' इस अभिधान से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि अनामय ब्रह्म राम नाम से कैसे विश्रुत हो सकता है? ऐसे भगवान् राम की माया के वश अखिल विश्व, ब्रह्मादि देव तथा असुर हैं। जिस पर माया का प्रभाव है और जो संसार-सागर के पार जाना चाहते हैं, ऐसा जीव उनकी कृपा से ही पार पा सकता है। प्रभु के चरण भवसागर से तरने की इच्छा रखने वालों के लिए एक मात्र नौका स्वरूप हैं। अशेष कारणों से परे राम नाम से अभिहित विष्णु की मैं वंदना करता हूँ।

जीव और ईश्वर की कल्पना व्यावहारिक होने से मायिक है। अद्वैत मतानुसार सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना और ज्ञान प्राप्ति ये दोनों अलग-

---

१. रामचरितमानस, बालकांड ६ श्लोक।

अलग बातें हैं। तुलसी के मत से ईश्वर माया से परे है वह स्ववश है; जीव परवश अर्थात् माया के आधीन है। जीव को सत्व, रज और तम ये तीन गुण अपने फंदे में बाँधते रहते हैं।

माया का स्वरूप—

तुलसी कहते हैं[1]—

मैं अरु मोर तोर मैं माया। जोहीं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गोगोचर जेई लगि मनु जाइ। सो सब माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहुं तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥

मैं और मेरा, तू और तेरा यह पचड़ा ऐसा है, जिसके चक्कर में जीव समूह पड़े हुए हैं। लक्ष्मण की शंका का उत्तर देते हुए भगवान् राम ने इसे स्पष्ट किया है। इन्द्रियों से प्रत्यक्ष गोचर होने वाला तथा जहाँ तक मन जा सकता है वह सारी क्रिया माया का प्रभाव क्षेत्र समझना चाहिए। इस माया के दो भेद हैं—एक विद्या माया है और दूसरी अविद्या-माया है। एक अतिशय दुष्ट और दुख रूप है तो दूसरी संसार में सृष्टि किया करती है जिसके गुणों के आधीन सारा जग रहता है। स्मरण रहे कि अपने से उसमें कोई सामर्थ्य नहीं है। उसका सामर्थ्य प्रभु प्रेरित ही है। ज्ञानातीत और मानातीत अवस्था से जो सब में ब्रह्म की व्याप्ति है ऐसा समझता है, तथा जो त्रिगुणों से व्याप्त और सिद्ध माया को तृणवत् त्याग सकता है, ऐसा विवेकी वैराग्यशील व्यक्ति ही राम के रहस्य को जान सकता है।

प्रभु की प्रेरणा से ही नाम रूपात्मक जगत् बना। यह जगत् त्रिकाला-बाधित सत्य नहीं है, इसलिए मिथ्या है। परन्तु भगवान् की लीला के लिए इसकी आवश्यकता है। जीव अविद्या माया के कारण मोहवश होकर उसको सत्य समझ लेता है। परिणामतः उसको अनेक दुख-कष्ट आदि उठाने पड़ते हैं। इसीलिए इसे अतिशय दुष्ट और दुखरूप बतलाया है।

जीव का स्वरूप—

जीव ब्रह्म का अंश है इस पर तुलसी के विचार देखिए[2]—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस पर्‌यो गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥

---

१. रामचरितमानस अरण्यकाण्ड १४।
२. ,, उत्तरकांड ११६।

जीव ईश्वर का अंश है, चेतन है, स्वच्छ है तथा सहज ही सुखकी राशि है, अविनाशी भी है, परन्तु वही माया के वश में पड़कर ऐसा फँस जाता है जैसे कोई कीटक मकड़ी के जाले में बँध गया हो। जीव पर माया का प्रभाव है। ईश्वर मायापति होने से उसे माया नहीं व्याप सकती। माया विष है और वलवान भी। इसीलिए उसके चंगुल में सारा संसार फँसता है। प्रवृत्ति स्वयम् माया है तथा निवृत्ति तत्वज्ञान। अविश्वास और अज्ञान माया के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। जड़ और चेतन पर इसी माया की ग्रन्थि पड़ जाने से वह ईश्वरीय स्वरूप को नहीं जान पाता। माया को समझना सवका कार्य नहीं। कर्ता के द्वारा निर्मित या द्वंद्वात्मक जगत गुण दोषमय है अत: जड़-चेतन, देह और जीव माया के आधीन हैं। ईश्वर माया के वश नहीं हो सकता। अपनी प्रकृति से अधिष्ठित वह अपनी विद्या-माया से अवतरित होता है और इस खेल में सबको नचाता रहता है। देखिए—

'उमा दारु-योषित की नाईं। सबै नचावत राम गुसाँईं।'

राम सवको अपनी माया से इसी प्रकार नचाते रहते हैं। विद्या माया का मूल सद्रूप ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली शक्ति है।[1] यथा—

सृति-सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की॥

जीव और ईश्वर का भेद इस प्रकार व्यक्त किया गया है[2]—

ग्यान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर॥
मायावस्य जीव अभिमानी। ईशवस्य माया गुणखानि॥
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

सीतापति रामचन्द्रजी अखड ज्ञान हैं। सचराचर जीव माया के अधीन है। माया के वश होकर जीव अभिमानी तथा अहंकारी हो जाता है। किन्तु ईश्वर के वश रहने वाली माया गुणों की खदान वन जाती है। भगवान् स्ववश होते है तो जीव परवश होता है। जीव अनेक है परन्तु श्रीकान्त एक ही हैं। रामचन्द्रजी जीव और ईश्वर का भेद एक स्थान पर और भी स्पष्ट कर देते हैं[3]—

माया ईस न आपुकहँ जानि कहिय सो जीव।
बंध मोक्ष प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव॥

जो माया, ईश्वर और स्वयम् अपने को न जाने उसे जीव कहते हैं।

---

१. रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड १२५ (छंद)।
२. रामचरित मानस उत्तरकांड ७७।
३. रामचरित मानस अरण्यकांड १५।

तथा कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देने वाला, सबके परे और माया को प्रेरित करने वाला ही ईश्वर है।

ईश्वर के निकट आने का साधन भक्ति है—

इस ईश्वर की भक्ति से ही जीव ईश्वर के समीप आ सकता है। जीव ईश्वर का सेवक ही है। चौरासी लाख योनियों के चक्कर में अविनाशी जीव भटकता फिरता है। यह जीव माया का प्रेरित है तथा काल, गुण, कर्म और स्वभाव के घेरे में घूमता रहता है। इस जीव पर अकारण ही स्नेह करने वाला ईश्वर करुणाकर उसे मानुष योनि में जन्म दे देता है। इसी नरशरीर से रामकृपा के सहारे वह संसार सागर से पार हो जाता है।

तुलसीदासजी ने जगत् सम्बन्धी अपने विचार यों प्रकट किये हैं—

वेद इस संसार वृक्ष को सदा फूलने फलने वाला मानते हैं तथा जो नित्य ही नूतनता प्राप्त करता रहता है। इस पर तुलसी का यह छन्द उद्धृत है[1]—

अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फलजुगल बिधि कटुमधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।

हे प्रभु! वेदों के अनुसार आप अव्यक्त-मूल अनादि वृक्ष हैं जिस की चार त्वचाएँ, छः तने, पचीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और बहुत से फूल हैं, मीठे और कड़वे दो फल हैं, जिस पर एक ही बेल है जो उसी के आश्रित रहती है, जो नित्य नव-पल्लवित होता और फूलता है अर्थात् जिसमें नित्य नये पत्ते और फूल निकलते हैं, ऐसे संसार वृक्ष स्वरूप हे भगवान्! हम आपको नमस्कार करते हैं।

जब सारा संसार सियाराम मय है तब उसे झूठ और अनित्य कैसे कह सकते हैं? परन्तु कुछ लोग इसे सत्य मानते हैं और कुछ झूठ। कुछ लोग इसे झूठ और सत्य दोनों के मिश्रण से बना हुआ मानते हैं। वास्तव में ये सब बातें भ्रम से उत्पन्न हैं। दृष्टि भेद से ऐसा अलग-अलग हमको दिखाई देता है। अतः सभी ठीक हैं या सभी भ्रम में हैं इसका पता कैसे लगे? तुलसीदासजी विनय-पत्रिका में इसका विवेचन कर बतलाते हैं कि वास्तविक अनुभूति किस प्रकार है। यथा—

केसव कहि न जाइ का कहिये।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥[2]

---

१. रामचरित मानस उत्तरकांड ५ (छन्द)।
२. विनयपत्रिका १११ पद।

जगत् का स्वरूप स्वामी भगवान् राम का ही रूप है। सेवक और सेव्य भाव के विना संसार से नहीं तरा जा सकता। ऐसा सिद्धान्त विचार कर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणारविन्द का ध्यान करना चाहिए। श्रुतियों के द्वारा प्रमाणित और विवेचित हरि भक्ति का मार्ग विवेक, वैराग्य साधनों सहित अपनाया जाय। जल को मथने से भले ही घृत पैदा हो जाय। वालू पेरने से चाहे तो तेल निकल आवे किन्तु भगवान् का भजन किये विना संसार-सागर से नहीं तरा जा सकता, यही अमिट सिद्धांत है।

राम से वढ़कर राम के दास होते हैं। राम की भक्ति एक ऐसा मणि है जो संसार में प्रसिद्ध है, परन्तु बिना रामकृपा के उसे कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। जिसके हृदय में रामभक्ति रूपी चितामणि जग जाय उसे कोई दुख अथवा वेदना कदापि नहीं व्याप सकती। भक्ति में अनुग्रह पक्ष का प्रवल महत्व रहता है। भक्तों पर ईश्वर कृपा से माया भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। रघुपति की यह अनपायिनी भक्ति ही तुलसीदासजी का प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि वह त्रिविध-ताप को मिटाने वाली है।

स्वयम् भगवान् रामचन्द्रजी इस भक्ति की महिमा वतलाते हैं[1]—

धर्म ते विरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद वखाना॥
जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंव न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होईं अनुकूला॥
भगति की साधना कहउँ वखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तव मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। ममलीला रति अति मन मांही॥
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सव मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन वह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर वस मैं ताके॥
वचन कर्म मन मेरिगति भजनु करहि निःकाम॥
तिन्ह के हृदय-कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥
—रामचरित मानस अरण्यकांड—१५।

---

१. रामचरितमानस अरण्यकांड १५।

धर्म से वैराग्य और योग से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है, बंधन से मुक्ति हो जाती है, ऐसा वेदों में वर्णित है। किन्तु जिसके कारण मैं भक्त पर द्रवीभूत हो जाता हूँ वह मेरी सुखदात्री भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं—यदि सत अनुकूल हो जायँ। तात्पर्य यह है कि सतों के सत्संग से अनुकूल बातें ज्ञात हो जाती है और उनकी कृपा से सुखमूला अनुपम-भक्ति सहज साध्य बन जाती है। अब मैं भक्ति के साधन का वर्णन करूँगा जिसको प्राप्त कर सारे जीव मात्र इस सुगम पंथ से मुझे भी संप्राप्त कर लेते हैं। धर्म के तत्त्वों के जानकार एवम् सदाचरणी सुशील विप्रों के चरणों में प्रेम प्रथम होना चाहिए। वे ब्राह्मण ऐसे हों जो श्रुति की रीतियों में अभ्यस्त तथा अपने स्वधर्म में निरत और नीतिमान हैं। इसका फल यह होगा कि नाना प्रकार की विषय वासनाओं के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो जायगा और मेरे लिए मार्मिक रसात्मक अनुभूति उत्पन्न हो जायगी। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन पाद-सेवन, वंदन, सख्य, आत्म निवेदन तथा दास्य आदि नवधा-भक्ति हृदय में दृढ़ हो जाती हैं। भक्त की पात्रता, रुचि और अधिकार के अनुसार उसमें भक्ति का दृढ़ीकरण हो जाता है। मेरी लीलाओं में आत्यंतिक रति उत्पन्न हो जाती है। मन सगुण लीला के प्रति शंकित नहीं होता, प्रत्युत उसमें आस्था बलवती और अडिग हो जाती है। सन्त चरणों में अति स्नेह उत्पन्न होकर मनसा-वाचा-कर्मणा भजन के प्रति दृढ़व्रतसा स्थापित हो जाता है। गुरु, माता, पिता, बंधु, पति के प्रति की गयी सेवा मेरी ही दृढ़तापूर्वक की गयी सेवा है, ऐसी वृत्ति बन जाती है। मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित वाणी गद्गद् और कंठ भर आता है तथा नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। इस तरह जो काम, क्रोध, मोह, दंभादि के वशीभूत नहीं है, अर्थात् जिन भक्तों ने इन पर विजय प्राप्त कर ली है, मैं सदा उनके आधीन हूँ। मनसे, वचन से और कर्म से जो निश्शंक होकर मेरा भजन करते हैं, ऐसे भक्तों के हृदय कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ अर्थात् रहता हूँ। एक स्थान पर वे पुनः कहते है[1]—

पुनि पुनि सत्य कहऊँ तोहिं वाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोऊ नाहीं ॥
भगति हीन विरचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥

हे काक भुसुंडी ! मैं सत्य वचन कहता हूँ कि मुझे अपने सेवक भक्त से प्रिय दूसरा कोई नहीं है। भक्ति हीन ब्रह्मा ही क्यों न हो मुझे वह अन्य साधारण

---

१. रामचरितमानस उत्तरकांड ८५।

जीवों की ही तरह प्रिय होगा। परन्तु भक्ति रत कोई व्यक्ति चाहे नीच भी क्यों न हो मुझे वह प्राण प्रिय होता है।

इस तरह तुलसीदासजी अपनी भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं। सगुणोपासक भक्त मोक्ष नहीं चाहते। वे तो सदा-भक्ति करना ही स्वीकार करते हैं तुलसी ने रामचरितमानस में भक्तों के कई रूप प्रस्तुत किये हैं। उनमें हनुमान, भरत, लक्ष्मण, काकभुसुंडी, शबरी आदि कई भक्त आते हैं। तुलसीदासजी मानी भक्त हैं और एकनिष्ठ अनन्य सेवक भी। अपने उपास्य राम के प्रति अविचल और अनन्य भाव उनका है, इसीलिए उन्होंने कहा[१]—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

तुलसीदासजी का अपने राम के प्रति एक ही भरोसा है, एक ही वल है, एक ही आशा है और एक ही विश्वास का संवल है, क्योंकि तुलसीदासजी ने अपने आपको चातक रूपी भक्त माना है, जिसके हितार्थ घनश्यामल रूप धारण कर रामचन्द्रजी अवतरित हुए हैं। तुलसी रूपी चातक के मत में वह केवल स्वांती की दो बूँदों के लिए नही राह देखता, वरन् वह तो जगत् को सुख देने वाले मेघ का नयनाभिराम दर्शन चाहता है।

सर्वश्रेष्ठ भक्तप्रवर :

तुलसीदासजी के उपास्य का स्वरूप —

अब तक हमने तुलसीदासजी की जगत् और जीव सम्वन्धी धारणाओं को देखा अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि तुलसी के उपास्य का स्वरूप किस प्रकार का है और तुलसी ने उसको अपनी एक विशिष्ट पद्धति और सम्बन्ध से क्यों अपनाया ? ज्ञान, वैराग्य, योग और आध्यात्मिक ज्ञान ये विषय तो पुरुष की तरह कठोर हैं। माया और भक्ति नारी की तरह कोमल है। अर्थात् ज्ञान मस्तिष्क का एवम् उद्वोधन का विषय है तथा भक्ति हृदय का एवम् रागात्मिका वृत्ति का विषय है। ज्ञानी अहंकारी वनकर अपने को खो सकता है। पर सत्वस्थ अन्त:सलिला-भक्ति-भावना अन्य भावनाओं को दूर रखती है। मानव में दोनों वृत्तियों का स्वरूप विद्यमान है। इसका परस्पर नियंत्रण रहना भी आवश्यक है। तभी ज्ञानार्जन और शील का पालन आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों प्राप्त हो सकते हैं। यह नियत्रण भक्ति-भावना के द्वारा संभाव्य है। पर उसके लिये भगवान् के स्वरूप में आस्था और आकर्षण होना अनिवार्य है। तुलसी ने अपने राम को इसी रूप में देखा है—

२. दोहावली—तुलसीदास २७७।

जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तर जामी।
जो कोसल पति राजिव नैना। करउ सो राम हृदय मम ऐना ॥

× × ×

मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहिं नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतारेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी ॥[1]

भगवान् के स्वरूप में आस्था और आकर्षण होना अनिवार्य है। तुलसी ने अपने राम को इसी रूप में देखा है—

हे हृदय में निवास करने वाले प्रभु! आपका सगुण और निर्गुण स्वरूप जो जानते होंगे उनकी बात छोड़िये। मैं तो आपके कमल नेत्रों वाले अयोध्यापति धनुर्धारी-राम-रूप को ही अपने हृदय में स्थान देता हूँ।

मुनि और धैर्यशाली योगी, सिद्ध तथा ध्यानी विमल मन से जिनको ध्यान करते हैं, तथा आगम, निगम, पुराण और वेद जिनके बारे में नेति-नेति कहकर नित्य कीर्ति गाया करते हैं, वे ही राम व्यापक ब्रह्म हैं चौदह भुवनों के स्वामी हैं और मायापति हैं। भक्तों के हितार्थ अपने तन्त्र से भूमि भार-हरणार्थ नित्य ही रघुकुल-मणि-रघुनाथजी अवतार लेते हैं। अर्थात् तुलसी अवतार वाद में आस्था रखते हैं और सगुण साधक हैं। यह बात इससे प्रकट हो जाती है।

भगवान् राम देवों के देव एवम् महाविष्णु हैं। क्योंकि वे विधि को विधिता, शिवजी को शिवता और हरि को हरिता प्रदान करते हैं। हरि का अवतार जिस हेतु से होता है उसे 'इदम् इत्थम्' के रूप में नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसे राम अतर्क्य हैं तथा बुद्धि, मन और वाणी के परे हैं, ऐसा भवानी से शंकरजी ने बताया है। शिवजी के उपास्य 'राम' तुलसी के स्वामी तथा सीता के प्रियतम हैं और भुसुण्डी के मानस सरोवर के हंस हैं। वे सच्चिदानंद राम ऐसे हैं[2]—

माया का स्वरूप—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुं न पावा ॥
सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥
सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा ॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता ॥

---

१. रामचरित मानस बालकांड ५१ (छन्द)।
२. रामचरित मानस उत्तरकांड ७१।

अगुन अदभ्र गिरा गो-तीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उवा सी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि सम्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥
भगत हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनुभूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

जो माया समस्त संसार को नचाती है और जिसका चरित्र किसी ने भी नहीं समझा अथवा जिसे कोई भी नहीं लख पाया, हे पक्षिराज गरुड़! वही माया भगवान् के संकेत पर केवल भृकुटियों के इशारे पर अपने परिवार सहित नटी की तरह नाचती है। वही अजन्मा विज्ञान रूप और वल के धाम सच्चिदानंद-घन रामजी हैं। वह सर्वव्यापक, व्याप्य, अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण, अमोघ शक्ति सम्पन्न भगवान् हैं। वे निर्गुण, अपार, वाणी और इन्द्रियों से परे, सर्वदर्शी, निर्दोष, अजेय, ममता रहित, आकार-रहित, मोह-रहित, नित्य, माया-रहित आनन्दघन हैं। प्रकृति से परे सर्व समर्थ प्रभु सबके हृदय में निवास करने वाले, इच्छा रहित, विकार-रहित एवम् अविनाशी ब्रह्म हैं। यहाँ मोह का कारण नहीं है। सूर्य के सामने क्या कभी अन्धकार आ सकता है? हे प्रभु रामचन्द्रजी! आपने भक्तों के लिए राम बनकर राजा का शरीर धारण किया है और लौकिक मनुष्य के अनुसार अत्यन्त पवित्र और सदाचारपूर्ण कार्य किए हैं। इसमें तुलसी की अवतार वाद-विषयक विचार प्रणाली हमारे सामने परिलक्षित हो जाती है। राम का अलौकिकत्व, परब्रह्मत्व और अपार शक्ति का स्मरण करते हुए भक्त प्रवर तुलसीदासजी अपने मन को समझाते हैं कि तू ऐसे महान् भव्य और दिव्य राम को क्यों नहीं भजता? उनकी वे विशेषताएँ हैं—

राम की दिव्यता—

लव निमेष परमानु जुग वरष कलपसरचंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालुजासु को दंड॥[1]

लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ये जिनके बाण हैं तथा जिनके हाथों में कालका धनुष है ऐसे सर्व शक्तिमान प्रभु रामचन्द्रजी को भजने से हे मेरे मन! क्या तुम्हारा कल्याण नहीं होगा? अर्थात् यहाँ पर तुलसीदासजी की एकान्तिक निष्ठा उस अनन्त शीलवान रामचन्द्र में केन्द्रित हो गई है ऐसा निश्चित जान पड़ता है।

---

१. रामचरित मानस लङ्का कांड १।

भगवान् रामचन्द्रजी का स्वरूप तुलसी की मंजुल और मेधावी मति के द्वारा आँका गया था, इसलिए उनकी भक्ति केवल स्वान्त सुख तक परिमित न रहकर वह संसार के विस्तृत धरातल और परिधि को भी अपने में समेटने में समर्थ बन गई है। आत्मकल्याणार्थ भगवान् राम के जिस अनन्त रूप तथा अनंत शक्ति और अनन्तशील को तुलसी ने आत्मसात् कर लिया था, उसे लोक कल्याणार्थ कविता की मधुर और अविरल धारा से बहाकर सबके लिए सुलभ कर, उसे सार्वजनीन और सार्वभौमिक बना दिया है।

तुलसीदासजी ने अपने समर्थ उपास्य की शक्तिमत्ता का स्मरण बड़े ही सशक्त स्वर में किया है जो विशेष रूप से द्रष्टव्य है[1]—

सुमिरत श्री रघुवीर की बांहें।
होत सुगम भव-उदधि अगम अति, कोउ लांघत, कोउ उतरत थाहें ॥
सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै दै अभय पद और निवांहें।
करि आंई, करि है, करती है तुलसिदास दासनि पर छाहें ॥[1]

सगुणोपासक भक्त का अपने उपास्य पर कितना विश्वास रहता है, इसका परिज्ञान हमें तुलसी की इस उक्ति से भली-भाँति हो जाता है। श्री रघुनाथ की भुजाओं का स्मरण करते ही दुर्गम और दुर्लंघ्य संसार सागर पार करने के लिए सुगम हो जाता है। कोई तो उसे लांघ जाते हैं और कोई थहाकर पार कर लेते हैं। भगवान् के शरीर में सुशोभित वे दो भुजाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो अति सुन्दर श्याम सरीर रूपी पर्वत से यमुनाजी की धाराएँ निकली हैं, जो बलरूप अथाह एवं निर्मल जल से भरी हुई हैं तथा शृङ्गार रूप सूर्य से उत्पन्न हुई हैं। उनके कर कमलों में धारण किये हुए बाण ही मानो उनकी धाराएँ हैं, धनुष किनारा है, आभूषण जलचर-जन्तु है और अंगुलियों के बीच के संधिस्थल भँवर हैं। विजय की विरुदावली ही उसमें तरंग रूप से शोभायमान है तथा उसमें कर रूप कमलों की शोभा विद्यमान है। वे मानो सम्पूर्ण लोकों के कल्याण रूप भवन के द्वार की दो विशाल और मजबूत और शोभायमान खड़ी लकड़ियाँ हैं (स्तम्भ हैं) जो विश्वामित्रजी के यज्ञ में ऋषियों द्वारा पूजित हुई तथा जिन्होंने जनकजी, गणेशजी, भगवान् शंकर और पार्वतीजी से पूजित होकर सब की कामनाएँ पूर्ण की हैं। इन्हीं भुजाओं ने अपने पराक्रम से शंकर के पिनाक को तोड़कर जानकीजी से विवाह किया, जिसके परिणाम स्वरूप सारे राजा-लोग शर्म के मारे बेहाल हो गये तथा जिन्होंने कृपा की ओर कभी दृष्टिपात भी नहीं किया, ऐसे परशुरामजी को भी

१. गीतावली उत्तरकांड पद १३।

महामुनियों के समान क्षमाशील बना दिया। जब राक्षसियों के द्वारा विरहिणी सीता को कई अप्रिय बातें कहकर व्यथित किया गया तो उन भुजाओं ने शत्रु संहार कर उन असुर पत्नियों के सिर उघाड़कर उन्हें धाड़ मारकर रुलाया। रावण ने त्रैलोक्य को विवशकर-लोकपालों को व्याकुल कर उनसे नाकों चने चववाये थे। उसी रावण के वधे जाने से देवता, नाग और मानवगण अपने-अपने गृहों में अपनी पत्नियों सहित सुखपूर्वक रहते हुए जिन भुजाओं का यशोगान किया करते हैं। जिन भुजाओं की वेद, पुराण, शेष, शारदा और शुकदेवजी भी स्नेहपूर्वक प्रशंसा करते हैं, क्योंकि वे भुजाएँ कल्पलता की भी श्रेष्ठ कल्पलता तथा कामधेनु हैं। ये भुजाएँ अपने शरणागतों को अभय प्रदान कर दीन एवम् प्रणत पुरुषों की अन्त तक सुरक्षा करती हैं। तुलसीदासजी का निवेदन है कि भगवान् की वे ही भुजाएँ अपने दासों पर सदा से छाया करती आयी हैं, अब भी करती हैं, और आगे भी करती रहेंगी।

तुलसी के प्रभु रामचन्द्रजी में परब्रह्मत्व, निर्गुण तथा सगुण अशरीरी परमात्मा की भवतारी सगुण शरीरी परमात्मा की तथा मर्यादा पुरुषोत्तमत्व की सारी विशेषताएँ सामंजस्य के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है। रघुवंश-मणि विश्वरूप हैं। सगुण साकार-कल्याण-गुण गुणाकार है। जिसे जो रूप तथा जो गुण जँचा उसके लिए वे वैसे ही सिद्ध हैं। 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' यह तुलसीदासोक्ति इस कथन को सिद्ध कर देती है। वैसे सृजन पालन और संहार, भगवान् के कार्य हैं परन्तु भक्त तो आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत रहता है। अतएव पालक रूप ही भक्त को विशेष भाता है। एक बार जानकीनाथ की कृपा प्राप्त हो गई तो फिर क्या मजाल है, कि कोई आकर के अङ्गीकृत कार्य में कोई बाधा उत्पन्न कर दे। अपने राम का तादात्म्य इसीलिए तुलसीदासजी ने विष्णु के साथ किया है। रामचन्द्रजी शिवजी के भी परमाराध्य हैं।

नाम-माहात्म्य—

गोस्वामीजी को रामचन्द्रजी का राम नाम ही प्रिय है। नारद परमात्मा के अनेक नामों में से यही सर्वोपरि क्यों है इसे स्पष्ट करते हैं[1]—

यद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥
राम सकल नामन ते अधिका। होहु अखिल अघखग गन बधिका॥

× × ×

---

१. रामचरितमानस अरण्यकाण्ड ४२।

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन विमल बसहु भगत उर व्योम।

प्रभु रामचन्द्रजी ! यद्यपि आपके अनन्त नाम हैं और वेदों ने उन्हें एक से एक बढ़कर और श्रेष्ठ कहा है तथा माना है, फिर भी हे नाथ ! रामनाम सब नामों से बढ़कर सिद्ध हो और यह पाप रूपी पक्षी के समूह के लिए वधिक के सदृश हो। आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात है, उसमें जो रामनाम है, वही चन्द्रमा होकर तथा अन्य सब नाम निर्मल तारागण होकर भक्तों के हृदयाकाश में निवास करें। अतः स्पष्ट है कि प्रभु रामचन्द्र ने नाम को अनन्त प्रभावशाली बना दिया है। क्षमाशीलत्व भी तुलसी के राम की एक अन्यतम विशेषता है। क्योंकि वे भावग्रही है और भक्तों के भाव के भूखे हैं। उनका उदार और सरल स्वभाव कितना करुणा पूर्ण था इसे पूर्ण रूप से देखा जा सकता है[1]—

राम का करुणामूलक स्वभाव—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
जानत हूँ पूछिअ कस स्वामी। समदरसी तुम अन्तरजामी ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुवीर नयन जल छाए ॥
निसिचर हीन करऊँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

वन में रामचन्द्रजी अनेक मुनियों के साथ जब आगे बढ़े तो कई जगह उन्होंने हड्डियों के ढेर देखे। तब उनके अन्तःकरण में दया उत्पन्न हुई। उन्होंने मुनियों से पूछा तब उन्होंने उत्तर दिया कि हे स्वामी ! आप तो सर्वान्तरयामी हैं फिर भी हम लोगों से कैसे पूछ रहे है ? राक्षसों के समूह ने सब मुनियों को खाया है। यह सुनकर रामचन्द्रजी के नेत्रों में जल छा गया। रामचन्द्रजी ने तब भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की, कि मैं पृथ्वी को राक्षसों से रहित कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने सब मुनियों के आश्रमों में जाकर उन्हे आनन्दित किया और उन्हें सुख पहुँचाया।

इस प्रसङ्ग से तुलसी के उपास्य की लोक-पालकता तथा सुराकारता स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्म अवतारी बनकर अपने भक्तों की भावना और उसकी विशिष्ट आकांक्षा परिपूर्ण कर देते हैं। भक्त के हृदय ने भगवान् को सगुण साकार और अवतारी बना दिया है, जिससे लोक कल्याण और मर्यादा पुरुषोत्तमत्व सिद्ध हो जाता है। वैसे निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म स्वरूप है तथा अकथनीय अनादि

१. रामचरित मानस अरण्यकांड ८–९।

जेथ शांतिचा जिव्हाळा नाही । तेज सुख विसरोनी नरिगे कोहीं ।
जैसा पापियाच्या ठायीं । मोक्ष नवरी ॥[1]

जहाँ शांति का लगाव नहीं वहाँ, सुखों को भूलकर भी क्या मिल सकता सकता है ? जिस तरह पापी को कभी मोक्ष नहीं मिल सकता । श्री ज्ञानेश्वर की दृष्टि से साहित्य में विश्व कल्पना को अवश्य स्थान दिया जा सकता है । अन्तिम पमाय-दान (प्रसाद-दान) भी वे इसी प्रकार का मांगते हैं—

ज्ञानेश्वर का प्रसाद दान—

आतां विश्वात्मके देवें । येणें वाग्यज्ञें तोषावें ।
तोषोनि मज द्यावे पसाय-दान हे ॥
जे खळांची व्यंकटीं सांडो । तया सत्कर्मी रति वाढो ।
भूतां परस्परे पड़ो । मैत्र जीवाचें ॥
दुरितांचे तिमिर जावो । विश्वस्वधर्म सूर्ये पाहो ।
जो जे वांछील तो ते लाहो । प्राणि जात ॥[2]

'मेरे द्वारा किये गये इस वाक्यज्ञ से यह विश्वात्मक भगवान् संतुष्ट हो जायें और दुर्जन सत्कर्मो में रत हो जायँ । परस्पर प्राणियों में सद्भावना हो और आपस में मैत्री भाव हो । पापों का अंधकार नष्ट हो जाय और विश्व में स्वधर्म सूर्य का उदय होकर ऐसा प्रकाश फैले जिससे प्राणिमात्रों में से जिसे जो भी इच्छा प्राप्त होगी वह पूरी हो जाय ।'

इससे एक बात यह अवश्य सिद्ध हो जाती है, कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करे कि वह आत्मस्वरूप है । अतः आत्मरूप धर्म का उदय हो जाय यही उनकी मनोकामना है । डा० राधाकृष्णन् एक स्थान पर कहते है[3]—

'The world can be really found together and united at the spiritual level through Religion expressing itself in love. Religion signifies two things in particular. One is the inward awareness of spiritual self, spiritual perception; outwardly it is abounding love to humanity. Prajanan and karuna-wisdom and love contribute true religion.' —Dr. Radhakrishnan.

मनुष्य स्वभाव से ही धार्मिक रहता है । ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'मनुष्य जात सकळ । स्वभावतः भजन शील ।' —ज्ञानेश्वरी ।

---

१. ज्ञानेश्वरी ।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १८।१७९३–९५ ।

३. डा० राधाकृष्णन के एक लेख से उद्धृत ।

दूध को कटु विष कहा जाता है उसी तरह मुझे देहधर्म रहित होने पर भी देहधर्म युक्त मैं हूँ ऐसा मानोगे। इसीलिए हे अर्जुन ! मैं पुनः एक वार तुम्हें चेतावनी देकर समझाता हूँ कि मेरे द्वारा बतलाये गये इस स्वरूप ज्ञान के अभिप्राय को भूल जाओगे तो उचित नहीं होगा। यह भूलने की चीज नहीं है। क्योंकि स्थूल दृष्टि से मुझे देखने का यत्न करने पर उनका वह देखना न देखने के बराबर ही है, ऐसा निश्चित समझो।

कई दृष्टान्तों से ज्ञानेश्वर ने इसे समझाने का अथक यत्न किया है। यह पूर्ण वर्णन अध्ययन करने योग्य और द्रष्टव्य है। चेतावनी यही है कि इस तरह का विपरीत ज्ञान मेरे शुद्ध स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को ढँक लेता है। स्वप्न में अमृत पीकर कोई अमर कैसे हो सकता है? भक्ति की प्रचलित कल्पना पर ज्ञानेश्वर की आलोचना भी देखने योग्य है:[1]—

तैसा माते किरीटी। भजती गा आऊटी।
करुनि जो दिठी विषोसूर्ये॥
नीच आराधन माझे। काजीं कुळ देवता भजे।
पर्व विशेषे कीजे। पूजा आना॥

ज्ञानेश्वर की वर्णन शैली और विशेषता—

ज्ञानेश्वर अव्यभिचारी भक्ति को विशेष मानते थे। ईश्वर एक ही है, इस तत्व को न समझकर अलग-अलग भाव रखकर भिन्न-भिन्न हेतु से प्रत्येक देवता की उपासना करने वाले लोग ज्ञानदेव को अप्रिय थे। यह उस मनुष्य का मूर्तिमान अज्ञान है जो अपने मन में फल की आशा रखकर मेरी भक्ति इस प्रकार करता है, जैसे कोई व्यभिचारी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुअवसर प्राप्त करने के लिए अपने पति को पूर्ण संतोष प्रदान करती है और झूठा विश्वास सम्पादन करने के लिए ऊपरी तौर पर शुद्ध व्यवहार और शुद्ध आचरण वरतती है। हे अर्जुन ! यह अज्ञानी पुरुष दिखावटी रूप से मेरी भक्ति करता है, वास्तव में उसकी सारी दृष्टि विषय सुखों की ओर लगी रहती है। जिस तरह अजान किसान नये-नये व्यवसाय एवम् उद्यम करता रहता है, उसी तरह अज्ञानी पुरुष हर दिन नये देवता की स्थापना करता है। प्रथम जितनी उत्सुकता से वह प्रथम देवता को पूजता है उतनी ही उत्सुकता से वह द्वितीय देवता की भी पूजा करता है। जिस गुरु के पास विशेष जमघट या मण्डली रहती है, उसके सम्प्रदाय पर इसका विश्वास हो

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३।७०६।२१।

जाता है। वह उसी से मन्त्रोपदेश ले लेता है अन्य का नहीं लेता। वह सब प्राणियों के साथ निर्दयता पूर्ण व्यवहार करता है तथा पाषाण की प्रतिमा इत्यादि को देवता समझकर पूजा करता है। इस तरह उसकी एक निष्ठ-श्रद्धा किसी पर नहीं होती। मेरी मूर्ति को वह प्रतिष्ठित करता है, परन्तु उस मूर्ति को मकान के किसी कोने में स्थापित कर वह अन्य देवताओं के दर्शनार्थ यात्रा के लिये निकल पड़ता है। वैसे सदा मेरा पूजन करता है किन्तु मङ्गल कार्यों में कुल देवताओं की अर्चना करता है। विशेष पर्वों में कुछ अन्य देवताओं की आराधना करता है।

अध्यात्म ज्ञान के अतिरिक्त सारा ज्ञान, योग्यता आदि अप्रमाण एवम् बेकार है। जो अध्यात्म ज्ञान को कभी भी नहीं मानता उसे ज्ञान का विषय 'ब्रह्म' क्योंकर दिखने जायगा। ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए कहना पड़ता है, क्योंकि उस को सिवा ज्ञान के अन्य किसी भी उपाय से नहीं जाना जा सकता। ज्ञानेश्वर योगमार्गी, नाथ पंथी और अद्वैतानुयायी थे। नामस्मरण का झूठा आडम्बर रचने वाले न थे। उनके अटूट विश्वासानुसार जिनके शरीर में हृदय से धारण किये हुए ज्ञान के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, वही सिद्ध-पुरुष है। वे सिद्ध-पुरुष का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

> तैसा आत्मत्वे वेष्टिला होये। तो जया जया दृश्याते पाहे।
> ते दृश्य दृष्टे परोंसी होता जाये। तयाचे निरुप ॥[1]

जिसे आत्म भाव ने व्याप लिया है, वह जिन दृश्य पदार्थ को देखेगा, वह दृश्य पदार्थ उसके द्रष्टापन सहित उसी का स्वरूप बन जाता है। आचरण से ही ज्ञान की अनुभूति होती है। अतः ज्ञानेश्वर को जहाँ-जहाँ पर अज्ञान दीख पड़ता था वहाँ पर वे उस पर प्रखर हमला करते हुए उसका निर्मूलन किया करते थे। आज की समता की दृष्टि से उसका परीक्षण करना अनुचित होगा। ज्ञानेश्वर की दृष्टि में समता एवम् समत्व की कल्पना ऐसी है—

मानवता की समता पूर्ण दृष्टि—

> तो मी पुससी कैसा। तरि जो सर्व भूती सरिसा।
> जेय आप पर ऐसा। भागु नाहीं ॥
> पाहें पा सावजें हा-तिरु धरिलें। तेणे तया काकुळती।
> मातें स्मरिलें। की तयाचें पशुत्व वावो जाहले। पातलिया मातें ॥[2]

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १८।४१०।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।४०७,८,१५,३१,३२,४१,४२।

भक्त जिसका स्वरूप बन जाना है ऐसा मैं कैसे हूँ. इसे यदि तुम पूछते हो तो सुनो ! मैं सारे प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हूँ और जहाँ पर अपना पराया ऐसा कोई भेद नहीं है। इस तरह सर्वत्र समान रूप से रहने वाले मुझ को जानकर, पहिचानकर उस ज्ञान से कर्तृत्व के अहंकार को एवम् उसके स्थान को नष्ट कर देते हैं, और मन:पूर्वक कर्म करते हुए उसके द्वारा मेरा भजन करते हैं। शरीर से वे व्यवहार करते दिखाई देते हैं पर वास्तव में वे देह तादात्म्य के बदले मुझ में ही रंगे हुए रहते हैं। उनकी सारी अन्तकरण की वृत्तियाँ मुझ में रंगी रहती हैं। इस तरह प्रेम भाव से भजन करने वाले को पुनः यह शरीर प्राप्त नहीं होता। फिर चाहे जिस जाति का भी वह क्यों न हो। व्यर्थ ही अपने शुद्ध कुल का अभिमान और गर्व नहीं करना चाहिए। हमारा ही कुल श्रेष्ठ है, ऐसा कदाचित् आनन्द तुम मान सकते हो, पर इस वृथाभिमान में मत रहो। बेकार शास्त्राध्ययन की लालसा रखने से क्या होगा ? क्योंकि यदि मेरी भक्ति नहीं है, तो उत्तम रूप, जवानी और उसका जोश सब का सब व्यर्थ है। खोखली सम्पन्नता का गर्व किस काम का ? भक्ति करने के लिए उत्तम कुलवान होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नीच योनि में, अथवा अन्त्यज जाति में अथवा पशु योनि में भी कोई पैदा हो जाय पर यदि अन्त करण में मेरी भक्ति है, तो उसे सारी कृतार्थता प्राप्त हो जायगी। गजेन्द्रमोक्ष इसका उत्तम उदाहरण है। उसका पशुत्व लुप्त होकर उसकी भक्ति श्रेष्ठ सिद्ध हुई। ज्ञानदेव के मत में उच्चकोटि ब्राह्मण उसको कहना चाहिए जिसमें ये विशेषतायें विद्यमान हैं—

> **मग वर्णांमाजी छत्र चामर। स्वर्ग जयाचे अग्रहार।**
> **मंत्र विद्येसी माहेर। ब्राह्मण जे॥**
>
> **जेथ अखंड वसिजे यागीं। जे वेदांची वज्रांगी।**
> **जयाचिये दिठीचा उत्संगी। मंगळ वाढे॥**[1]
> **जे पृथ्वी तळींचे देव जे तपोवतार सावयव।**
> **सकळ तीर्थासी देव। उदयले जे॥**
> **जयांचिये आस्थे चिये वोले। सत्कर्म पाल्हाळीं गेलें।**
> **संकल्पे सत्य जियालें। जयाचेनि॥**[2]

चार वर्णों में जो सबके सिरमौर की तरह रहने वाले हैं, तथा अपने उदर निर्वाह के लिए जिनको स्वर्ग इनाम में मिल चुका है, और जो वेदों को मन्त्र रूप

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ९।४७५–७८।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ९।४०५–७८।

विद्या के मूल स्रोत हैं वे ही ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणों में सदा यज्ञों का निवास रहता है। जिनको वेदों का अभेद्य कवच मानते हैं तथा जिनकी मङ्गल दृष्टि-रूप-गोद में कल्याण की वृद्धि होती रहती है। ऐसे ब्राह्मण पृथ्वी तल के सुर हैं। तथा मूर्तिमान तप के अवतार हैं और सब तीर्थो में उदय हुये दैव के समान हैं। जिनकी इच्छा की आर्द्रता से अच्छे कर्मो की लता फैलती रहती हैं तथा जिनके संकल्प से सत्य भी जीवित रहता है ऐसी विशेषताएँ ब्राह्मणों में रहती हैं।

ज्ञानेश्वरी में ये सारी विशेषताएँ एक साथ देखकर आश्चर्य होता है। आध्यात्मिकता को साहित्यिक और सरस काव्य-पोषक स्वरूप प्रदान करने की अपार शक्ति ज्ञानेश्वर की काव्य शैली में विद्यमान है।

कवि के लिए पोषक साधन और रसत्व की स्फूर्ति—

उच्चतम कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान संस्कृत में ही होने से सर्व साधारण जनों के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। अतः एक मराठी के द्वारा वह ज्ञान सब को सुलभतापूर्ण उपलब्ध कर देने के हेतु वे कहते हैं[1]—

तीरे संस्कृताची गहने। तोडोनिया महाटिया शब्द सोपा ने।
रचिली धर्म निधाने। श्री निवृत्ति नाथे।।

दाऊ वैल्हाळ देशीनवी। जे साहित्यांते वोजावी।
अमृताजे चुकी ठेवी। गोंडस पणें [2]।।

हे सारस्वताचे गोड। तुम्ही चि लाविले जी झाड।
तरी आता अवधानामृते वाड। सिंपोनी कीजो।।

× × ×

मग हे रसभाव फुलीं फुलेल। नाथार्थ फळभारें फळा येईल।
तुमचेनिधर्मे होईल। सुकाळ जगा [3]।।

× × ×

तैसे देशियेचें लावण्य। हिरोनी आणिले तारुण्य।
मग रचिले अगण्य। गीतातत्व।।

× × ×

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्ययाय ११।६।
२. ,, ,, १३।११५६।
३. ,, ,, ११।१६–२०।

देशिचिये नागरपणें। शांतु श्रृङ्गाराते जिणें। तरी ओंविया होती लेणें। साहित्यासी। तैसी देसी आणि संस्कृतवाणी। एका भावार्थाच्या सोकासनी। शोभती आयणी। चोखट आइका॥

उठावलिया भावा रूप। करिता रसवृत्तिचे लागे पडप। चातुर्य म्हणे पडप। जोडले आम्हा॥[1]

मराठी का गौरव—

ज्ञानेश्वर देशी भाषाओं के सामर्थ्य को भली भाँति जानते थे। तथा उसका सामर्थ्य संस्कृत ही की तरह उच्च कोटि का है इसे भी वे मानते थे। उनके गुरु निवृत्तिनाथ ने उनको यह सामर्थ्य प्रदान किया था। इसीलिये वे निवेदन करते हैं कि अपने गुरु ने मुझे साधन बनाकर और कारणीभूत बनाते हुए संस्कृत भाषा रूपी कठिन ऊँचे कगारों को तोड़-फोड़ कर मराठी भाषा के शब्द रूपी सीढ़ियों का घाट बाँध दिया है। केवल शांत रस की यह कथा वाणी के मार्ग से शब्दों के द्वारा बखानी जायगी, किन्तु उसकी योग्यता इस प्रकार की होगी कि वह श्रृङ्गार रस के मस्तक पर अपने चरण रखेगी। अभिप्राय यह है कि शांत रस पूर्ण कविता होने पर भी श्रृङ्गार रस से माधुर्य, प्रसाद, सुकोमलता, सुकुमारता आदि काव्य गुणों में आगे बढ़ जायेगी। इस तरह वह अपने मिठास से देशी भाषा साहित्य को अलंकृत करेगी तथा अपनी माधुरी में अमृत की माधुरी से भी सरस प्रतीत होगी। इस तरह अपूर्व और सुन्दर देशी भाषा मराठी का मैं प्रयोग करूँगा। यह तो ज्ञान के वाङ्मय का सुन्दर पेड़ ही मानों लगाया गया है। हे संतो! यह ज्ञान बिरुआ आप के ही द्वारा बोया गया है, इसे अमृत सिंचन से बड़ा करने का उत्तरदायित्व हम सब लोगों का है। कवि के नाते कितनी सुन्दरता से ज्ञानेश्वर ने इसे अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं कि संवर्धन किये गये ज्ञान के इस वृक्ष में नवरसों के फूल प्रफुल्लित होंगे। तथा नाना प्रकार के अर्थों के फल-भार से वह लद जायगा। इससे संसार को श्रवण सुख का सुकाल प्राप्त होगा। ज्ञानेश्वर का यह भाव है कि इस तरह मराठी-भाषा का देशी सौन्दर्य लेकर नव-रसों को भी तारुण्य प्राप्त हो गया जिससे असीम गीतातत्व रचने का कार्य सुसंपन्न हो गया। पुनः वे कहते है कि मराठी भाषा में लिखा हुआ यह मेरा ग्रंथ अर्थात् "भावार्थ दीपिका" अपनी सरसता, सुरसता और सौन्दर्य से शांतरस युक्त होने पर भी श्रृंगार रस को जीत लेगी और इसकी ओवियाँ अलङ्कार शास्त्र के लिये भी भूषणास्पद होंगी। शरीर के स्वाभाविक सौन्दर्य से शरीर ही जैसे अलङ्कारों को अलंकृत करता है उसी तरह मेरी मराठी भाषा और संस्कृत वाणी दोनों एक ही अभिप्राय युक्त पालकी में शोभायमान हैं। इसलिये इसे हे श्रोताओं, तुम अच्छी

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १०।४७ तथा १०।४२, १०।४५–४६

बुद्धि से सुनो। गीता का प्रवचन करते हुए शृङ्गारादि नव रसों की वर्षा होती रहती है, तथा स्वयम् चातुर्य कहने लगता है कि उसे भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है। ज्ञानेश्वर संस्कृत की सारी सक्षमता सहज और सरसता से मराठी में ला सकते हैं ऐसा उनका दृढ़ विश्वास कई स्थानों पर उन्होंने प्रकट किया है जो ठीक ही है।

रस की उपलब्धि ज्ञानेश्वरी की दृष्टि से विषयानुकूल और औचित्यपूर्ण होनी चाहिए। उनकी मार्मिकता की श्रोताओं ने भी सराहना की है। इसके लिए ज्ञानेश्वरी के अध्याय १३ की ६३१ से ६४५ ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं।[१] वे कहते हैं कि ज्ञानेश्वर ! आत्मज्ञान के विषय का विस्तारपूर्वक आपने सुन्दर विवेचन किया। सामान्य कवि किसी विषय के प्रतिपादन में बेकार ही लम्बा वर्णन करते हैं जिससे ज्ञान का मूल विषय छूट जाता है, तथा अन्य बातों को महत्व मिल जाता है, जो अनुचित है। असामान्य कवि अपने साथ श्रोताओं का भी ध्यान रखते हैं। ज्ञानेश्वर को इसका बराबर ध्यान रहा है, तभी तो श्रोता-गण इसी तरह का प्रशस्ति पत्र ज्ञानेश्वर को प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि हमें ज्ञान के लिए प्रेम है तथा तुम्हें भी ज्ञान के इस निरूपण में प्रीति है। इसलिये तुम्हारे इस ज्ञान निरूपण में चौगुनी स्फूर्ति आगई है। तुम ज्ञान को खुली आँखों से प्राप्त कर चुके हो इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। श्रोता आगे चलकर और भी कहते हैं[२]—

तंव श्रोता म्हणती राहे। के परिहारा ठावो पाहे ॥
विहिसी का वाये। कवि पोषका ॥

ज्ञानेश्वरी श्रवण करने बैठी हुई मंडली कहती है कि हे ज्ञानदेव ! हे कवि पोषक ! तुम क्यों व्यर्थ डरते हो ? भगवान् मुरारी का मनोगत और गुप्त अभि-प्राय तुमने अपनी वक्तृत्व शैली से प्रकट कर दिखाया है।

सहज कवित्व का प्रभाव—

ज्ञानेश्वर के इस सहज कवित्व ने सब को पूर्ण आनन्द प्रकट कर दिया। रस-परिपोष की दृष्टि से ज्ञानेश्वर की विदग्ध रसवृत्ति-निश्चित प्रकट हो गई है। कवित्व के तथा ज्ञान के प्रेम से एवम् अभिजात प्रतिभा के बल से आध्यात्मिक तत्व-ज्ञान को ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया जिससे स्फूर्तियुक्त अन्तःकरण में रसवृत्ति जागृत हो जाती है। यह रसवृत्ति ऐसी किस प्रकार बन गई, इसका पता बुद्धि को भी नहीं लग पाता। ब्रह्मविद्या के मूल स्रोत श्रीमद्-भगवद्-गीता पर मराठी में जब टीका लिखने श्री ज्ञानेश्वर प्रस्तुत हो गये तो उन्होंने प्रारम्भ में

---
१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १३।६३१—६४५।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १३।८५४।

वाणी के नये-नये विलास प्रकट करने वाली विश्व मोहिनी शारदा का स्तवन अपरिहार्य रूप से किया है। गीता जैसे तत्व ज्ञान परक ग्रन्थ पर टीका लिखते हुए भी दार्शनिक की अपेक्षा ज्ञानेश्वर कवि के नाते ही अधिक रूप से प्रभावी बन गये हैं। वे कहते हैं[1]—

म्हणौनि माझे नित्य नवें। श्वासोच्छ्वास ही प्रवंध हो आवे।
गुरु कृपा कायनोहे। ज्ञान देओ म्हणे॥

काव्य स्फूर्ति—
इसलिये मेरे नित्य वहने वाले अर्थात् निकलने वाले श्वास और प्रश्वास भी काव्य ग्रन्थ बन जाते हैं। गुरु कृपा से असम्भव कुछ भी नहीं है। इसी गुरु प्रसाद से वे आश्वस्त होकर यह प्रतीज्ञा करते हैं[2]—

अगा विश्वैक धामा। तुझा प्रसादु चंद्रमा।
करूं मज पूर्णिमा। स्फूर्तीची जी॥

जी अवलोकिया मातें। उन्मेष सागरी भरितें।
वोसडेल स्फूर्तीतें। रसवृत्तीचे॥
तरी आतां येणें प्रसादे। विन्यासे विदग्धे। मळू शास्त्र पदें। वाखाणीना।
म्हणोनि अक्षरी सुभेदीं। उपमा श्लोक कोंदा कोंदी।
झाडा देईन प्रति पदीं। ग्रंथार्थासी॥

हे गुरुदेव! आप सारे जगत् का एकमात्र आश्रय स्थान हैं। आपका प्रसन्नतारूपी चन्द्रमा मेरे अन्तःकरण में उदय होकर स्फूर्तिरूप पौर्णिमा का निर्माण करे। हे सद्गुरु! आपने मेरी ओर कृपादृष्टि पूर्वक देखा है, अतएव मेरे बुद्धि रूपी सागर में स्फूर्ति आदि को नवरसों का ज्वार उत्पन्न होगा। फिर गुरु प्रसाद से गीता शास्त्र में मूल रूप से आये हुए सिद्धान्तों, प्रमेयों एवम् पदों का चातुर्यपूर्ण शैली में मैं वर्णन करूँगा। मार्मिक अर्थ स्पष्ट करने वाले शब्दों में, उपमा और काव्योत्कटता से सरावोर कर गीता ग्रंथ के प्रत्येक पद का अर्थ सुस्पष्ट कर मैं वतलाऊँगा। मेरे गुरु ने मुझे इस विद्या में पूर्ण और निपुण कर दिया।

रमणीय कला विलास में से संप्राप्त होने वाला कला वोध—

ज्ञानेश्वर एक कथा कथन कर रहे हैं, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद रूप से चली है। ये संवाद दार्शनिक प्रमेयों और उनके स्पष्टीकरण से भरे

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७३४।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १४-२३-२४,२६ तथा अध्याय १३-११६४।

हुए है। ज्ञानेश्वर को यह सब रसवृत्ति से युक्त होकर कहना है। इस वैदग्धपूर्ण रसवृत्ति में साहित्य की सभी कलात्मक सम्पत्ति का भव्य स्वरूप वे श्रोताओं को उपलब्ध कर देना चाहते हैं। वे इसको तारुण्य और नव्यता भी प्रदान करना चाहते हैं। शारदा का लावण्य भंडार मुक्त करके उसके अनगिनत अनमोल रत्न दोनों हाथों में भरकर श्रोताओं को वे समर्पित करना चाहते हैं। अपनी शैली से माधुर्य को मधुरता, रंगों को सुरंग की विशेषताएँ प्रदान करने की उनकी इच्छा है। संक्षेप में रमणीय, रसात्मक सुरस कविता का स्वैर विलास अपनी मुग्ध शैली से उनको बतलाना है। श्रोताओं के मन कला-विलास की दिव्यता से मुग्ध करते है। मराठी के नगर में ब्रह्मविद्या का समृद्ध भंडार उत्पन्न करना है, ऐसा उनका निश्चय है, तथा यह सब उन्हें कल्पना के विलास द्वारा कर दिखाना है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा शब्दों का व्यापकत्व भी इसी रस विदग्धता से ही सामने आया है[1]—

जैसे बिंब तरी बचके चिएवढें। परि प्रकाशासि त्रैलोक्य थोकड़े।
शब्दाची व्याप्ति तेणे पाड़े। अनुभवावी।
ना तरि कामि तयाचे इच्छा। फळे कल्पवृक्षु जैसा। बोलू व्यापकु
होय तैसा। तरी अवधान द्यावें।।

जैसे सूर्य बिंब दिखने के लिए बहुत छोटा रहता है, फिर भी उसके व्यापक प्रकाश की व्याप्ति के लिए त्रैलोक्य भी छोटा पड़ जाता है। शब्द की व्याप्ति का भी यही हाल है। अनुभव भी इस बात का समर्थन ही करता है। बोल एवम् अभिव्यंजना भी व्यापक रहती है जैसे इच्छा करने वाले के सकल्पों के व्यापक फल कल्पवृक्ष देता है। इसी तरह बोल भी व्यापक रहते है अतः उसे ध्यान देकर सुनना चाहिये। ध्यान देकर सुनने वाले को ज्ञानेश्वर शब्दों के सामर्थ्य की बड़ी सुन्दर महिमा को बतलाना चाहते हैं[2]—

तेणे कारणे मी बोलेन। बोली अरूपाचे रूप दावीन।
अतीन्द्रिय परि भोगवीन। इन्द्रिया करवीं।।

सद्गुरु की कृपा से मैं निरूपण करूँगा तथा उसमें ब्रह्म का स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष बतलाऊँगा। यों तो यह बात प्रसिद्ध है कि ब्रह्म इन्द्रिय गोचर नहीं है। परन्तु इन्द्रियों को उसका अनुभव होने लगेगा। जब श्रोतागण मेरा निरूपण

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ४।२१४–१५।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६–३६।

सुनेंगे। अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि शब्दों का योजक रस विदग्ध कवि अपनी इच्छा के अनुकूल गम्भीर अर्थ की निर्मिति शब्दों द्वारा कर सकता है। ज्ञानेश्वर ने सदा सर्वत्र कोमल और सुरस शब्दों का प्रयोग किया है। जिन शब्दों में अपना लालित्य होता है और नाद माधुर्य होता है। ज्ञानेश्वर ने केवल इन्हीं का कलात्मक वर्णन मात्र नहीं किया, अपितु शब्दों का आकृति सौन्दर्य, रूप सौन्दर्य अत्यन्त मोहकता से उन्होंने प्रकट कर दिया है। उनकी दृष्टि से, शब्दों में रूप और आकृति भी रहती है। टी. एच्. ग्रीन का कहना है कि शब्दों का बाह्य सौन्दर्य और आकृति सौन्दर्य भी हुआ करता है। इसे वे (Formal Beauty) कहते हैं।[1]

शब्द श्रवण गोचर प्रतीक हैं। ऐसे श्रवण गोचर प्रतीकों की सहृति ही भाषा कहलाती है। मेरा अभिप्राय काव्य में निरूपण की गई भाषा से है।

ज्ञानेश्वर का यही मन्तव्य है[2]—

नवल बोलतीये रेखेची बाहणी। देखता डोळयां ही पुरों लागे धणी।
ते म्हणती उधडली खाणी। रूपाची हे॥
जेथ सम्पूर्ण पद उभारे। तेथ मनचि धांवे बाहिरे।
बोलु भुजाही आविष्करे। आलिंगावया॥

इस निरूपण की अर्थात् बोलने की पद्धति भी अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण है, जो शब्दों के माध्यम से प्रकट होती है। इसे देखकर आँखों को भी तृप्ति मिल सकती है। इससे तृप्त होकर आँखें कहने लगेंगी कि आपने तो मानो यह हमारे लिए रूप-विषयों का भडार-घर ही खोल दिया है। शब्दों का बाह्य सौन्दर्य बुद्धि की जिह्वा से ज्ञात न होकर केवल अक्षरों के बाह्य आकृति मूलक सौन्दर्य की शोभा से ही ज्ञात होकर सारे इन्द्रिय-तत्पर रहेंगे अर्थात इन्द्रियों को समाधान प्राप्त होगा। मराठी भाषा के सौन्दर्य से इन्द्रिय राज्य करेंगे, फिर सिद्धांतों के ग्रांमको अच्छी तरह तैयारी के साथ जा सकेंगे। जहाँ शब्द नष्ट हो जाता है, ऐसा विवेचन मैं सुन्दर प्रणाली से करूँगा। शब्दों में सारे इन्द्रियों को तृप्त करने का सामर्थ्य रहता है। वस्तुतः शब्द श्रवणेंद्रिय का विषय होने से उसका बाह्य आकृति सौन्दर्य एवम् रूप सौन्दर्य आँखों से अवलोकन किया जा सकता है। ऐसी विलक्षण कल्पना सामने रखकर भी ज्ञानेश्वर की स्वच्छन्द विहार करने वाली प्रतिभा थकती नहीं है। वे इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। वे कहते हैं कि शब्द का एक स्वाद भी रहता है। अतएव शब्द रसनेन्द्रिय का विषय हो सकता है। उनकी यह सूझ अनोखी और बड़ी विलक्षण है। शब्दों में नाद, स्पर्श, रूप, रस और गंध होता है ऐसी अद्भुत

---

१. दी आर्टस् ॲंड दी आर्टस् ऑफ क्रिटीसीझ्म—टी. एच्. ग्रीन।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय. ६।१८–१९।

कल्पना वे करते हैं। पंच कर्मेन्द्रिय शब्द को यथा योग्य रीति से परितृप्त करने की क्षमता रखते हैं। उदाहरणार्थ देखिए—

नाद-मधुर शब्द—ज्ञानेश्वर नेनाद के भिन्न-भिन्न प्रकार स्पष्ट किये हैं। कोयल की ध्वनि, रणवाद्यों का घोष, मेघ गर्जना, गर्जन तर्जन करने वाले नदियों के प्रवाह, तथा अन्य ध्वनियों का उल्लेख ज्ञानेश्वर करते हैं। शब्दों के अनेक नादों की टकसाल ही मानो ज्ञानेश्वर ने खोल दी है। वाणी की मधुरता से नादब्रह्म का मूर्तिमान अवतार ही शब्दों में समाये हुए माधुर्य की पराकाष्ठा मानी जावेगी। नीरवता और शान्तता का मानवी मन को बड़ा आकर्षण रहता है। अतः ज्ञानेश्वर ने अत्यन्त सुकुमारता से और कोमलयुक्त होकर शीतल सूर्य प्रकाश और मंथर गति से बहने वाली वायु का भी वर्णन किया है।

नाद चित्रों से युक्त (Auditory Images) कल्पनाचित्र ज्ञानेश्वर हमारे सामने इस प्रकार रखते हैं—

यथा—'घोषाच्या कुण्डी। नादचित्राची रूपडी।
प्रणवाचिया मोडी। रेखिली ऐसी॥'[1]

परा वाणी के गमलों में मध्यमारूपी नाद चित्रों के कई रूप ओंकार के आकार में रेखांकित रहते हैं, ऐसी कल्पना की जा सकती है। ज्ञानेश्वर नाद को रूप तथा रंग भी प्रदान करते हैं।[2] जैसे—

जियें कोवळि केचे निपाडे। दिसतीं नादीचे रंग थोकडे।

मेरे द्वारा प्रयुक्त अक्षरों की कोमलता के कारण वे अक्षर सुस्वरों के विभिन्न प्रकारों को दिखावेंगे तथा कम या अधिक मात्रा में चित्ताकर्षक सुगंध के बल को कम करने में सक्षम होंगे। स्पर्श संवेदना का आभास उत्पन्न करने वाले शब्द स्वभावतः कोमल और मसृण जैसे मुलायम होते हैं। ज्ञानेश्वर इनका भी निपुणता से प्रयोग करते हैं।[3] जैसे—

वर्षिये प्रथम दशे। वोहळलया शैला चे सर्वाङ्ग जैसे।
विरुडे कोमलांकुरी तैसे। रोमाँच आले॥

× × ×

कां भूमिचे मार्दव। सांगे कोंभाची लवलव।
नाना आचार गौरव। सुकुलिनाचे॥

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।२७६।
२. ,, ६।११५।
३. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ११।२४७ तथा अध्याय १३।१८०।

वर्षाकाल प्रारम्भ हो गया है, अतः पर्वतों से निर्झर झरने लगे हैं जिससे कोमल मखमल की तरह मृदु दिखाई पड़ने वाले तृणांकुरों की हरीतिमा का इसमें वर्णन है। इन तृणांकुरों में रोमांच हो आया। यहाँ स्पर्श संवेदना प्रकट हो गई है। दूसरे उदाहरण में ज्ञानेश्वर भूमि की मृदुता का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि अंकुरों की मृदुता भूमि की मृदुता को व्यक्त करती है, तथा आचार अच्छे कुल का बड़प्पन प्रदर्शित करता है। ज्ञानेश्वर में संवेदना जागृति का सामर्थ्य विशेष रूप से है। स्त्री के स्पर्श से निर्माण होने वाली सुख संवेदना की कल्पना का आध्यात्मिक निरूपण में ज्ञानेश्वर ने बराबर उपयोग कर लिया है। एक उदाहरण देखिए[1]—

प्रियोत्तमाचिया कंठी। प्रमदा घे आटी।
तैशी जीवेंशी कोमटी। करुनि ठाके ॥

अपने पति के गले में अपनी भुजाओं को डालकर जिस प्रकार तरुण स्त्री उसका आलिंगन करती है, उसी तरह अपने प्राणों के साथ अज्ञानी अपनी झोपड़ी में कालयापन करते हैं।

रूप संवेदना के शब्द तो पूरी ज्ञानेश्वरी में भरे हुए पड़े हैं। रस संवेदना के शब्द अपनी सुरसता एवम् मीठेपन के लिए प्रसिद्ध होते हैं। कुछ बानगी देखिए[2]—

रस संवेदना—

जैसी अमृताची चवी निवडिजे। तरी अमृताचि सारिखी म्हणिजे।
जैसे ज्ञान हे उपमिजे। ज्ञानेंसिची ॥
सांगे कुमुद दळाचे नि ताटे। जो जेविला चन्द्र किरण चोरवटे।
तो चकोरु काई वाळुवंटे। चुम्बितु असे ॥

अमृत का स्वाद कैसा है, इसे ढूँढ़ने पर वह अमृत की तरह ही है, ऐसा कहना पड़ता है। उसी तरह ज्ञान को ज्ञान को ही उपमा दी जावेगी। हम कह सकते हैं, ज्ञानेश्वरी की रस संवेदना भी ज्ञानेश्वरी के रस जैसी ही है।

कमल के पंखुड़ियों के पत्र पर शुद्ध और निर्मल चन्द्र किरणों का भोजन करने वाला चकोर पक्षी मरुस्थल के एवम् निर्जन के पत्थरों को क्यों चाटने जावेगा। ज्ञानेश्वरी के रसिक वाचक चकोर की तरह ज्ञानेश्वरी की शुद्ध रस संवेदना के

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३।७८५।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ४।१८३ और ५।१०७।

चन्द्र किरणों का भोजन निर्मल और सहृदय अन्तःकरण के कमल की पंखुड़ियों के पत्तों पर करेगा, वह अन्यत्र मुँह मारने नहीं जावेगा।

गंध-संवेदना—

गंध संवेदना में सुवासित एवम् सुगंध युक्त शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र ज्ञानेश्वर ने किया है। कमल पराग, तुलसी, सेवंती, मोगरा, चंपक, स्वर्ण चम्पक, जैसे पुष्पों के सुगंध का निर्देश ज्ञानेश्वरी में मिलता है। चंदन सुगंध में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। चंदन में सुगन्ध के साथ शीतलता भी एक विशेष गुण है। किसी ने कहा भी है, 'सुगन्धम् चंदनम् दिव्यम्।' एक ही समय में ये दोनों विशेषताओं का संवेदन होता है।[1] देखिये—

कां चंदना ची प्रती जैसी। चन्दनी भजो अपेसी।
का अकृत्रिम शशी चन्द्रिका ते॥
तथा कर्पूर चन्दन आगरु। हा चन्दनाचा महा मेरु॥

चंदन का सुगन्ध जैसे चंदन में ही अभेदत्व से विद्यमान रहता है, अथवा चांदनी स्वभावतः चंद्र में अभेद रूप रहती है, वैसे ही अद्वैत में भक्ति है। इसका अनुभव मात्र किया जा सकता है। वह अकथनीय है। भक्त का समर्पण कितना दिव्य है इसका विवेचन करते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं कि भक्त के द्वारा भक्ति के उत्कर्ष के साथ अर्पण करने की क्रिया में कर्पूर, चंदन, अगुरु जैसे सुगन्धी द्रव्यों का महामेरू ही मानो मुझे अर्पण किया है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का निवेदन है।

स्मृति में रहने वाले सुगन्ध का एवम् उसकी गन्ध-संवेदना का विवेचन भी ज्ञानेश्वरी में विपुल है। सारांश यह है कि शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य, कल्पना रम्य चित्र, शब्द-सौष्ठव, ध्वन्यात्मकता, उत्कृष्ट-उपमाओं की भरमार ज्ञानेश्वर के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में हैं। वाङ्मय की कृति का अन्तर्गत आशय सौन्दर्य तथा अभिप्राय का सौन्दर्य अथवा रसात्मकता प्रतीत होने के पूर्व ही उस कृति के बाह्य सौन्दर्य के कारण सहृदय रसिक उसमें मग्न हो जाता है। ज्ञानेश्वर को इस सत्य की सत्ता सदा और सर्वत्र मान्य है। वे इस विषय में पूर्ण जागरुक हैं। उनका साहित्य रसविदग्धता से इतना भरा हुआ है कि वह केवल बुद्धि की जिह्वा से शब्द का आशय समझने वाला ही नहीं है अपितु जिसके अक्षरों की शोभा मात्र से ही सारी इन्द्रियों को अपना सुख प्राप्त हो जाता है। मालती पुष्पों के गुच्छ नासिका को सुगन्ध प्रदान करते हैं। तथा उसी समय वे उसकी शोभा से आँखों को भी सुख देते है। ज्ञानेश्वर की साहित्यिकता ऐसी ही है। ज्ञानेश्वर के साहित्य में काव्य

१. ज्ञानेश्वरी—१८।११५० तथा ६।३६१।

के आशय तथा अन्तःरङ्ग सौन्दर्य के साथ बहिरङ्ग सौन्दर्य और शोभा भी विद्यमान है। भापा भी लालित्य गुण की विशेपता के साथ-साथ अमृतोपम मिठास को भी मात करने वाली मधुर एवम् प्रसाद गुण से भरी तथा मंत्रत्व से सिद्ध है।

उपमाओं का प्रयोग—

ज्ञानेश्वर उपमाओं का प्रयोग अपने विवेचन को स्पष्ट करने के लिए तथा अपना प्रमेय मार्मिकता से लोगों के हृदय में प्रविष्ट हो जाय इस हेतु से करते हैं। अतः उनकी उपमाएँ सार्थक सिद्ध होती हैं। उपमाओं की भरमार कर मैं ज्ञानेश्वरी का विवरण करूँगा ऐसा आश्वासन श्रोताओं को ज्ञानेश्वर दे चुके हैं। इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन ज्ञानेश्वर ने किया है। मालोपमाएँ बहुधा अधिक मात्रा में ज्ञानेश्वर ने प्रयुक्त की हैं। सादृश्य की अपेक्षा साधर्म्य पर विशेप जोर ज्ञानेश्वर की उपमाओं में देखने को मिलता है। उपमाओं की तरह रूपकों का भी ज्ञानेश्वर ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। रूपकों की सहायता से रसिक हृदय काव्यात्म-सौन्दर्य का साक्षात्कार कर सकता है। कल्पना शक्ति का स्वैर विहार रूपकों के द्वारा ज्ञानेश्वर प्रस्तुत करते है। मराठी के काव्य शैलीकार के नाते ज्ञानेश्वर ने कलात्मक प्रकर्ष की चरम सीमा को भी पार कर लिया है। प्रतिभा का नवोन्मेप उनमें सदा होता रहा है, जिससे उनकी अभिव्यंजना ने इतने सुरस और सरस ताने-वाने से अध्यात्मिक विचार धारा को भी काव्यमय और साहित्यिक बना कर, प्रस्तुत कर किया है।

आध्यात्मिक विचारों का साहित्यिक शैली में निरूपण—

ज्ञानदेव का अपने गुरु पर और अपने सामर्थ्य पर पूरा विश्वास था। उन में विनम्रता है, पर वे कहीं भी दीन नहीं बने हैं। 'वे स्वाभिमानी हैं, पर अहङ्कारी नहीं है।' ऐसा उनके वारे में श्री जगमोहन लाल चतुर्वेदी का कहना ठीक ही है[१]। प्राकृत भाषा में आध्यात्मिक विचारों का इतना सरस और अद्भुत निरूपण साहित्यिक शैली में प्रस्तुत करना ज्ञानेश्वर का सवसे महान कार्य है। पारमार्थिक दृष्टि प्रमुख रूप से उनके सामने थी। उनका समूचा जीवन ही पारमार्थिक था। प्रापंचिक सुख की प्राप्ति न तो उनका निजी लक्ष्य था न वे इस लक्ष्य को समाज के लिए उद्घोषित करने वाले थे। उन्होंने समाज के हाथों में आध्यात्मिक सुख की वहुमूल्य संपत्ति प्रदान कर एक वल और सुरक्षा का आश्वासन दे दिया। सव के अभ्युदय की वरावर उन्हें चिंता थी। उनके काव्य का तथा उनके जीवन का सार एवम् लक्ष सव का श्रेय और प्रेय परमार्थ ही है।

१. संत ज्ञानेश्वर—श्री जगमोहनलाल चतुर्वेदी, पृ० ७६।

ज्ञानदेव के साक्षात्कार मार्ग का नाम 'पंथ-राज' है। ईश्वर प्राप्ति से ही दुःख निवृत्ति हो सकती है, ऐसा उनका कहना है। भक्ति का सर्वस्पर्शी रूप उनकी आँखों के सामने था। फलतः दुराचारी भी यदि अपने सर्वस्व के साथ ईश्वर भक्ति करे तो वह ईश्वर रूप बन जाता है, यह भक्ति की महिमा उन्हें मान्य है।

नामस्मरण का माहात्म्य और महत्व ज्ञानेश्वर ने अपने अभङ्गों में व्यक्त कर दिया है। विठ्ठल का नाम एक खुला मंत्र है। जिसे लेने के लिये किसी दीक्षा या किसी प्रकार का कोई मोल नहीं देना पड़ता है।

ज्ञानेश्वर के अभंगों में भी भक्तिरस पूर्ण-रूप से लबालब भरा हुआ है। उसमें भावना की आर्तता, कल्पना की विशालता और शब्दों की सुकुमारता का अद्भुत संमिश्रण है। एक अभंग देखिये।[१]

तुझिये निढळी कोटि चन्द्र प्रकाशे।
कमल नयन हास्य वदन भासे ।।
घडिये-घडिये-घडिये गुज बोल कां रे।
उभारोनियां कैसा हालवितो बाहो ।
बाप रखुमा देवीवरू विठ्ठलु ना हो ।।

ज्ञानेश्वर का इसमें आत्मानुभव है, परन्तु जब वे उसका विवेचन करने बैठते हैं, तो कल्पना का सहारा अवश्य लेते हैं। विठ्ठल का आश्वस्त करने वाला हाथ उनको दिखाई देता है। वे कहते हैं, हे भगवन्! तुम्हारे शरीर पर करोड़ों चंद्र प्रकाशित होते से भासित होते हैं। तुम्हारा कमल नेत्र वाला मुख हास्य वदन-युक्त सुशोभित है। अरे कृष्ण! जरा आओ तो। मुझ से कुछ बातचीत भी करो। हरघडी मेरे साथ प्रेम की बातें करो।

'विद्वत्ता, कवित्व और साधुत्व का त्रिवेणी संगम ज्ञानेश्वर के साहित्य में मिलता है', यह 'पाँचसंत कवि में' सुश्री कुमुदिनी घारपुरे का कथन ठीक है।[२] ज्ञानेश्वर ने ऐसा अमोघ साहित्य सर्जन किया जो चिरंतन है। जो सदा नव्य है तथा भव्य है और उच्च एवम् उदात्त भावों से युक्त है। तथा मानव मात्र के मन को चिरशान्ति और सुख का लाभ प्राप्त करा देने वाला है। उनकी यह वाङ्मय गंगा सबको पुनीत कर अध्यात्म और काव्य का सुन्दर मणि-कांचन-योग

१. ज्ञानेश्वर अभंग पृ० ११६, पाँच सन्त कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे।
२. पाँच सन्त कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे कृत में श्रीमती कुमुदिनी घारपुरे का विवेचन पृ० १२६ (द्वितीय संस्करण)।

प्रस्तुत कर देती है। ज्ञानेश्वर के अभंग गीति काव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। वारकरी संप्रदाय के साहित्य में अभंग महत्वपूर्ण माने गये हैं।

नामदेव के अभंगों का साहित्यिक पक्ष—

नामदेव की साहित्यिक शैली का यदि हमें आस्वाद लेना हो तो उनके अभंगों में रसपूर्ण शैलीमें अभिव्यक्त किये गये अपने उपास्य के गुणों और लीलाओं का वर्णन विशेष प्रकार से अध्ययन किया जाये।

वैसे देखा जाय तो नामदेव की वानी अमृत की खदान है। काव्य मर्मज्ञ पंडित भले ही वे न रहे हों। भगवान् का उन्मुक्त प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ है अतः उनके अभंगों में उनकी भक्ति-भावना किसी उदयोन्मुख कवि की तरह ही मुखरित हुई है। विना परिश्रम के शब्द-कौशल्य, पांडुरंग और हरिनाम संकीर्तन में अपने आप अभिव्यक्त हो गया है। लीला गान और संकीर्तन ही उनकी काव्य-गंगा की वाढ़ में सरसता के साथ सामने आये हैं। शत कोटी अभंग रचने की प्रतिज्ञा करके भागवत के दशम स्कंध के श्लोकों का आधार लेकर नामदेव श्रीकृष्ण की वाल लीला का वर्णन करते हैं। आरम्भ में वे भगवद् भक्तों को वंदन करते हैं। नामदेव में भक्ति का उन्मेष उत्स्फूर्त प्रेरणा से काव्यनिर्मित में सहायक हो गया है, ऐसा जान पड़ता है। नामदेव कृत वालवर्णन साहित्यिक पक्ष से द्रष्टव्य है।

नामदेव कृत वाल लीला वर्णन[1]—

देवा आदि देवा सर्वत्राच्या जीवा। ऐके वासुदेवा दयानिधे।
नामा म्हणे जरी दाखविसी पाया। तरी वंदावया स्फूर्ति चाले॥

हे दयानिधि वासुदेव! आप आदिदेव हैं। सबके प्राणों के प्राण हैं। आप ब्रह्मा और सदाशिव तथा इन्द्रादिकों के द्वारा वंदित हैं। हे वासुदेव! दीनबंधु! मेरी पुकार सुनिये। चौदह लोकपाल आपकी सेवा करते हैं। आप जगद्गुरु हैं तथा योगियों के ध्यान में रहते हैं। आप निर्गुण निराकार हैं, आप माया से बद्ध नहीं हैं। हे करुणा सिंधु! मुझ दीन पर करुणा का जल बरसाइये। हे सुन्दर स्वरुप वाले साँवले कन्हैया आप यदि अपने चरणों में आश्रय देंगे, तो मुझे अपना कथन व निवेदन करने की स्फूर्ति मिल सकती है।

इस तरह अनेक प्रकार से नामदेव करुणापूर्ण वाणी में भगवान् उनकी ओर देखें यही मांगते हैं। भगवान् से मिलने की वेचैनी और तड़पन उनके अभंगों में व्यक्त हो गयी है। पांडुरंग ने प्रसन्न होकर अपना वरदहस्त उनके मस्तक पर रखा

---

१. नामदेवाची गाथा पृ० २, अभङ्ग ८ सम्पादक वि. न. जोग।

तथा श्रीकृष्ण लीला वर्णन करने के लिए कहा। भागवत में इसी तरह के प्रसङ्ग को लेकर एक श्लोक मिलता है—

'वासुदेव कथा प्रश्नः पुरुषां स्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छ कं श्रोतृन् तत्पाद सलिलं यथा।'[1]

कृष्णजन्म—

इसी सन्दर्भ में उनकी बाललीला के वर्णन कितने सरस और मधुर बन गये हैं। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवि सूर की बाल-लीला वर्णन की हमें याद दिला देते हैं। वसुदेव और देवकी चिन्ताग्रस्त हैं और नवमास परिपूर्ण हो जाने पर भगवान् कृष्ण का जन्म होता है। इस प्रसङ्ग का नामदेव कृत वर्णन सरस बन पड़ा है[2]—

कोटिशा आदित्य गोठे एके ठायी। तेजे दिशादाही उजळल्या।
रुण भुण रुण भुण वाजताती वाळे। आरक्त वर्तुळ नखी शोभा।
ध्वज वज्रांकुश जैसी रातोत्पले। नामा म्हणे डोळे दीपताती॥

करोड़ों सूर्यों को एकत्रित कर संचित किया हुआ तेज भगवान् की मूर्ति में विद्यमान था। ऐसे तेजोमय भगवान् की ओर वसुदेव न देख सके। वे संभ्रम और आश्चर्य चकित होकर उस तेज की ओर देखने का प्रयत्न करने लगे। मुकुट पर लगे हुए रत्न नक्षत्रों की तरह चमक रहे थे। केशर का तिलक भाल प्रदेश पर विराजमान था। टेढ़ी भौंहे थी, तथा कमलवत् कोमल नेत्र थे। शुक चंचुवत् नुकीली नासिका थी। कर्ण कुंडल विद्युल्लता की तरह चमक रहे थे। अधरोष्ठों की रक्तिमा मानो प्रातः कालीन अरुणोदय की आभावत् लग रही थी। पैरों में रुनझुन करती हुई पैंजनियाँ बज रहीं थीं। इस तरह सारे शारीरिक अवयवों सहित पूर्ण शरीर का वर्णन सन्त नामदेव करते हैं।

पूतना को कंस ने भेजा है। वह कृष्ण को अपने विष भरे स्तनों से लगाती है उस समय का नामदेव कृत विवेचन देखिये—

पूतना वध—

कृष्णा लावितसे स्तनी। तिसी मारी चक्रपाणी॥
भयानक प्रेत। जन विस्मय करीत॥
रडे तेव्हां माया। वाचलासी वा तान्हया॥

---

१. श्रीमद् भागवत दशम स्कंध अध्याय, १।१६।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुलभ सम्पादित) अभङ्ग ३२, पृ० ३९।

मिळोनिया समस्त । भाळी अङ्गारा लावीत ॥
वसुदेवे सांगितले । नंद म्हणे तैसे झाले ॥
कु-हाडी आणिती । शस्त्रे करुनी तोडिती ॥
नामा म्हणे दिला अग्नि । वास न माय गगनी ॥[1]

कंस ने कृष्ण नाशार्थ पूतना को भेजा। वह सुन्दर स्त्री का रूप और परिवेश धारण कर आई है। बालक कृष्ण को मारने के लिए उसने अपनी गोद में उठा लिया तथा अपने विष भरे स्तनों से उन्हें पयपान करने के लिए विवश किया। श्रीकृष्ण के स्तनपान करते ही पूतना के प्राण हरण कर लिये गये। प्राणान्त होते ही उसका सुन्दर अप्सरा जैसा रूप भयानक राक्षसी के आकार में परिणत हो गया। यशोदा ने जब देखा, उसका बालक सुरक्षित है, तब उसे आनन्द हुआ, और पूतना के प्रेत के कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करवाकर उसका अग्नि संस्कार करवाया। भगवान् का उसके शरीर से स्पर्श हो गया था। इसलिए दुर्गंध के बदले सुगंध छूटने लगा। बालक कृष्ण बड़े होने लगे हैं। उन्होंने शकटासुर का वध किया तथा और भी अनेक बाल लीलाएँ की, जिनका अत्यन्त मार्मिकता से नामदेव वर्णन करते हैं। तृणावर्त-वध का प्रसंग इस प्रकार चित्रित है—

कंसे पाठविला तेव्हां तृणावर्त । धुळीने समस्त व्यापियेले ॥
चेपोनी नरडी गत प्राण केला । भूमिसी पाडिला दैत्य तेव्हां ॥
नामा म्हणे वरी खेळत गोविंद । पाहोनी आनन्द सकळासी ।[2]

तृणावर्त नामक असुर ने आँधी का रूप धारण कर लिया और कृष्ण को आकाश में ऊँचे स्थान पर उठा ले गया। परन्तु भगवान् ने उसको पकड़कर उसका गला दबाकर प्राण हरण कर लिए। इधर गोपियाँ यशोदा सहित शोक मग्न हो गईं, जब उनको भगवान् श्रीकृष्ण न दिखाई दिये। इतने में मरा हुआ दैत्य तृणावर्त आकाश से नीचे धरती पर गिर पड़ा। लोगों ने देखा कि कृष्ण उसके गले को पकड़कर खेल रहे थे। यह देखकर सारे लोग आनंदित और गद्गद् हो उठे।

नामदेव कृत कुलाचार के कुछ सांस्कृतिक प्रसंग—

इस तरह कृष्ण के बाल्यकाल में अनेक विपत्तियाँ मुँह बांये सामने आईं। पर प्रत्येक संकट का भगवान् श्रीकृष्ण ने निवारण कर दिया तथा इस तरह व्रज-मण्डल को सदा संकटों से उबारा। एकबार नंद के यहाँ चम्पाषष्ठी का व्रत था।

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबंध-संपादित) पद ४९, पृ० ५५।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबंध-संपादित) पद ५३, पृ० ६०।

इसी तरह संकष्टी-चतुर्थी का व्रत भी यशोदा रखती थी। इन दोनों प्रसंगों में अद्भुत रस और प्रसङ्गों का निर्माण किया है जो अनोखा है[१] —

नन्दाचिया घरी चंपाषष्ठी नेम। कुळीं कुळधर्म मार्तंडाचा।
पक्वाने हि नाना रोडगा भरीत। केली अपरिमित यशोदेने॥
करी क्षणा माजि वांकडे ची मुख। हरी खात वीख कालवले।
जाणितला भाव मायेचे अन्तर। करुनिया खरे दावी देव॥

× × ×

नवसा न पावती गोकुळीच्या दैवता। उपाय मागुना राहिलासे।
चिंतावली माय मूर्च्छा आली तिसी। झाली पोरविसी मोहजाळे।
जाणोनिअन्तर म्हणे कृष्णार्पण। तेव्हां आले विघ्न दूर होय।
नामा म्हणे देव पाहे कृपा दृष्टी। जाणवले पोटी हावि देव॥

कृष्ण मथुरा के रहनेवाले थे। नंद और यशोदा व्रज के निवासी थे। परन्तु नामदेव ने स्वयम् महाराष्ट्रीय होने के नाते इधर के व्रत वैकल्यों को तथा त्यौहारों को कृष्ण के जीवन में चरितार्थ कर दिया है। मल्हारी मार्तंड एवम् खंडोबा महाराष्ट्र के उपास्य होने से तथा यहाँ के जन-जीवन में उनका समावेश रहने से नामदेव ने कुलधर्म और कुलाचार के नाते नन्द और यशोदा के लिए इन महाराष्ट्रीय त्यौहार और कुलधर्म का प्रयोग किया है। इससे नामदेव कालीन सामाजिक रस्मों का सांस्कृतिक रूप इस अभंग में प्रकट हो गया है। वैसे उत्तर भारत के जन-जीवन में मार्तंड और खंडोबा की उपासनाएँ नहीं है। पर नन्द व यशोदा के लिए नामदेव इन उपास्यों का उल्लेख करते हैं। मल्हारी मार्तंड कुल दैवत होने से नंद बाबा के यहाँ चंपाषष्ठी व्रत था। नाना प्रकार के पकवान यशोदा ने बनाये थे। भुर्ता, रायता, तथा साग चटनी आदि पदार्थ बनाये थे। इतने में देवदासी और पुजारी ने कृष्णागमन की सूचना दी। भूखे बालकृष्ण खेलते-खेलते वहाँ आ गये और उन्होंने यशोदा से खाना मांगा। नैवेद्य समर्पण किये बिना चम्पाषष्ठी के दिन कोई खाना नहीं खा सकता था। अतएव यशोदा ने बालक कृष्ण को खाना देने से इनकार कर दिया। नैवेद्य की थालियाँ परोसकर देवघर में रखी और आमंत्रितों को बुलाया। नटखट कृष्ण इतने में वहाँ आ गये और साग नैवेद्य भक्षण करने लगे। यह देख यशोदा को क्रोध आ गया और उन्होंने बालकृष्ण को डाँटा और कहा भगवान् मार्तंड बड़े कठोर हैं तुमने उनका नैवेद्य भक्षण कर लिया। अत. वे तुम्हें इसका दंड देंगे और तुम पागल हो जाओगे। तब कृष्ण की माया से

१. नामदेवाची सार्थ गाथा, (सुबन्ध-संपादित) पद ८१, ८२।

वैसा ही हुआ। यशोदा चिंतित हो गई। उसके अन्तःकरण ने तब भक्ति से कहा कि सब कृष्णार्पण है। तब कृष्ण की कृपा दृष्टि से सारे सङ्कटों का निवारण हुआ।

इसी तरह संकष्टी चतुर्थी व्रत के समय गणपती के लिए नैवेद्यार्थ बनाये गये मोदक लंगरई करने वाले कृष्ण खा गये। नामदेव ने इस प्रसंग का बड़ी मार्मिकता से उल्लेख किया है[1]—

गोपिका म्हणती यशोदे सुन्दरी। करितो मुरारी खोडी बहू ॥
यशोदे प्रती त्या गोळणी बोलती। सङ्कष्ट चतुर्थी व्रत घेई ॥
गणेश देईल त्यासी उत्तम गुण। वचन प्रमाण मानावे है ॥
गज वदनासी तेव्हां म्हणत यशोदा। माझिया मुकुंदा गुण देई ॥
ऐसे हे वचन ऐकून कृष्णनाथे। सत्य गणेशाते केले तेव्हां ॥

गोपियों ने यशोदा से कहा कि तुम्हारा बेटा मुरारी बहुत नटखट है और हम लोग उसकी शरारतों से बहुत तंग आगई हैं। अतः तुम संकष्टी चतुर्थी का व्रत ले लो, जिससे श्रीगणेश कृपा से तुम्हारे बेटे में अच्छे गुण आ जावेंगे। तब माता यशोदा ने श्री गजानन की पूजा की तथा प्रार्थना की, कि मेरे बेटे में सारे अच्छे गुण आजायँ। कृष्ण ने जब ये वचन सुने तो गणेशजी के वचनों की सत्यता प्रमाणित करने के हेतु एक महीने तक अपना नटखटपन छोड़ दिया। यशोदा भी कहने लगी कि गणेशजी सच्चे भगवान् हैं। वैसे यशोदा सदा संकष्ट चतुर्थी के दिन इक्कीस मोदकों सहित चन्द्रोदय के समय गणेशजी का पूजन करती पर एक बार उसी दिन भगवान्-ऋषिकेश श्रीकृष्ण यशोदा से पूछने लग, माँ मुझे तुम लड्डू कब दोगी ? इस समय का वर्णन द्रष्टव्य है[2]—

यशोदा म्हणत पूजीन गज वदन। नैवेद्य दावून देईन तुज ॥
ऐसे म्हणोनिया माता बाहेर गेली। देव्हा-या जवळी हरी होता ॥
एकांत देखोनि हारा उचलीला। सर्व स्वाहा केला एकदांची ॥

यशोदा ने उत्तर दिया कि गणेश पूजन के बाद नैवेद्य समर्पण होगा फिर तुम लड्डू खा सकोगे। ऐसा कहकर माता किसी काम से बाहर चली गई। देवग्रह में श्रीकृष्ण विराजमान थे। एकांत समय देखकर लड्डुओं से भरा हुआ टोकरा उठा लिया और उसमें के सारे लड्डू स्वयम् खा गये। जब माँ यशोदा ने लौटकर देखा तो नैवेद्य नदारद था। तब उसने कृष्ण से पूछा, 'मोदक कहाँ चले गये ? तब जो कृष्ण ने उत्तर दिया वह श्रवणीय है—

१. नामदेवाची सार्थ गाथा, पद ८२।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध सम्पादित) अभङ्ग ८८।

कृष्ण म्हणे सत्य वचन मानीं माते । एक सहस्र उन्दीर आले येथे ॥
त्यांत होता नो मूषक । वरी विनायक बैसलां से ॥
मुखांत गणपती मातेसी बोलत । पूजा वे त्वरित हरि लागी ॥
ऐसे देखोनिया समाधिस्त होत । चहुंकडे पाहात तटस्थते ॥[1]
—नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध) अ. ८८ ।

वात्सल्य और अद्भुत रस का वर्णन—

कृष्ण ने उत्तर दिया यहाँ पर एक हजार चूहे आये थे। उनमें एक वड़ा मूषक था, जिस पर भगवान् गजानन आरूढ़ हो गये थे। अपनी सूँड़ से उन्होंने सारे मोदक इकट्ठे ही उठाकर भक्षण कर लिये। अपने सर्वाङ्ग में उन्होंने सिंदूर का लेपन कर लिया था तथा अपनी भयङ्कर सूंड़ हिला रहे थे। माता ! यशोदा मेरा कथन सत्य मानो, और व्यर्थ ही क्रोधकर मुझे न पीटो। मैं अपना मुँह खोलकर दिखाता हूँ। जब कृष्ण ने अपना मुँह खोलकर दिखाया तब साश्चर्य यशोदा ने देखा कि सारा ब्रह्मांड उस मुख में समाया हुआ है। कृष्ण ने अपने नेत्रों से यशोदा की ओर देखा। तब एक चमत्कार और हुआ। कृष्ण के मुख मे असंख्य गणपति यशोदा को दिखाई दिये। मुख के गणपति ने यशोदा से कहा कि त्वरित हरिका पूजन कीजिए। यह सब देखकर यशोदा स्तब्ध होकर समाधि अवस्था में पहुँच गई और चारों ओर तटस्थ होकर देखने लगी। यशोदा ने बाद में बालक कृष्ण को गोद में उठाकर उनका चुम्बन कर लिया।

इस वर्णन में वात्सल्य के साथ अद्भुत रस का संयोग नामदेव कर सके हैं, तथा उसके साथ-साथ ही भक्त की परीक्षा ली गई है। इसे बड़ी मार्मिकता से स्पष्ट कर दिया है। गणेश और कृष्ण एक ही स्वरूप हैं यह भ्रमवश माता यशोदा नहीं जानती थी। इस यथार्थता का दर्शन उसे कराने के लिए भगवान् कृष्ण ने यह कौतुक कर दिखाया।

नामदेव ने बालक्रीड़ा के अभंगों की रचना का उद्देश्य भक्ति की सरसता को सिद्ध करना बतलाया है, जो उनके बालक्रीड़ापरक अभङ्गों से स्वतः सिद्ध हो जाता है। यहां पर उसकी एक बानगी प्रस्तुत की जाती है[2]—

भक्ति की सरसता का साहित्यिक स्वरूप—

धन्य त्या गोपिका धन्य त्या गायी। धन्य हेचि मही ब्रह्म म्हणे।
विश्वात्मा जो हरी क्रीडे या वनांत। तृणादि समस्त धन्य धन्य ॥

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध सम्पादित) अभङ्ग ८८।
२. नामदेवाची गाथा, चित्रशाळा प्रेस, अभंग १०२, पृ० २४।

विश्वात्मा जो बाप नन्द त्याचा पिता। यशोदे सी माता म्हणतसे ॥
सद्गदित कंठ नेत्री जळ वाहे। नामा म्हणे काय मागतसे ॥

वे गोपियाँ धन्य हैं, वे धेनुएँ धन्य हैं, और यह भूतल धन्य है, जहाँ पर कृष्ण लीला हुई ऐसा ब्रह्मदेव का कथन है। विश्वात्मा हरि कुंजवन में क्रीड़ा करते हैं। अतः यहाँ तृण लता गुल्म सभी धन्य हैं। वृन्दावन, गोवर्धन, वृक्ष और पाषाण आदि यहाँ के सभी चराचर मात्र धन्य हैं। ये गोपाल धन्य है, यह गोकुल धन्य है, तथा सारे व्रज वासियों को भी धन्यवाद देने चाहिए। मुकुंद को अपने स्तनों से दूध मिलाने वाली यशोदा धन्य है। नामदेव नंद बाबा की भी सराहना करते हैं और बतलाते हैं कि त्रैलोक्यमें उनके जैसा सौभाग्यशाली और कोई नहीं है। जो साक्षात् परब्रह्म है, तथा सनातन है और वेद भी जिनका पार नहीं पा सकते, ऐसे श्रीकृष्ण गोपों के साथ जंगल में खेलते फिरते हैं, जो सारे विश्व के स्वामी और पिता हैं उनके नंद पिता बने हैं यही तो कुतूहल और कौतुक का विषय है, जब कि वह यशोदा को अपनी माँ कहकर पुकारता है। इस तरह इन लीलाओंके वर्णन करने में नेत्रों से आनन्द के कारण जल बहने लगता है तथा कंठ सद्गदित हो जाता है। नामदेव इनकी भक्ति को देखकर कहते हैं कि ये सब परब्रह्म के अवतार कृष्ण से क्या मांगते हैं? मैं भी यही करना चाहता हूँ।

गोपियों की विरह व्यथा—

कृष्ण ने गोपियों के साथ रासक्रीड़ा की, और वे गुप्त हो गये। इससे गोपियों को विरह व्यथा उत्पन्न हो गयी। नामदेव ने इस व्यथा का भी सरसता के साथ वर्णन किया है जो विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य है।[1]

तुज वाचोनिया वैकुंठ नायका। आम्हासी घटिका युग होय।
अस्तमान होता येसी तूं गोकुळीं। मुखावरी धुळी गोरजांची ॥
कुरळे हे केश सुन्दर नासिका। पाहोनियाँ सुख फार होय ॥
लवती पापण्या न सोसती आम्हा। अहर्निशी नामा हेचि गाय ॥

हे वैकुंठ नायक! तुम्हारे बिना हम अपना जीवन किस तरह व्यतीत करें? हमें एक एक घड़ी युग के समान लगती है। तुम प्रभात काल में गायें चराने चले जाते हो और सूर्य अस्तमान हो जाने पर गोकुल में आ जाते हो। तुम्हारे मुख पर गोखरों से उड़ी हुई धूल लगी रहती है। तुम्हारा यह सुन्दर रूप बहुत ही मनोहर है। घुंघराले केश और सुन्दर नासिका देखकर हमें परम सुख मिलता है। एक निमिष भी हमारे नेत्रों की पलकें नहीं झंपती हैं। यह विरह हमसे नहीं सहा जाता। नामदेव इस विरह व्यथा को अहर्निश गाते हैं।

---

१. नामदेवाची गाथा, अभंग १६६, पृ० ३६।

नामदेव ने बाल लीला के कई प्रसङ्गों का वर्णन किया है। पर अब हम विस्तार भय से उनको यहीं छोड़कर, नामदेव ने ज्ञानदेव के साथ जब तीर्थ यात्राएँ की थीं, उस समय नामदेव की भक्ति-भावना पर ज्ञान के द्वारा किये गये संस्कार कैसे दृढ़ होते गये उसका अनुशीलन करेंगे। ज्ञानेश्वर यों भक्ति मार्ग को स्वीकार करते थे, परन्तु केवल भक्ति उन्हें स्वीकार न थी बल्कि वे ज्ञानयुक्त भक्ति को अधिक मान्यता देते थे। 'म्हणौनि भक्तु पाही। ज्ञानिया तो।' (ज्ञानेश्वरी ७१५८) स्वयम् नामदेव एक आर्त भक्त थे। उनकी भक्ति के स्वतन्त्र रूप से दर्शन मिलने कठिन है। इस भाव को हम विभिन्न अभंगों में पढ़कर समझ सकते है। इस देहधारी जीव के अस्तित्व के दिन सीमित होने से क्षण-क्षण वह काल के चंगुल में फंसता जाता है। इसलिए इसका महत्व पहचानकर हरि भक्ति करनी चाहिए ऐसा वे निवेदन करते हैं। 'सगुण निर्गुण एक गोविंदु' यह नामदेव का मत है। नामदेव की भक्ति में नाम माहात्म्य की बहुत बड़ी विशेषता है। नामदेव मराठी के एक उत्कृष्ट चरित्रकार हैं। ज्ञानदेव परिवार का चरित्र आदि, समाधि और तीर्थावली के प्रकरणों में उन्होंने अभिव्यक्त किया है। काव्य की दृष्टि से भी इस चरित्र का बहुत महत्व है। निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई को प्रतिष्ठान से शुद्धि पत्र लाने के लिए कहा गया। तब निवृत्तिनाथ ने कहा कि हम तो अव्यक्त, अविनाशी और पुरातन हैं। अतः हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ज्ञानदेव लोक-संग्रह तथा सदाचार और शास्त्रीय मार्गों के आधार से चलने वाले होने से उन्होंने ब्राह्मणों के द्वारा की गई शुद्धिपत्र की मांग का समर्थन किया। नामदेव ने इन सबके स्वभावों की विशेषताओं को बराबर अभिव्यक्त किया है।[1]

ज्ञानदेव 'आदि' प्रकरण—

विधि वेद विरुद्ध। संकल्प सम्मन्ध। नांहीं भेदा भेद। स्वस्वरूपी।।
अविधि आचरण। परम दूषण। वेदोनारायण। बोलियेला।।
प्रत्यवाय आहे अशास्त्रीं चालता। पावन अवस्था जरी झाली।।
ज्ञानदेवह्मणे ऐकाजी निवृत्ति। बोलिली पद्धती धर्मशास्त्री।।

वेद और उसके अन्तर्गत आने वाले विविध विधान, उनके परस्पर विरुद्ध वचनों के अनुसार सम्पर्क और सम्बन्ध कृत्रिम भेदाभेद का संसर्ग सत्स्वरूप के साथ

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध सम्पादित) ज्ञानदेवाची आदि अभङ्ग २२, पृ० ६०।

नहीं रहता यह मेरा दृढ़ निश्चय है। साधन और साध्य की तरह उक्ति और कृति की क्रियाशीलता आचारण के द्वारा बरतकर दिखाना श्रेष्ठों का परम कर्तव्य हो जाता है। स्वधर्म के अनुसार संप्राप्त अधिकारों को तथा जात्यान्तर्गत भेदों को जो जन्मतः या परिस्थित्यनुरूप उपलब्ध हो गये हों उन्हें अपनाना ही ऐसे व्यक्ति के लिये शुद्ध और आचरणीय है। अतएव संतों को उसी के अनुसार सत्क्रियाचरण कर लोगों का पथ-प्रदर्शन करना चाहिये तथा कुल धर्म का रक्षण करना चाहिये और वेद और शास्त्रों के विरुद्ध आचारण कदापि नहीं करना चाहिये। ज्ञानदेव-परिवार का इसके आगे का चरित्र इन वैष्णव संतों का अध्ययन करने वालोंको ज्ञात हुआ है। ज्ञानेश्वर ने इस बात को प्रमाणित कर दिखाया था कि उनकी और भैंसे की आत्मा एक ही है। ज्ञानेश्वर ने प्रणव सहित वेद ध्वनि भैंसे से करवाकर पैठण के ब्राह्मणों से अपना श्रेष्ठत्व मान्य करवाया था। पैठण के ब्राह्मणों से उनको शुद्धिपत्र मिला और उन्होंने कहा—'हे परलोकीचे तारु देवत्रय।' ये तो देवत्रय अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इस लोक के जीव नहीं है। अतः इनको कौन प्रायश्चित दे सकता है? नामदेव का कहना है, कि ज्ञानेश्वर ने सस्कृत के ग्रन्थों की बंधी हुई गठानें छोड़कर गीता का मराठी भाषा में भाष्य जहाँ पर लिखा वह स्थल हमारे लिये आदर और श्रद्धा का पात्र है। इसीलिये अलकावती में जाने पर सारे सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानी और भावुक भक्तों की सहयात्रा—

तीर्थावली का प्रकरण—तीर्थावली का प्रकरण नामदेव की लेखनी से अत्यन्त सरसता और सौष्ठव के साथ लिपिबद्ध हुआ है। नामदेव से मिलने ज्ञानदेव आये और उन्होंने यह इच्छा प्रदर्शित की कि नामदेव के साथ वे तीर्थ यात्रा करेंगे। नामदेव को पंढरपूर छोड़ने से बड़ा दुख हुआ। तब दोनों मंदिर में गये। विठ्ठल ने नामदेव से कहा——

'सर्व भावे अमुचा विसर न पडावा। लोभ असोद्यावा मजवरी।'

'मेरा स्मरण बरावर करते रहना और मेरा स्नेह सम्बन्ध बनाये रखना' विठोबा के आदेशानुसार दोनों सहयात्रा करते हैं। इस यात्रा में ज्ञानी भक्त ज्ञानदेव और नामी भक्त नामदेव में परस्पर संलाप और वैचारिक आदान प्रदान होता है। नामदेव के व्यक्तित्व पर जो संस्कार प्रभाव डाल सके उनमें यह प्रसंग नामदेव के काव्य-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पंढरपूर के विठोबा को नामदेव का विरह बहुत बेचैन करता था। अतः उन्होंने रुक्मिणी से कहा[1]—

---

१. **नामदेवाची सार्थ गाथा तीर्थावली अभङ्ग ७, पृ० २३२।**

भगवान् का भक्त के लिए विरह—

माझे भक्त मज अनुसरले चित्ते । त्याहुनि पढ़ियंते मज आणिक नाहीं ।

× × ×

ते माझा आश्रम मी त्यांचा विश्राम । जिहीं रूप नाम केले मज ।।
मी त्यांचा सोयरा ते माझे सांगाती । करीत्या एकांति सुख गोष्टी ।।

× × ×

मी तो भक्तरूप भक्त माझे स्वरूप। प्रभा आणि दीप जयावरी ।।
हे खूण अनुभवी जाणती ते ज्ञानी । त्या नाहीं आयणी कास याची ।।
त्यांचिया चरणी चे रज रेणु माझे नामे । जो सांडिले रजत में सत्वशील ।
त्याचे भेटी लागी हृदय माझे कळवळे । कैसे देखेन डोळे निवृती माझे ।।[1]

मुझे मेरे भक्तों के अतिरिक्त और कोई अन्य निकट आत्मीय नहीं है । मेरा चित्त जहाँ-जहाँ भक्त जाता है वहाँ-वहाँ उसका अनुसरण करने लगता है । मेरे लिए मेरे भक्त और भक्तों के लिए मैं स्वयम् विश्राम स्थल हूँ । मैं उनका सम्बन्धी हूँ, और वे मेरे सहचर है । जिनके साथ मैंने एकान्त में सुखपूर्वक वार्तालाप किया है । जैसे दीपक और उसकी प्रभा एक ही वस्तु के दो रूप हैं, वैसे ही मेरे भक्त और मैं स्वयम् अलग वस्तुएँ नहीं है । भक्त मेरा ही स्वरूप है । मेरे इस रहस्य को ज्ञानी जानते है, पहिचानते है और स्वयं वैसा अनुभव भी करते है । उनके चरणों में लगे रज के रजकण मेरे नाम को सार्थक करते है, क्योंकि मेरे भक्त सत्वशील हैं और उन्होंने रज और तम को सदा के लिए त्याग दिया है । मेरा हृदय मेरे इसी प्रकार के भक्त ज्ञानेश्वर और नामदेव के विरह में बेचैनी से तिलमिला उठता है । मेरे नेत्र उनका दर्शन करके ही तृप्त होंगे । भगवान् का अपने भक्त के लिए ऐसा मर्माहत करने वाला करुण क्रन्दन आत्मीयता से भरा हुआ और करुणा से ओतप्रोत एवम् सरस अनुभव माना जावेगा ।

सहयात्रिक नामदेव और ज्ञानेश्वर का यात्रा करते हुए परस्पर अत्यन्त महत्वपूर्ण संलाप होता रहा । साहित्यिक दृष्टि से इसका अध्ययन विशेष द्रष्टव्य है । नामदेव सगुण भक्त थे अतः भगवान् का विरह उन्हें सता रहा था । इस प्रेम और विरह की तड़पन को देखकर ज्ञानेश्वर ने उन्हें समझाया कि तुम्हारे हृदय में प्रेम की आत्मीयता और भावुकता पांडुरग के लिए तो नित्य और कई बार उत्पन्न हुई है । तुम भक्त हो इसलिए प्रेम लक्षणा भक्ति से प्रेम की आर्द्रता से तुम्हारा अन्तःकरण सरावोर हो उठा है । अतः विरह जन्य पीड़ा से क्यों इतना हताश हो उठे हो ?

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा तीर्थाविली अभंग २, पृ० २३२ ।

तुम्हारे अन्तःकरण में ही भगवान् विद्यमान हैं। जैसे वे सर्वत्र सब चराचर, चेतन-अचेतनों में है, वैसे ही तुम्हारे हृदय-स्थल में इसी समय विराजमान हैं। अतः यदि विचार पूर्वक सोचोगे, तो हे भक्तराज नामदेव ! तुम्हारे लिए सुखानन्द स्वरूप विठ्ठल तुम अपने पास ही देख पाओगे। इस तरह ज्ञानदेव ने नामदेव को वहुत समझाया। परन्तु विरह जर्जर नामदेव किसी तरह भी नही माने। देखिए—

तो माझा विठ्लु दावा दृष्टी भरी। आस मी न करी आणिकाची ।।
व्यापक विठ्ठलु आहे सर्व देशी। जरी सांडोनिया पाहसी भेद भ्रांम् ।।
तो नाही ऐसा ठाव उरलासे कवण। सर्वत्र संपूर्ण गगन जैसे ।।[1]

नामदेव कहते हैं कि मेरा विठ्ठल साकार रूप में मुझे दिखाइये, जिससे में उसे अपनी दृष्टि से देख सकूँ। मैं और किसी भी अन्य की आशा नहीं करता। तो ज्ञानदेव कहते हैं कि भाई नामदेव। विठ्ठल तो सर्वव्यापी हैं। अतः वह सर्वत्र है। तुम उन्हें तभी देख सकोगे जब कि सारा भेद भ्रम भुला दोगे। ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ वह नहीं है। जैसे आकाश सर्वत्र रहता है उसी तरह विठ्ठल सर्वत्र विद्यमान है।

इस पर भी नामदेव को शान्ति नहीं मिली। और उन्होंने वेचैनी से कहा—

सर्व सुख मज आहे त्याचे पायी। आणि काच्या वाही न पडेकदां ।।
तेथे मन रंगलेसे भावें। सुख येणे जीवें देखिले डोळां ।।[2]

मेरा सुख और उससे संप्राप्त आनन्द विठ्ठल के चरणों में ही मैं देखता हूँ। अतः मुझे आपके द्वारा उपदेशित अव्यक्तोपासना से कोई तात्पर्य नही। मेरा मन विठ्ठल चरणो में रंग गया है और इस जीव को उसका पूर्ण अनुभव अव तक मिल चुका है।

जैसे जलद के विना चातक की कोई गति नहीं है उसी तरह मेरी अवस्था वन गई है। इस तरह नामदेव का विरह पीड़ित करुण क्रन्दन सुनकर ज्ञानदेव ने उन्हें पुनः समझाया कि आत्म स्वरूप अद्वैत की तुम प्रति मूर्ति हो अर्थात् तुम प्रत्यक्ष प्रेम मूर्ति हो। तुम्हारे द्वारा साक्षात् आनंद का स्वरूप ही मानो प्रकट हो गया है ऐसा जान पड़ता है। भक्ति मार्ग के द्वारा तुमने वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है जिससे तुम्हें अविनाशी-अव्यय-पद की प्राप्ति हो गयी है। इसीलिए मेरा निवेदन है कि तुम मुझे भी इस भक्ति मार्ग का रहस्य समझाओ। नामदेव ने ज्ञानदेव से कहा कि मैं तो पंढरिनाथ की कृपा पर पला हूँ तथा उनके द्वारा प्रदत्त प्रेम मय जीवन का

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १०, पृ० ५०।
२. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग १०, पृ० १०।

लाभ मैंने उठाया है। मेरे पास आपको समझाने लायक ज्ञान कहाँ है? इस प्रकार से प्रेम, भक्ति तथा ज्ञान के बारे में सौहार्द्र पूर्वक परस्पर वे वार्तालाप और विचार विनिमय करते थे। ऐसे ही भ्रमण करते-करते वापस लौटते हुए उनको प्यास लगी। दोनों ने खोज की तो एक कुआँ दिखाई दिया। वह बहुत गहरा था। उसमें सीढ़ियाँ नहीं थी। अतः समस्या उत्पन्न हुई कि पानी कैसे पिया जाय। नामदेव तृषाक्रान्त अवस्था में थे। ज्ञानेश्वर ने कहा मुझे तो एक उपाय दिखाई पड़ता है। लाघिमा सिद्धि का अवलंब लेकर पानी बाहर लाया जाय। नामदेव को यह स्वीकार न था। भक्ति से प्रार्थना करने पर तथा आर्तता से पुकारने पर भगवान् ने कृपा की[1]—

> तृषाक्रान्त नामा करितसे धांवा। वेगी जाऊनि देवा सांभाळावे ॥
> तंव तो आर्त बंधु ऐकूनी वचन। मना चेनी मनें वेग केला ॥
> तंव गडगडित कूप उनके वोसन्डला। कल्पांती खवळला सिंधु जैसा ॥

तृषाक्रान्त नामदेव के पुकारने पर शीघ्र दौड़कर भगवान् ने उनको सम्हाला। अपने आर्त बंधु को संकटाच्छन्न देखकर मन के वेग से दौड़कर सहायता प्रदान की। उस गहरे कुएँ में जल इतनी जोर से भर आया कि परिणामतः कुआँ पूरा भर कर पानी बाहर उमड़ आया। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे प्रलय काल में सागर खौल उठा हो।

ज्ञानदेव ने यह देखा तो उन्होंने कहा कि यह नामदेव का वचन मात्र नहीं है, वरन् यह तो भक्त और कवि नामदेव के कवित्व का अनुपम काव्य रस ही है। अंत में दोनों अपनी यात्रा पूरी कर लौटते है। विठ्ठल को जब अपनी आंखों से नामदेव देखते है, तो सद्‌गदित हो जाते हैं और कहते हैं[2]—

> शिणलो पंढरी राया पाहे कृपा दृष्टी ॥
> थोर जालो हिंपुटी तुज वीण ॥
> म्हणोनि चरणोंची ठाकोनि सांडली।
> आलो मज सांभाळी मायबापा ॥

हे पंढरी के स्वामी। मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखिए, मैं अब बहुत थक गया हूँ। तुम्हारे बिना मैं बहुत खिन्न हो गया हूँ। मेरे मन में अज्ञान था। फलतः मैं मारे-मारे भटकता रहा। किन्तु पंढरपूर सुख के सामने वह सारा भटकना

---

१. नामदेवाची गाथा अभंग १९ पृ० ५३—५४ चित्रशाळा प्रेस।
२. नामदेवाची गाथा अभंग २० पृ० ५४।

वेकार ही सिद्ध होता है। स्वप्न में भी नसीव न होगा। इसीलिये आपके चरणों में हे विठ्ठल में आगया हूँ। हे माता पितावत् प्रभो! मेरी रक्षा करो।

यात्रा का उद्यापन अर्थात् 'मावंदा'[१] नामक भोज होता है। इसमें सारी भक्त मंडली सम्मिलित होकर प्रेमा भक्ति का आनंद लूटते हैं। पंढरिनाथ और रुक्मणी अत्यन्त आत्मीयता से भक्तों की महिमा का रहस्य वतलाकर उन्हें नामदेव कितना प्यारा है इसके विषय में वतलाते है—[२]

> **जीवींचे गुज गौया सांगेन वो तूते। ऐक एकचित्ते मनोधर्मे ॥**
> **आवडते हे माझे भक्त परम सखे। जे सबाह्य सारिखे सप्रेमळ ॥**
> **तरी मी भक्तांचा की भक्त ते आमुचे। सोयरे निजांचे एकमेक ॥**
> **म्हणुनी नामयाचे आर्त थोर जीवा। जवळोनि नव जागदूर कोठे ॥**

रुक्मिणी से पंडरीनाथ ने अपने हृदय का गुप्त भाव स्पष्ट कर दिया है वे कहते हैं कि मेरे परम भक्त मेरे परम सखा एवम् सुहृद हैं। आभ्यंतर रूप से वे मेरे प्रेमी कहलाते हैं। उनके सिवा मुझे कोई अन्य प्रिय नहीं हैं। उनके लिये मुझे नित्य अनेक नाम रूप अवतार लेने पड़ते हैं। ज्ञानियों के लिये भी ऐसे भक्तों का सहवास सुखद होता है। भक्त वैराग्य का भूषण है। भक्तों का लक्ष्य मैं ही हूँ और भक्त मेरे लक्ष्य हैं। भक्तों के ही कारण मेरा भाग्य फलता है। मेरा भूमिगत धन भी भक्त ही हैं। भक्तों के कारण मेरा यश, कीर्ति, और सारे सुख मुझे मिल जाते हैं। भक्तों से भेट हो जाते ही मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते है। भक्त मेरा निवास स्थान है मेरा अखंड नाम-स्मरण भक्त करते रहते है, वे मेरे स्वरूप का ध्यान, चिंतन तथा मनन आदि करते रहते है। संपूर्ण शरीर से मुझे आलिंगन देकर स्पर्श-सुख का अनुभव देते रहते है, और लेते रहते है। चारों पुरुषार्थ तथा चारों मुक्तियाँ अर्थात सलोकता, समीपता, सरूपता, और सायुज्यता मैं जव उनको प्रदान करने लगता हूँ, तो वे उसको स्वीकार नहीं करते। पत्र, पुष्प फल और तोय चाहे जितनी मात्रा में क्यों न हो यदि वह सर्व तो भावेन मुझे अर्पण किया गया हो तो ऐसा भक्त मुझे अत्यधिक प्यारा जान पड़ता है। भक्त और मेरा नाता सगे सम्वन्धी का

---

१. **मावंदा—यात्रा के उद्यापन को मराठी में मावंदा कहते है। आज भी काशी यात्रा के बाद गंगापूजन कर ब्राह्मण भोजन करवाया जाता है। यही प्रथा 'मावंदा' कहलाती है।**

२. **नामदेवाची सार्थ गाथा**—प्र. सी. सुवंध पृ० ३३२, अभंग ४७।

है। नामदेव भी मेरा इसी कोटि का भक्त है। अतः उससे एक क्षण भी दूर होने की बात मेरे मन में कदापि नहीं आ सकती।

'समाधि' प्रकरण—

समाधि प्रकरण में नामदेव ने अत्यन्त हृदय द्रावक शब्दों में और करुण रस को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। भवभूति की काव्य प्रतिज्ञा 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' इस समाधि प्रकरण पर घटित की जा सकती है। अपनी आँखों के सामने जो घटनाएँ घटी है, उनका यथार्थ वर्णन बड़ी ही हृदय द्रावकता पूर्ण तन्मयता से किया है। तीर्थयात्रा के समय का अपना सहयात्री समाधि लेकर चिरन्तन विछोह में नामदेव को छोड़ने वाला है इस बात का उन्हें बड़ा दुख है। यह वेदना उनके अन्त.करण को कुरेदती है। सारे वैष्णव भक्त इकट्ठे हो गये हैं तथा समाधि स्थल की ओर जा रहे हैं। इस प्रसङ्ग के कुछ चुने हुए नामदेव कृत उद्‌गार देखने लायक है।[1] यथा—

१. नामा होतसे हिंपुटी ज्ञानदेवा कारणे॥

ज्ञानदेव के द्वारा समाधि लेने का निर्णय सुनकर नामदेव मन और हृदय से अत्यंत उद्विग्न हो गये हैं।

२. नामा होतसे खेदे क्षीण ज्ञानदेवा कारणे॥

ज्ञानदेव के विरह दुःखके कारण नामदेव को खेद हो रहा है फलतः वे क्षीणकाय बनते जा रहे हैं।

३. मी होतसे कासा वीस। ज्ञानदेवा कारणे॥

४. मी होतसे व्याकुळ। ज्ञानदेवा कारणे॥

'ज्ञानदेव के लिये मैं बेचैन तथा व्याकुल हो गया हूँ।'

५. परि ज्ञान देवा वीण मेदिनी शून्य वाटे॥

किन्तु ज्ञानदेव के बिना मुझे यह सारी धरती शून्य सी नजर आ रही है।

६. मजलागुनी। जैसे मच्छ जीवने वीण॥

ज्ञानदेव का विछोह मेरे लिए जल बिना मछली की तड़पन उत्पन्न कर देगा।

७. नामदेवे क्षीण। झाला जीवे॥

खेद तथा शोक से दग्ध नामदेव का जी आकुल हो उठा है। नामदेव तो शोकाच्छन्न थे ही। ज्ञानदेव के समाधि निर्णय को सुनकर दुःख से विह्वल होकर जो करुणाजन्य अभंग उनके मुख से निसृत हुए उनमें की गई कल्पनाएँ उचित और

१. नामदेवाची गाथा अभंग १९–२०, पृ० ७९।

हृद्य हैं। शोकाकुल नामदेव विठ्ठल चरण में रत हैं। भोजन के लिए सब एकत्र आते हैं। समाधि प्रसंग में वे अपना शोक न सम्हाल सके[1]—

तंव म्हणे रुक्मिणी। नामा आणा बुझावुनी।
आपुलेनि हाते चक्रपाणी। त्यासी ग्रास घालावे।।
ऐले सांगता हरीसी। बुझाविती नामयासी।
तो स्फुंदत उकसा बुकसी। मग चहुँकरीं उचविला।।
सवे संताचा मेळा। तयामाजीं परब्रह्म पुतळा।।
नामा बुझावोनि तत्काळा। देहावरी आणला।।

तव रुक्मिणी विट्ठल से कहती है, कि नामदेव को समझा बुझाकर ले आइये। सब लोग भोजनार्थ आये हैं, पर नामदेव शोक मग्न हैं उनको आप अपने हाथों से कौर देकर खिलाइये। जब रुक्मिणी ने पांडुरंग को समझाया तब वे नामदेव को समझाते हैं। उन्होंने नामदेव को सिसकियाँ भर कर रोते हुए देखा तब विठ्ठल ने उनको स्वयम् अपनी चार भुजाओं से उठा लिया। साथ में सन्तों का मेला था और उनमें साक्षात् परब्रह्म विठ्ठल उपस्थित थे। नामदेव को समझा-बुझाकर उनकी चित्तवृत्ति स्थिर कर दी। अलकापुरी के समाधि प्रसग के बाद पूर्व नियोजित तथा भगवान् श्री विठ्ठल की प्रेरणानुसार सोपानदेव ने सासवड़ में समाधि ले ली। इस प्रसंग पर नामदेवोक्ति इस प्रकार है[2]—

निवृत्ति म्हणे उर्मी तुटल्या शृङ्खला। मार्ग हा मोकळा आम्हा झाला।।
पांडुरंगे पाश आवरिला आपला। म्हणोनि फुटला मार्ग मार्ग आम्हा।।
आवरिली माया पुरातन आपुली। म्हणोनि आम्हा झाली बुद्धि ऐसी।।
नामदेवे मस्तक ठेवियेले पायीं। आतां खेद काही करु नका।।

निवृत्ति कहने लगे कि भावों की उर्मियाँ और उनकी शृङ्खलाएँ टूट गयीं। अब हमारे लिये उस पार जाने का मार्ग मुक्त हो गया। तात्पर्य यह है कि ज्ञानदेव ने समाधि ले ली। अब सोपान देव ले रहे हैं। अतः नाते रिश्ते धीरे-धीरे टूटते जा रहे हैं। यह अच्छा ही हुआ कि पांडुरंग ने अपना पाश खींच लिया। अब हमें अपना पथ प्रशस्त हो गया। अपनी पुरातन माया को खींचकर हमें इस प्रकार विचार करने के लिये प्रेरित किया। निवृत्तिनाथ के ऐसे शोकग्रस्त उद्गारों को सुनकर नामदेव उनके चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे अब किसी भी प्रकार से खेद प्रदर्शित मत करो।

---

१. सार्थ नामदेवाची गाथा अभंग ३२ (५–७) पृ० ११२।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा अभंग १५२, पृ० २४०।

इस घटना के बाद चांगदेव तथा मुक्ताबाई ने अपनी समाधि लेने की इच्छा प्रकट की। उस प्रसंग का नामदेव यों वर्णन करते हैं[1]—

मुक्ताई उदासी झाली असे फार। आतां हें शरीर रक्षूं नये।
त्यागिले आहार अन्न पाणि सकळीं। निवृत्तिराज तळमळे मनामाजीं॥

मुक्ताबाई विरह दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर उदासीन हो गई। अपने शरीर की भी पर्वाह करना उसने छोड़ दिया और अनासक्त भाव से रहने लगी। मुक्ताबाई ने अन्न, जल आदि त्याग दिया इसलिए निवृत्तिनाथ तिलमिलाने लगे। उन्होंने पंढरीनाथ की प्रार्थना की जिसका नामदेव यों वर्णन करते हैं[2]—

निवृत्ति राज म्हणे आता पंढरिनाथा। मुक्ताईला जपा अवघे जण।
वेधली चित्तवृत्ति स्वरूपी निमग्न। नाही देहभान मुक्ताईला॥
अवघे जण जपती जपे नारायण। चालती घेऊनी मध्यभागी॥
निवृत्ति राज धरिली मुक्ताबाई हाती। सांभाळीत जाती निशि दिनी॥
पदोपदी जपे निवृत्तिराज करे। आणिक ऋषीश्वर सांभाळिती॥
नामा म्हणे देवा जाता तातडीने। पुढे स्थळ कोणी नेमियेले॥

निवृत्तिराय कहते है, कि सबको मुक्ताबाई का ख्याल रखना चाहिए। वे पंढरीनाथ की भी प्रार्थना करते है, कि उसकी सुरक्षा करो। नारायण सहित सब लोग मुक्ताबाई को सम्हालते है उसकी देखभाल करते हैं। मुक्ताबाई की चित्तवृत्ति स्वस्वरूप में निमग्न हो जाने के कारण उसको अपना निजी भान न रहा। सब लोग उसको बीच में रखकर चलते है तथा पांडुरंग भी उसे सम्हालते हैं। निवृत्तिनाथ मुक्ताबाई का हाथ पकड़कर उसे सम्हाल कर ले जाने लगे। नामदेव कहते हैं, कि चलो देखें मुक्ताबाई ने समाधि के लिए कौनसा स्थल निश्चित किया है।

तभी अचानक आँधी आई और बिजली कौंधने पर मुक्ताबाई निरंजन में मिल गई और अदृश्य हो गई। सभी उसे ढूंढ़ने लगे। मुक्ताबाई के विरह से निवृत्तिनाथ को भी अत्यन्त उद्विग्नता ने घेर लिया। इतने में एक घटना घटी[3]—

उघडिल्या दिशा उघडिले गगन। पाहिले वदर भास्कराचे॥
निवृत्तिराज ते कळवळा वाटे भारी। आतां आम्हा हरि आज्ञा द्यावी॥
जय जयकारे टाळया पिटिती सकळ। नाचती गोपाळ तापी तीरी॥
सकळांचे चित्ती येते कळवळा। मुक्ताईडोळा पाहिली नाही॥

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग २०४, पृ० २८३।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग २०५, पृ० २८४।
३. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग २१५, पृ० २९१।

नाना परिखेद करिती योगेश्वर। लाविती पदर डोळियासी ॥
नामा म्हणे देवा कैसे आतां कांहीं। आम्हा मुक्ताबाई बोलली नाहीं ॥

दिशाएँ खुल गईं, आकाश निरभ्र हो गया और सबने भास्कर को देखा। मुक्ताबाई से शून्य संसार देखकर निवृत्तिराज को अत्यंत दुःख होने लगा और उन्होंने भगवान् से अपने प्रयाण की आज्ञा माँगी। सारे संत-जन जय-जयकार करते हैं, तथा गोपाल तापी तीर पर नाच रहे हैं। मुक्ताबाई को कोई भी अपनी आँखों से न देख सका इसलिए सारे लोगों के चित्त में शोक उत्पन्न हुआ। योगेश्वर अनेक तरह से खेद प्रकट करते हैं, और आँसुओं से भरे हुए नेत्रों को अपने वस्त्रों से पोंछते हैं। जाते समय मुक्ताबाई एक शब्द तक हमसे नहीं बोली ऐसा नामदेव को भी प्रतीत हुआ। तब पंढरीनाथ से निवृत्तिनाथ बोले कि हे प्रभु आपने मेरे लिए इतना किया अब मुझे भी समाधि लेने की आज्ञा दीजिए। वे कहने लगे—

निवृत्तिदास म्हणे सहजा सहज हरि। बोलविली सारी सुख धामा ॥
दाही दिशा चित्त झाले असे सैरा। आता शारंगधरा सिद्ध व्हावे ॥
नामा म्हणे विठोबा ऐकशी बोलणें। अवधियांची मनें तळमळती ॥[1]

हे नारायण! जिन-जिन सुखों का मन ने अनुभव किया है, मुझे उनका स्मरण हो रहा है। ऐसे ही अन्य विचारों से निवृत्तिनाथ को क्षण-क्षण कष्ट हो रहा है। वे कहते हैं भगवन्! मैं किन-किन बातों को स्मरण करूँ। बड़ों के पूर्व छोटों का प्रयाण हो गया, यह तो उलटा न्याय हुआ जैसे पानी नीचे से ऊपर की ओर बहने लग जाय। मेरा मन यही कहता है कि यह सारा विपरीत हो गया है। मुक्ताबाई का अचानक विरह मुझे शतधा विदीर्ण कर रहा है। उसके अचानक अदृश्य हो जाने से मैं चंद बातें तक उससे न कर सका। नामदेव कहते हैं कि हे विठोबा! आपने यह उद्गार सुन लिए हैं और सबके अन्तःकरण पीड़ित हैं इसे भी आपने देखा है।

इसके बाद त्र्यंबकेश्वर में निवृत्तिनाथ ने समाधि ले ली। नामदेव को भी बहुत दुःख हुआ। पूरा 'समाधि प्रकरण' नामदेव की काव्य रचना में करुण रस का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। नामदेव के विशेष अध्ययन के लिए यह पूरा प्रकरण द्रष्टव्य है।

ज्ञानदेव का तथा उनके बन्धुओं का उचित मूल्यांकन नामदेव ने उनकी चरित्र गाथा गाकर प्रकट किया है। इसमें ज्ञानेश्वर-परिवार के साथ उनका संबंध और आदर भावना व्यक्त हो उठी है। वे कहते हैं—

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग २२२, पृ० २६६।

इच्छा

ज्ञानदेव परिवार मूल्यांकन—

तिन्ही देव जैसे परब्रह्मी चे ठसे । जगीं सूर्य तैसे प्रकाशले ।।
सोहं सुकृताच्या गाठी । केली से मराठी गीता देवी ।।
अध्यात्म विद्येचे दाविले से रूप । चैतन्याचा दीप उजळिला ।।
नामा म्हणे ग्रन्थ श्रेष्ठ ज्ञानदेवी । एक तरी ओवी अनुभवावी ।।[1]

निवृत्ति ज्ञानदेव तथा सोपान ये तीनों भाई मानो परब्रह्म के त्रिदेवों के रूपों की प्रत्यक्ष छाप थे। ये संसार में सूर्य की तरह अपने उज्ज्वल चरित्र से प्रकाशित हो उठे। 'सो हम्' के पुण्य मय रहस्य की गठानें खोलकर उसका उद्‌घाटन मराठी गीता टीका 'भावार्थ दीपिका' में उन्होंने कर दिया। चैतन्य का दीप प्रज्वालित कर अध्यात्म विद्या के स्वरूप को समझाया। नामदेव कहते हैं, ज्ञानेश्वरी एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है उसकी एक भी ओवी का यदि कोई अनुभव कर ले तो यह कार्य उसके लिए एक सत्कार्य होगा।

नामदेव की अलङ्कार योजना—

हम कह सकते हैं कि रूपकों की तरह दृष्टांत योजना में भी नामदेव के अभङ्गों में भावना की अपेक्षा कल्पना का खेल अधिक रहता है। कृष्ण ने ग्वालिनों को खूब छकाया। नामदेव ने कल्पना की कि विभिन्न भाषायें बोलने वाली ग्वालिनों के साथ कृष्ण ने छेड़-छाड़ की। यह प्रसङ्ग भागवत के दशम् स्कंध के अध्याय ८ श्लोक ३७ का है। पर नामदेव ने उसे अपनी दृष्टि से देखकर मौलिक रूप में प्रस्तुत कर दिया है—

भिन्न भाषा-भाषी ग्वालिनें—

गोळणी ठकविल्या। गौळणी ठकविल्या एक एक संगतीने।
मराठी कानडिया। एक मुसलमानी। कोंकणी गुजरिणी।
लाडोवा गोविंदा। लाडोवा गोविंदा। निरवाणी आज।
आड चाल्लो पडचाल्लो। क्षीर फोड्यान कोडो।
मारी कन्हैया। पानी खेळयान खेळो ।। देखरे कन्हैया।
देखरे कन्हैया। इज्यत की वड़ी। कदम पकडूंगी।
भैया कटो जुडी। मेरी चुनरी दे। मेरी ले दुल्लड़ी।
देवकी नंदना देवकी नंदना। तूं एक श्रीपती उगडी हिंवाची।
तुज विनवू किती। पाया पडते बा मी येते काकुळती।
मांभी साडी दे। घे नाकाचे ।। मोती पावगा दाताला।

---

१. नामदेव कृत अभंग नामदेवाची गाथा।

पावगा दाताला । तू नंदाचा भिलो । माका फडको दी ।
मी हिंवान मेलों । घे माझे कोयता । देवा पाया पडलों ।
ज्योरे माधवजी । ज्योरे माधवजी । मे शरण घई । तनका का कँपी ।
बाप दयाळ तू ही । मारी साडी अपो । हातणीले कंकणी ॥[1]

कृष्ण ने इन ग्वालिनों को बहुत छकाया । यमुना स्नानार्थ एक-एक करके कन्नड, मराठी, मुसलमानी अर्थात् यावनी, कोंकणी, गुजराती भाषा भाषी ग्वालिनें वहाँ आ गई थीं । वे सब की सब अत्यन्त सुन्दर थीं । उन्होंने यमुना के तीर पर अपने सारे वस्त्र उतार कर रख दिये और नग्न स्नान करने लगीं । इतने में ही कृष्ण ने तीर पर रखे वस्त्र उठा लिए और उनको कदम्ब वृक्ष पर रख दिया । इधर जब ग्वालिनें स्नान कर बाहर निकलीं तो वस्त्र गायब देखे । तब उनमें से प्रथम एक कन्नड़ ग्वालिन कृष्ण से प्रार्थना पूर्वक कहने लगी, 'हे मेरे प्रिय गोविन्द, प्रेमी गोविन्द मैं आज निरावरण हो गयी हूँ इसलिए इस पानी में नहीं ठहर सकती । मेरे कपड़े इधर या उस पार फेंक दो । 'दूसरी ग्वालिन जो मुसलमानिन थी उसने कहा, 'हे कान्हा ! मैं बड़ी आबरू वाली हूँ अतः तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ । हाथ जोड़ती हूँ । मेरे गले की दुल्लरी[2] तुम्हें प्रदान कर देती हूँ । कृपया मेरी चुनरी मुझे दे दो ।' तीसरी मराठी भाषी ग्वालिन बोली, 'मैं विवस्त्रा हूँ । इस जाड़े में मुझे कँप-कँपी छूट रही है । तुझे कितनी विनती करूँ । अरे कृष्ण मेरे नाक का मोती ले लो, पर मेरी साड़ी मुझे दे दो । कोंकणी ग्वालिन कहती है, 'अरे नन्द-किशोर कृष्ण ! तू नन्द का बेटा है । मैं जाड़े में काँप रही हूँ और मर रही हूँ । मेरा यह हार ले लो पर मेरी साड़ी मुझे दे दो । मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ । गुजराती ग्वालिन कहने लगी, 'हे माधव मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ । जाड़े की शीत में ठिठुर रही हूँ । तुम दयालु हो मेरी साड़ी मुझे दे दो बदले में मेरा कंगन ले लो । ये सब बातें सुनकर भगवान् कृष्ण हँसने लगे और कहने लगे कि सूर्य भगवान् को हाथ जोड़कर नमस्कार करो । नामदेव कहते हैं कि हे गोपाल तुम्हारी लीला अगाध और अपरंपार है ।

नामदेव अपने काव्य को लिखने का संकल्प करते हैं । उनको वाल्मिकी से प्रेरणा मिली थी । वे कहते हैं[3]—

नामदेव का काव्य संकल्प—

चंद्र भागे तीरी आय किलपा गोष्टीं । वाल्मिके शत कोटी ग्रन्थ केला ।
शतकोटी तुझे करीन अभङ्ग । म्हणे पांडुरंग ऐक नाम्या ॥

---

१. नाम देवाची गाथा, अभंग ५३, पृ० १५० (चित्रशाला प्रेस) ।
२. एक महाराष्ट्रीय आभूषण विशेष जो कि स्त्रियाँ गले में पहनती हैं ।
३. नामदेवाची सार्थ गाथा (नामदेव आत्म चरित्र) अभंग २३६, पृ० २३० ।

तये वेळीं होती आयुष्याची वृद्धि । आतांचि अवधी थोडी असे । ...
नामा म्हणे जरी न होता संपूर्ण । जिव्हा उतरीन तुज पुढे ॥

चंद्रभागा के तीर पर मैंने ये बातें सुनीं कि वाल्मिकी ने शत कोटी ग्रन्थ रचे। इसे सुन कर मेरे चित्त को बहुत क्लेश हुए। मैंने अपनी आयु व्यर्थ ही व्यतीत की। भगवान् के मन्दिर में जाकर वे प्रार्थना करने लगे कि जैसे वाल्मिकी ने रामायण रचा वैसे ही मैं भी यदि आपका सच्चा भक्त हूँ, तो शत कोटी अभंग आपके गुणगान में रचूँगा। मेरा यह सङ्कल्प सिद्ध करो। नामदेव से भगवान् ने कहा कि नामदेव ! उस युग में आयु मर्यादा अधिक थी इसलिए वह संभव हो सका। अब आयु मर्यादा कम है, अतः तुम ऐसा हठ मत करो। पर नामदेव ने एक न सुनी, और पुनः विठोबा से प्रार्थना की यदि मेरा कार्य संपन्न न हुआ तो मैं अपनी जिव्हा काट कर तुम्हारे सामने धर दूँगा।

अपनी मनोवृत्ति में, अन्तःकरण में, एवम् आभ्यंतर रूप से भगवान् अखण्ड और सदा उनके साथ हैं यह उनका विश्वास था तथा उसका वे अनुभव भी करते थे। उन्होंने भगवान् की प्रार्थना कर कहा कि तुम मुझे अपने अन्तःकरण में छिपा लो तथा सदा मेरे साथ रहो जिससे काम क्रोधादि रिपु नष्ट हो जांय। इस तरह उनके काव्य-साहित्य में विशुद्ध काव्यात्मकता उनके आत्म निवेदन परक तथा प्रेम कलह आदि अभङ्गों में प्रतीत होती है।

नामदेव की आत्म स्थिति—

कलियुगी जन मूर्ख शून्य वृत्ति । तारिसी श्रीपति नाम घेता ॥
परम पावना पवित्रा निर्मळा । भक्तांचा संभाळ करी देवा ॥
देवा तू दयाळ जिवलग मूर्ति । पुराणे गर्जती वेद शास्त्रे ॥
नामा म्हणे आता नको भागा भाग । सखा पांडुरङ्ग स्वामि माझा ॥[1]

हे श्रीपति ! इस कलियुग में जनता मूर्ख और शून्य वृति की होने पर भी आप केवल नामोच्चार से उनका उद्धार किया करते हैं। हे पूत और पवित्र बनाने वाले भगवान् आप इस भक्त को संभालिए। आप दयालु तथा प्रेम की मूर्ति हैं ऐसा जोरशोर से पुराण और वेदशास्त्र बखानते हैं। पांडुरङ्ग मेरे प्रियतम सखा हैं, अतः निश्चित रूप से वे मुझ पर कृपा करेंगे, अतः मुझे चिन्ता करने का क्या प्रयोजन है?

ऐसी आत्मस्थिति में सुख और दुःख में समत्व स्थिति प्राप्त हो जाती है।

---

१. नामदेवाची सार्थगाथा (नामदेव आत्म चरित्र) अभङ्ग २३६, पृ० २३०.
अभङ्ग २४५, पृ० २३८।

देव की यह समत्व दशा द्रष्टव्य है[1]—

निद्रिस्ता चे सेजे सर्प का उर्वशी। पाहो विषयासी तैसे आम्ही ॥
ऐसी कृपा केली माझ्या के शिराजे। प्रतीतीचे मौजे एक सरा ॥
शेष आणि सोनें भासते समान। रत्न का पाषाण एक रूप ॥
पाया लागो स्वर्ग वर्षा पडो आग। आत्मस्थिति भंग नोहे नोहे ॥
नामा म्हणे कोणी निंदा आणि वंदा। झालो ब्रह्मानंदाकार आम्ही ॥

श्री पान्डुरङ्ग की कृपा से नामदेव को साम्य रूपात्मक आत्मस्थिति उत्पन्न हो गयी। निद्रिस्थ मनुष्य के पास उर्वशी या सर्प सो जाय, तो जैसे उसे उसका कोई ज्ञान नहीं होता, और न कोई संवेदना निर्माण होती है। नामदेव की दशा ऐसी हो गई है। उच्च कोटि की भावानुभूति प्राप्त हो जाने से नामदेव की वृत्ति तदाकार बन गई है।

नामदेव का सङ्कल्प और निश्चय—

इस अभङ्ग में यह निश्चय देखिए—[2]

कैसा पांडुरंगा करावा विचार। सांग वा निर्धार साक्ष रूपा ॥
काय आले देवा कैचे थोरपण। आकारासी कोणी आणियेले ॥
आणियेले आता आपणासारिखे। गोपिकांसी रूपे दावी नाना ॥
काया जीवे भावे सकळा संमत। सगुण अनंत म्हणे नामा ॥

हे पांडुरंग! आपकी प्राप्ति मुझे हो जाय, इसलिये मैं किस तरह विचार करूँ, इसे आप ही साक्षी रूप होकर बताइये। आप किस प्रकार बड़े एवम् सर्वव्यापी बने तथा आपके निराकार होने पर भी साकारत्व आपको किसने प्रदान किया? साकार हो जाने से ही आपने गोपियों को अनेक रूपों में दर्शन दिये हैं। अनन्त विश्व को भी आपका सगुण स्वरूप ही काया-वाचा-मनसा मान्य है। नामदेव का भी यही मत है।

नामदेव ने गौळण, विराणी (विरहन) आदि काव्य प्रकार भी लिखे हैं। नामदेव की एक गौळण (ग्वालिन) देखिये—

नामदेव की प्रसिद्ध गौळण (ग्वालिन) एक साहित्य प्रकार—

परब्रह्म निष्काम तो हा गोळियां घरीं। वाक्या वाळे अंदु कृष्ण नवनीत चोरी।
नामा म्हणे केशवा अहो जी तुम्ही दातारा। जन्मो जन्मी द्यावी तुमची चरण सेवा ॥[3]

---

१. नामदेवाची सार्थगाथा–अभंग २४८, पृ. २४०।
२. नामदेवाची गाथा –अभंग २३७, पृ० ३१६ चित्रशाला प्रेस।
३. नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग ३१, पृ० २०।

निष्काम परब्रह्म अपने पैरों में पैंजनियां, किंकिणियां पहनकर बालकृष्ण बनकर ग्वालों के घर जाकर चोरी करता फिरता है। ग्वालिनें कहती हैं, हरि के चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। राज मन्दिर में खेलते हुए कन्हैया आता है, तथा राज भुवन में लुक छिपकर प्रवेश करता है। नंद बाबा अनुपस्थित है, यह देखकर स्वयम् सिंहासन पर बैठता है। आज अच्छा हो गया जो देवालय में ही यह मिल गया। इस चोर को रस्सी से बांधकर रखना चाहिए। शंख, चक्र, गदा पद्म धारण करने वाला शारंगपाणी तो देवगृह में पूजा जाता है, पर आज तो यह पकड़ा गया है। इस परमात्मा को बहुत परिश्रम से तथा पुण्याई से प्राप्त किया जाता है। हे भगवान्! आपकी लीला अगाध है, और अनन्त है, आपकी माया अगम्य है। नामदेव कहते हैं, हे दयाघन! आपकी चरण-पंकज-सेवा हर जन्म में होती रहे यही मेरी मनोकामना है।

यह मानव जीवन अनमोल है। अतः यह दुःख मय होने पर भी इसे आनन्द से व्यतीत करना चाहिए, ऐसा नामदेव मानते हैं तथा उनकी प्रतिज्ञा भी यही है। वे अन्तःकरणपूर्वक इसी प्रकार का जीवन व्यतीत किया जाय यही चाहते हैं।

नामदेव का दृष्टिकोण—

> अवघा संसार करीन सुखाचा। जरी झाला दुःखाचा दुर्गम हा।
> नामा म्हणे सर्व सुखाचा सोहळा। मज न विसंबे दातारा क्षण भरी।[1]

सारे जीवन भर दैनंदिन व्यवहार आदि कर्तव्य-कर्म सुखपूर्वक करता रहूँगा। चाहे मुझे वह कितना भी दुर्गम क्यों न लगे। मैं विठोबा का नाम स्मरण करता रहूँगा, और आनंदभाव से उसे गाता रहूँगा। उसका फल यह होगा, कि मेरा चित्त स्थिर हो जायेगा। मेरी इन्द्रियों को भगवान् के सान्निध्य में सुख होगा। सुन्दर चंचल विठ्ठल का सांवला रूप देखकर तथा कर्ण कुंडल धारण किये हुए मुख को रखकर नेत्र तृप्त हो जाते हैं। सन्तों के कीर्तन में नाचने से मेरे त्रिविध ताप हो जायेंगे। सर्व सुखों के इस सहकारी को भला नामदेव कैसे भूल सकते हैं?

नामदेव के लिए पांडुरंग ही उनका सर्वस्व है। इसीलिए वे इतने तन्मय होकर अपनी काव्य रचना करते हैं। ऐसी रचनाओं में भक्ति और काव्य का अद्भुत संगम हो गया है। इस काव्य की मिठास भी दिव्य है।

भक्ति और काव्य का मणिकांचन योग—

नामदेव के लिए विठोबा ही सब कुछ है[2]—

> तू माझी माऊली। मी वो तुझे तान्हा। पाजी प्रेम पान्हा पांडुरंगे॥
> नामा म्हणे होसी भक्तिचा वल्लभ। [illegible]ते पुढे उभा सांभाळसी॥

---

[1] नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग– १, पृ० २५५।
[2] नामदे[illegible] गा[illegible] ६, पृ० २६०।